अमृत महोत्सव ग्रन्थमाला–४

हिन्दी साहित्य की समस्याएँ

सम्पादक

डॉ० रघुवंश

शक १९०८ : सन् १९८६ ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों की गौरवपूर्ण परम्परा रही है। सम्मेलन की स्थापना के प्रारम्भ से ही सम्पन्न हो रहे ये अधिवेशन, भाषिक स्वाधीनता को उद्घोषित करने के निमित्त प्राय: प्रतिवर्ष आयोजित होते रहे हैं। जिन राष्ट्रनायकों ने भारत की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया था, उनमें से अनेक ऐसे समर्पित विचारक और लेखक थे, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों में समुपस्थित होकर राष्ट्रभाषा के साथ-साथ साहित्य, विज्ञान, दर्शन, इतिहास और समाजशास्त्र आदि परिषदों में भी भाग लेते थे।

सम्मेलन ने हिन्दी के प्रचार-अभियान के साथ-साथ हिन्दी वाङ्मय के समग्र विकास, उन्नयन और संरक्षण की दृष्टि से अनेक परिषदों का संचालन किया था। इन परिषदों में विद्वान् ज्ञान-विज्ञान की विशिष्ट शाखाओं में हुई प्रगति का समाकलन प्रस्तुत करते रहे हैं। ये परिषदें सम्बद्ध विषय के श्रेष्ठ विद्वानों के सभापतित्व में योजनाबद्ध रीति से आयोजित होती रहीं।

यह सौभाग्य का विषय है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपनी ७५वीं जयन्ती को 'अमृतमहोत्सव' के रूप में सम्पन्न करने की योजना क अन्तर्गत साहित्य, राष्ट्रभाषा, समाजशास्त्र आदि परिषदों के सभापतियों के भाषणों को सुसम्पादित रूप में प्रस्तुत करने का निश्चय किया है।

विगत कई वर्षों से विद्वान् निरन्तर सम्मेलन के अधिवेशनों में आयोजित परिषदों के सभापतियों के भाषणों को सुसम्पादित रूप में प्रकाशित करने की माँग करते रहे हैं; इनमें कई भाषण विभिन्न रूपों में प्रकाशित हो चुके हैं। अत: 'अमृत-महोत्सव' की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत विभिन्न परिषदों के सभापतियों के

भाषणों को सुयोग्य एवं विशेषज्ञ विद्वानों से सम्पादित करा कर प्रकाशित किया जा रहा है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० रघुवंश जी ने सम्मेलन का अनुरोध स्वीकार करके 'साहित्य-परिषद्' के सभापतियों के भाषणों को सम्पादित किया है। उनकी प्रशस्त भूमिका से इस संग्रह की गरिमा की निश्चय ही वृद्धि हुई है। सम्मेलन उनका इस सहयोग के लिए आभार ज्ञापित करता है।

आशा है, 'अमृतमहोत्सव' के प्रकाशन का हिन्दी-जगत् में स्वागत होगा।

रामनवमी
संवत् २०४५ वि०

डॉ० प्रभात शास्त्री
प्रधानमन्त्री

विषय-सूची

भाषणों की तालिका

नाम	स्थान ।	सम्मे० सं० ।	संसत्	सन् ई०
१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	इन्दौर	(२४)	१९९२	१९३५
२. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	शिमला	(२७)	१९९५	१९३८
३. पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	काशी	(२८)	१९९६	१९३९
४. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी	पूना	(२९)	१९९७	१९४०
५. पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी	अबोहर	(३०)	१९९८	१९४१
६. डॉ० रामकुमार वर्मा	हरिद्वार	(३१)	२०००	१९४३
७. आचार्य शिवपूजन सहाय	जयपुर	(३२)	२००१	१९४४
८. डॉ० रामकुमार वर्मा	उदयपुर	(३३)	२००२	१९४५
९. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी	करांची	(३४)	२००३	१९४६
१०. श्री चन्द्रबली पाण्डेय	बम्बई	(३५)	२००४	१९४७
११. श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	मेरठ	(३६)	२००५	१९४८
१२. पं० लक्ष्मीनायराण मिश्र	हैदराबाद	(३७)	२००६	१९४९
१३. श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़	कोटा	(३८)	२००७	१९५०
१४. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र	हैदराबाद	(३९)	२०३४	१९७७
१५. डॉ० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	कुरुक्षेत्र	(४१)	२०४०	१९८३
परिशिष्ट				
१६. श्री यशपाल	प्रयाग (विशेष अधिवेशन)		२०३२	१९७५

सम्पादकीय भूमिका

प्रो० रघुवंश

⊙⊙

साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों में एक सत्र साहित्य परिषद् का होता रहा है। यद्यपि 'साहित्य सम्मेलन' में प्रमुखता साहित्य की परिलक्षित होती है, परन्तु इसकी परिकल्पना और सयोजना करने वाले महानुभावों की दृष्टि भाषा, साहित्य और संस्कृति के पक्षों पर रही है। यह हम सब जानते है कि राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी भाषा के प्रचार और प्रसार का कार्य इस संस्था ने किया है। इस कार्य-विस्तार के आधार पर हिन्दी को राष्ट्र के स्तर पर महत्त्वपूर्ण स्थान मिला, यह कहना समीचीन होगा। वस्तुतः इसी कारण साहित्य सम्मेलन की व्यापक कल्पना हिन्दी भाषा के प्रचार और प्रसार से जुड़ी हुई है। परन्तु हमारे भाषा आन्दोलन के राष्ट्रीय नेताओं के में यह स्पष्ट रहा है कि भाषा किसी भी समाज के जीवन की मूल प्रेरक शक्ति मन होती है और किसी भी भाषा का साहित्य उसकी इस क्षमता का परिचायक होता है। जहाँ साहित्य का अथवा वाङ्मय का प्रश्न उठता है, वहाँ उस समाज की पूरी सांस्कृतिक धारा को देखना अनिवार्य हो जाता है।

इस आधार पर साहित्य सम्मेलन अपने कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत राष्ट्रीय जीवन के सांस्कृतिक पक्षों को सयोजित करने का उपक्रम करे, तो यह सर्वथा उचित है। सम्मेलन अपने प्रकाशन के कार्यक्रम के अन्तर्गत हिन्दी भाषा के वाङ्मय के सभी अंगों को विकसित करने का प्रयत्न करता रहा है और यह महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है; क्योंकि अगर हिन्दी भाषा को समाज के विकास को सर्वाङ्गीण रूप से लेकर चलना है, तो ज्ञान और विज्ञान के सभी क्षेत्रों में हिन्दी वाङ्मय को सम्पन्न करना होगा। इसके लिए शब्दावली और कोष-निर्माण का कार्य भी आवश्यक रहा है। इस दिशा में एक सीमा तक सम्मेलन ने कार्य किया है परन्तु सांस्कृतिक स्तर पर सम्मेलन के द्वारा जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया हैं, वह प्राचीन भारतीय साहित्य के अप्रकाशित बहुमूल्य ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का है। न केवल इस प्रकार के प्राचीन साहित्य के बहुमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन

सम्मेलन के द्वारा किया गया है, वरन् उनका प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार अपने प्राचीन साहित्य को सामान्य जन समाज तक पहुँचाने का कार्य बड़े महत्त्व का माना जायगा। वस्तुतः कोई भी देश और समाज अपनी आन्तरिक क्षमता का पूरा सन्धान तब तक नहीं कर सकता है, जब तक वह अपनी प्राचीन प्राणवान् परम्पराओं का अनुसन्धान नहीं करता। भारतीय सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने की बात है कि हमारे पूरे देश और राष्ट्र का जीवन इन परम्पराओं के स्तर पर गहरे आन्तरिक ढग से जुड़ा हुआ है।

पिछले अधिवेशनों में साहित्य परिषदों के अध्यक्ष के रूप में जिन देश के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के नाम हम देखते है, उनसे यह अनुमान सहज ही लग जाता है कि इस परिषद् को कैसे साहित्यकारों और चिन्तकों का दिशा-निर्देशन प्राप्त होता रहा है। इन मनीषियों ने परिषद् के मंच से अपने अध्यक्षीय भाषण में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभी कार्य-क्षेत्रों को दिशा-निर्देशन दिया है। उनके इन भाषणों से इस बात का पूरा और सही परिचय मिलता है। पिछले कई दशकों में इन्होंने भाषा, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अपने देश और समाज का महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देशन किया। उनकी दृष्टि व्यापक और सारे देश को एक साथ लेकर चलने की रही है। यह जो कुछ निहित स्वार्थ के लोग आरोप लगाते रहे हैं कि हिन्दी के राष्ट्रीय स्तर के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले लोग हिन्दी-क्षेत्र का प्रभुत्व सारे देश पर कायम करना चाहते हैं, इन व्याख्यानों के विचारों से पूरी तरह भ्रामक सिद्ध होता है। सभी साहित्यकारों, विचारकों ने स्वीकार किया है कि भारत मे सभी प्रदेश और इनकी भाषा, साहित्य और संस्कृति भी समान महत्त्व की हैं। उनमे से किसी का किसी पर आरोप का प्रश्न नहीं है, क्योंकि वे सभी एक-दूसरे से सशक्त हैं और एक-दूसरे के पूरक भी हैं। हिन्दी भाषा और साहित्य भारतीय सस्कृति की परम्परा का वहन इसी रूप में करते हैं कि उनके द्वारा सम्पूर्ण भारतीय जीवन और संस्कृति का संश्लेषण हो सके। ऐसा नहीं कि आधुनिक भारत मे वर्तमान राजनीतिक, आर्थिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के केन्द्रीय स्थिति में होने के कारण ही हिन्दी को यह दायित्व सौंपा गया है। यह कार्य सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के क्रम में हिन्दी सहज रूप में करती आयी है।

प्रायः दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी से अपभ्रंशों के विकास-क्रम में पुरानी हिन्दी तथा उसके बाद हिन्दी की ब्रज शैली ने व्यापक स्तर पर मध्य युग के सांस्कृतिक आन्दोलन को गति और अभिव्यक्ति प्रदान की थी। हिन्दी की ब्रजभाषा शैली के साथ अवधी, राजस्थानी और मैथिली शैलियों को भी इस युग में लिया जा

सकता है। स्मरण दिलाने की बात है, जिस समय भारतीय समाज और संस्कृति इस्लामी राजसत्ता, धर्म और संस्कृति की चुनौती का सामना कर रहा था, उस समय दक्षिण के आचार्यों ने उत्तर आकर हिन्दी भाषा के माध्यम से भक्ति आन्दोलन को प्रचारित किया। जिस शक्ति और क्षमता से भक्ति साहित्य ने इस चुनौती का सामना किया, भारतीय समाज को नयी आशा और साहस प्रदान किया, वह सब हमारे इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगता है। दूसरे स्तर पर यह भी देखा जा सकता है, इस भक्ति साहित्य का प्रचार-प्रसार किसी-न-किसी रूप में या स्तर पर पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ है। उसने सारे देश के सांस्कृतिक जीवन को संयोजित करने का कार्य किया था।

इस प्रकार भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य ने सम्पूर्ण देश को सांस्कृतिक स्तर पर जोड़ने का प्रयत्न किया है और इस युग में विदेश से आयी हुई इस्लाम की राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक शक्ति की चुनौती का सामना भी इसके द्वारा सम्भव हो सका। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे इस बात का उल्लेख किया है कि इस्लामी राजसत्ता और धर्म की शक्ति से इस देश में जो निराशा का वातावरण उत्पन्न हुआ था, उसको दूर करने में भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य से सहारा मिला। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मत का प्रतिवाद किया। उन्होंने सम्पूर्ण मध्य देश के भक्ति आन्दोलन और काव्य की पिछली परम्पराओं पर अध्ययन अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में प्रस्तुत किया है। एक ओर प्राचीन वैदिक और द्रविड़ स्रोतों से प्रवाहित होती हुई भक्ति की धारा सातवीं शताब्दी से नवीं-दसवीं शताब्दी तक दक्षिण के आलवार सन्तों की वाणियों में प्रवहमान रही और दक्षिण के आचार्यों ने ही १२वीं-१३वीं से १५वीं शताब्दी तक इस धारा को दक्षिण से उत्तर की ओर मोड़ा है, जहाँ आकर उसका प्रवाह अनेक धाराओं में वेग ग्रहण कर सका है। दूसरी ओर बौद्धों की हीनयान परम्परा से जो सामाजिक रूढ़ियों और जड़ताओं के प्रति विद्रोह की भावना विकसित हुई थी, उसका विकास-क्रम सहजयानी, वज्रयानी सिद्धों और नाथों में क्रमशः देखा गया है। इन समस्त स्रोतों पर ऐतिहासिक प्रकाश डालते हुए द्विवेदी जी ने प्रतिपादित किया है कि उत्तर भारत का भक्ति आन्दोलन इस्लाम धर्म और राजसत्ता की प्रतिक्रिया के रूप में नहीं माना जा सकता। परन्तु शुक्ल जी और द्विवेदी जी के मतों का सामंजस्य ही इस युग के सही परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत कर सकता है। इसमें शक नहीं कि सांस्कृतिक स्तर पर भक्ति का व्यापक और पारम्परिक विकास अनेक शताब्दियों से भारत-वर्ष में उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर चलता रहा। परन्तु अपने में यह

भी सही है कि भारतीय हिन्दू समाज अपनी वर्ण-व्यवस्था, अनेकानेक सम्प्रदायों की स्थिति और उनके वैमनस्य के कारण विश्रृंखलित और शिथिल पड़ चुका था। इस्लाम की संगठित शक्ति के सामने उसका ठहरना कठिन हो गया था। अतः उत्तर भारत के व्यापक भक्ति आन्दोलन ने जो पूरे समाज को भगवान् की कल्पना के आधार पर सगठित और व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है, उससे पूरे समाज में नयी आशा का संचार हुआ है।

हिन्दी साहित्य के अगले युग में दो प्रमुख प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है। उसका नामकरण उसकी पहली रीति की प्रवृत्ति के कारण रीतिकाल किया गया है। परन्तु वीरकाव्य की परम्परा भी इस युग में महत्त्व की रही है। इन वीरकाव्यों में पूरे जातीय जीवन को जाग्रत रखने की प्रेरणा और प्रवृत्ति है। दूसरी ओर रीति काव्य के स्तर पर सामान्य रूप में पूरे भारत में इस युग में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। इसको भारत के विभिन्न प्रदेशों की सांस्कृतिक एकता का एक प्रमाण माना जा सकता है। अंग्रेजों के आने और अपनी शक्ति को इस देश में स्थापित कर लेने के बाद भारतीयों को इस बात का एहसास हुआ, यह यूरोपीय विदेशी शक्ति पूरे देश का न केवल राजनीतिक स्तर पर वरन् आर्थिक स्तर पर भी शोषण कर रही है। इस भावना का सबसे सशक्त स्वर हिन्दी साहित्य में सुनायी देता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के साहित्यकारों ने क्रमशः यह भी अनुभव किया कि पश्चिम का सांस्कृतिक प्रभुत्व हमारे सांस्कृतिक विकास को कुण्ठित और अवरुद्ध कर रहा है और १९वीं शताब्दी से ही हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारों ने अपनी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से तथा साहित्यिक परिषदों और सभाओं के द्वारा आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विदेशी दबावों का विरोध किया। इसी परम्परा मे एक बड़े और सुसंगठित प्रयत्न के रूप में साहित्य सम्मेलन की स्थापना को माना जा सकता है। जैसा शुरू मे ही कहा गया है, देश के अनेक महत्त्वपूर्ण नेताओं के निर्देशन में और राजर्षि टण्डन जी के सक्रिय मार्ग-निर्देशन में साहित्य सम्मेलन इन दिशाओं में क्रियाशील रहा है।

साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों मे एक सत्र साहित्य-परिषद् का आयोजित किया जाता है। इसकी अध्यक्षता हिन्दी साहित्य के मूर्द्धन्य साहित्यकार और चिन्तक करते आये है। यद्यपि यह सत्र साहित्य से सम्बद्ध रहता है, परन्तु जिन आचार्यों और मनीषियों ने इसकी अध्यक्षता की है, उनके भाषणों में साहित्य को उसके व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। सभी ने साहित्य के साथ भाषा और संस्कृति की चर्चा की है। इतना ही नहीं, उन्होंने इन प्रश्नों को व्यापक

भारतीय सन्दर्भ में उठाया, कभी क्षेत्रीय दृष्टि उनके विचारों मे नही उभरी है। साहित्य सम्मेलन की स्थापना के पीछे हमारे राष्ट्रीय नेताओं का यही उद्देश्य और दृष्टिकोण रहा। यह अवश्य है इन मनीषियों के विचारों मे अन्तर देखा जा सकता है और किसी-किसी में परम्परा का आग्रह अधिक परिलक्षित हुआ है परन्तु आधुनिक जीवन के नये सन्दर्भ में मूल्यों के परिवर्तन की बात को उन्होंने भी स्वीकार किया है।

× × ×

अधिवेशन संख्या--२४ **संवत्--१९९२**

अध्यक्ष--आचार्य रामचन्द्र शुक्ल **स्थान--इन्दौर**

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने भाषण में अपनी साहित्य सम्बन्धी मूल दृष्टि को केन्द्र में रखा है। वे मूलतः मूल्यवादी साहित्य चिन्तक हैं और उनकी यह दृष्टि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से सम्बद्ध है। उनकी दृष्टि यूरोप और भारत की सांस्कृतिक परम्परा में निहित मूल्य-दृष्टि और संस्कार के अन्तर पर रही है। यूरोप में कलाओं के अन्तर्गत प्रायः साहित्य को स्वीकार किया गया है। परन्तु भारत में कला और साहित्य में मूलभूत अन्तर माना गया है। निश्चय ही उनका यह दृष्टिकोण भारतीय परम्परा में भाषा की सही परख पर आधारित है। अन्य कलाओं के माध्यम---रंग, आकार, आयाम, स्वर, लय और ताल---मनुष्य से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। परन्तु भाषा मनुष्य के सामाजिक विकास की प्रक्रिया का ही अंग है।

यहाँ हमारे आचार्यों ने 'शब्द और अर्थ' को अभिन्न माना है। यह संस्कृत के वैयाकरणों और साहित्य आचार्यों ने सहज रूप से प्रतिपादित किया है कि हमारे समस्त भावों, विचारों का व्यक्त रूप भाषिक होता है। अतः आचार्य शुक्ल का यह मानना कि "साहित्य अन्य कलाओं से सर्वथा अलग स्थान रखता है"---सही है और भारतीय परम्परासम्मत भी। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल ने साहित्य में कलावादियों और वैचित्र्यवादियों की कड़ी आलोचना की है। उनके अध्ययन के क्षेत्र में यूरोप के विभिन्न देशों में चलने वाले कला और साहित्य के अनेक वाद हैं। स्पष्टतः यूरोप में १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साहित्य के क्षेत्र में जो कलावादी दृष्टियाँ विकसित हुई हैं, उन पर अन्य कलाओं से सम्बन्धित विचारों और वादों का गहरा प्रभाव है। इन विचारकों ने भाषा को कला के अन्य उपकरणों की भाँति मान लिया है। और जिस प्रकार विभिन्न कलाओं में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों और माध्यमों पर उनकी सौन्दर्य-सृष्टि निर्भर रहती है, उसी प्रकार ये विचारक काव्य में भाषा के प्रयोग की स्थिति को मानते हैं।

इन साहित्यिक वादों में काव्याभिव्यक्ति में ध्वनियों, वर्णों और शब्दों के वैचित्र्य का आग्रह देखा गया है। इसीलिए काव्य की भावाभिव्यक्ति और बिम्ब-योजना में भी वैचित्र्य का आग्रह रहा है। इन विम्बों से मन पर पड़ने वाले प्रभावों को व्यक्त करने की मूल्य-निरपेक्ष चेष्टा को काव्य माना गया है। शुक्ल जी साहित्य में इसे वैचित्र्यवाद या चमत्कारवाद मानते हैं, जिसके आधार पर सच्चे अर्थों में साहित्य की रचना सम्भव नहीं।

शुक्ल जी ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को इसी कलावाद के परम्परा-स्रोतों में माना है। क्रोचे का यह मानना कि रचना भाषा के लिखित रूप में अभिव्यक्त होने के पूर्व मानसिक क्रिया-रूप अभिव्यंजना है, शुक्ल जी के अनुसार कलावाद का ही एक रूप है। यह अभिव्यंजना जिस सहजानुभव को रूप प्रदान करती है, उस अनुभव को शुक्ल जी ने यथार्थ नहीं माना है। इसीलिए क्रोचे के सहजानुभव को उन्होंने यूरोप के मर्मी (रहस्य) साधकों की रहस्य-भावना से जोड़ा है। यूरोप के मध्ययुग के इन रहस्यवादी साधकों ने ज्ञान और प्रज्ञा के परे अनुभव का एक रहस्य-लोक निर्मित किया था। यहाँ शुक्ल जी ने यूनानी चिन्तकों की बुद्धिवादी परम्परा का उल्लेख किया है और इस प्रसग में उन्होंने भारतीय अध्यात्म और ब्रह्मचिन्तन के शुद्ध बौद्धिक आधार का समर्थन किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि ऐसा कोई अनुभव मानवीय जीवन में अर्थवान् नहीं है, जो केवल रहस्य है अथवा अप्रत्यक्ष है। विशेषकर साहित्य की अभिव्यक्ति में इसका प्रयोजन नहीं, अन्यथा भ्रम और तर्क-जाल का विस्तार होगा। वे मानते हैं कि साहित्य में भाव महत्त्व का है, परन्तु मनुष्य का कोई भी सार्थक अनुभव बुद्धि के बिना सम्भव नहीं है। इसी दृष्टि से साहित्य और अन्य कलाओं में अन्तर है। वे सभी काव्य के स्तर पर अपने प्रभाव-क्षेत्र को विस्तार नहीं देते। कला में ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार किया जा सकता है जो भाववादी या प्रभाववादी हैं, क्योंकि ये कलाएँ हमारे मन को किसी भाव या प्रभाव से अभिभूत कर अपने सौन्दर्य की सार्थकता पा सकती हैं। ऐसा लगता है कि शुक्ल जी के मन मे भाषिक रचना का यह सत्य उजागर था, जो मानवीय जीवन के समस्त पक्षों को लेकर क्रियाशील होना है। यह रचना भाषिक है, इसीलिए मनुष्य के जीवन की परिस्थितियों, घटनाओं, चरित्रों के सर्जन मे ही अर्थ पाती है और जब इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया से रचना की जायगी तो उनमें मूल्यों का अन्तर्भाव अनिवार्य है।

शुक्ल जी का आग्रह साहित्य की मूल्य-दृष्टि पर सदा रहा है और यहाँ भी है। कलावाद, वैचित्र्यवाद और अलंकारप्रियता के विवेचन में इस दृष्टि को सामने रखने की चेष्टा की गयी है। इसी प्रकार रस सिद्धान्त की विशद व्याख्या

में भी इस मूल्य-दृष्टि का व्यापक आधार है उनकी साधारणीकरण की परिकल्पना। रस-कोटियों के विभाजन आदि में भी यह दृष्टि अन्तर्निहित है। इसी प्रकार यह मान्यता कि गीति काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य अथवा महाकाव्य अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, इसी दृष्टि का प्रतिफलन है। मुक्तक अथवा गीतिकाव्य में मानवीय अनुभव की अभिव्यक्ति का एक पक्ष ही व्यंजित होता है, उनमें चमत्कार और वैचित्र्य की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है परन्तु प्रबन्ध काव्य अथवा महाकाव्य मानवीय जीवन के चरित्रों और व्यापारों पर आधारित होते हैं और इस प्रकार उनमें मानवीय जीवन के मूल्यों की प्रक्रिया को व्यापक और व्यंजक रूप में देखा जा सकता है। इनमें सामाजिक जीवन के एक ओर व्यापक और दूसरी ओर युगीन मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है। शुक्ल जी का आग्रह इसीलिए ऐसे काव्यों की रचना का रहा है।

शुक्ल जी साहित्य में कुछ निश्चित मान्यताओं को लेकर चले हैं। वे अपने समय की चिन्ता-धाराओं से प्रभावित होकर साहित्य में मूल्य-दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं। एक स्तर पर उनकी मान्यताओं और स्थापनाओं में सत्य निहित है। विशेषकर जब कुछ ऐसी मान्यताएँ सामने रही हों, जो पूरे सामाजिक और युगीन परिवेश को अस्वीकार कर साहित्य में सौन्दर्य को स्थापित करती हों। उनके सामने मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में प्रारम्भ होने वाले साहित्यिक वाद थे। इन कलावादों में सौन्दर्य को मानवीय जीवन की सामयिक परिस्थिति से अलग रखकर देखा गया है। इस स्तर पर उनकी चेतावनी का महत्त्व स्पष्ट है। परन्तु इस आग्रह के कारण उनके विचारों में एक सीमा का अतिवाद अवश्य परिलक्षित होता है। इसी कारण वे क्रोचे जैसे अभिव्यंजनावादी, ब्रैडले जैसे कलावादी और कमिंग्स जैसे रूपवादी के प्रति अधिक कठोर दिखायी देते हैं। दूसरी ओर अनुभववादी, प्रभाववादी और स्वच्छन्दतावादियों के प्रति भी अनुदार दिखायी देते हैं। क्रोचे के विवेचन में शुक्ल जी ने इस पक्ष की उपेक्षा की है कि अनुभव यानी रचना का अनुभव भाषिक अभिव्यक्त रूप होता है। यह स्पष्ट है कि अनुभव, सहजानुभव भी भाषिक रूप में ही व्यंजित होता है और भाषा का पहला यह रूप-विधान मानस में घटित होता है। यदि दार्शनिक पक्ष से हटकर क्रोचे की दृष्टि पर विचार किया जाय, तो उसमें रचना की सूक्ष्म प्रक्रिया को समझने का प्रयत्न है। इसी प्रकार ब्रैडले के विचार को यदि अतिवाद तक न ले जाया जाय, तो उसमें भी रचना का वह पक्ष देखा जा सकता है, जो मानवीय जीवन के अनुभव को एक विशेष रचनात्मक स्तर पर ग्रहण करता है।

शुक्ल जी ने साहित्य के अन्तर्गत सारे वाङमय को स्वीकार करते हुए मुख्यतः रचनात्मक साहित्य में अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष तथा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन को माना है। चार प्रकार के अर्थों की—प्रत्यक्ष अनुमिति, आप्तोपलब्ध और कल्पित—चर्चा करते हुए माना है, कि भाव अथवा चमत्कार से निःसंग-विशुद्ध रूप मे अनुमित अर्थ दर्शन और विज्ञान है, आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है और कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। परन्तु काव्य के भाव या चमत्कार-पूर्ण अर्थ में अन्य तीनों प्रकार के अर्थ समाहित होते हैं। व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं। पर रस व्यंजना के क्षेत्र में उनकी इस प्रकार की व्याख्या में बाधा पड़ सकती है। अनुमान द्वारा इस प्रकार के ज्ञान तक पहुँच कर कि अमुक के मन में प्रेम है या क्रोध है, उन्हें फिर इस ज्ञान के माध्यम से आस्वाद की पदवी तक पहुँचाना पड़ेगा जो इस प्रक्रिया से किस प्रकार सम्भव होगा यह प्रश्न है। शुक्ल जी की मान्यता है कि काव्य का "सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि की अग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं।" वस्तुतः यहाँ शुक्ल जी की रस-प्रक्रिया का भी ध्यान आ जाता है जिसमें उन्होंने आलम्बन के आधार पर रस की कोटियों का और उसके स्तर का निर्धारण किया है। यह रस सम्बन्धी दृष्टि पूर्ववर्त्ती रस के आचार्यों से इसी आधार पर भिन्न है। वस्तुतः उनकी विचारधारा में जीवनगत अनुभव और काव्य के अनुभव में स्तर-भेद नहीं है। जबकि साहित्य के विचारकों ने साहित्य के रचनात्मक अनुभव को जीवन के अनुभव से भिन्न कोटि का माना है। वाच्यार्थ के समान शुक्ल जी जीवन के यथार्थ और व्यावहारिक अनुभव को ही काव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। इसीलिए उनके रस अर्थात् काव्यात्मक अनुभव में सद्-असद् चरित्रों और मूल्यों का विशेष आधार है। उनकी समस्त साहित्य-चर्चा के आधार में उनके अपने युग की विशेष सामाजिक चेतना रही है। उस परिवेश में जीवन को स्वस्थ और सुन्दर रूप प्रदान करने के लिए मूल्यों के स्तर पर सद् और असद् का विवेक महत्त्वपूर्ण माना गया था।

× × ×

अधिवेशन संख्या—२७ **संवत्—१९९५**

अध्यक्ष—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा **स्थान–शिमला**

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा साहित्य और संस्कृति पर विचार करने वाले एक ऐसे चिन्तक हैं जिनका आधार भाषा के अध्ययन का रहा है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'मध्यदेश' में मध्यदेश की परिकल्पना के बारे में मौलिक ढंग से विचार किया है और अपने चिन्तन को भारतीय भाषाओं के अन्तस्सम्बन्ध और हिन्दी की केन्द्रीय

स्थिति के आधार पर विकसित किया है। उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादित किया है कि ऐतिहासिक क्रम से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश ऐसी भाषाएँ रही हैं जो वस्तुतः एक ही भाषा प्रवाह के रूप में हैं और जिन्होंने विभिन्न युगों में सम्पूर्ण भारतीय सांस्कृतिक जीवन को सम्बद्ध रखा है और उसे अभिव्यक्ति प्रदान की है। इन भाषाओं का प्रचुर साहित्य सारे देश के विभिन्न भागों के विद्वानों और विचारकों द्वारा रचा गया है और यह साहित्य सारे देश के जीवन को व्यवहार, आचार, विश्वास और विचार के स्तर पर जोड़ता रहा है।

हिन्दी भाषा का विकास अपने विभिन्न रूपों में इसी क्रमिक दायित्व का वहन करता आया है। बाद को अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी को भाषा के विकास के इसी मिलन-बिन्दु पर देखा जा सकता है। इस स्तर पर हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम में राजस्थानी, ब्रज, अवधी, मैथिली आदि को लिया जा सकता है। भाषा-विकास की यह धारा केवल अपने प्रवाह का तल यत्किञ्चित् बदलती है, परन्तु वह पूरे मध्यदेश के जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करती है और एक दूसरे स्तर पर उसने अन्य प्रदेशों के साहित्य और जन-जीवन से भी निरन्तर अन्तस्सम्बन्ध बनाये रखा है। डॉ० वर्मा के व्याख्यान का मूल स्वर उनके इस विचार और विश्वास को व्यक्त करता है।

प्रारम्भ में उन्होंने हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में प्रचलित किये गये अनेक भ्रमों का संकेत किया है। अनेक लोग किसी निश्चित दृष्टि से या निहित स्वार्थ से हिन्दी को सीमित परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। परन्तु डॉ० वर्मा हिन्दी भाषा की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए मानते हैं कि कबीर, तुलसी, सूर, नानक, विद्यापति, मीराँ, केशव, बिहारी, भूषण, भारतेन्दु, रत्नाकर, प्रेमचन्द और प्रसाद ने जिस भाषा में अपनी रचना की है, वह हिन्दी ही है। वह स्पष्टतः अपनी परिभाषा में स्वीकार करते हैं कि हिन्दी उस भाषा का नाम है जो अनेक बोलियों के रूप में आर्यावर्त के मध्यदेश अर्थात् हिन्द प्रान्तों (संयुक्त प्रान्त, महाकोसल, मध्य-भारत, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब) की मूल जनता की मातृभाषा है। आज की दृष्टि से देखें तो मध्यदेश के अन्तर्गत आने वाले प्रदेशों का नक्शा और साफ हो जायगा। इसमें उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, हरियाणा, हिमांचल प्रदेश गिनाये जा सकते है। निश्चय ही इन प्रदेशों के निवासी अपनी-अपनी क्षेत्रीय बोलियों का व्यवहार आपस में करते हैं। परन्तु ये लोग दूसरे क्षेत्र के अथवा अन्य प्रदेशों के लोगों से जब बातचीत करते हैं, तब अपनी इस मातृभाषा का प्रयोग करते हैं। और यह भी स्पष्ट है कि भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं का व्याकरण, शब्द-समूह और साहित्यिक आदर्श भारत की प्राचीन संस्कृति से गृहीत हैं।

डॉ० साहब ने दो स्तरों पर हिन्दी की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। एक ओर इस भ्रम का निवारण किया है कि हिन्दी किसी प्रदेश की भाषा नहीं है, वरन् वह भिन्न भाषाओं के ऊपर आरोपित है। वस्तुतः यह भ्रामक आरोप है। हर देश और काल में चलता आया है कि जीवन के सामान्य व्यवहार की भाषा की अपेक्षा व्यापक चिन्तन, मनन और अभिव्यक्ति की भाषा उन भाषाओं पर आधारित होकर भी उनसे भिन्न होती है। इस व्यापक भाषा का रचना-विधान, रूप-विधान और व्याकरण, इस व्यापक प्रदेश की अन्य भाषाओं मे ही गृहीत होता है। यह बात संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के काल में जिन प्रकार स्वीकृत रही है, उसी प्रकार हिन्दी के बारे में भी देखी जा सकती है। यह उसका ऐतिहासिक दायित्व है, जो उसे आधुनिक सन्दर्भ में राष्ट्रीय स्तर तक निभाना होगा।

डॉ० साहब ने हिन्दी के नाम की समस्या पर भी विचार व्यक्त किया और उन्होंने इस नाम का समर्थन किया। उनका कहना है कि इस प्रकार के नामकरण ऐतिहासिक परम्परा से निर्धारित होते हैं। पहले अपने प्रारम्भिक रूप में उर्दू हिन्दवी कहलाती थी और उस समय ब्रज, अवधी आदि पर आधारित जिस साहित्यिक भाषा का उपयोग किया जा रहा था, उसके लिए 'भाषा' या 'भाखा' शब्द का प्रयोग होता था। इधर सौ वर्षों से जब से साहित्य में खड़ी-बोली का प्रचलन हुआ, हमारी साहित्यिक भाषा हिन्दी कहलायी है। हिन्दी एक ओर भाषा या भाखा से सम्बद्ध है, तो दूसरी ओर उर्दू के पूर्व रूप हिन्दवी से।

डॉ० वर्मा ने भारतीय भाषाओं के प्रश्न को भारतीय संस्कृति के साथ जोड़ा है। वस्तुतः भाषा और संस्कृति में अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। ऐसा नहीं है कि कोई संस्कृति किसी भी भाषा में अभिव्यक्त हो सकती है। जैसा कहा गया है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को हिन्दी वहन करती है। यह कार्य अपने-अपने स्तर पर अन्य भाषाएँ भी करती हैं, परन्तु महत्त्व की बात यह है कि हिन्दी की स्थिति केन्द्रीय है। वह सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के वाहक का काम कर सकेगी। साथ ही, आज के आधुनिक जीवन को यही भाषा अपनी लम्बी सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ने में समर्थ हो सकेगी। हर प्रदेश की अपनी भाषा और अपना साहित्य है, उस प्रदेश की भाषा उसके सांस्कृतिक जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। परन्तु हिन्दी भाषा इन भाषाओं और साहित्यों को आत्मसात् कर उनकी सांस्कृतिक परम्पराओं को दूसरों तक पहुँचाने का अथवा दूसरे क्षेत्र की संस्कृतियों से जोड़ने का काम करती है। यह हर प्रदेश

के जीवन से सम्पृक्त होने में जिस प्रकार सक्रिय है, उसी प्रकार दूसरे प्रदेशों से अन्तस्सम्बन्ध स्थापित करने के कार्य में भी संलग्न है।

डॉ० वर्मा ने एक महत्त्वपूर्ण समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि हिन्दी भाषा और साहित्य का अपना एक निश्चित स्थान और क्षेत्र है। हर भाषा और साहित्य का अपना एक स्वतन्त्र स्थान होता है। यह केवल भ्रम उत्पन्न करने का प्रयत्न है कि हिन्दी भाषा का अपना कोई क्षेत्र ही नही है। अगर हिन्दी भाषा का प्रयोग व्यावहारिक स्तर पर जीवन के विविध क्षेत्रों में वैचारिक आदान-प्रदान करने के लिए अन्य प्रदेश के लोग भी करते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि यह भाषा हमारे मध्यदेश के जीवन को व्यापक और गहरे स्तर पर अभिव्यक्त करने वाली भाषा न स्वीकार की जाय। वस्तुतः किसी भी भाषा का संस्कार, उसकी शक्ति, उसकी व्यंजकता अपने मूल स्थान से ही मिलती है। अगर वह अपने मूल से ही कट जाय, तो वह व्यावहारिक क्षेत्रों में भी नहीं चल पायेगी। जिस प्रकार संस्कृत, पालि, प्राकृत, और अपभ्रंश अनेक प्रदेशों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती रही हैं, उसी प्रकार हिन्दी भी करती रह सकती है। परन्तु यह तभी सम्भव होगा, जब वह मध्यदेश यानी पूरे हिन्दी प्रदेशों में अपनी जड़ों से शक्ति पाती रहेगी।

डॉ० वर्मा ने हिन्दी-उर्दू की समस्या पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि पश्चिमी हिन्दी-क्षेत्र में हिन्दी और उर्दू के रूप में दो पृथक्-पृथक् भाषाओं और साहित्यों का प्रचलन है। पंजाब, दिल्ली, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हिन्दी के साथ उर्दू का भी प्रचलन है। इनको लेकर इधर काफी वाद-विवाद चलता रहा है। उनका स्पष्ट मत है कि हिन्दी लिपि, शब्द-समूह, साहित्यिक आदर्श वैदिककाल से लेकर अपभ्रंश काल तक भारतीय संस्कृति से अपरिहार्य रूप से जुड़े हुए हैं। उसकी अपेक्षा उर्दू लिपि, शब्द-समूह तथा साहित्यिक आदर्श विदेशी संस्कृति से ग्रहण किये गये हैं। अतः कुछ निश्चित उद्देश्यों के लिए उर्दू का प्रचलन हो सकता है। परन्तु हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा केवल हिन्दी है और हो सकती है। राजनीति या अन्य कारणों से जो समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं, वे हमारे व्यापक समाज, संस्कृति और इतिहास की प्रकृति के विरुद्ध हैं।

आगे इस चर्चा को भी उठाया गया है कि हिन्दी का सम्बन्ध सर्वसाधारण की भाषा और उसके साहित्यिक आदर्श से किस स्तर पर सम्भव है। प्रायः कहा जाता है कि हमारी साहित्यिक भाषा को जनता की भाषा के और हमारे साहित्य को जनता के साहित्य के निकट लाना चाहिए। परन्तु वह स्वीकार करते हैं कि साहित्य का स्तर सर्वसाधारण के स्तर से भिन्न होता है और

इसलिए ज्ञान-विज्ञान की भाषा के समान साहित्य की भाषा भी सर्वसाधारण की भाषा से भिन्न होगी। यह भाषा गहरे, मार्मिक और अधिक व्यापक अनुभवों को व्यक्त करने में सक्षम होगी। इसीलिए वे यह भी मानते हैं कि सारे समाज और साहित्य को एक श्रेणी के अन्तर्गत रखना सम्भव नहीं है। वस्तुतः साहित्य को सर्वसाधारण के निकट ले जाने के बजाय सर्वसाधारण की अभिरुचि तथा उसके ज्ञान को उठाना ही वाञ्छनीय है। अन्ततः उनके अनुसार साहित्य संस्कृति का एक अंग मात्र नहीं है। वह सांस्कृतिक जीवन को अभिव्यक्ति देता है और उसे प्रेरित भी करता है। साहित्य अपने युग के जीवन के उच्चतम मूल्यों को इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान करता है, जिससे समाज को दृष्टि और प्रेरणा प्राप्त होती है। इस दृष्टि से ज्ञान और विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों की अपेक्षा, साहित्य का महत्त्व अधिक माना जा सकता है।

× × ×

अधिवेशन संख्या—२८ संवत्—१९९६

अध्यक्ष—पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' स्थान—काशी

अपने वक्तव्य में पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने कहा है कि हिन्दी को अपने प्रारम्भिक दौर में भाषा की लड़ाई लड़नी पड़ी है और उसके बाद साहित्य का संघर्ष भी चलता रहा है। वस्तुतः वे ध्यान आकर्षित करते हैं कि विदेशी राज शक्तियों और उनके राजनीतिक प्रभुत्व के अन्तर्गत मध्ययुग में हिन्दी में निरन्तर सांस्कृतिक एकता बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है। इस युग का साहित्य इस बात का साक्षी है। हिन्दी भाषा एक ओर मध्यदेश के पूरे जीवन को अभिव्यक्ति देने का कार्य करती रही है, तो दूसरी ओर देश के अन्य प्रदेशों से उसके माध्यम से सम्पर्क होता रहा है। उनके अनुसार हिन्दी भाषा का मूल आधार संस्कृत है, क्योंकि संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के विकास-क्रम में ही हिन्दी भी आती है। इसलिए हमारी भाषा में संस्कृत शब्दावली का होना स्वाभाविक है। परन्तु आज हिन्दी का जो रूप विकसित हो रहा है और स्वीकृति पा सका है, उसमें तमाम स्रोतों से शब्द स्वीकार किये गये हैं। हिन्दी को संस्कृत और संस्कृत से विकसित भाषाओं से अलग नहीं किया जा सकता। इनसे आये हुए शब्द हिन्दी की मूल प्रकृति का रूप निर्धारित करते हैं। हम अपने संस्कार को नहीं छोड़ सकते। यह अलग बात है कि आधुनिक सन्दर्भों में अपनी भाषा का विकास करते हुए हम अपनी भाषा और शैली में अन्य स्रोतों से बहुत-कुछ ग्रहण करें। इस प्रकार देशी और विदेशी अनेकानेक शब्दों और व्यंजनाओं को

हम अपनी भाषा में ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु कोई भी जाति अपनी जड़ों से विच्छिन्न होकर न शक्ति ग्रहण कर सकती है और न विकास ही।

निराला जी के अनुसार साहित्य की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया होती है। साहित्य के सघन ओर व्यापक अर्थ को सही परिप्रेक्ष्य मे ग्रहण करने के लिए इस प्रक्रिया की समझ आवश्यक है। हिन्दी का साहित्य अपनी समृद्ध परम्परा में उन्नत और श्रेष्ठ साहित्य है। हमारे साहित्य में विश्व साहित्य के स्तर की रचनाएँ उपलब्ध हैं। हिन्दी का भक्ति साहित्य भारत के समग्र साहित्य में ऊँचा स्थान रखता है। उसका प्रचार और स्वीकृति सारे देश में हो रही है। यह काव्य भारत की संस्कृति को व्यापक स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान करता है। हमारा साहित्य एक ओर पारम्परिक प्राचीन साहित्यों से धीरे-धीरे समृद्ध होता रहा है, तो दूसरी ओर लोक साहित्य से भी अनुप्राणित होता रहा है। हमारा भक्तिकाव्य संसार के श्रेष्ठ साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार किये जाने योग्य है।

इस समय छायावादी काव्य को 'अनन्त की ओर दौड़ने वालों' का काव्य कहकर उपहास किया जा रहा है। वस्तुतः छायावादी काव्य आन्दोलन को परम्परावादियों का गहरा विरोध सहना पड़ा था। निराला जी ने अपने अनेक लेखों में इसका उत्तर दिया है। यहाँ भी इन्होंने सम्यक् उत्तर प्रस्तुत किया। उनके अनुसार आज का विज्ञान पूरी सृष्टि को समझने का प्रयत्न कर रहा है। पूरी सृष्टि अपनी रचना-प्रक्रिया में विविध तत्त्वों के समाहार को अभिव्यक्त करती रहती है। इस स्तर पर अगर साहित्यकार अपनी अभिव्यक्ति को नये-नये आयाम प्रदान करता है, तो यह स्वाभाविक है। निराला जी ने छायावाद के समर्थन में यहाँ एक मौलिक तर्क प्रस्तुत किया है। उनका भाव है कि छायावादी काव्य में अव्यक्त सत्ता की अभिव्यक्ति का जो रचनात्मक प्रयत्न है, वह सत्य को ग्रहण करने का आयाम ही है। प्रकृति के नाना रूपों में अभिव्यक्त सत्ता और उसका चेतन सौन्दर्य भी सत्य के नये आयाम को अभिव्यक्त करता है।

निराला जी ने आज के युग में भाषा और साहित्य के नये दायित्व-बोध पर भी प्रकाश डाला है। क्रमशः हम ज्ञान और विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में आगे बढ़ रहे हैं। हमारे सामने इन क्षेत्रों में उन्नत देशों का आदर्श है। हिन्दी में इन विविध शास्त्रों का साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा जा रहा है और आगे उसे सभी दिशाओं में समृद्ध बनाना है। निश्चय ही इस प्रकार के साहित्य से हिन्दी वाङ्मय के सम्पन्न होने से हिन्दी का रचनात्मक साहित्य भी बहुआयामी और वैविध्यपूर्ण होगा। उसमें जीवन और जगत् के अनेक नये स्तरों को अभिव्यक्ति मिलेगी। सिने-जगत् में हिन्दी फिल्मों को व्यापक स्वीकृति मिली है। इन फिल्मों का

प्रचार अन्य भाषा-भाषी प्रदेशों में भी हुआ है। इन व्यापकता के कारण इन फिल्मों में प्रयुक्त होने वाली भाषा का आधार व्यापक है और उसमें अनेक क्षेत्रीय प्रयोगों को आत्मसात् किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में निश्चय ही इनका प्रभाव हिन्दी भाषा और साहित्य पर व्यापक रूप से पड़ रहा है। निराला जी ने हमारे आधुनिक जीवन की विशेष समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। अनेक हीन और पिछड़ी हुई जातियों को बराबरी का दर्जा प्राप्त हो रहा है। संवैधानिक रूप से तो उनको यह अधिकार मिला ही है, परन्तु वे इसके प्रति जागरूक भी अधिकाधिक होते जा रहे हैं। निश्चय ही इस भावना का प्रभाव हमारी भाषा और साहित्य पर पड़ रहा है और पड़ेगा। उनमें शक्ति और व्यापकता का गुण इससे अधिकाधिक विकसित होगा।

× × ×

अधिवेशन संख्या—२९ **संवत्—१९९७**

अध्यक्ष—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी **स्थान—पूना**

अपने अध्यक्षीय भाषण को आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने तत्कालीन प्रगतिशील आन्दोलन की चर्चा से प्रारम्भ किया। उस समय साम्यवादी देशों में प्रारम्भ होने वाला प्रगतिशील आन्दोलन विश्व स्तर पर अपना प्रभाव डाल रहा था। मूलतः इस आन्दोलन के पीछे साहित्य को मार्क्सवादी दृष्टि से देखने का उपक्रम था। इस विचारधारा में साहित्य की अपेक्षा राजनीति के दृष्टिकोण को लेकर चला गया है। यह दृष्टि साहित्य को उपकरण के रूप में मान कर चलती है। वाजपेयी जी स्पष्टतः इस प्रकार के साहित्य की व्याख्या को स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनकी दृष्टि में साहित्य में जब कभी किसी भी युग में कोई आन्दोलन प्रारम्भ होता है, तो रचना के स्तर पर वह प्रगतिशील ही होता है। उनके अनुसार जब किसी युग में नयी सामाजिक अथवा सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न होती है तो नवीन विचारधाराएँ गतिशील होती हैं और उनसे साहित्य प्रेरणा पाता है और उनको प्रेरित करता भी है। वाजपेयी जी के अनुसार हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में इस प्रकार के तीन आन्दोलन हो चुके हैं। अतः किसी भी साहित्यिक आन्दोलन को प्रगतिशील कहना अर्थहीन है।

वाजपेयी जी के अनुसार जब कोई नया साहित्यिक आन्दोलन शुरू होता है, तो उसमें परिवर्तन की समस्त दिशाओं का परिज्ञान अन्तर्भूत होता है। साथ ही, उसमें विकसनशील शक्तियों और दिशाओं का ज्ञान निहित होता है। साहित्य केवल भावों की अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् व्यक्ति का भाव जगत् ही सामाजिक व्यवहार एव परिस्थितियों से प्रेरित होकर उसमें व्यक्त होता है। साहित्यकार

का दायित्व है कि वह समाज के प्रति अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करता रहे। यह अवश्य है कि साहित्य मे जीवन के सभी पक्ष, सभी स्तर और सभी प्रकार स्थान पाते हैं। साहित्यकार का काम नीति प्रतिपादित करना और आदर्श उपस्थित करना नहीं है। नीतियाँ और आदर्श परिवर्तित होते रहते हैं। पूरे जीवन को देखने वाला साहित्यकार इन परिवर्तनों को सबसे पहले और गहरे स्तर पर देखने में समर्थ होता है। उसकी स्थापनाओं मे उसकी यह दृष्टि प्रतिफलित होती है।

जीवन में आदर्श और यथार्थ, आशा और निराशा, करुण और वीर सभी का समावेश होता है और साहित्य जीवन के इन सभी पक्षों को स्वीकार करता है। परन्तु साहित्य अपने रचनात्मक स्तर पर इनको यथावत् प्रस्तुत नहीं करता। एक ओर इनके माध्यम से जीवन की पूर्णता को अभिव्यक्त किया जाता है और दूसरी ओर दिशा-निर्देशन भी मिलता है। इस प्रकार कोरा आदर्शवाद और परम्परित नीतिवाद साहित्य का लक्ष्य नही है, बल्कि ये साहित्य को निर्जीव और असफल बना देते हैं। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि साहित्य मृत्यु, अगति और कुण्ठा भाव की उपासना नहीं है। निराशा और आत्मपीड़न को साहित्य में अभिव्यक्ति तो मिल सकती है, परन्तु साहित्य उनके प्रति हमारी आसक्ति नहीं उत्पन्न करता। जीवन की आशा और निराशा का साहित्य में स्वीकार होता है, उसमें दोनों परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। परन्तु साहित्य हमे आत्मविस्मृत न बना कर जागरूक करे, यह साहित्य से अपेक्षा है। अगर हम निराशा से घिरे भी हों, तो उस निराशा के अन्धकार में साहित्य आशा की किरण फैला सकता है।

वाजपेयी जी के अनुसार साहित्य की रचनात्मकता (जिसे प्रगति कह सकते हैं) के विरुद्ध कुछ प्रवृत्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए अतिशय शृंगारिकता, वैचित्र्यमूलक कौतूहल, जीवन के प्रति उदासीनता और मात्र मनोरंजन। इन सबसे साहित्य अपने रचनात्मक उद्देश्य को प्राप्त नही कर सकता। इस प्रकार का साहित्य केवल मन बहलाने के काम आ सकता है, रचनात्मक साहित्य की श्रेणी में नहीं आता। साहित्य में जीवन की बाह्य परिस्थितियों, घटनाओं और सघर्षों का चित्रण होता है। परन्तु इनकी अपेक्षा उसमें भावों के द्वन्द्व और बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक सघर्ष अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

आत्मचेतना और जीवन की चेतना साहित्य की रचना में मूल प्रेरणा का कार्य करती है। उनके अभाव में साहित्य, साहित्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः साहित्य अपनी व्यापक और सघन भावव्यंजना में मनुष्य को जीवन की सार्थकता

का किसी-न-किसी स्तर पर अनुभव करता है। अगर जीवन की मान्यताएँ और मर्यादाएँ जीर्ण-शीर्ण हो चुकी है, तो उनका नष्ट होना स्वाभाविक है। वस्तुतः सृष्टि में नाश और जीवन में मृत्यु स्वाभाविक है। परन्तु यह हमारा आदर्श नहीं हो सकता। मृत्यु के लिए मृत्यु, क्षय के लिए क्षय को स्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारा आदर्श जीवन, सर्जन और विकास ही हो सकता है, अतः साहित्य की रचनाशीलता में जीवन की समग्रता के बीच जीवन के इस आदर्श को ही व्यंजित करना होगा। जिस प्रकार समय के साथ हमारे जीवन में परिवर्तन घटित होते रहते हैं, हमारी समस्याएँ और परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, जागरूक साहित्यकार अपनी रचना में इसे लक्षित करता है। इस परिवर्तन के बीच जीवन के नये स्वरूप को वह पहचानता है और नये मूल्यों की दिशा का उसे बोध भी रहता है। साहित्यकार की मूल शक्ति वस्तुतः उसकी रचनात्मक प्रतिभा है और इसीलिए ऐसा साहित्यकार अपने युग के परिवर्तन की दिशा और उसकी आवश्यकताओं को सबसे पहले पहचानता और इंगित करता है।

आज के जीवन के एक नये सन्दर्भ की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए वाजपेयी जी ने वर्तमान राजनीतिक चेतना में उच्च वर्गों के साथ निम्न वर्ग की चेतना के उदय का उल्लेख किया है। इसके फलस्वरूप साहित्य में भी हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। आज के हमारे साहित्यकार की दृष्टि हमारे समाज के बदलते हुए इस स्वरूप पर पड़ी है और उसने उससे उत्पन्न समस्याओं को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है। किसी समस्या का हल सामने रखना उसका काम नहीं है, वह दृष्टि दे सकता है। साहित्यकार की बौद्धिक क्षमता और ग्राहिका शक्ति का आभास इसी से मिल जाता है कि उसने अपने समय की सामाजिक प्रगतियों को और मार्ग में आने वाली बाधाओं को देखा है या नहीं। यह अवश्य है कि साहित्यकार इन सबका संकेत अपनी रचनाओं में चरित्रों, परिस्थितियों और मनःस्थितियों के रचनात्मक संयोजन में करता है।

वाजपेयी जी के अनुसार रचनाकार प्रगतिशील शक्तियों को और उसके परिवर्तन की दिशा को पहचानता है और उन्हें अपनी रचना में इंगित करता है। परिवर्तन से उत्पन्न विचारधाराओं के शब्द-संकेतों का अध्ययन करता है। निश्चय ही उसकी यह सारी प्रक्रिया रचना के स्तर पर ही सम्भव है। वह प्राचीन विचारधाराओं के स्वरूप और उद्देश्यों को नये सन्दर्भों में रखकर देखता है और उनकी नवीन उद्देश्यों तथा विचारधाराओं से तुलना करता है। फिर प्रस्तुत नवीन समस्याओं का समाधान खोजने का उसका उपक्रम भी व्यंजित होता चलता है। लेकिन उसे प्राचीनता के मोह का परित्याग करना होगा।

और नवीन समस्याओं के सम्बन्ध में साहित्यिक रचना के स्तर पर नयी प्रेरणाएँ प्राप्त करनी हैं। अन्ततः वह हर प्रकार की रूढ़िवादिता, ह्रासोन्मुखता और मूल्यहीनताओं के प्रति विद्रोह की भावना को जन्म देता है। परन्तु वाजपेयी जी स्पष्टतः यही स्वीकार करते हैं कि साहित्यकार यह सब विचार और चिन्तन, उपदेश अथवा आत्म-कथन के स्तर पर नहीं करता। वह जीवन की रचना के अन्तर्गत ही इनका संकेत देता है।

o o o

अधिवेशन संख्या—३० **संवत्—१९९८**

अध्यक्ष—पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी **स्थान—अबोहर**

श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी के अनुसार आज के रचनाकार का दृष्टिकोण पिछले युगों के रचनाकारों से भिन्न है। आज साहित्य की रचना वे जीवन के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। अलग-अलग युगों मे साहित्य के प्रति साहित्यकार की दृष्टि अलग रही है। किसी युग ने साहित्य को साधना माना। उसकी रचना स्वान्तः सुखाय स्वीकार की गयी। वेदव्यास और वाल्मीकि ने साहित्य की रचना जीवन-निर्वाह हेतु नहीं मानी है। फिर ऐसा भी युग आया जब रचनाकार राज्याश्रित हो गया और उसकी रचना उसकी अपनी इच्छा पर पूरी तरह नहीं निर्भर रही। हमारे हिन्दी के आदिकाल के रचनाकार ऐसे भी हुए, जिन्होंने अपने नायकों को प्रेरित किया। हमारे भक्तिकाल के रचनाकार साधक और भक्त थे। उन्होंने मानव जीवन को समग्र और गहरे स्तर पर देखा, अनुभव किया। उनमें व्यापक अन्तर्दृष्टि और विवेक पाया जाता है। आज के आधुनिक युग का साहित्यकार अपने पूरे युग-परिवेश से अलग नहीं रह सकता, उससे प्रतिक्रियाशील होना स्वाभाविक है।

किसी भी देश की संस्कृति का उसके साहित्य से गहरा सम्बन्ध जुड़ता है। साहित्य की रचनाओं में उस युग की सस्कृति के विविध पक्षों का अभिव्यक्तीकरण होता है। कहा जाता है कि साहित्य की आत्मा में सस्कृति निवास करती है। किसी देश की संस्कृति उसके साहित्य में अपने युगीन सन्दर्भों के साथ अभिव्यक्ति पाती है। वाजपेयी जी के अनुसार एक शान्त युग का साहित्य होता है और दूसरा अशान्त युग का। अशान्ति के युग के साहित्य में व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि की अपेक्षा राष्ट्र की तत्कालीन समस्याओं को अधिक महत्त्व मिल जाता है। इस परिस्थिति में अनेक राष्ट्रीय समस्याओं से प्रेरणा पाने वाले चरित्रों और भावनाओं को पोषण मिलता है। निश्चय ही यह साहित्य स्वान्तः सुखाय नहीं होता, इसमें युग-जीवन के स्तर पर मूल्यों का संघर्ष

और दिशा-निर्देश होता है। परन्तु जिस युग में शान्ति और व्यवस्था होती है, उसमे साहित्य का उद्देश्य स्वान्तः सुखाय हो जाता है। यह साहित्य जीवन को आनन्द प्रदान करने के साथ शाश्वत मूल्यों की अभिव्यक्ति करता है।

आज की व्यापक समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए वाजपेयी जी सबसे पहले स्वतन्त्रता के प्रश्न को लेते है। परन्तु साथ ही, उससे सम्बद्ध अनेक समस्याओं को स्वीकार करते हैं, जिनके सन्दर्भ में ही राष्ट्र की स्वाधीनता अर्थवान् हो सकती है। राष्ट्रीय समस्याओं को उठाने के साथ ही, वाजपेयी जी ने इस बात पर भी विचार किया है कि साहित्यकार आज की सामयिक समस्याओं के लिए क्या कर सकता है? पहले के युगों मे साहित्यकार देश व समाज की समस्याओं का हल ढूँढ़ना अपना काम नही मानते थे। वे भावाभि-व्यक्ति के स्तर पर जीवन की व्याख्या करना अपना कर्म मानते थे। पहले साहित्यकार सौन्दर्य-सृष्टि करना अपना लक्ष्य मानते थे, पर परिवेश एवं जीवन-मूल्यों में परिवर्तन होने के साथ ही, आज के साहित्यकार का दृष्टिकोण भी बदल गया है। आज के साहित्यकार का दृष्टिकोण समाज के सामने नैतिक मूल्यों को प्रसारित करना, जीवन के विकास की दृष्टि विकसित करना और समाज को ऐसी प्रेरणा देना है जिससे वह आगे बढ़ सके। आज का साहित्यकार मानवता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए, समाज को रूढ़ियों, विकृतियों एवं नैतिक दुर्बलताओं से मुक्त करना चाहता है। वाजपेयी जी ने आगे इस बात पर ज़ोर दिया है कि आज साहित्यकार को अपने राष्ट्र की परिकल्पना को सही अर्थ में ग्रहण करना होगा। 'राष्ट्र' किसी भी राष्ट्र के जन-गण, उसकी भाषा, संस्कृति और शासन-व्यवस्था की आधारभूत एकता का नाम है। स्वतन्त्र होना या स्वाधीनता की ओर उन्मुख होना राष्ट्र की पहली शर्त है। हमारे आज के साहित्यकारों ने देश की राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत किया है। राजनीति सांस्कृतिक धरातल से अनेक बार पृथक् हो जाती है, परन्तु साहित्य एवं साहित्यकार दोनों का सदा यही धर्म है कि वह अपनी संस्कृति का रक्षण व विकास करे।

वाजपेयी जी ने यहाँ यह भी विचार किया है कि राष्ट्र-निर्माण में अथवा उसके विकास में साहित्य की क्या भूमिका हो सकती है? साथ ही, वाजपेयी जी ने इस बात पर भी विचार किया है कि जन-मत साहित्य के इस धर्म में कितनी आस्था रखता है? आगे राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में विचार करते हुए वाजपेयी जी ने इस बात को भी स्वीकार किया है कि हिन्दुस्तानी और उर्दू की पक्षधरता वास्तव में किसी तर्क या न्याय पर आधारित नही है वरन् वह पक्षपातपूर्ण है। राष्ट्रभाषा

के प्रश्न पर वे यह स्वीकार करते है कि आज राजनीतिज्ञ केवल अपने स्वार्थ से प्रेरित हैं, न उनको सामान्य जनता की भावनाओं का ध्यान है और न अपनी सांस्कृतिक परम्परा का।

साहित्यकार केवल युगवाहक ही नहीं युगचेता भी होता है। अशान्तिकालीन साहित्य, नवपथगामी, क्रान्तिकारी और ध्वंसक इन तीन रूपों में जन-साहित्य की पूर्ति करता है। एक स्तर ऐसा है, जहाँ साहित्यकार विश्व के स्तर पर क्रियाशील होता है। वह मानवता के चिरन्तन सत्य की खोज करता है। वैसे साहित्यकार युगयुगीन मान्यता के रचनाकार होते हैं। इससे भिन्न एक दूसरे स्तर पर साहित्यकार अपने युग का चेता और रचनाकार होता है। कोई भी रचनाकार अपने समाज से निरपेक्ष नहीं हो सकता, समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को उसे निभाना होगा। जो कला या साहित्य सौन्दर्य की सृष्टि करने में समर्थ है, वह अपनी सामाजिक भूमिका भी निश्चय ही निभा सकेगा। संसार के ऐसे अनेक महान् लेखक हुए है, जिन्होंने समाज, इतिहास और राजनीति की पृष्ठभूमि पर भी रचना के स्तर पर अपनी सर्जनात्मकता का या कलात्मकता का भी परिचय दिया है।

जन-साहित्य की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने उसके तीन रूपों पर विचार किया है—१. वह साहित्य जिसकी रचना जनसाधारण द्वारा की जाय। २. उस साहित्य के द्वारा ऐसी शासन-व्यवस्था का समर्थन हो जिसमे श्रमजीवियों के अधिकारों का पोषण हो। ३. जिसमें ऐसी संजीवनी शक्ति हो कि वह एक ओर जनसाधारण के मन को स्पर्श करे और दूसरी ओर अखिल मानवता के भावों को भी अभिव्यक्त करे। वाजपेयी जी वर्ग-संघर्ष की पक्षधरता करने वाले साहित्यकारों का समर्थन नही करते, क्योंकि वे मानते हैं कि इस समय ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो (१) सामूहिक ज्ञान की पिपासा को शान्त करे। (२) सामाजिक जीवन को विश्रृखलित और जर्जर करने वाले तत्त्वों को आगे बढ़ने से रोके। (३) समाज के जीवन को छिन्न-भिन्न करने वाली विकृतियों को दूर करे।

आगे उन्होंने प्रगतिवादी साहित्य-चिन्तन पर विचार करते हुए उसकी सीमाओं पर प्रकाश डाला है। सबसे पहले वे मानते हैं कि यह विदेशी प्रवृत्ति है, जो हमारी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सर्वथा भिन्न है। दूसरे इससे देश का कल्याण नही है क्योंकि हमारे राष्ट्र के लिए इस समय हर प्रकार की एकता अपेक्षित है। वर्ग-संघर्ष पर बल देने से यह एकता खण्डित होगी। हर एक व्यक्ति को अपने-अपने स्तर पर अपने देश और समाज के विकास में सहयोग देना ही अपेक्षित है। हमको इस समय ऐसे ही कार्य करने हैं जिनसे हमारा मार्ग प्रशस्त हो।

आगे अपने व्याख्यान में वाजपेयी जी ने कुछ व्यावहारिक समस्याओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। इन समस्याओं मे सर्वप्रमुख है पुस्तकों की बिक्री की समस्या। आज का साहित्यकार अपने रचनाकर्म मे लगा हुआ है। परन्तु उसकी रचनाओं को पाठकों तक किस प्रकार पहुँचाया जाय? आज के प्रकाशक और विक्रेता दोनों ही बहुत निचले स्तर के हैं। उनमे न तो साहित्य की ममज्ञ है और न ही वे ठीक ढग से प्रकाशन की व्यवस्था या विक्रय की व्यवस्था करते है। आज जबकि प्रकाशकों का दृष्टिकोण पूरी तरह से धन कमाने का हो गया है और वे सोचते है—(१) कौन-सी पुस्तक जल्दी बिकती है? (२) किस पुस्तक में लागत कम आयेगी? (३) किस पुस्तक में लेखक को कम रायल्टी दी जा सकती है? ऐसी स्थिति में निश्चय ही अच्छे साहित्य के प्रकाशन व उसकी बिक्री की सम्भावना नष्ट हो जायगी। यदि हमे आज अच्छे साहित्य को प्रचारित करना है, तो उसके प्रकाशन एव बिक्री पर ध्यान देना ही होगा। क्योंकि सम्मान-पूर्वक यदि साहित्यकार जीवन-यापन नहीं कर सकता है तो वह साहित्य की सेवा क्या कर सकेगा?

अपने व्याख्यान के अन्त में वाजपेयी जी ने हिन्दी साहित्य के वर्तमान स्वरूप की चर्चा की है। इस समय प्रचलित काव्य, नाटक, उपन्यास, लघुकथा, संस्मरण, निबन्ध और समालोचना इन सात विधाओं का उल्लेख उन्होंने किया है। इसके साथ ही जीवन-चरित्र एवं यात्रा-वर्णनों को भी उन्होंने माना है। आज आलोचना करते समय हम देखते हैं कि (१) साहित्यकार के कथन में आत्मानुभूति की भूमि पर जो भावात्मक आलोक फूटा है उसमें समाज की स्थिति क्या है? (२) साहित्यकार का मानस स्तर कैसा है? (३) वस्तुस्थिति को देखते हुए साहित्य-कार का अपना कथन क्या है?

आज साहित्य में जो विविध वाद प्रचलित हैं, वे साहित्य की स्वतन्त्र, सूक्ष्म और अतलस्पर्शी सत्ता को परख नहीं पाते। इसका कारण क्या है? (१) पहला कारण साहित्य की सृष्टि पहले होती है और वाद की बाद में। (२) स्वतन्त्र चेता कवि वाद के पीछे नहीं चलता है। वाजपेयी जी के अनुसार उस समय साहित्य में गांधीवाद से 'सांस्कृतिक आलोकवाद', 'राष्ट्रीय आलोकवाद', 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' जुड़ते हैं, दूसरी ओर यथार्थवाद और प्रगतिवाद की अनेक धाराएँ फूट पड़ेंगी। इसके अनन्तर उन्होंने आज के साहित्य पर विहंगम दृष्टि डाली है।

० ० ०

अधिवेशन-- संख्या-३१ संवत्---२०००
अध्यक्ष---डॉ० रामकुमार वर्मा स्थान---हरिद्वार

अपना अध्यक्षीय भाषण डॉ० रामकुमार वर्मा ने साहित्य के प्रति जन-समाज की उदासीनता से प्रारम्भ किया। तत्कालीन महायुद्ध की विभीषिका के कारण साहित्य सर्जन और अनुशीलन के लिए लोगों के पास कम अवकाश था। जहाँ तक पिछली दशाब्दियों मे हमारे साहित्य की प्रगति का प्रश्न है, पर्याप्त प्रगति हुई है। पर अभी तक राष्ट्रभाषा हिन्दी की समृद्धि के लिए समुचित साधनों पर विचार नहीं हुआ। प्रचार-कार्य से ही सन्तुष्ट रहना उचित नही है। भाषा की क्षमता भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के साथ बढ़ती है, अतः उस शक्ति के विकास की चेष्टा करना अपेक्षित है। अपने साहित्य मे हमको अपनी सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखना होगा। कोई भी उन्नत समाज अपनी सांस्कृतिक परम्परा से अलग नही होता और उसकी संस्कृति का रचनात्मक स्वरूप उसके साहित्य मे सुरक्षित होता है। आज की भौतिकवदी दृष्टि के सम्मुख भी हम अपनी सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर ही टिके रह सकते हैं। भारतीय सस्कृति का आदर्श सार्वभौमिक मानव-जीवन के ऐक्य और सघटन पर प्रतिष्ठित है। साहित्य में निरन्तर मानव-हित और सहयोग की कामना निहित होती है। वह प्रेम और शान्ति का सन्देश देता है। भारतीय साहित्य में निरन्तर शाश्वत मूल्यों की परम्परा अभिव्यक्ति पाती रही है। परन्तु आधुनिक युग मे हमारे युवक इन मूल्यों पर विश्वास नहीं करते। उनके सामने पश्चिम के अनुकरण का आदर्श है, वे भूल गये हैं कि उनके पास अपनी परम्परा का ऐसा जीवन्त और दिव्य संगीत है, जो किसी अन्य जाति के पास नहीं है।

सच्चे साहित्यकार में, कलाकार में आत्मीयता और उदारता अभिव्यक्ति पाती है। वह घृणा के स्थान पर प्रेम का सन्देशवाहक होता है। निश्चय ही जीवन्त साहित्य अनेक प्रकार के प्रभाव ग्रहण करता है। हमारा साहित्य पश्चिम से भी प्रकाश पा सकता है। साहित्य में समसामयिक जीवन की अभि-व्यक्ति का होना स्वाभाविक है और उसमे जीवन के विविध स्तर और दृष्टिकोण समाहित होते हैं। हमारे मध्ययुगीन साहित्य में आध्यात्मिक जीवन के मूल्यों का उन्मेष लक्षित है, परन्तु आज का हमारा साहित्य लौकिक जीवन से अनुप्राणित है, उसके मूल्यों का स्वरूप और द्वन्द्व इस साहित्य में देखा जा सकता है। यह आज की नयी परिस्थिति के कारण है। आज का साहित्य हमारे जीवन को व्यापक मानवता के स्तर पर प्रतिष्ठित करने में सहयोग दे सकता है।

हिन्दी साहित्य में प्रचुर मात्रा में काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी और

आलोचना का प्रकाशन होता रहा है। परन्तु हमारे जीवन के मूलभूत प्रश्नों का उत्तर इनमें सीमित रूप में ही मिल पायेगा। आज का लेखक वास्तविक स्थितियों और परिस्थितियों की न सही पकड़ रखता है और न उनकी अनुभूतियों को ग्रहण करने में सक्षम है। पश्चिमी युगान्तरकारी साहित्य के सामने हमारे साहित्यिक सस्कार बह गये हैं और हम किसी नये संस्कार को राष्ट्रीय जीवन के स्तर पर विकसित करने मे समर्थ नहीं हो सके। अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण हम अपने रचनात्मक व्यक्तित्व को विकसित करने मे सफल नही हो पा रहे है। अगर सामाजिक जीवन के अध्ययन, अनुशीलन और निरीक्षण की उपेक्षा करते रहेगे, तो हम अपने साहित्य सर्जना में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नही प्राप्त कर सकेंगे।

डॉ० वर्मा ने हिन्दी काव्य की अभिव्यजना सम्बन्धी कमी की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि शब्द और भाव की सही समझ और पकड़ के बिना कोई भी उच्चकोटि की रचना सम्भव नही है। ऐसा नही है कि साहित्यिक भाषा जनभाषाओं से अलग रहकर अपनी अभिव्यक्ति शक्ति को बनाये रख सकती है। वस्तुतः जनभाषाओं से साहित्यिक भाषा को प्रेरणा लेनी ही होगी। जन-भाषाएँ जीवन के व्यवहार की भाषाएँ होती है, उनमे समाज का दुःख और सुख व्यजित होता है। इसीलिए अपनी अभिव्यक्ति की क्षमता बनाये रखने एव उसको विकसित करने के लिए साहित्यिक भाषा को जनभाषाओं से जीवनी शक्ति ग्रहण करनी होगी। हमारे साहित्य में अन्य भारतीय भाषाओं की साहित्यिक शैलियों को भी ग्रहण किया जाना चाहिए। हमारे कथा साहित्य को मनोरजन से आगे बढ़ कर साहित्य के गम्भीर उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिए। हमारे नाटकों को रगमच के अनुकूल होना है। क्योंकि जन-जीवन से जुड़कर ही उनकी सार्थकता होती है। हमारा साहित्य राष्ट्रीय भाषा का साहित्य है, अतः हमारे साहित्यकारों को भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य से भली-भाँति परिचित होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार वे पूरे भारतीय जन-समाज को पहचान सकेंगे।

० ० ०

अधिवेशन—संख्या-३२ **संवत्—२००१**

अध्यक्ष—आचार्य शिवपूजन सहाय **स्थान—जयपुर**

आचार्य जी ने अपने व्याख्यान में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। इस क्षेत्र में पूज्य पराड़कर जी, लक्ष्मण नारायण गर्दे, पं० बनारसी-दास चतुर्वेदी, पं० हरिभाऊ उपाध्याय, पं० सुन्दरलाल आदि जैसे महत्त्वपूर्ण सम्पादक और पत्रकार रहे हैं। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। वस्तुतः अपने देश और समाज के प्रति उसकी पत्रकारिता का विशेष

दायित्व रहता है। हमारे पत्रकारों को देश की राजनीतिक समस्याओं के साथ-साथ हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक समस्याओं पर भी ध्यान देना होगा। पत्रकार न केवल समसामयिक परिस्थिति और उसकी समस्याओं से अपने समाज को परिचित करता है, वरन् वह दिशा-निर्देशन भी कर सकता है। भाषा की रूप-रेखा को सँवारने-सुधारने में, शब्दों के प्रयोगों को निर्धारित करने में और विचारों के उपयुक्त भाषा को निर्मित करने मे पत्रकारिता का महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है। परन्तु इस क्षेत्र में वैसे दायित्व का अनुभव करने वाले नही है।

चित्रपट और रेडियो की समस्या पर विचार करते हुए इस क्षेत्र में भी उन्होंने पत्रकारों के दायित्व की चर्चा की। वे दोनों ही बहुत सशक्त माध्यम हैं और इनके द्वारा जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया जा सकता है। इन माध्यमों का उपयोग और दुरुपयोग दोनों ही किया जा सकता है। जनता इनके द्वारा अपनी समस्याओं से परिचित करायी जा सकती है और इनके माध्यम से दिशा-निर्देश भी किया जा सकता है। परन्तु साथ ही, यह जनता का सस्ता मनोरंजन करते हैं, उन्हें कल्पना के भ्रम में रहना सिखाते है और साथ ही, असामाजिक और अनैतिक जीवन की ओर आकर्षित करते है। यह पत्रकारों का ही दायित्व है कि वे इन माध्यमों को नियन्त्रित करें और पथभ्रष्ट होने से बचाएँ। पत्रकारिता उनको सही रूप देने में सहायक भी हो सकती है।

हिन्दी भाषा और साहित्य की अनेक समस्याओं की चर्चा करते हुए आचार्य जी ने एक ओर साहित्यकारों के महत्त्वपूर्ण कार्यो का उल्लेख किया, तो दूसरी ओर उनके दायित्व के प्रति उन्हें सजग भी किया। भाषा और भाव की शुद्धता, सुन्दरता और पवित्रता से ही साहित्य की मर्यादा बनती है। शब्दों के सम्यक् ज्ञान और उनके सुन्दर प्रयोग से ही रचनाकार को सफलता मिलती है। साहित्य-कारों को भाषा की रमणीयता, भाव की बोधगम्यता और अभिव्यक्ति की प्राञ्जलता पर ध्यान देना चाहिए। इस प्रकार वे अपने उद्देश्य में अधिक सफल हो सकेंगे, क्योंकि उनका लक्ष्य लोकरंजन के साथ लोकहित होता है। ऐसे साहित्य की रचना आवश्यक है जिससे हमारी सांस्कृतिक चेतना में विकृति या विशृंखलता न आने पाये। समालोचना के क्षेत्र में आधुनिक सन्दर्भ मे पश्चिमी आलोचना पद्धति को स्वीकारा जा सकता है, परन्तु भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। हमारा साहित्य आधुनिक होकर भी भारतीय परम्परा से जुड़ा हुआ है, अतः उसके मूल्यांकन के लिए भारतीय दृष्टि की समझ अनिवार्य है।

आचार्य जी ने लेखकों के जीवन-यापन की समस्या को विशेष रूप से उठाया है। हमारे लेखकों को किन सीमाओं और कठिनाइयों में अपना लेखन-कार्य

करना पड़ रहा है, उसका अनुभव हमें करना है। इस परिस्थिति में साहित्यकार से हम किस प्रकार स्वतन्त्र साहित्य सर्जन की अपेक्षा रख सकते है। ऐसा आयोजन और व्यवस्था की जानी चाहिए जिसमे साहित्यकार की रचनाएँ पाठकों तक पहुँच सकें और साहित्यकार को जीविका-यापन के लिए पर्याप्त साधन मिल सकें। इस समस्या पर विचार करना होगा और इसका समाधान निकालना होगा। साहित्यकार बन्धुओं से उनका निवेदन है कि उन्हें भाषा और भाव की शुद्धता, सुन्दरता और पवित्रता से साहित्य की मर्यादा बनाये रखनी है। आधुनिक युग में हमारे साहित्य मे भावों की अनियन्त्रित अभिव्यक्ति देखी जा रही है, परन्तु साहित्य को जीवन को गति, स्वास्थ्य और प्रेरणा देनी होगी। साहित्य मे वैविध्य और भाव-व्यजना की विलक्षणता बढ़ती जा रही है। परन्तु साहित्यकार को इस बात पर दृष्टि रखनी है कि वह जिस साहित्य की सृष्टि कर रहा है वह समाज के लिए श्रेयस्कर है अथवा नही।

० ० ०

अधिवेशन—संख्या-३३ **संवत्—२००२**
अध्यक्ष—डॉ० रामकुमार वर्मा **स्थान—उदयपुर**

अपने दूसरे अध्यक्षीय भाषण में डॉ० वर्मा ने राजस्थान की परम्परित राष्ट्रीय चेतना का उल्लेख किया, इस अधिवेशन के स्थान और परिवेश के सन्दर्भ में यह स्वाभाविक है। शताब्दियों से राजस्थान के चारण कवियों ने वीर-काव्य का सर्जन किया है। इस काव्य में इस वीर-प्रसूता-भूमि के उन वीर पुरुषों की वीरता का वर्णन है जिन्होंने स्वाधीनता के लिए निरन्तर युद्ध किये हैं। मध्य-युग में इन चारणों ने हमारी राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध किया और हम अपनी राष्ट्रीय भावना को उनकी प्रेरणा से विकसित कर सके हैं।

देश की तत्कालीन परिस्थिति की ओर साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने अपने साहित्यिक बन्धुओं को अपने दायित्व का स्मरण दिलाया है। यूरोप के दूसरे महायुद्ध के समाप्त होने के साथ हमारा देश अभाव और अन्न संकट से गुजर रहा है। बंगाल में इतना बड़ा महाकाल पड़ चुका है फिर भी देश में सन्नाटा है, कोई आवाज़ सुनायी नहीं दी। ऐसे अवसरों पर साहित्यकार का विशेष दायित्व होता है, क्योंकि उसे अपने युग की भावनाओं का प्रतिनिधि माना जाता है। परन्तु हमारे साहित्य में जागृति के कोई लक्षण नहीं दिखायी देते। तत्कालीन परिस्थिति पर बहुत कम साहित्य लिखा गया है।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील आन्दोलन की चर्चा करते हुए उन्होंने स्वीकार किया, साहित्यकार के लिए जन-भावना का प्रतिनिधित्व करना उचित है, अपेक्षित

है। अन्याय और शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाना भी उचित है। आज के परिवेश में कृषक और श्रमिक वर्ग की पक्षधरता लेखक अपना दायित्व स्वीकार कर सकता है। साहित्य आज के इन मूल्यों को अभिव्यक्त कर सकता है और यह मूल्य एक स्तर पर साहित्य को व्यापक मानवीय सन्दर्भ भी प्रदान कर सकता है।

आज हमारे देश को ज्ञान-विज्ञान के साहित्य की बहुत आवश्यकता है। देश के सर्वाङ्गीण विकास के लिए विज्ञान का प्रचार-प्रसार आवश्यक है। उनके अध्ययन के लिए प्रचुर साहित्य की आवश्यकता होगी। उनके अध्ययन-अध्यापन के लिए हर विषय के पाठ्य-ग्रन्थों की आवश्यकता है। इन विषयों पर साहित्य-निर्माण के लिए पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता होगी। यह शब्दावली संस्कृत के आधार पर बनायी जा सकती है, यद्यपि कुछ लोग अंग्रेजी शब्दावली को स्वीकार कर लेने के पक्ष में हैं। वस्तुतः अपनी भाषा की प्रकृति की रक्षा के लिए इस शब्दावली का मूलाधार संस्कृत ही होना अपेक्षित है, आवश्यकतानुसार अंग्रेजी शब्दावली को भी स्वीकार किया जा सकता है। तत्कालीन हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के विवाद के बारे मे उनका मत है कि सारे देश की भाषाओं को ध्यान में रखकर हिन्दी को मूलतः संस्कृत से जुडना और प्रेरणा लेना होगा। उत्तर भारत की समस्त आर्यभाषाएँ एक ही स्रोत से विकसित हुई है। साथ ही, दक्षिण की भाषाओं में भी संस्कृत के शब्दों का व्यापक प्रयोग मिलता है। वस्तुतः हिन्दी भाषा इसी कारण व्यावहारिक रूप में अधिक ग्राह्य है। भाषा को अधिक बोधगम्य बनाना ही उचित है और इस दृष्टि से सभी स्रोतों से शब्दों को ग्रहण किया जा सकता है।

डॉ० वर्मा ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सामने कुछ नयी महत्त्वपूर्ण योजनाएँ भी रखीं। (१) प्राचीन ग्रन्थों के समुचित सम्पादित संस्करणों का प्रकाशन (२) प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य से हिन्दी-भाषी जन-समाज को परिचित करने के लिए उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन, उस साहित्य को हिन्दी के पाठ्यक्रमों मे स्थान दिलाना (३) ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली का निर्माण और उसके स्तरीय साहित्य का प्रणयन (४) आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के लिए नये समालोचनाशास्त्र का निर्माण, क्योंकि हमारा प्राचीन काव्यशास्त्र आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन मे पर्याप्त नही है और पश्चिमी आलोचनाशास्त्र हमारे साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा के पूरी तरह अनुकूल नही है। ऐसी स्थिति में अपनी आवश्यकताओं के अनुसार समकालीन साहित्य को दृष्टि में रखते हुए हमको नये समालोचनाशास्त्र की रचना करनी होगी। (५) लिपि सुधार की चर्चा करते हुए, विशेषकर छपाई के कार्य को अधिक गति देने के लिए टाइप के

सुधार को अपेक्षित माना (६) हिन्दी साहित्य के प्रकाशन का कार्य बहुत विस्तार पा रहा है, परन्तु अब उसमें संयोजन की आवश्यकता है। इस प्रकार साहित्य का प्रकाशन अधिक व्यवस्थित और स्तरीय हो सकेगा। अन्त में उन्होंने हिन्दी रंगमंच के विकास और उसके विविध प्रयोगों की आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित किया।

o o o

अधिवेशन संख्या—३४ **संवत्—२००३**

अध्यक्ष—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी **स्थान—कराँची**

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने व्याख्यान के प्रारम्भ में देश की स्वाधीनता की स्थिति पर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। यह अवसर समस्त राष्ट्र के लिए उल्लास का अवसर है। परन्तु इस क्षण हमारे लिये आत्मचिन्तन की भी अपेक्षा है, क्योंकि यह स्मरण रखना है कि स्वाधीनता के साथ ही हमारे ऊपर भारी दायित्व आ गया है। जब देश की स्वाधीनता के लिए राष्ट्र संघर्षरत था, उस समय हमारा ध्यान एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित था, हमें देश स्वाधीन करना है। परन्तु आज हम स्वाधीन हैं और हमको अपने राष्ट्र की सभी समस्याओं पर ध्यान देना है। समस्याएँ व्यापक और जटिल हैं।

पराधीनता के काल में हमारे राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विशृंखलता और विघटन व्याप्त था। हमारा सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन अस्त-व्यस्त हो चुका था। अब इन बहुविध समस्याओं को हमको समझना है और उनका समाधान ढूँढ़ना है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हमको उसके आधार की प्रतिष्ठा करनी है। आज कोई भी राष्ट्र बिना ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़े अपना विकास नहीं कर सकता। निश्चय ही आधुनिक युग में विज्ञान की उन्नति ने मनुष्य के सामने विकास की अनन्त संभावनाएँ उजागर कर दी हैं। उनकी सहायता से वह अपनी सुख-सुविधा के अनेक साधन जुटा सकता है। परन्तु हमें इस बात का भी ध्यान रखना है कि मनुष्य का लक्ष्य केवल सुख-सुविधाएँ जुटाना नहीं हो सकता, उसका लक्ष्य मंगल की कामना की ओर निर्दिष्ट है। यह मंगल की भावना केवल भौतिक प्रगति से सम्भव नहीं है। अनेक सुविधाएँ प्राप्त करके भी मनुष्य अपने जीवन में संघर्ष और राग-द्वेष का शिकार हो सकता है। जब तक बुद्धि की प्रखरता के साथ हृदय की उदारता का संयोग नहीं होता, तब तक मनुष्य मंगल की साधना नहीं कर सकता।

हमारी राजनीति, हमारी अर्थनीति और हमारी नवनिर्माण योजनाएँ तभी सर्वमंगल विधायिनी बन सकेंगी, जबकि हमारा हृदय उदार और संवेदनशील

होगा, बुद्धि सूक्ष्म और सारग्राहिणी होगी तथा संकल्प महान् होगा। साहित्य का उद्देश्य ही मनुष्य को मानवता का लक्ष्य प्राप्त कराना है। मनुष्य अपने ज्ञान भण्डार से अपनी शक्ति और अपना सामर्थ्य बढ़ा सकता है, परन्तु साहित्य उसे हृदय की वह विशालता प्रदान करता है जिससे वह लोकमंगल के लिए अपनी शक्ति तथा सामर्थ्य का उपयोग कर सके। साहित्य के व्यापक प्रचार की आवश्यकता इसलिए है कि मनुष्य को मनुष्य के सुख-दुःख के प्रति संवेदनशील बनाये।

आगे द्विवेदी जी ने साहित्य सम्मेलन की कार्यविधि की चर्चा करते हुए कहा कि सम्मेलन हमारी भाषा और हमारे साहित्य की प्रतिनिधि संस्था रही है। भाषा और साहित्य का दायित्व सारे देश को संयोजित करने में अत्यन्त महत्त्व का होता है। इस क्षेत्र में अनेक संकल्प पिछले वर्षों किये जाते रहे हैं, परन्तु केवल व्याख्यान देना और प्रस्ताव पास करना इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। हमने अनेक योजनाएँ बनायीं, परन्तु प्रश्न है कि उनमें से कितनी सफल हो सकीं? यह ठीक है कि हमारे मार्ग में अनेक बाधाएँ आती रही हैं और फिर भी हमने उनसे हार नहीं मानी। हमें अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने का पूरा प्रयत्न करना होगा।

साहित्य सर्जन के साथ हमको ज्ञान-विज्ञान के साहित्य की अब अधिक आवश्यकता पड़ती जायगी। अब हमको अपनी उच्च शिक्षा अपनी भाषा के माध्यम से देनी होगी और उसके लिए हमको ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों का विशाल साहित्य अपेक्षित होगा। इसके लिए इनके विपुल साहित्य के अनुवाद की अपेक्षा है। जब तक इनका विपुल साहित्य हम उपलब्ध नहीं करा पाते, हम संसार के उन्नत राष्ट्रों के बराबर नहीं हो पायेंगे। वस्तुतः विज्ञान की शक्ति का उपयोग मानवहित के लिए किया जाना चाहिए। उसका दुरुपयोग भी किया जा रहा है। परन्तु वह अनुचित है। हमको विज्ञान के उपयोग के मंगल पक्ष पर ही बल देना है।

हिन्दी भाषा राष्ट्र की एकता का प्रतीक है। यह भाषा संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा में आती है, जिन्होंने सारे देश के जीवन को सांस्कृतिक स्तर पर जोड़ा है। इधर अनेक शताब्दियों से हिन्दी भाषा हमारे सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम रही है। अपनी केन्द्रीय स्थिति के कारण हिन्दी भाषा और साहित्य का करोड़ों देशवासियों के सुख-दुःख से गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए उसकी सेवा का तात्पर्य है कि हम अपने देशवासियों के दुःख-सुख की चिन्ता करते हैं और उनके जीवन को उन्नत बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

आधुनिक काल में व्यापक जन-जीवन से साहित्य के सम्बद्ध होने की माँग है। इसीलिए हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत एक ओर तो जैसा उल्लेख किया गया है,

उच्चस्तरीय ज्ञान-विज्ञान के साहित्य को बढ़ाने की आवश्यकता है, तो दूसरी ओर ऐसे प्रचुर साहित्य की अपेक्षा है, जो ज्ञान और संस्कृति के स्तर पर लोक-जीवन को गतिशील कर सके और उसे विकसित तथा उन्नत करने में सहायक हो। इसके लिए अशिक्षितों एवं प्रौढों को शिक्षित करने की व्यवस्था करनी होगी और उसके लिए साहित्य निर्माण भी करना होगा। इसी प्रकार जन-समाज के लिए हर क्षेत्र का ज्ञान सरल और सुबोध भाषा में उपलब्ध कराना होगा। साथ ही, हिन्दी साहित्य में बाल-साहित्य की भी बहुत कमी है। किसी राष्ट्र की नींव-निर्माण के लिए अच्छे बाल-साहित्य की आवश्यकता होती है। बालकों के साहित्य प्रकाशन की समुचित व्यवस्था अपेक्षित है।

० ० ०

अधिवेशन संख्या—३५ **संवत्—२००४**

अध्यक्ष—श्री चन्द्रबली पाण्डेय **स्थान—बम्बई**

पाण्डेय जी ने कालिदास और वाल्मीकि जैसे महान् कवियों के काव्य के उद्धरणों के माध्यम से साहित्य की मूल दृष्टि की व्याख्या की है। निश्चय ही हमारा ध्यान महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आकर्षित किया गया है। वाग् अर्थ की प्रतिपत्ति से भारत की भारती ने करुणा और शोक की जो अभिव्यक्ति की है उसे हम अपना काव्यादर्श मान सकते हैं। वस्तुतः वाल्मीकि के श्लोक, 'मा निषाद ···· काम मोहितम्।' में काव्य के उदय का प्रतीकार्थ निहित है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य का प्रारंभ मानव करुणा से हुआ है और मनुष्य जीवन को कवि इस करुणा के माध्यम से ही सरस और प्राणवान् बनाता है। अगर हम ध्यान दें तो देख सकते हैं कि शोक के आवेग में आदि कवि के शाप के रूप में जो वाणी प्रस्फुटित हुई वह छन्दमय सहज भावाभिव्यक्ति है। यह कवि के शोक की और करुणा की अभिव्यक्ति काव्य रूप में सामाजिकों को आनन्द प्रदान करती है और इससे काव्य की प्रक्रिया को समझा जा सकता है।

काव्य के इस प्रसंग पर विचार करते हुए रस-प्रक्रिया में विभावन को प्रमुख माना गया है। कवि व काव्य की यही सच्ची कसौटी है। अन्य स्थायी, संचारी और अनुभाव आदि मनुष्य मात्र में सामान्य स्तर पर घटित होते हैं। उन्हें देश-काल से मुक्त करके भी ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु विभावन व्यापार में आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही मानव की वासना ही नहीं, भावना और संस्कार के साथ चलते हैं। परिणामस्वरूप देशकाल और समाज से सम्बद्ध हो जाते हैं। विभावन व्यापार के इस महत्त्व के कारण पूरे काव्यानुभव को विशिष्टता मिलती है। इसी दृष्टि से पाण्डेय जी विभावन को ही कला स्वीकार करते हैं, इसी के

समायोजन और अभिव्यक्ति में कवि और कलाकार परखा जाता है। इसी स्तर पर कवि और सामाजिक के हृदय में भावों का सम्प्रेषण सम्भव होता है। इसी कारण अगर इन दोनों की रीति-नीति, आचार-विचार तथा रीझ-खीझ में सामंजस्य न हो सका तो सम्प्रेषण में भी बाधा हो सकती है। कवि अपने काव्य में आश्रय के रूप में रहता है और आश्रय में ही भाव की स्थिति होती है, जो विभावन व्यापार के द्वारा सामाजिक के अन्दर उत्पन्न होकर और संचरण से रस दशा को प्राप्त होता है। इसी से काव्य में आलम्बन की प्रमुखता है। यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रस सम्बन्धी चिन्तन की समानता द्रष्टव्य है।

साहित्य में सौन्दर्य के साथ मूल्यों की मान्यता को यहाँ स्वीकारा गया है। उनके अनुसार शोभन और शालीन को छोड़कर यह सब चल नहीं सकता, यह बात अवश्य है कि रुचि के साथ शोभन और शालीनता का दृष्टिकोण बदलता है। पाण्डेय जी कला को 'प्रयत्न' और 'विद्रोह' न मान कर व्यंजन और शोभन मानते हैं और व्यंजन से रोटी का लगाव तथा शोभन का नारी से रहा है। इसका अर्थ है कि साहित्य या काव्य को जीवन से अभिन्न मानना होगा। वस्तुतः कला का जन्म उसी क्षण माना जा सकता है जिस क्षण माता ने धूल-धूसरित शिशु को अंक में ले लिया और उसके मुख-मण्डल को पोंछकर उसके केशों को सँवार दिया। फिर प्यार से चूम लिया।

पाण्डेय जी ने रोचक ढंग से फ्रॉयड की तुलना भर्तृहरि से की है। फ्रॉयड का सिद्धान्त वस्तुतः निदान के रूप में है, विधान के रूप में नहीं। यूरोप के लिए भले ही उसकी खोज नवीन चमत्कार के रूप में हो, पर भारत के लिए यह पुरानी बात है। भारतीय वाङमय में काम का महत्त्व स्वीकार किया गया है। हमारा शृंगार काव्य इसका प्रमाण है। परन्तु हमारे काव्य में शृंगार की सम्पूर्ण भाव व्यंजना तभी काव्य के अन्तर्गत स्वीकार की जाती है, जब वह व्यक्ति सन्दर्भों से स्वतन्त्र होकर साधारणीकरण की उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित हो। भर्तृहरि के सन्दर्भ से पाण्डेय जी ने अपने ढंग से इसी बात को कहा है।

पाण्डेय जी ने विदेशी परम्परा और संस्कृति से सम्बद्ध होने के कारण उर्दू को अस्वीकार किया है। वह हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन को अभिव्यक्ति देने में अक्षम रही है। उसमें न केवल ईरानी काव्य का गहरा प्रभाव है, वरन् उसमें जीवन की अभिव्यक्ति का स्तर भी भिन्न है। इसीलिए उसे हिन्दी कहना उचित नहीं जान पड़ता। उसे हिन्दी के विकृत और विद्वेषी रूप में देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में उसका स्वागत करना कैसे सम्भव हो सकता है, विशेषकर राष्ट्रीयता के साथ उसका सामंजस्य कैसे किया जाय। भाषा के प्रश्न

को सांस्कृतिक परम्परा और राष्ट्रीय जीवन के सन्दर्भ में ही रख कर देखना उचित है। आज सारे देश के जीवन को संघटित करने की दृष्टि से हमारी भाषा को एक ओर अपनी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करनी है, तो दूसरी ओर सारे देश को विकसित करने का लक्ष्य सामने रखना है। इन दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी भाषा की उपयोगिता प्रमाणित है। हिन्दी साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य के रूप में विकसित होना है। वस्तुतः परम्परा से यह दायित्व उसे मिला है। हमको न केवल अपना रचनात्मक साहित्य समृद्ध बनाना है, वरन् विभिन्न शास्त्रों का साहित्य भी उपलब्ध कराना है और हमारे देश की सर्वाङ्गीण प्रगति इस बात पर निर्भर है कि हम अपनी भाषाओं में ज्ञान और विज्ञान का साहित्य उपलब्ध करा सकें। निश्चय ही यह कार्य देश की समस्त भाषाओं के सहयोग से होगा। उसके लिए 'साहित्य संसद्' जैसी संस्था की स्थापना होनी चाहिए, जो इस कार्य का संयोजन कर सके। हिन्दी में रचनात्मक साहित्य के साथ अनुशीलन, परिशीलन, अनुवाद तथा सम्पादन के कार्य को अधिक गति से करने की अपेक्षा है। इन दिशाओं में जो कार्य हो रहा है वह पर्याप्त नहीं। हमको एक ऐसे राष्ट्रीय रूपक (नाटक और रंगमंच दोनों से तात्पर्य है) की आवश्यकता है जो संस्कृत की परम्परा पर आधारित होकर भारत की समस्त भाषाओं के नाटक को अपने में समाहित कर सके। तात्पर्य है कि हम अपने नाटक का विकास समस्त भारतीय भाषाओं के नाटक और रंगमंच के योग से करें।

अधिवेशन संख्या—३६ **संवत्—२००५**
अध्यक्ष—श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' **स्थान—मेरठ**

शुक्ल जी ने माना है कि साहित्य समकालीन जीवन के सत्य को अभिव्यक्त करके ही सार्वभौम सत्य को ग्रहण करने में समर्थ होता है। युग के जीवन के बीच साहित्य का लक्ष्य चिरन्तन सत्य की खोज है। हिन्दी भाषा सारे देश को जोड़ने की भाषा है और इसलिए उसके साहित्य के सामने अन्य प्रदेश की भाषाओं के साहित्य की अपेक्षा सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवनगत मूल्यों को अनुप्राणित करने का दायित्व है। हमको अपने साहित्य में ऐसे सत्य को ग्रहण करना है जो हमारे राष्ट्रीय जीवन को नवनिर्माण के पथ पर अग्रसर कर सके। हमारे सामने यह सबसे बड़ा प्रश्न है कि हमारा साहित्य इस दायित्व को किस प्रकार निभाये। पश्चिम से सम्पर्क बढ़ने के कारण हमारा साहित्य पश्चिम के साहित्य से प्रभावित है। पश्चिम के आदर्शों से हमारा साहित्य अनुप्राणित है। परन्तु अपने साहित्य को अपने देश और राष्ट्र के सन्दर्भ में विकसित करने के लिए आवश्यक है कि हम

अपनी सांस्कृतिक परम्परा से शक्ति ग्रहण कर सकें। पश्चिम से ग्रहण करने में कोई हानि नहीं है। परन्तु अपने सत्त्व की रक्षा करते हुए और अपनी अस्मिता को बनाये रख कर हम अपना समुचित विकास कर सकते हैं।

आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में हमको नये स्तर पर साहित्य चिन्तन करने की अपेक्षा है। इसके अन्तर्गत भारतीय प्राचीन काव्यशास्त्र (आलोचना पद्धति) तथा वर्तमान पाश्चात्य साहित्यशास्त्र दोनों का सामंजस्य करने की अपेक्षा है। हिन्दी को अपनी समालोचना का विकास इसी आधार पर करना है जिससे दोनों का सामंजस्य हो सके और द्विगुणित शक्ति से कार्य-क्षेत्र में प्रवृत्त हुआ जा सके। मानव-मस्तिष्क की चिन्ताओं और मानव-हृदय की भावनाओं तथा उसके उद्गारों के प्रति सच्चे सम्पर्क और सच्ची सहानुभूति के बिना साहित्य की समुचित समालोचना नही हो सकती। वैज्ञानिक आलोचना के विकास के लिए प्रगतिशील साहित्यकारों का एक दल बनाया जाना चाहिये, जो हिंसा का विरोध कर अहिंसा पर बल दे। वस्तुतः साहित्य तथा आलोचना में भी अहिंसा तत्त्व की स्थापना अपेक्षित है। शुक्ल जी यहाँ साहित्य में मानव-मूल्यों के इस स्तर की अपेक्षा की चर्चा करते हैं।

शुक्ल जी के अनुसार भारतीय संस्कृति में सत्य और अहिंसा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। हिंसा की अपेक्षा अहिंसा पर हमारा सदा बल रहा है। इसी मूल्य-दृष्टि के आधार पर साहित्य की रचना और आलोचना का उन्होंने प्रस्ताव किया। साहित्य में रागतत्त्व अनिवार्य है पर उसका नियोजन आदर्शों की ओर प्रेरित होना अपेक्षित है। समसामयिक साहित्यकारों की आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि हमारे साहित्यकारों को सहायता की आवश्यकता है, परन्तु अगर उनका आत्मसम्मान सुरक्षित न रह सका, तो उनके पास कुछ शेष नही बचता। अतः आर्थिक स्थिति का समाधान उनके आत्मसम्मान की रक्षा के साथ किया जाना अपेक्षित है। वस्तुतः राजकीय अधिकारी वर्ग और प्रकाशक के साथ समझौता करके कोई साहित्यकार अपने सम्मान की रक्षा नहीं कर सकता और न ही अपने दायित्व का निर्वाह कर सकता है। अतः यह आवश्यक है कि साहित्यकार निस्संग और निरपेक्ष रह सके। यह हमारी सरकार का दायित्व है कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिसमें लेखकों को अपनी रचनाओं पर उचित लाभ हो सके। इसी प्रकार साहित्यकार के लिए अपने पारिश्रमिक पर निर्भर रहना उचित है, परन्तु उसे जीवन-यापन की पर्याप्त सुविधा होनी चाहिए। इस दिशा में यह ध्यान देने की बात है कि बहुत-से लेखकों को अपनी रचनाओं के कापीराइट (स्वत्वाधिकार) बेचने पड़े हैं। वह उन्हें वापस मिलना

चाहिए। इसी प्रकार कापीराइट के नियमों में भी संशोधन किया जाना चाहिए।

आज के रचनाकार को व्यक्ति के स्थान पर समाज को अधिक महत्त्व देना है। उसे युग सत्य और चिन्तन सत्य के बीच इस प्रकार का सामंजस्य ढूँढ़ना है जो उसके समाज को आगे बढ़ा सके। उसका कार्य अपने समाज के कौतूहल को शान्त करना अथवा उसका मनोरञ्जन करना नहीं है। प्रकृत साहित्यकार और प्रकृत विवेचक को निरन्तर अपने समाज के जीवन को उन्नत करने की चिन्ता करनी है और ऐसा वह स्वतन्त्र रह कर ही कर सकता है। अवश्य ही ऐसे साहित्यकार संख्या में कम होते हैं, परन्तु वे ही ऊँचे साहित्य की रचना करने में समर्थ होते हैं।

शुक्ल जी इस ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि देश के सर्वाङ्गीण विकास के लिए हमारी शिक्षा-नीति और शिक्षा-संस्थाओं में भी सुधार की आवश्यकता है। हमको ऐसी शिक्षा संस्थाएँ संस्थापित करनी हैं जिनमें छात्र संस्कृत, स्वतन्त्र और दृढ़ चरित्र के हो सकें। उनमें राष्ट्रीय भावना विकसित हो सके। इनके माध्यम से ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के साथ मानव व्यक्तित्व के विकास की भी अपेक्षा है। हमारे शिक्षा सम्बन्धी उद्देश्यों के मध्य में व्यावहारिक मनोवृत्ति को बढ़ावा मिल रहा है। इससे निर्धन अभिभावकों की स्थिति दयनीय है और जीविकाविहीन साहित्यकारों और लेखकों की दशा शोचनीय है। महात्मा गांधी के सिद्धान्तों पर आधारित हमारी सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह भारतवर्ष में प्रचलित शिक्षानीति के द्वारा जो असत्य और अमर्यादित नंगा नाच हो रहा है, उसका अन्त करे और सत्य तथा अहिंसा की दृष्टि को विकसित करे।

अधिवेशन संख्या—३७ **संवत्—२००६**
अध्यक्ष—पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र **स्थान—हैदराबाद**

अगले वर्ष २६ जनवरी को देश में नये संविधान के लागू होने की चर्चा करते हुए मिश्र जी ने देश की सांस्कृतिक परम्परा की ओर ध्यान आकर्षित किया। यूनान, मिस्र, रोम जैसी प्राचीन संस्कृतियाँ अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त कर छिन्न-भिन्न हो गयीं। परन्तु भारतीय संस्कृति अपनी आन्तरिक क्षमता से देशकाल का अतिक्रमण कर आगे बढ़ती आयी है। हमारी संस्कृति हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सांस्कृतिक परम्परा से सम्बद्ध होकर विकसित होती आयी है। पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों में मूलभूत अन्तर है। हम केवल पश्चिम के समान अस्तित्व अथवा मात्र स्थिति को महत्त्व न देकर निरन्तरता और सत्ता को महत्त्व देते हैं।

पश्चिम में भौतिक निर्माण और ध्वंस को महत्त्व देकर इतिहास चला है। परन्तु हमारे यहाँ मनुष्य के निर्माण के क्रम को इतिहास माना गया है। मृत्यु और ध्वंस पश्चिमी संस्कृति के मूल स्वर रहे हैं जबकि भारत सदा जीवन पर बल देता आया है। पश्चिम में मृत्यु का अभिनन्दन हुआ। मृतकों को जीवित रखने की कोशिश की गयी। भारत में मृत्यु केवल परिवर्तन का ही एक रूप है। इसीलिए यहाँ किसी मृत शरीर पर पिरामिड नहीं बने, मकबरे नहीं बनाये गये। यहाँ शरीर को भस्म करके सरिता में प्रवाहित कर दिया गया। हमारे राष्ट्रीय नेता गांधी जी ने भी मृत्यु को नहीं स्वीकारा, जीवन की निरन्तरता पर बल दिया। हमारे यहाँ स्मारक के रूप में अरुन्धती, ध्रुव आदि नक्षत्र हैं।

इसी प्रकार पाश्चात्य-साहित्य में प्रारम्भ से ही द्वन्द्व, हिंसा, मृत्यु, रक्तपात आदि को जीवन के साथ महत्त्व मिला है। यूनान के देवता भी इसी प्रकार के हैं। प्लेटो ने इस तरह के साहित्य का विरोध भी किया था, परन्तु अरस्तू ने विरेचन के साथ मृत्यु और संघर्ष को स्वीकार किया है। भारतीय साहित्य में कभी मृत्यु और ध्वंस को महत्त्व नहीं मिला। यहाँ निरन्तर जीवन और आनन्द को स्वीकार किया गया है। कर्म का अन्त नहीं और जीवन का सतत आकर्षण बना हुआ है।

भारतीय साहित्य में नायक का आदर्श शक्ति के साथ शील रहा है। रामायण के नायक राम और महाभारत के प्रमुख पात्र युधिष्ठिर के व्यक्तित्व को देखा जा सकता है। यहाँ अस्तित्व को महत्त्व न देकर विभूति को स्वीकारा गया है। हमारे साहित्य का नायक पूरी सामाजिक चेतना का नेतृत्व करता है। वह केवल व्यक्ति नहीं है। हमारे लिये मृत्यु काम्य नहीं है, अमरत्व काम्य है। भारतीय संस्कृति की परम्परा में कभी अर्थ और काम को अस्वीकार नहीं किया गया, उसके महत्त्व और उसकी शक्ति को सदा साहित्य और कला में अभिव्यक्ति मिली है, परन्तु उदात्त रूप में। यूरोप में फ्रॉयड और मार्क्स जैसे विचारकों ने उन्हें अतिरंजित रूप प्रदान किया है। वर्तमान युग में पश्चिमी देशों से हमारा आदान-प्रदान बढ़ा है, वहाँ के पूँजीवाद और साम्यवाद आदि से हम परिचित हुए हैं। परन्तु ये पद्धतियाँ हमारे लिये विदेशी हैं। हमारे लिये उचित है कि हम अपने विवेक से अपनी परम्पराओं के आधार पर अपना मार्ग निर्धारित करें। पश्चिम के विज्ञान को हमें अपनाना है और इस प्रकार हमारी कसौटी में परिवर्तन आना सम्भव है। परन्तु हमारा मार्ग और हमारी जीवन-पद्धति सत्य, अहिंसा और लोक-कल्याण की ही होगी। क्रोध, घृणा और द्वेष के सहारे हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

विदेशी दासता की शृंखला में हमारे मन पर ऐसे प्रभाव पड़े हैं कि हम अपनी भाषा और संस्कृति को सही ढंग से न समझ पाते हैं और न ग्रहण कर पाते हैं।

हमारे संविधान में हिन्दी भाषा को स्वीकार किया गया, इस विषय में वाद-विवाद भी रहा है। परन्तु जो देश की सांस्कृतिक परम्परा से परिचित हैं उनके लिए सारे देश में हिन्दी के राष्ट्रभाषा रूप को समझना कठिन नहीं है। हमारे देश की उत्तर-दक्षिण की सभी भाषाओं में संस्कृत भाषा के बहुसंख्यक शब्द हैं। और यही नहीं, इन समस्त भाषाओं का साहित्य संस्कृत-साहित्य से सम्बद्ध रहा है। अंग्रेजी का पक्षधर एक वर्गविशेष है जिसका स्वार्थ इस बात में निहित है कि अंग्रेजी देश में बनी रहे। मिश्र जी ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में हिन्दी को स्थान दिलाने का आग्रह प्रकट किया। निश्चय ही इतने विस्तृत भू-भाग और इतनी विशाल जन-संख्या की भापा को जल्द-से-जल्द यह स्थान मिलना उचित है।

समस्त देशी भाषाओं का शब्द-भंडार संस्कृत के शब्दों से पूरा है। अतः हिन्दी का विकास संस्कृत के आधार पर ही उचित है। यद्यपि हिन्दी का वर्तमान रूप पश्चिमी हिन्दी के आधार पर विकसित है, परन्तु इसमें समस्त हिन्दी क्षेत्रों के साहित्यकार समान अधिकार से रचना कर रहे हैं। विभिन्न भाषाओं का अपना उन्नत साहित्य है और हिन्दी उन सबसे सहयोग की कामना करती है। संस्कृत से हम जुड़ते हैं, क्योंकि उससे भागना अतीत से भागना है। हमको नये बल से, नयी प्रेरणा से, हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध करना है। यहाँ साम्प्र-दायिकता, प्रादेशिकता का प्रश्न नहीं उठना चाहिए, क्योंकि हमको सबसे सहयोग और शक्ति ग्रहण करनी है। यहाँ तक कि वन्य जातियों के लोक-साहित्य को भी हमें सुरक्षित रखना है और अपने साहित्य को समृद्ध बनाने में उसका उपयोग करना है। राष्ट्रभाषा देश भर की जनता की सम्पत्ति है, हर एक उसके विकास में सहायक होगा।

हमारे साहित्य की परम्परा तप और भोग के सामंजस्य की है, हम न रहस्य-वादी हैं और न भोगवादी। हमको अपने साहित्यालोचन के मानदण्ड अपनी परम्परा से विकसित करने हैं, पश्चिम के अनुकरण से नहीं। बाहरी रूप का प्रभाव हम ग्रहण कर सकते हैं, पर अन्तर हमारा अपना ही रहना अपेक्षित है। हमारे साहित्य में सस्ती भावुकता, साँसों का उच्छ्वास और मनोग्रन्थियों को स्थान नहीं मिलना चाहिए। हमें कर्म की प्रेरणा मिलती है और प्रकृत धर्म का अनुसरण करना है। हमको राष्ट्रीय रंगमंच की आवश्यकता है और यह रंगमंच हिन्दी के माध्यम से विकसित किया जाना अपेक्षित है। हमारे रंगमंच का उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन को उन्नत और विकसित करना है। सिनेमा में प्रेम, अपराध तथा साहसिकता आदि को प्रदर्शित करके मात्र मनोरंजन किया जाता है, रंगमंच को हमारी सांस्कृतिक और कलात्मक अभिरुचि को विकसित करने में सहायक

होना चाहिए। इसी प्रकार हिन्दी पत्रकारिता की स्वतन्त्र और स्वस्थ परम्परा विकसित करनी है। आज पत्रों के माध्यम से जन-समाज को शिक्षित किया जा सकता है और उसकी रुचि को परिष्कृत किया जा सकता है। राष्ट्रीय चेतना को जागृत करना हमारे पत्रों का उद्देश्य होना चाहिए।

हिन्दी भाषा को अपना राष्ट्रीय दायित्व निभाना है और यह दृढ़ संकल्प से ही सम्भव हो सकता है। केन्द्रीय सरकार को इस सम्बन्ध मे प्रेरणा देनी है और सुविधाएँ भी प्रदान करनी है। प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य से हमारे साहित्य का गहरा सम्बन्ध विकसित होना है क्योंकि इस प्रकार हमारा राष्ट्रीय जीवन अधिक समग्र और सम्पन्न हो सकेगा। ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ उनके अध्ययन-अध्यापन का कार्य बढ़ता जायगा और उसके लिए पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का कार्य किया जाना अपेक्षित है। यह कार्य केन्द्रीय सरकार द्वारा सम्पन्न कराया जा सकेगा, परन्तु उसके लिए हमको अथक परिश्रम करना है।

अधिवेशन—संख्या ३८ **संवत्—२००७**

अध्यक्ष—श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़। **स्थान—कोटा**

श्री गौड़ ने राजस्थान (अधिवेशन-स्थल के सन्दर्भ में) की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए उसके महत्त्व को प्रतिपादित किया है। इस प्रदेश की वीर भूमि में एक ओर रासो ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें वीरता का गान और दूसरी ओर मीरा के पदों में भक्ति का प्रवाह हुआ। गौड़ जी के अनुसार साहित्य की शक्ति अपरिमेय है। साहित्य देश में क्रान्ति कर सकता है। समाज की व्यवस्था में उलट-पुलट कर सकता है, निष्प्राण जातियों में प्राणप्रतिष्ठा कर सकता है। इसके साथ ही, साहित्य शीतल सुधा के समान रसपान कराकर विदग्ध हृदय को शान्ति प्रदान कर सकता है। आज विज्ञान की निरन्तर उन्नति हो रही है और होनी भी चाहिए। परन्तु उसका उपयोग मानवता के विध्वंस के लिए नहीं, बल्कि मानव समाज के कल्याण के लिए होना चाहिए। और यह तभी सम्भव है जब कि विज्ञान का मार्ग-प्रदर्शन साहित्य करे। मानवता का इतिहास यही बताता है कि वाल्मीकि, तुलसी, रवीन्द्रनाथ, शेक्सपियर, मोलियर और डिकेन्स से मानवता का जितना कल्याण हुआ है उतना विज्ञान से नहीं। भारतीय साहित्य में अशुभ को वर्जित माना गया है और जीवन की स्वस्थ परम्परा को स्वीकारा गया है। साहित्य वही है जिसमें लोकहित की भावना हो, मानवता का कल्याण हो और जो समन्वय की भावना से प्रेरित हो। साहित्य से सौहार्द

और सौमनस्य उत्पन्न होना चाहिए, स्वस्थ चित्त के लिए आनन्द की अपेक्षा होती है और साहित्य का ध्येय आनन्द माना गया है।

आदर्शवादी साहित्य की अपेक्षा यथार्थवादी साहित्य की अधिक आवश्यकता है। यथार्थवादी साहित्य में हमारे जीवन की समस्त परिस्थितियाँ चित्रित होती हैं। वस्तुतः लेखक उन्हीं अनुभवों को अधिक कुशलता के साथ अभिव्यक्त कर सकता है जिनको वह अपनी परिस्थितियों में से ग्रहण कर सका है। लेखक अपने समाज तथा परिवेश में जो यथार्थ घटनाएँ और परिस्थितियाँ देखता है उन्हीं को साहित्य में अभिव्यक्ति देता है। गौड़ जी के अनुसार किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए—चाहे वह पूर्व का हो या पश्चिम का हो। परन्तु यह देखना आवश्यक है कि हमारे समाज या देश में उस सिद्धान्त के लागू होने की परिस्थितियाँ या वातावरण है या नहीं। मार्क्सवाद के बारे में भी यही कहा जा सकता है। वस्तुतः पश्चिम में जिन परिस्थितियों में वहाँ के साहित्य की रचना हुई है उनसे हमारे देश की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। हमारे देशवासियों के अनुकूल वही साहित्य हो सकता है जो हमारे युग-युग के इतिहास और उसकी परम्परा तथा संस्कृति को लेकर चल सके।

हमारे नये साहित्यकार परम्परा की उपेक्षा करते हैं, उन्हें प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं का ज्ञान नहीं है। प्रश्न मानने या न मानने का नहीं है, परन्तु हमारे नये साहित्यकारों और आलोचकों को अपने साहित्य चिन्तन की परम्परा की जानकारी होनी आवश्यक है। साहित्य की साधना, अध्ययन, मनन तथा विवेकाविवेक पर आधारित है। अपरिपक्व विचार तथा अध्ययन और मनन से हीन रचना केवल सतही प्रशंसा दे सकती है, उसका कोई स्थायी मूल्य नहीं है। इस जनजागरण के युग में हमारा साहित्य जनता और जीवन से अलग नहीं हो सकता। साथ ही, इसमें नवीन श्रेयस्कर विचारों का समावेश आवश्यक है, किन्तु यह अपनी स्वस्थ परम्पराओं की रक्षा और अपनी संस्कृति के प्रति सम्मान के साथ ही सम्भव है।

० ० ०

अधिवेशन—संख्या ३९ **संवत्—२०२०**

अध्यक्ष—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। **स्थान—हैदराबाद**

आचार्य मिश्र अपना व्याख्यान साहित्य और वाङ्मय में भारतीय दृष्टि की व्यापकता और उदारता की चर्चा से प्रारम्भ करते हैं। भारतीय परम्परा में विदेशी परम्परा से सदा ज्ञान प्राप्त किया गया है। वस्तुतः साहित्य में विदेशी साहित्य एवं सिद्धान्तों के प्रभावों को स्वीकार किया जाना अपेक्षित है, पर अपनी प्राचीन परम्परा का निषेध करके नहीं। अपनी परम्पराओं के प्रति स्वाभि-

मान और आस्था का भाव होना आवश्यक है। परन्तु आज यह स्थिति बदली हुई है। आज हम अपनी परम्पराओं का निषेध कर रहे हैं। कहा जाता है कि आधुनिक काल के पहले का साहित्य अप्रासंगिक हो गया है। परन्तु आधुनिकता के उन्मेष में पूरे-के-पूरे प्राचीन का त्याग ठीक नहीं है।

साहित्य के पठन-पाठन के लिए, साहित्य की परम्परा को दृष्टि मे रखना आवश्यक है, उसके बिना साहित्य के अर्थ को उसकी पूरी व्यंजना के साथ व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। आज विश्वविद्यालय के अध्यापक न केवल प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य को वरन् आधुनिक साहित्य को भी सही ढंग से व्याख्यायित करने में असमर्थ हैं। उसका कारण है कि न तो उन्हें परम्परा का ज्ञान है और न ही वे साहित्य का समुचित अध्ययन करते हैं। साहित्य मे शब्द अर्थ ग्रहण की परम्परा होती है और उसके अनेकानेक सन्दर्भ होते है। उनके जाने-समझे बिना किसी भी पाठ का सही और सघन अर्थ कर पाना सम्भव नही है। अध्ययन-अध्यापन की इस परम्परा के बिना साहित्य के गहरे अध्ययन की हमारी पद्धति समाप्त होती जा रही है। आधुनिक साहित्य के तथाकथित विशेषज्ञ भी आधुनिक रचनाओं की पंक्तियों का अर्थ नहीं कर पाते। इस आलोचना के युग में आलोचना हवाई होने लगी है।

साहित्य में परम्परा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए मिश्र जी ने इलियट के परम्परा सम्बन्धी दृष्टिकोण को उपस्थित किया है। इलियट परम्परा को रूढ़ि से भिन्न मानकर उसे जीवन्त और नये अर्थ ग्रहण करने वाली मानता है। इसी प्रकार काव्य में रचनाकार की निर्वैयक्तिकता को उसने स्वीकार किया है। मिश्र जी के अनुसार इस निर्वैयक्तिकता का तो स्वीकार संस्कृत आचार्यो में भी रहा है। इसकी कल्पना यहाँ पहले ही कर ली गयी थी। सामाजिक जीवन के भोक्ता व्यक्तित्व और कलासर्जक के कलाकार व्यक्तित्व में यहाँ पार्थक्य माना गया है। यहाँ एक प्रकार से इसे स्वीकृति ही मिली हुई थी। सहृदय में निर्मलता आने से उसके रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं तथा सत्व गुण का उद्रेक हो जाता है। यही सत्व का उद्रेक वह शक्ति है जो किसी के हृदय से दूसरे के हृदय को जोड़ देती है।

इसी परम्परा के सम्बन्ध में मिश्र जी ने अभिनवगुप्त पादाचार्य के मत की चर्चा की है। अभिनवगुप्त के अनुसार पूर्ववर्ती साहित्य के अनुशीलन से सहृदय का हृदय निर्मल हो जाता है। सहृदय का अर्थ है समान हृदय वाला। अनुशीलन-कर्त्ता में यह विशेषता आ जाती है कि वह दूसरों के—अर्थात् कवियों तथा पात्रों आदि के हृदय के समान अपना हृदय कर लेने में समर्थ हो जाता है। समानता में साधारण धर्म एक होते हैं, पर काव्य में केवल समान धर्म की ही प्राप्ति नहीं

होती वरन् एक ऐसी विशेषता आ जाती है कि वह हृद्य और अहृद्य के ग्रहण त्याग में समर्थ हो जाता है।

भारत की सभी भाषाओं के रचनात्मक साहित्य से हमको परिचित होना चाहिए। उनके अनुसार भाषा में भेद प्रकृतिगत होता है, पर साहित्य की प्रकृति अभेद की है। हिन्दी ही नही, भारत की सभी भाषाओं में जो कुछ सर्जन हुआ है उसमें इस अभेद की दृप्टि को देखा जा सकता है। इन विभिन्न साहित्यों में भारतीय जीवन और संस्कृति के वैविध्य के साथ उसके अभेद को अर्थात् उसकी एकता को व्यजित देखा जा सकता है और इस प्रकार बहुत-सी नयी मान्यताएँ, विमर्श-परामर्श हमारे सामने आ सकेंगे। भारतीय भाषाओं मे विभेद होने पर भी उनके साहित्य का स्वर एक है। मिश्र जी के अनुसार भारतीय साहित्य की परम्परा में लोकपरक और लोकोत्तर—दोनों को जीवन से सम्बद्ध व्याख्यायित किया गया है। साहित्य मे विषय सापेक्ष स्थिति का पर्यवसान विषय निरपेक्ष स्थिति में होता है। काव्य में वर्ण्य और अनुकार्य लोक के रहते हैं किन्तु जो रसानुभूति होती है उसमें वे अपेक्षित विषय नहीं रह जाते।

० ० ०

साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों के अवसर पर आयोजित साहित्य परिषद् के अध्यक्षों के व्याख्यानों से हमारी प्रारम्भिक बात का समर्थन होता है। कुछ अध्यक्षों के व्याख्यानों में परम्परा और पूर्व मान्यताओं का यत्किंचित् आग्रह अवश्य देखा जा सकता है,परन्तु सामान्यतः उन विचारकों ने भी आधुनिक जीवन की नयी परिस्थिति को स्वीकार किया है। यह अवश्य है कि इन सभी विद्वानों ने अपने देश की परम्परित सस्कृति को स्वीकार किया है और उसी के आधार पर अपने आधुनिक समाज की रचना के लिए प्रेरित किया है। भारत जैसा देश अपनी लम्बी सांस्कृतिक परम्परा को भुला कर आगे नहीं बढ़ सकता। हम अपनी सस्कृति के आधार पर आधुनिक जीवन के नये मूल्यों का अनुसन्धान कर सकते है। जिस प्रकार प्राचीनता के आग्रही पुरानी संस्कृति में ही रहना श्रेयस्कर मानते है और उसीमें सब कुछ पाना चाहते हैं, उसी प्रकार आधुनिकता पर आस्था रखने वाले ऐसे लोग भी हैं जो प्राचीन संस्कृति को त्याग कर ही नये मूल्यों के विकास को स्वीकार करने लगे हैं। ये दोनों ही अतिवादी दृष्टिकोण हैं। प्रस्तुत विद्वानों में इस प्रकार का अतिवाद प्रायः नही है। यह अवश्य है कि ये विचारक अपनी प्राचीन सस्कृति को गर्व का विषय मानते हैं, उसके विकास-क्रम पर विश्वास रखते हैं। आधुनिक युग में हमारा सम्बन्ध संसार के सभी देशों से बढ़ रहा है और उनसे सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित हो रहा है। तेज गति से विज्ञान और

प्रविधि में विकास हो रहा है। इन कारणों से हमारे रहन-सहन का ढंग बदलेगा, हमारे सम्बन्ध भिन्न प्रकार से विकसित होंगे और हमारी जीवन-पद्धति पर इनका गहरा प्रभाव होगा। अतः हमको नयी आधुनिक संस्कृति का विकास भी करना होगा। इस सन्दर्भ में मूल्यों के बारे में हमारे दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आवेगा। परन्तु अगर हम अपने देश की लम्बी सांस्कृतिक परम्परा से गहरे और आन्तरिक स्तर पर जुड़े रह कर अपना यह नया विकास करेंगे तो हम स्वस्थ मूल्य-दृष्टि को विकसित कर सकेंगे। ऊपर निर्दिष्ट विद्वानों के विचारों से इस कार्य मे हमें सहायता काफी मिल सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

इसी प्रकार भाषा के बारे में प्रस्तुत इन विद्वानों के विचारों से राष्ट्रीय सन्दर्भ मे भाषा की समस्या पर समुचित प्रकाश पड़ा है। जैसा पहले भी उल्लेख किया गया है, अनेकनिहित स्वार्थ के नेताओं द्वारा भाषा की समस्या को उलझाया गया है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने वालों पर साम्राज्यवादी होने जैसे आरोप लगाये गये है, परन्तु इन विद्वानों के विचारों से प्रायः इस ढंग का निराकरण होता है। इस देश में सास्कृतिक स्तर पर कोई-न-कोई भाषा सारे राष्ट्र के जीवन को जोड़ने का काम करती है। आज यह कोई नया प्रश्न नही है। स्वतः संस्कृत के समान हिन्दी ने इस दायित्व का वहन अनेक रूपों मे किया है। १९वी शताब्दी से भारतीय राजनीतिक और सांस्कृतिक नेताओं ने हिन्दी के इस स्वरूप और दायित्व को जाना-पहचाना था। उन्होंने इस बात की स्वीकृति हिन्दी को राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार कर दी है। इसी क्रम में बीसवी शताब्दी के सभी प्रदेशों से आनेवाले भारतीय राजनीतिक नेताओं ने हिन्दी को इस रूप में माना, स्वीकारा है। इसी बात को ये विचारक भी स्वीकार करते हैं। फिर हिन्दी के आरोप का प्रश्न कहाँ उठता है? हिन्दी को अन्य भारतीय भाषाओं से शक्ति प्राप्त होती है। हिन्दी का दायित्व इस बात का है कि वह विभिन्न प्रदेशों के व्यक्तियों में आपसी विचार-विनिमय का साधन बन सके। जहाँ तक अपने-अपने प्रदेशों का प्रश्न है, हर प्रदेश के लोग अपना वैचारिक विकास अपनी भाषाओं के माध्यम से कर सकेंगे। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उच्चतम स्तर तक अपनी हीं भाषाओं के माध्यम से जा सकेंगे।

हिन्दी भाषा अपने इस दायित्व को तभी भली-भाँति निभा सकती है, जब उसका शब्द-भण्डार अन्य भाषाओं के शब्दों को भी पर्याप्त स्थान दे और अपनी अभिव्यक्ति-क्षमता को विकसित करने में उनका सहारा ले। वस्तुतः एक महत्त्व-पूर्ण बात ध्यान में रखनी है कि भाषा का गहरा सम्बन्ध संस्कृति से होता है। संस्कृति के विचार, भाव, प्रत्यय, व्यापार और मूल्य आदि भाषा की मूल प्रकृति

को निर्धारित-निरूपित करते हैं। भाषा के स्वरूप, उसकी प्रकृति और उसकी शैली में संस्कृति की क्रियाशीलता और रचनाशीलता सुरक्षित होती है। ध्यान देने की बात है कि हमारे पूरे देश में सस्कृति की एक लम्बी परम्परा चली आ रही है। विभिन्न युगों में और प्रदेशों में अन्तर भी परिलक्षित होते हैं, परन्तु इस संस्कृति की मूल प्रकृति समान है। अतः सारे देश की भाषाएँ—वे चाहे आर्य परिवार की हों या द्रविड़, एक सांस्कृतिक परम्परागत धारा से सम्बद्ध रही हैं। इसीलिए विभिन्न भाषाओं में जो शब्द-भण्डार है वह अपने प्रत्यय और प्रकृति में बहुत निकट और समान है। अतः इन भाषाओं की आन्तरिक निकटता अधिक यथार्थ है, बाहरी रूपात्मक अन्तर के बावजूद। इसीलिए एक भारतीय भाषा से दूसरी भारतीय भाषा में अनुवाद करना कहीं अधिक सरल है, यूरोप की किसी भाषा से किसी भारतीय भाषा में अनुवाद करने की तुलना में। इस दृष्टि से हिन्दी की केन्द्रीय स्थिति पर विचार करने पर अधिक आसानी से इस समस्या को समझा जा सकता है।

साहित्य के सम्बन्ध में आधुनिक काल से मूल्यवादी दृष्टि का प्रचलन और उसकी मान्यता रही है। इसका प्रमुख कारण हमारे देश में राष्ट्रीय भावना का उदय और सामाजिक चेतना का विकास माना जा सकता है। जैसा कि पहले कहा गया है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य की इस मूल्यवादी दृष्टि का प्रबल समर्थन किया है, यह उनके व्याख्यान से स्पष्ट है। प्रायः इस दृष्टि का किसी-न-किसी स्तर पर और किसी-न-किसी रूप में इन सभी व्याख्यानों में समर्थन किया गया है। जिस प्रकार का वातावरण उस युग में रहा है, उसमें सम्भवतः मूल्य निरपेक्ष साहित्य की अवधारणा को स्वीकार करना सम्भव नहीं था। साहित्य के बारे में सम्यक् रूप से विचार करने पर ऐसा लगता है कि उसमें मूल्य की सापेक्षता अनिवार्य है। साहित्य मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध है, उसमें उसी की अभिव्यक्ति होती है। जब मनुष्य-जीवन और उसके समाज को लिया जायगा तो उससे मूल्यों को अलग नहीं किया जा सकता है। साहित्य में परिस्थितियों, घटनाओं, भावस्थितियों और चरित्रों की अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति में कोमलता, भावशीलता और सौन्दर्य निहित होता है। अभिव्यक्ति के इस रूप के कारण ही उसे साहित्य कहते हैं। अतः साहित्य में न केवल जीवनगत मूल्यों की अभिव्यक्ति अनिवार्य है, वरन् इस अभिव्यक्ति की दिशा और दृष्टि मनुष्य को मनुष्य बनने की प्रेरणा देती है। यह अलग बात है कि इस सम्बन्ध में अलग-अलग रचनाकारों की पद्धति और उनका दृष्टिकोण भिन्न हो सकता है।

साहित्य में वैचित्र्य, चमत्कार, अलंकार और वक्रोक्ति आदि का स्थान

अवश्य है। इनसे एक स्तर पर सामाजिक मनोरंजन होता है। परन्तु ऐसे प्रयोग साहित्य की उदात्त सीमा में नहीं आते। एक दूसरे स्तर पर उनके प्रयोग से भावाभिव्यक्ति में सहायता मिलती है। उसमें उत्कृष्टता भी आती है। इस प्रकार के प्रयोगों में इन्हें साहित्य में स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु ऐसे अनेक रचनाकार होते हैं जो जीवन को अधिक गहरे स्तर पर या व्यापक स्तर पर अभिव्यक्त करने में असमर्थ होते हैं और वे अपनी क्षमता उक्ति-वैचित्र्य में लक्षित करते हैं। ऐसे रचनाकारों को महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इन व्याख्यानों में समसामयिक साहित्य की चर्चा करते समय रचकाकारों में ऐसा विवेक किया गया है। इस प्रकार इस साहित्य का समुचित विवेचन प्रस्तुत हुआ है।

ये व्याख्यानों कई रचनाकारों के है। इन व्याख्यानों में लेखकों की आर्थिक स्थिति का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। स्पष्टतः अपनी समकालीन स्थिति पर ध्यान रखकर उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये है। मूल समस्या है कि लेखक अपने लेखन से सम्मानपूर्ण ढंग से जीविकोपार्जन कैसे कर सके? यह प्रश्न बहुत महत्त्व का है और आज भी इसका सही समाधान नहीं ढूँढा जा सकता है। प्रायः सभी लेखकों ने कहा है कि अगर लेखक अपने लेखन-कर्म के लिए किसी पर आश्रित हो जायेगा तो वह अपना रचनाकर्म सही ढंग से करने में असमर्थ रहेगा। ऐसी स्थिति में वह श्रेष्ठ साहित्य की रचना नहीं कर सकेगा। अतः इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे लेखक परमुखापेक्षी हुए बिना अपने लेखन-कर्म के आधार पर अपना जीवन-यापन करने में समर्थ हो। निश्चय ही उनके व्याख्यानों में कोई स्पष्ट सुझाव नहीं है और न हो सकता था। आज भी इस समस्या का समाधान मिलना आसान नहीं, क्योंकि सरकार की सहायता एक प्रकार का खतरा है और प्रकाशकीय निर्भरता दूसरे प्रकार का। अपने पाठक तक पहुँचने का सीधा रास्ता लेखक के पास नही है। साहित्य सम्मेलन जैसी सस्था इस प्रकार की किसी व्यवस्था पर विचार कर सकती है जिसके माध्यम से लेखकों की पुस्तकें छोटे-से-छोटे कस्बों तक पाठकों के सामने पहुँच सकें।

o o o

अधिवेशन—संख्या ४१ **सन्—१९८३ ई०**

अध्यक्ष—डॉ० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' **स्थान—कुरुक्षेत्र**

डॉ० रामेश्वर शुक्ल 'अचल' जी ने साहित्य में प्रचलित समसामयिक विकृतियों और मुखौटों की चर्चा करते हुए कहा है कि आज का युग अनेक जटिलताओं का हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी इसी प्रकार की मूल्यहीनता को व्याप्त देखा जा सकता है जो समाज के जीवन में पायी जाती है। आज हमारे अन्दर का जीवन अनेक

विकृतियों से कुण्ठित है पर हम अपने बाहरी मुखौटों के आधारपर अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा बनाये हुए हैं।

शुक्ल जी यह स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत अर्जन राष्ट्र की अथवा विश्व की आय को समृद्ध कर देता है, उसी प्रकार साहित्य व्यक्ति का व्यक्तिगत अर्जित सत्य, विश्वसत्य और विश्वप्रकृति की महत् कल्पना और क्रिया को अपनी अभिव्यक्ति में प्रतिफलित करता है। यह तात्त्विक प्रक्रिया भले ही अप्रत्यक्ष लगती हो, किन्तु उसकी निरन्तरता को झुठलाया नहीं जा सकता। साहित्यिक सत्य व्यक्ति की अनुभूति को अबाधता से मण्डित कर यथार्थ को विराट्, अखण्ड और अभेद रूप में देखता है। फिर इस सन्दर्भ में उसे आत्मसात् करना, जीना और जिलाना, गूँजना और गुँजाना ही साहित्य का रचना-धर्म है। इस प्रकार साहित्य, जीवन के यथार्थ से अपने सत्य को ग्रहण कर उसे व्यापक और शाश्वत सत्य के रूप में अभिव्यक्ति देता है।

आज हमारे साहित्य में अनेक प्रदूषित करने वाले तत्त्व मिल गये हैं। शिविर-बद्धता यानी दलबद्धता साहित्य में ऐसा ही तत्त्व माना जा सकता है। वैचारिक मतभेद स्वाभाविक है और उससे चिन्तन आगे बढ़ता है। स्वस्थ जीवन के लिए यह आवश्यक भी है, परन्तु शिविर या दल के आधार पर सत्य को परिभाषित करना सहज और स्वस्थ जीवन को बाधित करना है। आज साहित्य के क्षेत्र में लेखक शिविरों के आधार पर सोचने और लिखने लगे हैं। इससे मौलिक चिन्तन बाधित होता है और साथ ही साहित्यकारों में आपसी आत्मीय भाव का लोप होता जा रहा है। साहित्य किसी विधा-विशेष, परम्परा-विशेष और जीवन दृष्टि-विशेष का 'माइक' नहीं है। यह वैचारिक जगत् की पृथक्ता की भावना सतही है, क्योंकि साहित्य पूरे जीवन को एक साथ और एक दृष्टि से देखता है। साहित्य जिस मानवीय ध्येय को लेकर चलता है उसको इस प्रकार के खण्डों और वर्गों में विभक्त कर न देखा जा सकता है और न समझा।

साहित्यकार की किसी प्रकार की राजनीतिक अथवा वर्गगत प्रतिबद्धता को शुक्ल जी हानिकारक नहीं मानते, साम्प्रदायिकता का प्रश्न अलग है। साहित्य-कार अपने विचारों, अपनी निष्ठाओं और भावादर्शों के चयन और समायोजन के लिए स्वतन्त्र है। यह उसका मौलिक और बुनियादी जीवनगत आधार और अधिकार है। प्रत्येक को स्वाधीन बनाने और बनाये रखने वाली शासन व्यवस्था में स्वतः सुरक्षित है। परन्तु आशंका वहीं उठती है जहाँ राजनीतिक पक्षधरता या प्रतिबद्धता किसी प्रकार का बौनापन, कायरपन पैदा करे और इस प्रकार सुविधावाद का पर्याय बन जाय।

शुक्ल जी ने लेखक के दायित्व को दो रूपों में देखा है। उसका पहला दायित्व सृष्टि अथवा सर्जन का है। दूसरा दायित्व अपने साहित्य में व्यक्त मान्यताओं के अनुरूप जीवन-यापन करने का है। उनके अनुसार स्थापना के सभाकक्ष का 'फरनीचर' बनने की कोशिश करते रहकर भी, बड़ी-बड़ी नौकरियों और पदों की तलाश करते रह कर भी समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, मानवतावाद को लाने का प्रयत्न किया जा सकता है। पर सरकारी सचिवालयों में जैसे ये सारे आदर्श और कार्यक्रम फाइलों में रह जाते हैं, वैसे ही इन लेखकों के लेखन मे ये सारे आदर्श, कार्यक्रम सरकारी खरीद की पुस्तकों के पन्नों पर रह जायेंगे। न उनमें सघर्ष की ऊष्मा होगी और न जीवन का उन्मेष, होगी केवल किताबी कैफ़ियत।

आगे शुक्ल जी ने तथाकथित जनवादी साहित्य के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए उसके सच्चे रूप को निर्धारित करने का प्रयत्न किया। साहित्य के जन प्रतिनिधित्व की सच्ची कसौटी उसके भीतर निहित कर्म करने की प्रेरणा और ऊर्जा है। हमारा वर्तमान साहित्य, सामाजिक व्यवस्था के भ्रष्टाचार, छल-छद्म, मुखौटेबाजी एव मूल्यों के विघटन का सही अभिव्यक्तीकरण कर सकता है। वह व्यक्ति पर व्यक्ति के, जाति पर जाति के, वर्ग पर वर्ग के, अत्याचारों का चिन्तन कर सकता है। परन्तु साहित्य को उससे आगे बढ़कर इन विकृतियों और विडम्बनाओं से जूझने की प्रेरक शक्ति भी प्रदान करनी चाहिए।

साहित्य का मूल धर्म है मनुष्य को अज्ञान, अवसाद, मत्सर, मोह, कुसंस्कार, और रूढ़ियों के निष्प्राण पारम्परिक अनुसरण से बचाना। दूसरे शब्दों में साहित्य मानव के मानसिक स्तर को मुक्ति, उच्चता और भव्यता प्रदान करता है। साहित्य मनुष्य को व्यापक जीवनभूमि पर खड़ा कर उसमें मनुष्य के प्रति उसके भाव-अभाव, सुख-दुःख, वरण-मरण, अर्जन-विसर्जन के प्रति पारदर्शी सवेदना जगाता है। वह मनुष्य को संस्कारवान् और सवेदनशील बनाता है। शोषण और स्वार्थसाधन की कुत्साओं से वह मानव-मन और तन को उबारता भी है। वस्तुतः साहित्यकार अन्य विभिन्न क्षेत्रों के विचारकों की अपेक्षा मनुष्य जीवन को समग्रता में देखता है। वह इसीलिए मूल्यों को अधिक व्यापक और समग्र रूप में अभिव्यक्ति देता है। उसकी कल्पना जीवन को खण्ड-खण्ड में न देखकर मानवता के सत्य की समग्रता में देखती है।

आगे शुक्ल जी ने आज की कविता में भाषा की दुरूहता, कथ्य की वैयक्तिकता और सम्प्रेषणीयता की समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कवियों और रचनाकारों से अनुरोध किया है कि उनका दायित्व आज अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। उनको साहित्यिक रचनाओं के प्रति जनता की रुचि और संस्कार को

पुनः वापस लाना है। आज समाज में उच्चस्तरीय साहित्यिक रचनाओं के प्रति आकर्षण और रुचि का अभाव देखा जाता है। यह रचनाकार का ही दायित्व है कि वह जन-समाज में सुरुचि और रसग्राह्यता की फिर से प्रतिष्ठा करे। आज की कठिनाई यह भी है कि हमारा काव्य इस बात के प्रति हमें जागरूक करता है कि जीवन-यापन के लिए जिस रचनात्मक संस्कार और जीने की कला की अपेक्षा है उससे हम अलग हट चुके है। परन्तु हमको अपने साहित्य से जीने और जागने की प्रेरणा भी मिलती है, उसे हमारी जीवनी शक्ति को भी उद्दीप्त करना है।

साहित्य के सम्बन्ध मे सारी बौद्धिक तर्कना और विवेचना के बाद भी यह स्वीकार करना होगा कि साहित्यिक रचना को मानव की रसाकुल जिजीविषा का प्रतीक होना अपेक्षित है। वस्तुतः मनुष्य के जीवन का सर्वोच्च सत्य भी यही है। जीवन के सारे हर्ष-विषाद, भाव-अभाव, और भेद-अभेद इसी अदम्य आकांक्षा को लेकर इसी के सीमाहीन वृत्त में स्फुरित होते रहते हैं। साहित्य के इस सत्य को किसी भी प्रकार झुठलाया नहीं जा सकता, भले ही कितने ही प्रकार के यथार्थ और आदर्श के तर्कजाल को निर्मित किया जाय।

आज जिस प्रकार की राज्य-व्यवस्था और प्रशासन का स्वरूप है उसमें लेखक की स्थिति पर विचार करना आवश्यक हो गया है। उनसे लेखक के सम्बन्धों की समस्या भी महत्त्वपूर्ण हो चुकी है। यदि कोई शासनतन्त्र अथवा राज्य-व्यवस्था साहित्यकारों, विद्वानों, कलाकारों अथवा बुद्धिजीवियों को संरक्षण प्रदान करती है अथवा आर्थिक वृत्तियाँ और पुरस्कार आदि उन्हें दिया जाता है, तो यह उचित है। परन्तु स्मरण रखने की बात है कि इसमें किसी प्रकार के अह-सान अथवा उपकार की भावना नही होनी चाहिए, वरन् यह इस प्रकार प्रदान किया जाना चाहिए कि रचनाकार का स्वाभिमान सुरक्षित रहे।

आज साहित्य के छपने-छपाने की समस्या भी जटिल होती जा रही है। प्रकाशन-व्यय साध्य होता जा रहा है और इस कारण सामान्यतः अच्छी रचनाओं का भी प्रकाश में आना सम्भव नहीं हो पा रहा है। प्रकाशक ऐसा साहित्य तो प्रकाशित करता है जिसमें उसे तत्काल लाभ हो, परन्तु वह अपनी पूँजी उच्च-स्तरीय साहित्य के प्रकाशन में नहीं लगाना चाहता—इसके समाधान का रास्ता निकालना होगा। इसके लिए सहकारी प्रकाशन संस्थाएँ स्थापित करनी होंगी और साहित्यकारों को भी इस दिशा में श्रम करना होगा। प्रकाशन की इस संकट-पूर्ण स्थिति में नये लेखकों की अपनी नयी रचनाओं के प्रकाशन के लिए यदि शासकीय अनुदान मिल सके तो, यह सही कदम होगा।

इसी क्रम में समय-समय पर श्रेष्ठ रचनाओं को और उनकी रचनाओं को

सम्मानित किया जाना भी अपेक्षित है। यह वस्तुतः साहित्यिक रचनाशीलता के बहाने राष्ट्रीय चेतना के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का ही एक रूप है। वस्तुतः यह रचनाकार की साधना और उनकी गरिमा को स्वीकार किया जाना है जिसे कोई भी स्वाधीन और प्रगतिशील राष्ट्र सहर्ष प्रदान करता है। परन्तु यहाँ इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के अनुदानों पुरस्कारों, और अलंकरणों से कहीं रचनाकार छोटा और अक्षम न हो जाय। रचना के क्षेत्र में यह आवश्यक है कि रचनाकार का स्वाभिमान और उसकी स्वाधीनता सुरक्षित रहे। धन, कीर्ति, राजकीय अलंकरण, सरकार द्वारा पुस्तकों की खरीद आदि ये सब लेखक के लिए उपलक्ष्य हैं, साधन हैं, लक्ष्य और साध्य नही। किसी भी लेखक की सफलता उसकी रचनाओं के आधार पर ही सिद्ध हो सकती है राजधानियों में आरती उतारने में नहीं। किसी भी दशा मे और किसी भी आर्थिक परिवेश मे लेखक को यह नही भूलना है कि उसके साहित्य का उचित सम्मान लोकसंग्रह वृत्ति में है।

शुक्ल जी सत्ता के साथ साहित्यकार का सम्बन्ध अगीकरण का मानते है अस्वीकरण का नहीं। परन्तु जब सत्ता प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न रूप से यह मानने लगती है कि आर्थिक दबाव से साहित्यकार को खरीदा जा सकता है, तब वह भूल करती है, यह अनुचित है। शासन सत्ता को यह भूलना नही चाहिए कि साहित्य-साहित्य, रचना-रचना और कृतित्व-कृतित्व के बीच शासकीय पूर्वाग्रही नीति और रुचिगत पक्षधरता द्वारा भेद उत्पन्न करना किसी भी दृष्टि से उचित नही है। इस प्रकार समाज का हित सम्भव नही है, साहित्य का स्वस्थ प्रभाव तभी सम्भव है जब वह पूर्ण स्वतन्त्रता से रचा गया हो।

आधुनिक कथा-साहित्य की मर्यादाहीनता की ओर उन्होंने उसमें चित्रित नर-नारी सम्बन्धों एवं यौन-सम्बन्धों की अश्लीलता की चर्चा की है। इस प्रकार के स्वच्छन्द जीवन के चित्रण के प्रति उन्होंने चिन्ता व्यक्त की है। उससे नयी पीढ़ी के ऊपर उचित प्रभाव नही पड़ेगा। नयी पीढ़ी के लेखकों को इस प्रकार के साहित्य-सर्जन में विवेक से काम लेना चाहिए। साहित्य में यथार्थ का अंकन उचित है, परन्तु यह यथार्थ पाठक के मन को जीवन की समस्याओं के प्रति सजग करनेवाला होना चाहिए। जो साहित्य पाठकों की हीन-भावना और कुप्रवृत्तियों का पोषण करता है, वह अपने साहित्य के मानदण्ड से ही स्खलित होता है।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं का अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है, यह सन्तोष की बात है। परन्तु हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं का अनुवाद इन भाषाओं में सन्तोषजनक रूप

से नहीं किया जा रहा है, यह चिन्ता की बात है और इस ओर प्रयत्न किया जाना अपेक्षित है।

साहित्य में आज परम्परा को नकारने की बात उठायी जाती है, परन्तु वस्तुतः परम्परा के जनोन्मुख रूप को आत्मसात् करके ही साहित्य अपने युग को अभिव्यक्ति देने में भी समर्थ होता है: आज वैचारिक संकट और गत्यवरोध की चर्चा की जाती है। शुक्ल जी के अनुसार आज के रचनाधर्म की यही आन्तरिक चुनौती है, जिससे बचकर निकलना सम्भव नहीं। रचना के क्रान्तिकारी तत्त्व परम्परा को आत्मसात् करने की परम्परा से सम्बद्ध है। इसके लिए आज के व्याप्त उत्पीडन, शोषण, अत्याचार और भ्रष्टाचार के साथ रचना का सीधा और संवेदनशील सम्बन्ध स्थापित करना होगा। कोई भी परम्परा नये विस्तार, नयी संगति, नये युगबोध और यथार्थ का नया मोड़ ग्रहण करती है तो, वह अपने को ही विकसित करती है और युगीन जीवन के साथ नयी नैतिकता को भी निर्मित करती है।

परम्परा व्यक्ति नहीं तत्त्व की चिन्ता करती है, जो अपने विपुल रूप में अपनी चरम परिणति को प्राप्त होकर सामाजिकता बन जाता है। सामाजिक सूत्रों में जन-समाज को बाँधने के लिए परम्परा ही सबसे बड़ी शक्ति होती है। पौराणिकता को परम्परा नहीं माना जा सकता, क्योंकि पौराणिकता मात्र दैवी, अलौकिक शक्ति की अनुकृति बनकर रह जाती है। इस पौराणिकता में अतीत के उज्ज्वल स्वप्नों और कल्पनाओं की सुनहली चित्रावली होती है, जिसमें सौन्दर्य और भव्यता की स्मृति-पूजा ही होती है। इसमें पुरातत्त्व के ध्वंसावशेषों का आकर्षण और विगत का सौन्दर्यबोध हो सकता है। परन्तु परम्परा ऐतिहासिक चेतना है जो कालक्रम में मिले, घटे और फलीभूत हुए सम्पूर्ण का सारांश है। वह कोई एककालिक, स्थविरधर्मी, प्रक्रिया नहीं है जो अपनी पार्श्वभूमि की संस्कृति से आगे बढ़ ही न सके।

⊙

अभिभाषण-१

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

⊙ ⊙

माननीय विद्वज्जन !

आज मेरे ऐसे अयोग्य और अकर्मण्य व्यक्ति को इस आसन पर पहुँचा कर आप महानुभावों ने केवल अपने अमोघ कृपाबल का परिचय दिया है, यह कहना तो कदाचित् बहुत दिनों से चली आती हुई एक रूढ़ि या परम्परा का पालन मात्र समझा जायगा। पर इसका प्रमाण आपको अभी थोड़ी देर में मिल जायगा। ऐसी जगमगाती विद्वन्मंडली के बीच मेरा कर्त्तव्य केवल अपने दोनों कान खुले रखने का था, न कि मुँह खोलने का। पर आप लोग शायद इधर कार्य-भार से थक कर कुछ विनोद की सामग्री चाहते थे। मूर्ख, हास्यरस के बड़े प्राचीन आलम्बन हैं। न जाने कब से वे इस संसार की रुखाई के बीच लोगों को खुलकर हँसने का अवसर देते चले आ रहे हैं। यदि मुझ से इतना भी हो सके तो मैं अपना परम सौभाग्य समझूंगा।

सम्मेलन ने जब से अपने अधिवेशन के साथ-साथ वाङमय के कुछ विभागों की अलग-अलग बैठकों की व्यवस्था की तभी से यह समझा जाने लगा है कि वह प्रचार-कार्य के साथ-साथ प्रत्येक विभाग की स्थिति का निरन्तर समीक्षा का विधान भी करना चाहता है। वाङमय के भिन्न-भिन्न क्षेत्र किस दशा में हैं, इसकी सम्यक् विवृत्ति प्रत्येक क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं द्वारा मिल कर विचार करने से ही हो सकती है। आज जिस विभाग की विचार-सभा में सम्मिलित होने का अधिकार आप महानुभावों ने मुझे दिया है, वह है साहित्य-विभाग। अतः इस बात का ध्यान मुझे बराबर रखना पड़ेगा कि जो कुछ मैं कहूँ, वह उस विभाग के भीतर की बात हो। कहीं उसके बाहर न जा पड़ूँ, इस डर से कुछ हदबंदी मैं कर लेना चाहता हूँ। यह स्थिर कर लेना चाहता हूँ कि शुद्ध साहित्य के भीतर क्या-क्या आता है।

साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङमय लिया जा सकता है जिसमें अर्थबोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरञ्जन हो तथ। जिसमें ऐसे वाङमय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो। भावोन्मेष से मेरा अभिप्राय हृदय की किसी प्रकार की प्रवृत्ति से—रति, करुणा, क्रोध इत्यादि से लेकर अरुचि तक से—

है और चमत्कार से अभिप्राय उक्ति-वैचित्र्य के कुतूहल से है। अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात हम अभी छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से निःसंग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है, आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है, कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं। यह अवश्य है कि अनुमित और आप्तोपलब्ध अर्थ के साथ काव्यभूमि में कल्पित अर्थ का योग थोड़ा बहुत रहता है, जैसे दार्शनिक कविताओं में, रामायण, पद्मावत आदि ऐतिहासिक काव्यों में। गम्भीर-भाव-प्रेरित काव्यों में कल्पना प्रत्यक्ष और अनुमान के दिखाये मार्ग पर काम करती है और बहुत घना और बारीक काम करती है। कहने का तात्पर्य यह कि साहित्य के भीतर पहले तो वे सब कृतियाँ आती हैं जिनमें भाव-व्यंजन या चमत्कार विधायक अंश पर्याप्त होता है, फिर उन कृतियों की रमणीयता और मूल्य हृदयंगम कराने वाली समीक्षाएँ या व्याख्याएँ। अर्थबोध कराना मात्र, किसी बात की जानकारी कराना मात्र, जिस कथन या प्रबन्ध का उद्देश्य होगा वह साहित्य के भीतर न जायगा और चाहे जहाँ जाय।

इस दृष्टि से साहित्य-क्षेत्र के भीतर आने वाली रचनाओं के तीन रूप तो हमारे यहाँ पहले से मिलते हैं—श्रव्य काव्य, दृश्य काव्य और कथात्मक गद्य काव्य। इनमें से पहले दो तो अब तक ज्यों-के-त्यों बने हैं। कथात्मक गद्यकाव्य का स्थान अब उपन्यासों और छोटी कहानियों ने लिया है। चौथा रूप है काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध या लेख। पाँचवाँ है वह विचारात्मक निबन्ध या लेख जिसमें भावव्यंजन और भाषा का वैचित्र्य या चमत्कार भी हो अथवा जिसमें पूर्वोक्त चार प्रकार की कृतियों की मार्मिक समीक्षा या व्याख्या हो। काव्य-समीक्षा के अतिरिक्त और प्रकार के विचारात्मक निबन्ध साहित्य-कोटि में वे ही आते हैं जिनमें बुद्धि के अनुसन्धान-क्रम या विचार परम्परा द्वारा गृहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक का व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी-पूरी झलकती हैं। इस प्रकार मेरे विचार के विषय ठहरते हैं—काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्य-काव्य और निबन्ध, जिसमें साहित्यालोचन भी सम्मिलित है। इन्हीं के सम्बन्ध में मैं अपनी कुछ भली या बुरी धारणाएँ क्रम से आप लोगों के सम्मुख प्रकट करूँगा, इस आशा से कि उनका बहुत कुछ संशोधन और परिष्कार इस विद्वन्मंडली के बीच हो जायगा। पहले मैं प्रत्येक का स्वरूप समझने का प्रयास करूँगा, फिर अपने साहित्य में उसके विकास पर कुछ निवेदन करूँगा—'प्रकाश डालना' तो मुझे आता नहीं।

उपर्युक्त पांचों प्रकार की रचनाओं में भाव या चमत्कार के परिणाम में ही नहीं, उसकी शासन-विधि में भी भेद होता है। कहीं तो वह शासन इतना सर्वग्राही और कठोर होता है कि भाव या चमत्कार के इशारे पर ही भाषा अनेक प्रकार के रूपरंग बनाकर नाचती दिखायी पड़ती है, अपना खास काम लुकछिप कर करती है। कहीं इतना कोमल होती है कि वह अपना पहला काम खुल कर करती हुई भाव का कार्यसाधन करती है और अच्छी तरह करती है। भाषा का असल काम यह है कि वह प्रयुक्त शब्दों के अर्थयोग के द्वारा ही या तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही पूर्वोक्त चार प्रकार के अर्थों में से किसी एक का बोध कराये। जहाँ इस रूप में कार्य न करके वह ऐसे अर्थों का बोध कराती है जो बाधित, असम्भव, असंयत या असम्बद्ध होते हैं वहाँ वह केवल भाव या चमत्कार का साधन मात्र होती है, उसका वस्तु-ज्ञापन-कार्य एक प्रकार से कुछ नहीं होता। ऐसे अर्थों का मूल्य इस दृष्टि से नहीं आँका जाता कि वे कहाँ तक वास्तविक, सम्भव या अव्याहत हैं बल्कि इस दृष्टि से आँका जाता है कि वे किसी भावना को कितने तीव्र और बड़े-बड़े रूप में व्यंजित करते हैं अथवा उक्ति में कितना वैचित्र्य या चमत्कार लाकर अनुरञ्जन करते हैं। ऐसे अर्थ-विधान की सम्भावना काव्य में सबसे अधिक होती है। पर यह न समझना चाहिए कि काव्य में अर्थ सदा इसी संक्रमित, अधीन दशा में ही पाया जाता है। बहुत-सी अत्यन्त मार्मिक और भावपूर्ण कविताएँ ऐसी होती हैं जिनमें भाषा कोई वेशभूषा या रूपरंग नहीं बनाती, अर्थ अपने खुले रूप में ही पूरा रसात्मक प्रभाव डालते हैं।

काव्य की अपेक्षा रूपक या नाटक में भाव-व्यञ्जना या चमत्कार के लिए स्थान परिमित होता है। इसमें भाषा अपनी अर्थक्रिया अधिकतर सीधे ढंग से करती है, केवल बीच-बीच में ही भाव या चमत्कार उसे दबा कर अपना काम लेते हैं। बात यह है कि नाटक कथोपकथन के सहारे पर चलते हैं। पात्रों की बातचीत यदि बराबर वक्रता लिये अतिरंजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जायगी और सारा नाटकत्व निकल जायगा। यह ठीक है कि पश्चिम में कुछ कवियों ने (नाटककारों ने नहीं) केवल कल्पना की उड़ान वाले नाटक लिखे हैं, पर वे शुद्ध नाटक की कोटि में नहीं लिये जाते। यही बात मन की भावनाओं या विचारों को मूर्त रूप में—पात्रों के रूप में—खड़े करने वाले नाटकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

आख्यायिका या उपन्यास के कथाप्रवाह और कथोपकथन में अर्थ अपने प्रकृत रूप में और भी अधिक विद्यमान रहता है और उसे दबाने वाले भाव-विधान या उक्ति वैचित्र्य के लिए और थोड़ा स्थान बचता है। उपन्यास में मन बहुत-

कुछ घटनाचक्र में लगा रहता है। पाठक का मर्मस्पर्श बहुत-कुछ घटनाएँ ही करती हैं। पात्रों द्वारा भावों की लंबी-चौड़ी व्यञ्जना की अपेक्षा उतनी नहीं रहती।

काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध या लेख छन्द के बन्धन से मुक्त काव्य ही हैं, अतः रचना-भेद से उनमें भी अर्थ का उन्हीं रूपों में ग्रहण होता है जिन रूपों में छन्दोबद्ध काव्य में होता है—अर्थात् कहीं तो वह अपने प्रकृत और रूप में विद्यमान रहता है और कहीं भाव या चमत्कार द्वारा संक्रमित रहता है।

उपर्युक्त चारों प्रकार की रचनाओं में कल्पना-प्रसूत 'वस्तु' या अर्थ की प्रधानता रहती है, शेष तीन प्रकार के अर्थ सहायक के रूप में रहते हैं। पर निबन्ध में विचार-प्रसूत अर्थ अंगी होता है और आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ अंग रूप में रहता है। दूसरी बात यह है कि प्रकृत्त निबन्ध अर्थप्रधान होता है। व्यक्तिगत वावैचित्र्य अर्थोपहित होता है, अर्थ के साथ मिलाजुला होता है और हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ बीच-बीच में अर्थ के साथ झलक मारती हैं।

साहित्य के अन्तर्गत आने वाले पाँचों प्रकार की रचनाओं का आभास देकर जब मैं सबसे पहले काव्य को लेता हूँ जिसकी परम्परा सभ्य, असभ्य सब जातियों में अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आती है। लोक में जैसे और सब विषयों का प्रकाश मनुष्य की वाणी या भाषा द्वारा होता है वैसे ही काव्य का प्रकाश भी। भाषा का पहला काम है शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध कराना। यह काम वह सर्वत्र करती है—इतिहास में, दर्शन में, विज्ञान में, नित्य की बातचीत में, लड़ाई-झगड़े में और काव्य में भी। भावोन्मेष, चमत्कारपूर्ण अनुरंजन इत्यादि और जो कुछ वह करती है उसमें अर्थ का योग अवश्य रहता है। अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन में यह 'योग्यता' उपपन्नता या प्रकरण-संबद्धता नहीं दिखायी पड़ती वहाँ लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है और 'योग्य' अथवा 'प्रकरण-संबद्ध' अर्थ प्राप्त किया जाता है। यदि इस अनुष्ठान से भी योग्य या संबद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तो वह वाक्य या कथन प्रलाप मात्र मान लिया जाता है। यदि किसी लड़की को दिखा कर कोई किसी से कहे कि "तुमने इस लड़की को काट कर कुएँ में डाल दिया" तो सुनने वालों के मन में इस वाक्य का अर्थ सीधे न धँसेगा, वह एकदम असंभव या अनुपयुक्त जान पड़ेगा। फिर चट लक्षणा के सहारे वे इस अबाधित या समझ में आने वाले अर्थ तक पहुँच जायेंगे कि "तुमने इस लड़की को बुरे घर में ब्याह कर अत्यन्त कष्ट में डाल दिया।" इसी प्रकार गरमी से व्याकुल लोगों में से कोई बोल उठे कि "एक पत्ती भी नहीं हिल रही है" तो शेष लोगों को

शायद पहले यह कथन नितान्त अप्रासंगिक जान पड़े, पर पीछे वे व्यञ्जना के सहारे कहने वाले के इस सुसंगत अर्थ तक पहुँच जायेंगे कि 'हवा बिल्कुल नहीं चल रही है।' इससे यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ भी 'योग्यता' या 'उपयुक्तता' को पहुँचा हुआ, समझ में आने योग्य रूप मे आया हुआ, अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यञ्जना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।

व्यञ्जना के सम्बन्ध में कुछ विचार करने की आवश्यकता है। व्यञ्जना दो प्रकार की मानी गयी है—वस्तु-व्यञ्जना और भाव-व्यञ्जना। किसी तथ्य या वृत्त की व्यञ्जना वस्तु-व्यञ्जना कहलाती है और किसी भाव की व्यञ्जना भाव-व्यञ्जना (भाव की व्यञ्जना ही जब रस के सब अवयवों के सहित होती है तब रस-व्यञ्जना कहलाती है)। यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो दोनों भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ ठहरती हैं। वस्तु-व्यञ्जना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है, पर भावव्यञ्जना जिस रूप में मानी गयी है उस रूप में किसी भाव का सचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटि की क्रियाएँ हैं। पर साहित्य के ग्रंथों में दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एक में वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, दूसरी में यह क्रम होने पर भी लक्षित नहीं होता। पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है, अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्यंग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप में होगा कि 'अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है।' पर केवल इस बात का ज्ञान करना कि 'अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है' स्वयं क्रोध या रति भाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है। रस-व्यंजना इस रूप में मानी भी नहीं गयी है। अतः भाव-व्यञ्जना या रस-व्यञ्जना वस्तु-व्यञ्जना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति है।

रस-व्यञ्जना की इसी भिन्नता या विशिष्टता के बल पर 'व्यक्तिविवेक'-कार महिम भट्ट का सामना किया गया था जिनका कहना था कि 'व्यंजना' अनुमान से भिन्न कोई वस्तु नहीं। विचार करने पर वस्तु-व्यञ्जना के सम्बन्ध में भट्ट जी का पक्ष ठीक ठहरता है। व्यंग्य-वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं। पर रस-व्यञ्जना लेकर जहाँ वे चले हैं वहाँ उनके मार्ग में बाधा पड़ी है। अनुमान द्वारा बेधड़क इस प्रकार के ज्ञान तक पहुँच कर कि 'अमुक के मन में

प्रेम है या क्रोध है' उन्हें फिर इस ज्ञान को 'आस्वाद पदवी' तक पहुँचाना पड़ा है। इस 'आस्वाद पदवी' तक रत्यादि का ज्ञान किस प्रक्रिया से पहुँचता है, यह सवाल ज्यों का त्यों रह जाता है। अतः इस विषय को स्पष्ट कर लेना चाहिए। या तो हम भाव या रस के सम्बन्ध में 'व्यञ्जना' शब्द का प्रयोग न करें, अथवा वस्तु या तथ्य के सम्बन्ध में। शब्दशक्ति का विषय बड़े महत्त्व का है। वर्तमान साहित्य-सेवियों को इसके सम्बन्ध में विचार-परंपरा जारी रखनी चाहिए। काव्य की मीमांसा या स्वच्छ समीक्षा के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

आज कल के प्रसिद्ध अंग्रेज समालोचक रिचर्ड्स (I. A. Richards) जो योरोपीय साहित्य में समीक्षा के नाम पर फैलाये हुए बहुत से अर्थशून्य वाग्जाल को हटा कर शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा का रास्ता निकाल रहे हैं. हमारे यहाँ के शब्द-शक्ति निरूपण के ढर्रे पर अर्थमीमांसा को लेकर चले है। उन्होंने 'व्यावहारिक काव्यसमीक्षा' (Practical Criticism) नामक अपने बड़े ग्रन्थ में चार प्रकार के अर्थ माने हैं--(१) प्रस्तुत अर्थ या व्यग्य वस्तु (Sense), (२) व्यंग्य भाव (Feeling), (३) वोद्धव्य की विशेषता (Tone) और भीतरी उद्देश्य (Intention)। जिन्होंने अपने यहाँ के शब्द-शक्ति-निरूपण का अच्छी तरह मनन किया है वे देख सकते हैं कि इन चारों में वास्तव में दो ही मुख्य हैं। तीसरे का समावेश हमारे यहाँ आर्थी व्यंजना के कारणों के अन्तर्गत हो जाता है—

वक्तृ बोद्धव्य वाक्यानामन्यसन्निधि वाच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च॥

चौथे का समावेश अभिधामूलक ध्वन्यार्थ के अन्तर्गत हो जाता है जिसका एक उदाहरण यह है—'हे धार्मिक! बेधड़क फिरिए। उस कुत्ते को' जो आपको सताता था, गोदावरी तट के उस कुञ्ज में रहने वाले सिंह ने मार डाला।' इसमें कहने वाली नायिका का भीतरी उद्देश्य यह है कि भगत जी उस एकान्त कुञ्ज के पास फूल आदि तोड़ने न जाया करें, पर वह और ही ढंग से कहती है कि 'बेधड़क फिरिए।' हमारे यहाँ शब्दशक्तियों के भेद निरूपण का जैसा स्वच्छ मार्ग है वैसा यदि रिचर्ड्स को मिलता तो उन्हें उक्त पिछले दो प्रकार के अलग अर्थ न रखने पड़ते।

उक्त चार प्रकार के अर्थों का उल्लेख करके रिचर्ड्स ने कहा है कि उक्ति में कभी किसी अर्थ की प्रधानता रहती है, कभी किसी अर्थ की। काव्य में अधिकतर व्यंग्य भाव की प्रधानता रहती है। पर वे कहते हैं कि इसका यह अभिप्राय नहीं कि काव्य में प्रस्तुत अर्थ या तथ्य ध्यान देने की वस्तु नहीं। कभी-कभी सीधी-

सादी प्रस्तुत वस्तु या अर्थ ही से भाव की व्यञ्जना हो जाती है। कभी वाच्यार्थ से व्यंजित वस्तु निकालनी पड़ती है। क्या यह कहने की आवश्यकता है कि काव्य-मीमांसा की यह वही पद्धति है जो हमारे यहाँ स्वीकृत है?

आजकल पाश्चात्य वाद-वृक्षों के बहुत-से पत्ते कुछ हरे मीचे हुए, कुछ सूख कर गिरे पाये हुए—यहाँ पारिजात-पत्र की तरह प्रदर्शित किये जाने लगे हैं जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखायी देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँखें खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके वे पत्ते हैं। पर यह बात हो नहीं रही है। यूरोप के समीक्षा-क्षेत्र में नवीनता और अनूठेपन की झोंक में काव्य के सम्बन्ध में न जाने कितनी अत्युक्ति बातें चला करती हैं—जैसे 'कला-कला ही के लिए है', 'अभिव्यञ्जना ही सब कुछ है', 'अभिव्यंग्य कोई वस्तु नहीं', 'काव्य मे अर्थ ध्यान देने की वस्तु नहीं', 'काव्य में बुद्धि घातक होती है' इत्यादि-इत्यादि। 'कला-कला के ही लिए' का शोर यूरोप मे तो बन्द हुआ, पर यहाँ उसकी गूँज अब तक सुनायी दिया करती है और सब बातें अभी छोड़ कर यहाँ हम प्रसग-वश 'बुद्धि' और 'अर्थ' वाली बात लेते है।

ऊपर शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में हम जो कुछ कह आये हैं उससे इस बात का आभास मिलता है कि भारतीय दृष्टि के अनुसार 'अर्थ' काव्य में क्या काम करता है और 'बुद्धि' का काव्य में क्या स्थान है। 'अर्थ' से अभिप्राय योग्य और उपपन्न अर्थ से है, यह दिखाया जा चुका है। वाच्यार्थ के अयोग्य या अनुपपन्न होने पर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यञ्जना का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में? इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है। कोई रसात्मक या चमत्कार-विधायक उक्ति लीजिए। उस उक्ति ही में, अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में, काव्यत्व या रमणीयता होगी उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं। जैसे, यह लक्षणयुक्त वाक्य लीजिए—

जी कर, हाय! पतंग मरे क्या?

इसमें भी वही बात है। जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है। इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि 'जी कर पतंग क्यों कष्ट भोगे?' तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार न रहेगा। अब 'साकेत' में उर्मिला की यह रसात्मक उक्ति लीजिए—

आप अवधि बन सकूँ नहीं तो, क्या कुछ देर लगाऊँ ?
मैं अपने को आप मिटा कर, जाकर उनको लाऊँ।

जिसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला जब आप मिट ही जायगी तब अपने प्रिय लक्ष्मण को बन से लायेगी क्या? पर सारा रस, सारी रमणीयता, इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में हैं, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि 'उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है।' इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं। हिन्दी के पुराने कवि देव ने शायद समझ कर काव्य में केवल वाच्यार्थ माना था। तो, फिर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ का काव्य में प्रयोजन क्या है? वाच्यार्थ बाधित, व्याहत या अनुपपन्न होने पर लक्षणा और व्यंजना के सहारे योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ प्राप्त करने का प्रयास क्यों किया जाता है? इस प्रयास का अभिप्राय यही है कि काव्य की उक्ति चाहे कितनी ही अतिरंजित, दूरारूढ़ और उड़ान वाली हो, उसका वाच्यार्थ चाहे कितना ही प्रकरणाच्युत, व्याहत और असम्भाव्य हो, उसकी तह में छिपा हुआ कुछ-न-कुछ योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ होना ही चाहिए। योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ प्राप्त करने के लिए चाहे कितनी ही मिट्टी—मिट्टी में तार्किकों की बुद्धि से कहा गया, रसज्ञों और सहृदयों की दृष्टि से सोना या रत्न कहना चाहिए—खोद कर हटानी पड़े, उसे प्राप्त करना चाहिए। अब पूछिए कि जो योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ खोद कर निकाला जाता है, उसका काव्य में प्रयोजन क्या है, वह किस काम आता है? काव्य तो वह है नहीं, काव्य तो है अयोग्य, अनुपपन्न, बुद्धि को अग्राह्य उक्ति। सुनिए, वह काव्य नहीं, 'काव्य को वारण करने वाला सत्य है जिसकी देख रेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है। व्यंजना करने वाली उक्ति की साधुता और सचाई की परख के लिए उसको सामने रखने की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता अधिकतर समीक्षकों या आलोचकों को पड़ती है। वे उस सत्य के साथ किसी उक्ति का सम्बन्ध देख कर यह निर्णय करते हैं कि उस उक्ति का स्वरूप ठीक-ठिकाने का है या ऊटपटांग। इस प्रकार यहाँ के साहित्य-मीमांसकों की दृष्टि में काव्य में योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिए—योग्यता चाहे खुली हो, चाहे छिपी हो। अत्यन्त अयोग्य और असम्बद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी-कभी काव्य के प्रयोजन भर की योग्यता छिपी रहती है—जैसे, शोकोन्मत्त या वियोगविक्षिप्त के प्रलाप में। शोक की विह्वलता या वियोग की व्याकुलता ही 'योग्यता' है।

काव्य के साथ अर्थ की योग्यता अर्थात् बुद्धि का कितना और किधर से लगाव होता है, इस विषय में हमारे यहाँ का यही विवेचन समझना चाहिए। ऊपर काव्य

और कला के सम्बन्ध में यूरोप में समय-समय पर फैशन की तरह चलने वाले नाना वादों, प्रवादों या अपवादों की चर्चा की जा चुकी है जिनके बहुत से वाक्य-खण्ड हमारे वर्तमान साहित्य के क्षेत्र में भी मन्त्रों की तरह जपे जाने लगे हैं। इस प्रसंग में एक बात की ओर ध्यान देना सबसे पहले आवश्यक है। यूरोप में कला और काव्य-समीक्षा के बड़े-बड़े सम्प्रदाय इटली और फ्रांस से चलते रहे हैं। इटली बहुत दिनों से चित्रकारी, मूर्तिकारी, नक्काशी, बेलबूटों की इमारती सजावट आदि के लिए प्रसिद्ध चला आ रहा है। इन्हीं कलाओं के बीच काव्य की भी गिनती की गयी। फल यह हुआ कि काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी नक्काशी और बेलबूटों की-सी भावना जड़ पकड़ती गयी। काव्य का प्रभाव भी उसी प्रकार का समझा जाने लगा जिस प्रकार का बेलबूटों की सजावट और नक्काशी का पड़ता है। इससे अधिक गम्भीर श्रेणी का प्रभाव ढूँढने की आवश्यकता धीरे-धीरे दूर सी होने लगी। बेलबूटों की सजावट और नक्काशी में जिस ढंग से अनुरञ्जन करने वाला सौन्दर्य-विधान होता है, उसी ढंग से अनुरञ्जन करने वाला सौन्दर्य-विधान काव्य में भी समझा जाने लगा। अतः जिस प्रकार बेलबूटे और नक्काशी का सम्बन्ध जगत् या जीवन की किसी वास्तविक दशा, स्थिति या तथ्य से नहीं होता, उसी प्रकार काव्य का भी नहीं होता। शिल्पकार या कलाकार के मन में सौन्दर्य की भावनाएँ जिन रूप-रेखाओं या आकारों में प्रस्फुटित होती हैं, उन्हीं रूपों और आकारों को वह बेलबूटों या नक्काशियों में अभिव्यंजित कर देता है। वे बेलबूटे कल्पना की स्वतन्त्र सृष्टि होते हैं—

सृष्टि के किसी खण्ड के ठीक-ठीक अनुकरण नहीं। जीवन के किसी वास्तविक तथ्य, भाव (मनोविकार) या विचार के रूप में उनका अर्थ ढूँढना व्यर्थ है। अपने अर्थ वे आप ही हैं। यही बात काव्य के सम्बन्ध में भी समझी जाने लगी।

मेरे देखने में 'कला-कला ही के लिए हैं', 'कला कल्पना की नूतन सृष्टि में है, प्रकृति के ज्यों-के-त्यों चित्रण में नहीं,' 'काव्य कल्पना का लोक है'—ये सब उक्त बेलबूटेवाली हलकी धारणा के कच्चे-बच्चे हैं।

इस धारणा को बहुत दूर तक घसीट कर इसे शास्त्रीय रूप देने का सबसे प्रकाण्ड प्रयास इटली के क्रोचे (Croce) ने अपने 'सौन्दर्यशास्त्र' में किया जिसका प्रभाव केवल काव्य-चर्चा में ही नहीं, काव्यरचना में भी बहुत कुछ दिखायी पड़ता है। उसने 'अभिव्यञ्जना-वाद (Expressionism) का प्रवर्तन किया, जिसके अनुसार कला में अभिव्यंञ्जना ही सब कुछ है—अभिव्यञ्जना से अलग कोई और अभिव्यंग्य वस्तु या अर्थ नहीं होता। काव्य का गिनती भी कलाओं

में ही की गयी है। अतः काव्य में उक्ति से अलग कोई दूसरा अर्थ, दूसरी वस्तु, तथ्य, या भाव-नहीं होता। काव्य की उक्ति किसी दूसरी उक्ति की प्रतिनिधि नही। जो अर्थ किसी उक्ति के शब्दों से निकलता है उसका सम्बन्ध किसी दूसरे अर्थ से नही होता। साहित्य की परिभाषा में इसे यों कह सकते हैं कि काव्य में वाच्यार्थ का कोई व्यंग्यार्थ नहीं होता।

अब यह देखिए कि उक्त 'वाद' के भीतर प्रकृति की नाना वस्तुओ, दृश्यों और व्यापारों तथा हृदय के रति, क्रोध, शोक इत्यादि अनेक भावों का क्या स्थान ठहरता है। वे केवल उपादान मात्र रह जाती हैं। कुछ फूल-पत्तियों, पशु-पक्षियों इत्यादि के रग और आकार लेकर जिस प्रकार मनमाने बेलबूटे और नक्काशियाँ बनायी जाती हैं, उसी प्रकार काव्य में भी वाह्य प्रकृति से फूल-पत्तों, नदी-नालों, पर्वत-समुद्र, बुलबुल, कोकिल, चातक, भ्रमर, चाँदनी, समीर इत्यादि, मनुष्य के व्यापारों से रोना, गाना, हँसना, कूदना, इत्यादि, शरीर से मुख, कान, नाक, अश्रु, श्वास, उछ्वास इत्यादि, मनुष्यों की अन्तःप्रकृति से रति, हास, शोक, भय इत्यादि लेकर और उनका मनमाना योग करके एक अनूठी सृष्टि, प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र एक नयी रचना खड़ी की जाती है। इन अनेक पदार्थों का वर्णन या इन अनेक भावों की व्यञ्जना, काव्य का लक्ष्य नही होता। ये तो उपादान मात्र हैं —खिलौने बनाने वाले कुम्हार की मिट्टी और रंग हैं। अतः प्रस्तुत-अप्रस्तुत का, अलंकार-अलंकार्य्य का कोई सवाल नहीं।

यहाँ से अब स्पष्ट देखा जा सकता है कि उपर्युक्त वाद बेलबूटों और नक्काशियों के सम्बन्ध में तो बिल्कुल ठीक घटता है, पर काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से बहुत दूर रहता है। उसे दृष्टि में रखकर जो चलेगा उसके निकट काव्य की सहृदयता, भावुकता और मार्मिकता से कोई सम्बन्ध नहीं। उक्त वाद के प्रभाव से प्रस्तुत की हुई रचनाओं को देखकर कोई पूछ सकता है कि क्या कवि के लिए अनुभूति सचमुच आवश्यक है। यदि काव्य की तह में जीवन का कोई सच्चा मार्मिक तथ्य सच्ची भावानुभूति नहीं तो, उसका मूल्य मनोजरञ्न करने वाली सजावट या खेल तमाशे के मूल्य से कुछ भी अधिक नहीं। पर उक्त वाद के प्रतिपादक ने उसका मूल्य दूसरी दुनियाँ में ढूंढ़ निकालने की चेष्टा की है। उसने कला की अभिव्यञ्जना के इस व्यवसाय को बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति दोनों से परे जो आत्मा है, उसकी अपनी निज की क्रिया कहा है—इस जगत् और जीवन से स्वतन्त्र। यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि क्रोचे को यह आत्मा वाली बात मिली कहाँ से? यह पुराने ईसाई-भक्त-सन्तों से मिली है जिन्हें दिव्य आभास हुआ करता था और जिसका उल्लेख आगे होगा। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक

में मैं दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार ईसा की १९वीं शताब्दी के आरम्भ में घोर रहस्यवादी अंग्रेज कवि ब्लेक ने सन्तों के आभास वाली बात को पकड़ कर मनुष्य की कल्पना को इलहाम के दर्जे को पहुँचाया था। उसने कहा था—

"कल्पना का लोक नित्य लोक है। वह शाश्वत और अनन्त है। उस नित्य लोक में उन सब वस्तुओं की नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ है जिन्हें हम प्रकृति-रूपी दर्पण में प्रतिबिंबित देखते है।'

परीक्षा के लिए क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद का संक्षेप में परिचय दे देना, मैं समझता हूँ, अच्छा होगा। मैं कई जगह दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार यूरोप के समीक्षा-क्षेत्र में, इधर बहुत दिनों से काव्य के कल्पना और भाव, इन दोनों अवयवों में से केवल 'कल्पना'—'कल्पना' की ही पुकार सुनायी पड़ती है। कल्पना है काव्य का क्रियात्मक बोध-पक्ष जिसका विधान हमारे यहाँ के रसवादियों ने भाव के योग में ही काव्य के अन्तर्भूत माना है। अलंकार वादी या वक्रोक्तिवादी अलबत्त ज्ञानात्मक अवयव ही से प्रयोजन रखते हैं। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, क्रोचे काव्य में कल्पना की क्रिया और उसके बोध ही को सब कुछ मानता है अतः कलानुभूति या काव्यानुभूति को वह ज्ञान स्वरूप ही मानकर चला है। उसका सिद्धांत संक्षेप में हम नीचे देते हैं। उसने कला-सम्बन्धी ज्ञान को तर्क-सम्बन्धी ज्ञान से इस प्रकार अलग किया है—

(१) कला-सम्बन्धी ज्ञान है—स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) कल्पना में उद्भूत ज्ञान, व्यक्ति का संकेतग्रह अर्थात् किसी एक विशेष वस्तु का ज्ञान।

(२) तर्क-सम्बन्धी ज्ञान है—प्रभा (Concept) निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान—अर्थात् जाति का संकेतग्रह।

स्वयंप्रकाश ज्ञान का अभिप्राय है मन में आपसे-आप—बिना बुद्धि की क्रिया या सोच-विचार के—उठी हुई मूर्त भावना, जिसकी वास्तविकता-अवास्तविकता का कोई सवाल नहीं। यह मूर्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है जो दृश्य जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को (अर्थात् मन में संचित उनकी छापों या संस्कारों को) द्रव्य या उपादान की तरह लेकर हुआ करती है। दृश्य जगत् के नाना रूप-व्यापार हैं—द्रव्य (Matter)। इसी द्रव्य के सहारे आत्मा—की क्रिया मूर्तरूप में अपना प्रकाश करती है। 'द्रव्य' की प्रतीति मात्र तो जड़त्व या निष्क्रियता है—ऐसी प्रतीति है जो विवश होकर करनी ही पड़ती है। मनुष्य की आत्मा द्रव्य की प्रतीति मात्र करती है, उसकी सृष्टि नहीं करती। आत्मा की अपनी स्वतन्त्र क्रिया है कल्पना, जो रूप का सूक्ष्म साँचा खड़ा करती है और

उस साँचे में स्थूल द्रव्य को ढाल कर अपनी कृति को गोचर या व्यक्त करती है। यह 'साँचा' आत्मा की कृति या आध्यात्मिक वस्तु होने के कारण, परमार्थतः एक-रस और स्थिर होता है। उसकी अभिव्यञ्जना में जो नानात्व दिखायी पड़ता है वह स्थूल 'द्रव्य' के कारण जो परिवर्तनशील होता है, कला के क्षेत्र में यही 'साँचा' (Form) सब कुछ है, 'द्रव्य' या सामग्री (Matter) ध्यान देने की वस्तु नहीं।

स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) को साँचे में ढालकर व्यक्त होना ही कल्पना है जो मूल अभिव्यञ्जना रूप में बाहर प्रकाशित की जाती है। यदि सचमुच, स्वयंप्रकाश ज्ञान हुआ है, भीतर अभिव्यञ्जना हुई है, तो वह बाहर भी प्रकाशित हो सकती है। लोगों का यह कहना कि कवि के हृदय में बहुत-सी भावनायें उठती हैं जिन्हें वह अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर सकता, क्रोचे नहीं मानता। वह कहता है कि जो भावना या कल्पना बाहर व्यक्त नहीं हो सकती उसे अच्छी तरह उठती हुई ही न समझना चाहिए। प्रत्येक अभिव्यञ्जना (Expression) या उसके बाहरी रूप उक्ति की अपनी अलग सत्ता होती है। अनेक अभिव्यञ्जनाओं या उक्तियों के बीच कुछ सामान्य लक्षण ढूँढ़ कर काव्य के सम्बन्ध में कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है।

अतः साहित्यशास्त्र में रचनाओं के जो अनेक भेद किये गये हैं, कला की दृष्टि से, वे निरर्थक हैं—जैसे अनेक प्रकार के अलंकार तथा वास्तविक (Realistic) और प्रतीकात्मक (Symbolic), वाह्यार्थ निरूपक (Objective) और अन्तर्वृत्ति-निरूपक (Subjective) रूढ़िबद्ध और स्वच्छन्द, अलंकृत-अनलंकृत इत्यादि भेद।

अलंकार के सम्बन्ध में क्रोचे कहता है कि अलंकार तो शोभा के लिये ऊपर से जोड़ी या पहनायी हुई वस्तु को कहते हैं। अभिव्यञ्जना या उक्ति में अलंकार जुड़ कैसे सकता है? यदि कहिए बाहर से, तो उसे उक्ति से सदा अलग रहना चाहिए। यदि कहिए भीतर से, तो वह या तो उक्ति के लिए 'दाल-भात में मूसरचन्द' होगा अथवा उसका एक अंग ही होगा।

रस-अलंकार आदि के नाना भेद क्रोचे के अनुसार, कला की सिद्धि में कोई योग न देकर तर्क या शास्त्रपक्ष में सहायक होते हैं। इन सबका मूल केवल 'वैज्ञानिक समीक्षा' में है, कला-निरूपिणी समीक्षा में नहीं। कला-सम्बन्धी भास उस प्रकार का अनुभव भी नहीं जिस प्रकार का सुख-दुःख का अनुभव होता है। यदि वह आनन्दानुभव माना जाय तो गुलाबजामुन खाने और इत्र सूँघने के आनन्द के समान ही ठहरता है और एक तरह का योग-विलास ही है। हाँ, यह अवश्य है कि जैसे और प्रकार के आध्यात्मिक भावों के साथ आनन्दानुभूति लगी रहती है

वैसे ही कला-सम्बन्धी भास के साथ भी। पर इस आनुषंगिक वस्तु को मूल वस्तु से अलग समझना चाहिए। आगे चल कर क्रोचे उस रसवाद का भी खण्डन करता है, जिसमें रति, क्रोध, शोक आदि भिन्न-भिन्न भावों की रसरूप अनुभूति ही काव्यानुभूति मानी गयी है। यह कहना कि रसवादी रसानुभूति की वास्तविक अनुभूति से इसी बात में विशेषता बतलाते हैं कि वह नि.स्वार्थ और निर्लिप्त होती है। पर यह भेद व्यर्थ है। इस भेद के सहारे लोगों ने कला-समीक्षा के क्षेत्र में किसी ज़माने में प्रचलित 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' (The True, The Good and The Beutiful) इन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के शब्दों के बीच सामञ्जस्य-स्थापना का प्रकाण्ड प्रयत्न किया, पर इसका ज़माना लद गया।

अनुभूति (Feeling) तो क्रोचे के अनुसार शरीर के योग-क्षेम से सम्बन्ध रखनेवाली भीतरी क्रिया है, अतः उसके सुखदायक-दुःखदायक, उपयोगी-अनुपयोगी, लाभकारी-हानिकारी दो पक्ष अवश्य ही होंगे। यदि कला में सुखात्मक भाव (जैसे, रति, हास) का मूल्य होता है तो इसका मतलब यह है कि दुःखात्मक भाव (जैसे, शोक, जुगुप्सा) का कोई मूल्य नहीं। पर काव्य में दोनों प्रकार के भाव बराबर देखे जाते हैं। कला या काव्य का मूल्य तो 'सुन्दर' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे, योग-क्षेम-सम्बन्धी (Economic) मूल्य 'उपयोगी' या 'कल्याणकारी' या 'शुभ' (शिवम्) शब्द द्वारा, बुद्धि-सम्बन्धी मूल्य 'सत्य' शब्द द्वारा, धर्म सम्बन्धी मूल्य 'उचित' शब्द द्वारा। पर कला के क्षेत्र में 'सुन्दर' शब्द को भी क्रोचे एक विशेष अर्थ में स्वीकार करता है। सौन्दर्य से उसका तात्पर्य केवल अभिव्यञ्जना के सौन्दर्य से, उक्ति के सौन्दर्य से है, किसी प्रस्तुत वस्तु के सौन्दर्य से नहीं। किसी वास्तविक या प्रस्तुत वस्तु में सौन्दर्य कहाँ? क्रोचे तो कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कहीं कोई सौन्दर्य नहीं मानते। जो कुछ सौन्दर्य होता है वह केवल अभिव्यञ्जना में, उक्ति स्वरूप में। यदि सुन्दर कही जा सकती है तो उक्ति ही, असुन्दर कही जा सकती है तो उक्ति ही। इस मौके पर अपने पुराने कवि केशवदास जी याद आ गये, जो कह गये हैं कि—"देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल चन्द, तातें मुख मुखै सखी, कमलौ न चन्द री।" केशवदास जी को भी कमल, चन्द्र इत्यादि देखने में कुछ भी अच्छे या सुन्दर नहीं लगते थे। हाँ, जब वे उपमा-उत्प्रेक्षापूर्ण किसी काव्योक्ति में समन्वित होकर आते थे तब वे सुन्दर दिखायी पड़ने लगते हैं।

फिर लोग क्यों नाहक 'प्रकृति की सुषमा, शोभा, छटा, सुन्दरता' इत्यादि कहा करते हैं? क्रोचे कहता है कि बात यह है कि काव्य की उक्तियों के निर्माण में प्रकृति के क्षेत्र से बहुत-सी सामग्री न जाने कितने दिनों से लोग लेते चले आ

रहे हैं। इससे उन वस्तुओं को असंख्य उक्तियों में सुन्दर देखते-देखते उनके सम्बन्ध में सुन्दरता की भावना बँध गयी है और हम उन्हें वास्तविक या प्रत्यक्ष रूप में भी सुन्दर समझा करते हैं।

क्रोचे आरम्भ में ही कला-सम्बन्धी उद्भावना को ज्ञान-स्वरूप (भावानुभूति-स्वरूप या आस्वाद-स्वरूप नहीं) मान कर चला है, यद्यपि आगे चलकर उसने माना है कि इस ज्ञान के साथ एक विशेष प्रकार का आनन्द भी बराबर लगा रहता है। उसके मत में यह आनन्द और सब प्रकार के आनन्दों से सर्वथा भिन्न होता है। उसके काव्य को ही लीजिए। उसमें सुखात्मक (जैसे रति, हास) और दुःखात्मक (जैसे शोक, जुगुप्सा) दोनों प्रकार के भावों की अभिव्यञ्जना होती है। अतः यह प्रश्न उठता है कि शोक या करुणा की अनुभूति आनन्द-स्वरूप कैसे होगी ? इस उलझन से पीछा छुड़ाने के लिए आधुनिक 'सौन्दर्य-शास्त्र' में अनुभूत्याभास (Feelings) का सिद्धान्त निकाला गया है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों का कहना है कि "कला-सम्बन्धिनी अनुभूति अनुभूत्याभास मात्र होती है, वह बहुत तीव्र और क्षोभकारिणी नहीं होती।" क्रोचे कहता है कि वह बहुत तीव्र या क्षोभकारिणी इसलिए नही होती कि उसका सम्बन्ध केवल उक्ति के स्वरूप (Form) से होता है। जीवन के वास्तविक मनोविकार जो इतने तीव्र और क्षोभकारक होते हैं वह इस कारण कि उनका सम्बन्ध वस्तु या तथ्य (Matter) से होता है। वास्तविक स्थिति या वस्तु की अनुभूति एक बात है, अभिव्यञ्जना दूसरी बात। दोनों को दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के विषय समझना चाहिए। कला में तो विचार की बात है अभिव्यञ्जना।

कला के क्षेत्र में 'सुन्दर-असुन्दर' का प्रयोग अभिव्यञ्जना या उक्ति के लिए ही हो सकता है, यह कह आये हैं। अभिव्यञ्जना या उक्ति को न लेकर यदि हम वर्ण्य-वस्तुओं को लेते हैं तो सुन्दर-असुन्दर ही नहीं, और भी अनेक प्रकार के भेद ठहरते हैं जैसे, सुन्दर, कुरूप, वीभत्स, भयानक, भव्य, अद्भुत, दिव्य इत्यादि। आलम्बनों के इन गुणों के अनुसार साहित्य में अनेक भेद किये भी गये हैं। क्रोचे कहता है कि यह सब भेद कला के काम के नहीं, इनका ठीक स्थान मनोविज्ञान में है। इन अनेक श्रेणियों में विभक्त प्रमेयों या वस्तुओं का कला से केवल इतना ही लगाव है कि उसकी अभिव्यञ्जना में ये सब-की-सब वस्तुएँ जीवन-क्षेत्र से संगृहीत उपादान या मसाले का काम देती हैं अर्थात् काव्य की उक्ति में इनका भी प्रतिबिम्ब आ जाया करता है। एक दूसरा आकस्मिक सम्बन्ध यह भी है कि वास्तविक जीवन में अनुभूत होने वाली इन वस्तुओं की प्रतीति के भीतर कभी-कभी कला का आभास भी आ जाया करता है।

इसमें तो कुछ कहना ही नहीं कि कला सौन्दर्य का विधान करती है। पर काव्य आदि कलाओं में असुन्दर और कुरूप वस्तुओं का वर्णन भी बराबर आया करता है। अतः अभिव्यञ्जना या उक्ति को न पकड़ कर वर्ण्य-वस्तु को पकड़ने वालों के लिए सुन्दर के भीतर कुरूप या असुन्दर वस्तुओं के लिए स्थान निकालने में बड़ी अड़चन पड़ी। कुछ लोगों ने कहा कि काव्य आदि में असुन्दर और वीभत्स आदि विरुद्ध वस्तुएँ सुन्दर को और झलकाने के लिए रखी जाती हैं। पर क्रोचे के अनुसार यह सब बखेड़ा व्यर्थ है और अभिव्यञ्जना या उक्ति के स्वरूप को ही पकड़ने से दूर हो जाता है।

अब क्रोचे के अनुसार अभिव्यञ्जना का असल स्वरूप क्या है, यह भी थोड़ा देख लीजिए। वह कहता है कि साधारणतः लोग कवि के शब्दों, नायक के स्वरों, चित्रकार के खींचे हुए आकारों को ही अभिव्यञ्जना समझा करते हैं। कभी अभिव्यंजना का अर्थ लज्जा से आँखें नीची करना, भय से काँपना, क्रोध से दाँत पीसना इत्यादि समझा जाता है। पर ये कला की अभिव्यंजनाएँ नहीं हैं, भौतिक आमव्यंजनाएँ हैं। अनेक प्रकार की उग्र चेष्टाएँ करते हुए क्रोध से तिलमिलाते हुए मनुष्य में और कला-पक्ष से क्रोध की अभिव्यञ्जना करते हुए मनुष्य में बड़ा अन्तर है। इस प्रकार की भौतिक की अभिव्यञ्जना कला-शून्य होती है। कला की असल अभिव्यंजना तो है कल्पना, जो एक आध्यात्मिक क्रिया है। शब्द, रंग, भौतिक रूप, चेष्टा इत्यादि तो कल्पना को, आध्यात्मिक वस्तु को, प्रकाशित करने वाली 'भौतिक अभिव्यञ्जना' है। कला की अभिव्यञ्जना की प्रक्रिया का यह क्रम कहा जा सकता है—

(१) अन्तःसंस्कार (Impressions)

(२) अभिव्यञ्जना अर्थात् कलापरक आध्यात्मिक योजना या कल्पना (Expressions or spiritual aesthetic synthesis)

(३) सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनन्द (Hedonistic accompaniment or pleasure of the beautiful)

(४) कलापरक आध्यात्मिक वस्तु (कल्पना) का स्थूल भौतिक रूपों में अवतरण (शब्द, स्वर, चेष्टा, रंग-रेख आदि)।

इन सब में मूल प्रक्रिया है नंबर २ अर्थात् अभिव्यञ्जना। ये चारों विधान पूरे हो जाने पर अभिव्यंजना का अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है।

यहाँ तक तो क्रोचे का 'अभिव्यञ्जनावाद' हुआ जिसे जहाँ तक संक्षेप में और जहाँ तक स्पष्ट रूप में हो सका, मैंने आप महानुभावों के सम्मुख रखा। 'कल्पना आध्यात्मिक जगत् का आभास है', 'कला-कला ही के लिए है', 'कल्पना

का लोक ही निराला है', 'काव्य नूतन सृष्टि है, प्रकृति के किसी खण्ड का अनुकरण नहीं', 'प्रकृति को भावना के नये रूप-रंग में दिखाना ही काव्य है', 'काव्य सौन्दर्य की साधना है' इत्यादि अनेक वादों और प्रवादों का समन्वय इसके भीतर मिलता है। (इसी से इसका थोड़ा विवरण देकर मैंने आप लोगों का समय लिया)। आज-कल हमारे साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र में भी बड़े यत्न से संगृहीत जो अनेक चमत्कारपूर्ण वाक्य, शब्द और उक्तियाँ विखरी हुई मिला करती हैं, उनके मूल-स्थान और तात्पर्य का पता-ठिकाना भी इनमें मिलेगा। यूरोप में 'कला' और 'सौन्दर्य' की पुकार किस प्रकार काव्य-समीक्षा को भी इसी 'वाद' की ओर धीरे-धीरे घसीटती रही, यह पहले कहा जा चुका है। 'सौन्दर्य-शास्त्र' में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों का विचार होने लगा, उसी प्रकार काव्य का भी। सबसे बेढंगी बात तो यही हुई। अतः इस वाद का प्रतिषेध करने के पहले मैं यही कह देना चाहता हूँ कि 'सौन्दर्य-शास्त्र', जिसके भीतर इसका निरूपण हुआ है, काव्य-सम्बन्धी मीमांसा का ठीक स्थान ही नहीं। पहले तो 'सौन्दर्य-शास्त्र' अभी कोई ठीक-ठिकाने का शास्त्र नहीं—कभी होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि हो भी तो काव्य से उसका सम्बन्ध नहीं।

सच बात तो यह है कि काव्य के स्वरूप-लक्षण में 'सुन्दर' शब्द उतने काम का नहीं जितना समझा जाने लगा है। इसी से पंडितराज ने अपने काव्य-लक्षण में 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग न करके 'रमणीय' शब्द का प्रयोग किया है। रमणीय का अभिप्राय है जिसमें मन रमे—अर्थात् जिसे मन अपने सामने कुछ देर रखना या बार-बार लाना चाहे। कोरी कहानी की अलग-अलग घटनाओं में मन रमता नहीं, उसके किसी खण्ड पर कुछ देर जमा नहीं रहना चाहता। कहानी सुननेवाला कहता है, 'तब क्या हुआ?' कविता सुनने वाला, 'जरा फिर तो कहिए।' अर्थ के मैदान में 'सुन्दर' शब्द की दौड़ उतनी नहीं है जितनी 'रमणीय' शब्द की। दूसरी बात यह है कि 'सुन्दर' शब्द वाह्यार्थ की ओर संकेत करता जान पड़ता है और 'रमणीय' शब्द हृदय की ओर। इसी से काव्य की समीक्षाओं में 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करके, कभी-कभी फिर यह कहने की जरूरत पड़ा करती है कि "सौन्दर्य तो मन की भावना है, किसी बाहरी वस्तु में स्थित कोई गुण नहीं।" यह 'सुन्दर' शब्द काव्यानुभूति के स्वरूप को संकुचित करता है। प्रत्येक कविता का ग्रहण सौन्दर्यानुभूति के रूप में नहीं होता। क्रोचे या अपने यहाँ के चमत्कारवादी और वक्रोक्तिवादी के अनुसार यदि हम अभिव्यञ्जना या कल्पना की उड़ान को ही सब कुछ मानें तो भी 'सुन्दर' शब्द विना खींचतान के सर्वत्र काम नहीं देता। बहुत-सी उक्तियों से केवल एक प्रकार का चमत्कारपूर्ण प्रसादन होता है।

संसार में मनुष्य-जाति के बीच कविता हृदय के भावों को लेकर ही उठी है। प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करुणा आदि की व्यञ्जना के लिए ही आदिम कवियों ने अपना स्निग्ध कंठ खोला था। तब से आज तक संसार की प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह रहती चली आ रही है। काव्य में भाव के आलम्बन (कभी-कभी उद्दीपन) के रूप में ही जगत् की किसी वस्तु का ग्रहण हो सकता है, और किसी रूप में नहीं। कविता-देवी के अन्तःपुर में 'सुन्दर', 'प्रिय' होकर ही प्रवेश कर सकता है। जो 'सुन्दर' प्रेम का आलम्बन होता है, जिसकी ओर हमारी रागात्मिका वृत्ति होती है, जिसका स्मरण आने पर हृदय द्रवीभूत हो सकता है—चाहे वह व्यक्ति या वस्तु हो, चाहे प्रकृति का कोई खण्ड—वही काव्य का असली अंग हो सकता है। बेल बूटे या नक्काशी की सौन्दर्य-भावना भावानुभूति के रूप में नहीं होती। अतः कलावादियों को भावानुभूति से सौन्दर्य-भावना को अलग करना पड़ा। तब से तरह-तरह से सौन्दर्य-शास्त्र बनने लगे जिनमें एक दूसरे से भिन्न 'सौन्दर्य' के पचीसों लक्षण और उसके सम्बन्ध में पचीसों मत प्रकाशित होते आ रहे हैं, जो कलाओं पर तो कुछ दूर तक घटते हैं पर काव्य को दूर-ही-दूर से छूते हैं।

इन मतों का यूरोप के अनेक कवियों की रचनाओं पर थोड़ा-बहुत प्रभाव तो पड़ता ही है, पर सच्चे कवियों पर नहीं। अधिकांश की रचनाएं हृदय की मार्मिकता से ही सम्बन्ध रखती है। कुछ को यह 'कलावाद' और 'सौन्दर्यवाद' का हल्ला खटकता भी है। हाल में इंग्लैण्ड में रूपर्ट ब्रुक (Rupert Brooke) नामक एक कवि हुआ है जो कवित्व की सच्ची मार्मिक भावना लेकर इस जगत् में आया था, पर थोड़ी अवस्था में ही सन् १९१४ के यूरोपीय महायुद्ध में मरा। उसने सौन्दर्यवादियों के नाना मतों को अपनी-अपनी भली-बुरी रुचि का आलाप मात्र कहा, विशेषतः क्रोचे के वितण्डावाद को। वहाँ के और सच्चे कवियों के समान उसे भी उसी प्रकार भाव या हृदय की मार्मिक अनुभूति में ही कविता की आत्मा के दर्शन होते थे, जिस प्रकार भारतीय सहृदयों और कवियों को। काव्य में सौन्दर्य-भावना को एक अलग अनुभूति मानने वालों के इस तर्क को कि "जब कोई कहता है कि यह वस्तु 'सुन्दर' है तब उसका यह मतलब नहीं होता कि वह प्रिय (अर्थात् प्यार करने की वस्तु) है, अतः सिद्ध है कि सौन्दर्य की भावना का प्रिय की भावना से अलग अस्तित्व है"—उसने लचर कहा था।

सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है। इसी कारण काव्य के स्वरूप की भावना भी धीरे-धीरे बेल-बूटे और नक्काशी की भावना के रूप में आती गयी। हमारे यहाँ 'काव्य' की गिनती चौसठ कलाओं में नहीं की

गयी है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद अदि चलाये जाने पर भी इस प्रकार का वितण्डावाद नहीं खड़ा किया गया। इधर हमारी हिन्दी में भी काव्य-समीक्षा के प्रसंग में 'कला' शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य-समीक्षा-क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतना ही अच्छा। इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं।

अब मैं क्रोचे की मुख्य-मुख्य बातों को, विशेषतः ऐसी बातों की जो काव्य के सम्बन्ध में भारतीय भावना के विरुद्ध पड़ती हैं, विचार के लिए लेता हूँ।

पहले इस प्रश्न को लीजिए कि काव्य-सम्बन्धिनी भावना का मूल या प्रधान रूप क्या है? क्रोचे ने कल्पना-पक्ष को प्रधानता देकर उसका रूप 'ज्ञानात्मक' कहा है। हमारे यहाँ के रससिद्धान्त के अनुसार उसका मूलरूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है। मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव' कोई एक अकेली वृत्ति नहीं, एक वृत्ति-चक्र (System) है जिसके भीतर बोधवृत्ति या ज्ञान (Cognition), इच्छा या संकल्प (Conation), प्रवृत्ति (Tendencies) और लक्षण (Symptoms)—ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ आती हैं। अतः भाव का एक अवयव प्रतीति या बोध भी होता है। रस-निरूपण में जो 'विभाव' कहा गया है, वही कल्पनात्मक या ज्ञानात्मक अवयव है जो भाव का संचार करता है। कवि और पाठक दोनों के मन में कल्पना कुछ मूर्त्त रूप या आलम्बन खड़ा करती हैं, जिसके प्रति किसी भाव का अनुभव होता है। उस भाव की अनुभूति के साथ-साथ आलम्बन का बोध या ज्ञान भी बना रहता है। आलम्बन—चाहे व्यक्ति हो, चाहे वस्तु, चाहे व्यापार या घटना, चाहे प्रकृति का कोई खण्ड। इससे यह स्पष्ट व्यंजित है कि भावानुभूति के योग में ही कल्पना का स्थान काव्य के विधान में हमारे यहाँ स्वीकार किया गया है। यों तो मूर्त्त रूप मन में बराबर उठा करते हैं—कभी-कभी ये रूप परस्पर अन्वित होकर भी कोई ऐसी योजना मन में नहीं लाते जिसे कोई काव्य कह सके—जैसे, किसी मशीन के सारे कलपुरजों का रूप। कभी-कभी मूर्त्त भावना या कल्पना वैज्ञानिक या दार्शनिक विचार में प्रयोजनीय होती है। अतएव काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव या प्रवर्तन और संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त्त रूप अंग-भाव-प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी।

कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति (Perception) मात्र को 'ज्ञान' कहना उसे ऊँचे दर्जे को पहुँचाना है। यूरोप में पुराने ज़माने के ईसाई सन्तों

को, जब वे ईश्वर प्रेम में बेसुध और उन्मत्त होते थे, अनेक प्रकार के आध्यात्मिक 'आभास' हुआ करते थे जिन्हें वे अटपटी बानी में, अध्यवसित विचित्र रूपकों या अन्योक्तियों द्वारा प्रकट किया करते थे। उनके तरह-तरह के अर्थ लगाये जाते थे पर 'लखै कोई बिरलै।' उन 'आभासों' के सम्बन्ध में कहा यह जाता था कि वे सूक्ष्म आध्यात्मिक-जगत् की बातें हैं, अतः स्थूल जगत् के नाना रूपों के सहारे ही अभिव्यक्ति होकर व्यक्त हो सकती हैं। इसी मजहबी रहस्यवाद का संस्कार क्रोचे के निरूपण में छिपा है जिसके कारण वह कल्पना को 'ज्ञान' कहता है। 'ज्ञान' शब्द में एक विशेष गुरुत्व या महत्त्व है। अतः जो अन्तर्दशा जिसे बहुत प्रिय होगी उसे यह महत्त्व देना उसके लिए स्वाभाविक ही है। यदि ऐसी अन्तर्दशा लोगों की दृष्टि में बे-ठौर-ठिकाने की हुई तो, उसे वह उच्च भूमि का ज्ञान, आध्यात्मिक या पारमार्थिक ज्ञान, कह देगा।

फ्रांस के दार्शनिक बर्गसाँ (Bergson) पर भी उपर्युक्त संस्कार का प्रभाव पूरा-पूरा है। कल्पना-रूपी स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) को वह भी 'आत्मा की अपनी सृष्टि' और 'पारमार्थिक ज्ञान' कहता है और बुद्धि की विवेचना द्वार ।उपलब्ध ज्ञान या प्रमा को व्यावहारिक ज्ञान। कल्पना को आध्यात्मिक आभास घोषित करने का प्रभाव यूरोप के काव्य-रचना-क्षेत्र में भी बहुतों पर पड़ा है और बुरा पड़ा है। जबकि कल्पना में आयी हुई बात अध्यात्म-जगत् की होती है तब, कम-से-कम उसका रूप-रंग तो इस जगत् से कुछ विलक्षण होना चाहिए। इस धारणा की हद पर पहुँचा हुआ 'दूसरे जगत् के पंछियों' का एक दल अंग्रेजी के काव्य-क्षेत्र से गुजर चुका है।

रहा दार्शनिकता का यह मजहबी पुट कि मूर्त्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है। यह तो केवल आवश्यकता पड़ने पर अव्यक्त और अनिर्वचनीय का सहारा लेने के लिये दिया गया है, जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुए रूप कहता है, वे वास्तव में बाह्य जगत् से प्राप्त किये हुए रूप हैं। इन्द्रियज ज्ञान के जो संस्कार (छाप) मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी भाव के धक्के से, कभी यों ही, भिन्न-भिन्न ढंग से अन्वित होकर जगा करते हैं। यही मूर्त्त-भावना या कल्पना है। यह अन्विति या योजना बाह्य जगत् से प्राप्त रूपों के सनाहार के ढंग पर होती है जिसमें एक-एक रूप की सत्ता अलग-अलग बनी रहती है। इस अन्वित रूप समूह को आध्यात्मिक 'साँचा' कहना और पृथक्-पृथक् रूपों को उस साँचे में भरा जाने वाला 'मसाला' बताना, वितण्डावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? किसी साँचे में जो वस्तुएँ भरी जायँगी, वे घुल-पिस कर गीली मिट्टी या गारा हो जायँगी, उनके पृथक्-पृथक् रूप कहाँ

रह जायँगे? पर कल्पना में जो रूप-समष्टि खड़ी होती है, उसके अन्तर्भूत रूपों की अलग-अलग प्रतीति होती है।

कल्पना में आये हुए रूप आध्यात्मिक-जगत् के हैं, बाह्य जगत् से प्राप्त नही हैं। पुराने ईसाई-सन्तों और ब्लेक के इसी प्रवाद को ग्रहण करने के कारण 'साँचों' की विलक्षण उद्भावना की गयी है। बात यह है कि उक्त प्रवाद को सुन कर एक साधारण समझ का आदमी भी शंका कर सकता है कि यदि कल्पना में आये हुए रूप बाह्य जगत् के रूपों की छाप नहीं है, खास आत्मा से निकले हुए हैं, तो उनकी उद्भावना जन्मान्धों को भी वैसी ही होनी चाहिए जैसी आँखवालों को। इसके समाधान का प्रयास चट यह कह कर किया जायगा कि आत्मा से केवल सूक्ष्म 'साँचे' निकला करते हैं जो बाह्य जगत् से प्राप्त मूर्त्त द्रव्य के भराव के बिना व्यक्त ही नही हो सकते। जन्मान्धों की आत्मा से भी ये सूक्ष्म साँचे निकलते हैं, पर अव्यक्त ही रह जाते हैं। अब इस अव्यक्त का प्रमाण माँगने कौन जायगा?

क्रोचे ने जिसे बाह्य जगत् या जीवन से इकट्ठा किया हुआ 'द्रव्य' या उपादान (मसाला) कहा है, उसके अन्तर्गत प्रकृति के नाना रूप-व्यापार, जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाएँ या तथ्य सब कुछ हैं। जबकि ये 'द्रव्य' या उपादान मात्र हैं तब कला की अभिव्यंजना में इसकी वास्तविकता-अवास्तविकता, औचित्य-अनौचित्य, योग्यता-अयोग्यता आदि का विचार अपेक्षित नहीं। योग्यता-अयोग्यता का विचार कहाँ तक और किस रूप में अपेक्षित होता है, इसका विचार मैं शब्द-शक्ति के प्रसंग में अर्थ की योग्यता के अन्तर्गत पहले कर चुका हूँ। अब औचित्य-अनौचित्य लीजिए। लोक की रीति-नीति, आचार-व्यवहार, की दृष्टि से अनौचित्य शिल्प अर्थात् बेलबूटे, नक्काशी आदि की सौन्दर्यभावना में तो सचमुच कोई बाधा नहीं डालता, पर काव्य का प्रभाव कभी-कभी बहुत हलका कर देता है। यही बात हमारे यहाँ 'रसाभास' और भावाभास के अन्तर्गत सूचित की गयी है। काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं। 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या, कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते। काव्यानुभूति जीवन-क्षेत्र में सचित अनुभूतियों का ही रसात्मक रूप है। अत्यन्त अनूठी उक्ति द्वारा कही हुई दुराचार की बात से अनुरंजन हो सकता है, पर उसमें कुछ विरक्ति भी मिली रहेगी। यदि भाव-व्यंजना में भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है जैसे के प्रति न होना चाहिए, तो 'साधारणीकरण' न होगा, अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा, उस भाव में लीन न होगा।

'कला कला ही के लिए' इस पुराने प्रवाद ने कुछ दिनों से यह सवाल खड़ा

कर रखा है कि 'सदाचार का काव्य में कोई स्थान है या नहीं।' सन् १८९१ में इंग्लैण्ड के आस्करवाइल्ड ने (Oscarwilde) बड़े धड़ल्ले के साथ कहा—"समालोचना में सबसे पहली बात तो यह है कि समालोचक को यह परख हो कि 'कला' और 'आचार' के क्षेत्र सर्वथा पृथक्-पृथक् है।" तब से कई इसी का अनुवाद करते आये, जैसे 'कला स्वतः न सदाचारपरक हो सकती है, न दुराचार-परक', 'कला के भीतर नैतिक सदसत् का भेद आ ही नहीं सकता।" आप लोग फिर देखें कि ये दोनों कथन भी बेलबूटे और नक्काशी पर ही ठीक घटते है। उन्हीं की धारणा यहाँ भी काम कर रही है। यह तो स्पष्ट ही है कि 'काव्य और सदाचार' के सम्बन्ध में यह मत 'कला कला ही के लिए' वाले वाद का एक पुछल्ला है। उस वाद को उड़े बहुत दिन हो गये। जो कुछ उसका अवशेष था उसे इग्लैण्ड के अत्यन्त निर्मल दृष्टि वर्तमान समालोचक रिचर्ड्स (I. A. Richards) ने, यूरोपीय समीक्षा-क्षेत्र के बहुत से निरर्थक शब्दजाल और कूड़ा-करकट के साथ हटा दिया है और साफ कह दिया है कि सदाचार से कला का घनिष्ट सम्बन्ध है।

'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के एक बड़े उत्साही प्रचारक मि० स्पिगर्न (J. E. Spingarm) है जिन्होंने 'समालोचना की नयी पद्धति (The New Cricitism) नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका (जिसे एक पैम्फ्लेट कहना चाहिए) में इन वादों की कुछ बातें अधूरे, अनपचे और असम्बद्ध रूप में इकट्ठी कर दी हैं'। 'काव्य में नैतिक सदसत् का विचार अनेपक्षित है' इस मत का बड़े जोश के साथ उन्होंने उस पुस्तिका में इस प्रकार कथन किया है—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार-दुराचार ढूंढना ऐसा ही है जैसा रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचार-पूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण।" पर जिस पेड़ की जड़ ही कट गयी, उसकी डालियों को कोई कैसे हरी कर सकता है?

अभी सन् १९२९ में कैलिफोर्निया (अमेरिका) विश्वविद्यालय के साहित्य-विभाग के आचार्यो के आलोचना-सम्बन्धी निबन्धों का जो संग्रह प्रकाशित हुआ है, उसमें प्रो० ह्विप्ल (T. K. Whipple) का 'काव्य और सदाचार' (Poetry and Morals) पर एक निबन्ध है। इस निबन्ध में इस मत का कि "काव्य के भीतर नैतिक सदसत् का भेद आ ही नहीं सकता" कई तरह से निराकरण कर दिया गया है। निबन्ध के आरम्भ में ही उन्होंने स्पिगर्न के उपर्युक्त कथन को यह कहकर लिया है कि "और कुछ कहने के पहले मैं इस पुरानी लकीर के समर्थक मि० स्पिगर्न के कथन को लेता हूँ। प्रो० ह्विप्ल ने अपने निबन्ध में यह दिखा दिया है कि 'कला स्वतः' का कोई अर्थ नहीं। कविता मनुष्य के हृदय की अनुभूति है जो मनुष्य के ही हृदय में पहुँचायी जाती है। अतः मनुष्य के साथ उसका सम्बन्ध नित्य

है। मानव जीवन से असंबद्ध उसका कुछ मूल्य नहीं।" प्रो० ह्विप्ल अन्त में उस पक्ष पर आ गये हैं जिसके विचार से हमारे यहाँ 'रसाभास' और 'साधारणीकरण' का निरूपण हुआ है। वह है श्रोता या पाठक का पक्ष। श्रोता मनुष्य समाज में रहने वाला प्राणी होता है। जीवन में सत्-असत् की जो भावना वह प्राप्त किये रहेगा, किसी काव्य द्वारा प्राप्त अनुभूति का सामंजस्य उसके साथ वह अवश्य चाहेगा। यदि यह सामंजस्य न होगा तो उस काव्य का पूरा रसात्मक ग्रहण वह न कर सकेगा। कविता वही सार्थक है जो दूसरे के हृदय में जाकर अपना प्रकाश कर सके, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

"मनि मानिक, मुकुता-छवि जैसी। अहि, गिरि, गज-सिर, सोह न तैसी।
नृप-किरीट तरुनी-तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसइ सुकवि-कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं।"

हमारे यहाँ रस के प्रकरण के आरम्भ में ही सच्ची रस की अनुभूति कैसे होती है, यह बताते हुए 'सत्वोद्रेकात्' कहकर झगड़ा साफ कर दिया गया है। रसानुभूति के समय प्रकृति सत्वस्थ रहती है, रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव उस समय नहीं रहता।

अब रही यह बात कि काव्य की अनुभूति और वस्तु है भाव की अनुभूति और अर्थात् काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में नहीं होती। क्रोचे का तर्क यह है कि भावानुभूति सुखात्मक या दुःखात्मक हुआ करती है। शोक, घृणा, भय आदि दुःखात्मक अनुभूतियाँ हैं, पर इनकी व्यंजना काव्य में होती है। यदि भावानुभूति के रूप में काव्यानुभूति मानें तो इनकी व्यंजना की अनुभूति दुःखात्मक होगी। पर इनकी व्यजना वाले काव्य भी लोग बराबर पढ़ते है, सुनते हैं। क्या लोग व्यर्थ बैठे बिठाये दुःख मोल लेते हैं? क्रोचे द्वारा उपस्थित की हुई बाधा बहुत पुरानी है। हजारों वर्ष से लोग इसके समाधान का प्रयत्न करते आये हैं। हमारे यहाँ साहित्य-ग्रन्थों में भी ऐसा प्रयत्न हुआ है, पर मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि उससे समाधान नहीं होता। शंका का समाधान तो नहीं होता पर यह भासित अवश्य हो जाता है कि काव्यानुभूति, भावानुभूति के रूप में ही होती है। बात यह है कि पूर्वपक्ष बहुत ही सटीक है। वह यह कि यदि रसानुभूति आनन्द स्वरूप ही है तो करुणरस के नाटक आदि पढ़ने-देखने से श्रोताओं या दर्शकों को आँसू क्यों आ जाते हैं? आँसू का आना भावोद्रेक का बाह्य लक्षण (Symptom) है। अतः मनोविज्ञान की दृष्टि से यह तो साफ प्रकट है कि काव्यानुभूति, भावानुभूति के रूप में ही होती है या नहीं, मुझे इस बात का विशेष आग्रह नहीं।

मनोविज्ञानियों ने भी इस विषय को विचार के लिये लिया है। कुछ ने तो काव्य-श्रवण से उत्पन्न भावानुभूति को क्रीड़ावृत्ति (Play-impulse) मानकर सन्तोष किया है, कुछ ने अनुभूत्याभास (Apparent Feelings) कह कर। मेरा अपना विचार कुछ और है। मैं इस दशा को हृदय की मुक्त दशा मानता हूँ—ऐसी मुक्त दशा जिसमें व्यक्ति बद्ध घेरे से छूटकर वह अपनी स्वच्छन्द भावात्मिका क्रिया में तत्पर रहता है। इस दशा को प्राप्त करने की प्रवृत्ति होना आश्चर्य की बात नहीं, चाहे इस दशा को आप 'आनन्द' कहिए या न कहिए। 'आनन्द' कहिएगा तो उसके पहले 'अलौकिक' लगाना पड़ेगा और कहना-न-कहना बराबर हो जायगा।

भाव या हृदय की अनुभूति ऐसी वस्तु से, जिसका सच्ची कविता के साथ नित्य सम्बन्ध है, पीछा छुड़ाना क्रोचे के लिए सहज न था। एक स्थान पर उसकी सत्ता उसे स्वीकार करनी पड़ी है। वह कहता है–"द्रव्य वह भावात्मकता है जो कला के रूप में निरूपित न हुई हो।" 'द्रव्य' से उसका अभिप्राय मन के भीतर बाह्य प्रकृति के रूप-संस्कारों (छापों) से है, यह मैं सूचित कर आया हूँ। मन मे संचित बाह्य जगत् के नाना रूपों की भावात्मकता का मतलब क्या हो सकता है? यही न कि उनमें भावों के उद्‌बोधन की शक्ति होती है। बस, यही तो मेरा—मेरा क्या काव्य से वास्तव में प्रभावित होने वालों मात्र का—पक्ष है। काव्य में उन रूपों का विधान इसीलिए होता है कि वे किसी भाव को, हृदय की किसी मार्मिक वृत्ति को, जगायें। अतः सच्ची काव्यानुभूति भावानुभूति के ही रूपों में होती है, यह सिद्ध है।

अब अलंकारों को लीजिए। क्रोचे अलंकार-अलंकार्य्य का भेद न मान कर अलंकार को शाब्दिक अभिव्यंजना या उक्ति से भिन्न कोई पदार्थ नहीं मानता। उसकी यही बात इधर-उधर से आकर हमारे नये काव्यक्षेत्र में भी इस रूप में सुनायी पड़ा करती है कि "अलंकार कोई चीज नहीं, उसका ज़माना गया।" पर नयी रंगत की कविताओं को देखिए तो पता चलता है कि उसी का ज़माना आजकल आ गया है। बात यह है कि आजकल इस प्रकार के लटके कि 'रस अलंकार तो पुरानी चीजें हैं, उनका ज़माना गया' इधर-उधर से नोच कर ही दुहराये जाते हैं। वे कहाँ से आये हैं, उनका पूरा मतलब क्या है, यह सब जानने या समझने की कोई ज़रूरत ही नहीं समझी जाती। इन वाक्यों को बात-बात में दुहराने वालों में से अधिकांश तो इतना ही जानते हैं कि रस, अलंकार आदि हमारे साहित्य के बहुत काल से व्यवहृत शब्द हैं, अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद नहीं। इससे इनका नाम लेना फैशन के खिलाफ है। दिन में सैकड़ों बार 'हृदय की अनुभूति', 'हृदय की अनुभूति'

चिल्लायेंगे, पर 'रस' का नाम सुन कर ऐसा मुँह बनायेंगे मानो उसे न जाने कितना पीछे छोड़ आये हैं। भलेमानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' और 'भाव' कहलाती हैं। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझ कर 'हृदयवाद' लेकर सामने न आते। सम्भव है, इसका पता पाने पर कि 'हृदय-वाद' तो 'रसवाद' ही है, वे इस शब्द को छोड़ दें। शब्द-शक्ति, रस और अलंकार, ये विषय-विभाग काव्यसमीक्षा के लिए इतने उपयोगी हैं कि इनके अन्तर्भूत करके संसार की नयी पुरानी सब प्रकार की कविताओं की बहुत ही सूक्ष्म, मार्मिक और स्वच्छ आलोचना हो सकती है। रिचर्ड्स (I. A. Richards) ऐसे वर्तमान अंग्रेज समालोचक किस प्रकार अब समीक्षा में बहुत कुछ भारतीय पद्धति का अवलम्बन करके कूड़ाकरकट हटा रहे हैं, यह मैं शब्दशक्ति के प्रसंग में दिखा चुका हूँ। खैर, अब प्रस्तुत विषय पर आना चाहिए।

अलंकार-अलंकार्य्य का भेद मिटा नहीं सकता। शब्द-शक्ति के प्रसंग में हम दिखा आये हैं कि उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो, उसकी तह में कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। इस अर्थ से या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होगी। इस 'अर्थ' का पता लगा कर इस बात का निर्णय होगा कि व्यंजना ठीक हुई है या नहीं। अलंकारों (अर्थालंकारों) के भीतर भी कोई-न-कोई अर्थ व्यंग्य रहता है, चाहे उसे गौण ही कहिए। उदाहरण के लिए, पन्त जी की ये पंक्तियाँ लीजिए—

"बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित
—इसी में था असीम अवसित।"

इसका प्रस्तुत अर्थ इस प्रकार कहा जा सकता है—"वह बालिका अपने बाल्य-जीवन के प्रवाह की सीमा के भीतर उछलती-कूदती थी। उसके उस बाल्य जीवन में अत्यन्त अधिक और अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता था।"

बिना इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे, न तो कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा हो सकती है, न उसकी रमणीयता के स्थल ही सूचित किये जा सकते हैं। अब यह देखिए कि उक्त प्रस्तुत अर्थ को कवि की उक्ति सुन्दरता के साथ अच्छी तरह व्यंजित कर सकी है या नहीं। पहले 'बाल्य-सरिता' यह रूपक लीजिए। कोई अवस्था स्थिर नहीं होती, प्रवाह रूप में बहती चली जाती है, इससे साम्य ठीक है। अब नदी की मूर्त्त भावना का प्रभाव लीजिए। नदी की धारा देखने से स्वच्छता, द्रुतगति, चपलता, उल्लास आदि की स्वभावतः भावना होती है, अतः प्रभाव भी वैसा ही रम्य है जैसा भोलीभाली स्वच्छ-हृदय प्रफुल्ल और चंचल

बालिका को देखने से पड़ता है। अतः कह सकते हैं कि यह रूपक समीचीन और सम्य है। बाल्यावस्था या कोई अवस्था हो उसकी दो सीमाएँ होती हैं—एक सीमा के पार व्यतीत अवस्था होती है, दूसरी के पार आने वाली अवस्था। अतः 'दो कूलों' भी बहुत ठीक है। तरंग नदी की सीमा के भीतर ही उछलती है, बालिका भी बाल्यावस्था के बीच स्वच्छन्द क्रीड़ा करती है। अतः 'तरंग सी' उपमा भी अच्छी है। असीम अर्थात् ब्रह्म अनन्त-आनन्द स्वरूप है और उस बालिका में भी अपरिमित आनन्द का आभास मिलता है, अतः यह कहना ठीक ही है कि मानो उस ससीम बाल्य-जीवन के भीतर असीम आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही आ बैठा है। इसलिए यह प्रतीयमान उत्प्रेक्षा भी अनूठी है क्योंकि इसके भीतर 'अधिक' अलंकार के वैचित्र्य की भी झलक है।

यह सब समीक्षा प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद समझ कर प्रस्तुत अर्थ को सामने रखने से ही सम्भव है। यह लटका कि 'कला की अभिव्यंजना का अर्थ क्या?' चल नहीं सकता। पुराने कलावाद के प्रचारक मि० स्पिगर्न भी काव्य की समीक्षा में यह देखना आवश्यक समझते हैं कि 'कवि क्या करने बैठा था और कहाँ तक सफलता के साथ उसे वह कर सका।' अब इस प्रकार प्रस्तुत अर्थ तक पहुँचे बिना 'कवि क्या करने बैठा था', इसका पता कैसे लग सकता है? इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे बिना उस कविता की समालोचना किस रूप में हो सकती है? इसी रूप में न कि "बाल्यसरिता—वाह! क्या सरलता की श्रोतस्वनी बहायी गयी है जिसकी मधुमयी तरंगमाला में मन स्वर्गलोक का अंचल चूम आता है। असीम अवसित—देखिए, कल्पना किस प्रकार इस ससीम की दीवारें फाँद कर असीम से जा भिड़ी और उसे ससीम के भीतर खींच लायी और संपुटित कर दिया।"

रस, अलंकार आदि के नाना भेद-निरूपण क्रोचे के अनुसार कला के निरूपण में कोई योग न देकर तर्क या शास्त्रपक्ष में सहायक होते हैं। उन सबका मूल्य केवल वैज्ञानिक समीक्षा में है, कला-निरूपिणी समीक्षा में नहीं। इस सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कला-निरूपिणी समीक्षा है। उसी का नाम समीक्षा है। उसके अतिरिक्त जो कल्पनात्मक या भावात्मक पदावली व्यक्त होगी वह समीक्षा न होगी, किसी कविता का आधार लेकर खड़ा किया हुआ एक हवाई महल होगा, 'धुएँ का 'धरहरा' होगा। किसी उक्ति के सम्बन्ध में पूछा जायगा कि कैसी है, तो कहा जायगा कि "इसे पढ़कर ऐसी भावना होती है कि मानो स्वरगंगा के सुनहरे तटपर कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर पीयूष पान करती हुई किसी अप्सरा ने मेरे ऊपर भूल कर कुल्ला कर दिया।" 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव से यूरोप में समीक्षा

के क्षेत्र मे इधर तरह-तरह की अर्थशून्य पदावली प्रचलित होती आ रही थी– जैसे, 'कला कला के लिए' के बड़े भारी प्रतिपादक डॉक्टर ब्रेडले की यह प्रशस्ति— "कविता एक आत्मा है। पता नहीं कहाँ से आती है। न तो हमारे आदेश पर वह बोलेगी, न हमारी भाषा में बोलेगी। वह हमारी दासी नहीं, हमारी स्वामिनी है।" इस प्रकार की वाक्य-रचना से काव्य के स्वरूप-बोध में क्या सहायता पहुँच सकती है? समीक्षा के नाम पर इस प्रकार अर्थशून्य वागाडम्बर की चाल निकलती देख अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी समालोचक रिचर्ड्स (I. A. Richards) बहुत खिन्न हुए और उन्होंने इसका कठोर प्रतिषेध किया।

खेद है कि यह अर्थशून्य वागाडम्बर पहले बंगला की मासिक पत्रिकाओं में पहुँच कर और वहाँ से 'छलना', 'कुहकिनी', 'काकली', इत्यादि लेता हुआ हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र में घोर रूप में प्रकट हुआ है। यूरोप के साहित्य-क्षेत्र की भली-बुरी सब प्रकार की प्रवृत्तियों को ग्रहण करने में बंगला सबके आगे रहता आया है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की बात पहले कह चुका हूँ। सन् १८८५ में फ्रांस में उठा हुआ रहस्यात्मक मज़हबी प्रतीकवाद, जिसमें कुछ वस्तुओं, शब्दों और ध्वनियों में तान्त्रिकों के ढंग पर विशेष अर्थो का आरोप किया गया था, ब्रह्मसमाज की साम्प्रदायिक कविताओं में गृहीत हुआ, फिर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव से और व्यापक होकर हिन्दी में आया। पर यहाँ पर प्रसंग समीक्षा के नाम पर कल्पनात्मक और भावात्मक वागाडम्बर का है। इस सम्बन्ध में पहली बात समझने की यह है कि 'समीक्षा' अच्छी तरह देखना और विचार करना है। वह जब होगी तब विचारात्मक होगी। कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या विवेचन द्वारा ही हो सकती है, उसके जोड़ में दूसरी कल्पना भिड़ाने से नहीं। भाषा के दो प्रकार के प्रयोग होते हैं—सांकेतिक (Symbolic) या तथ्य-बोधक तथा भावप्रवर्तक (Emotive)। समीक्षा प्रथम प्रकार के प्रयोग से ही हो सकती है, दूसरे प्रकार के प्रयोग से नहीं।

कलावाद के प्रचारक मि० स्पिगर्न का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उन्होंने विचारात्मक समीक्षा (Imprnssionist Criticism) कहा है—पुरुष और स्त्री का भेद बताया है। प्रथम को उन्होंने 'मरदानी समीक्षा' कहा है, द्वितीय को 'जनानी समीक्षा'। खैर, यही सही। तब भी मैं अपने साहित्य के वर्तमान सहयोगियों से इतना निवेदन करूँगा कि "भाइयों!' कुछ 'मरदानी समीक्षा' भी होनी चाहिए।' केवल इसी प्रकार की समीक्षा से कि 'एक बार इस कविता के प्रवाह में पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कवि को भी विवशता के साथ बहना पड़ा है, वह एकाधिक बार मयूर की भाँति अपने सौन्दर्य पर आप ही नाच उठा है,

काम नहीं चल सकता।

'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' का इतना विस्तृत उल्लेख मैंने इस कारण किया कि इनका प्रभाव यूरोप में समीक्षा के स्वरूप पर तो बहुत अधिक और काव्य-रचना के स्वरूप पर भी थोड़ा पड़ा है। यदि इन दोनों वादों से उत्पन्न प्रवृत्तियाँ वहीं-की-वहीं रह जातीं, बंग-भाषा के प्रसाद से हमारे हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में भी न प्रकट होतीं, तो मुझे इनके उल्लेख द्वारा आप लोगों का अमूल्य समय नष्ट करने की आवश्यकता न होती। अब मैं नीचे संक्षेप में इन प्रवृत्तियों का उल्लेख करता हूँ।

(१) प्रस्तुत मार्मिक रूपविधान के प्रयत्न का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूपविधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग।

(२) जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर भाव या मार्मिक अनुभूति मे लीन करने का प्रयास छोड़ केवल उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास।

(३) जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबन्ध-काव्यों की ओर से उदासीनता और प्रेम-सम्बन्धी मुक्तकों या प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति।

(४) 'अनन्त' 'असीम' ऐसे कुछ शब्दों द्वारा उन पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।

(५) काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्प अर्थात् बेलबूटे और नक्काशी-वाली हलकी धारणा।

(६) समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास।

अब इनमें से एक-एक को लेकर कुछ विचार करने की आवश्यकता है। आप लोग घबड़ाएँ न, जो कुछ कहना होगा बहुत थोड़े में कहूँगा।

इन छः बातों को अलग-अलग लेने के पहले मैं यह प्रतिपादित कर देना चाहता हूँ कि हमारे यहाँ काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-से-ऊँचे उद्देश्य आ जाते है। इसी लक्ष्य की साधना से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय, भगवान् के लोकरक्षक और लोक-रंजक हृदय से जा मिलता है तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। उस दशा में धर्म-कर्म के साथ और ज्ञान के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है। भक्ति, धर्म और ज्ञान दोनों की रसात्मक अनुभूति है। जिस धर्म-साधना में हृदय का योग नहीं वह शुष्क, नीरस और अधूरा है। इसी प्रकार जिस ज्ञान के

साथ-साथ हृदय लगा नहीं चलता वह भी शुष्क, नीरस और अधूरा है—उसमें मिठास नहीं। मिठास न रहने का मतलब यह है कि ज्ञानी को ब्रह्म के केवल चित्स्वरूप का कुछ स्पर्श हुआ, आनन्दस्वरूप छूने को रह गया। यही बात गोस्वामी जी ने इस ढंग से कही है—

ब्रह्म-पयोनिधि, मंदर, ज्ञान, सत सुर आहि।
कथा-सुधा मथि काढ़हीं, भक्ति-मधुरता जाहि।।

ब्रह्म से गोस्वामी जी का अभिप्राय व्यक्त ब्रह्म—'सिया-राम-मय सब जग'—में है। यह जगत् ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है और समष्टि रूप में शाश्वत और अनन्त है। विशेष रूप अनित्य हैं, पर रूपपरम्परा नित्य है। ज्ञान इस रूप-सागर का मन्थन करके अनेक कथाएँ या तथ्य निकालता है और हृदय उनको आलम्बन के रूप में सामने रखकर भक्ति की मधुरता का अनुभव करता है। इस प्रकार जब ज्ञान और भक्ति-बुद्धि और हृदय—दोनों सहयोगी होकर काम करें तब अन्तःकरण की पूर्णता समझनी चाहिए।

जिस प्रकार हृदय के योग के बिना, भक्ति के बिना, ज्ञान को गोस्वामी जी ने मधुरता-रहित और नीरस कहा है, उसी प्रकार धर्माचरण और सदाचार को भी कड़ुवा कहा है—

सुर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुवाई।
बिनु हरि-भजन इंदारुन के फल तजत नहीं करुवाई।।

उन्होंने स्पष्ट कहा है कि धर्माचरण और शिष्टाचार हृदय के योग के बिना, हर्ष-पुलक के बिना, व्यर्थ है—

रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय।
तुलसी जिनहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय।।

सारांश यह कि हृदय की ऐसी भावदशा कभी-कभी होती है जिसका न धर्म से विरोध होता है न ज्ञान से, और न किसी दूसरी भावदशा से। यही सामंजस्य हमारे यहाँ का मूल-मंत्र है। जिस काव्य में यह सामंजस्य न होगा उसका मूल्य गिरा हुआ होगा।

धर्म के साथ हृदय के भाव या काव्य की अभिव्यंजना के अविरोध की चर्चा पहले हो चुकी है। अब ज्ञान और भाव, बुद्धि और हृदय के सामंजस्य के सम्बन्ध मे थोड़ा विचार कर लेने की आवश्यकता है। इस सामंजस्य का अभिप्राय यह है कि बुद्धि अपना स्वतंत्र रूप से ज्ञान-सम्पादन का कार्य करे और हृदय भाव-प्रवर्तन का। एक-दूसरे के कार्य में बाधक न हों, हस्तक्षेप न करें। बुद्धि यह न कहने जाय कि हृदय क्या? वह तो फालतू काम किया करता है। हृदय यह न

कहने जाय कि बुद्धि क्या? वह तो सूखे लक्कड़ चीरा करती है। दोनों एक-दूसरे के सहयोगी के रूप में काम करें। बुद्धि देश और काल के बीच हमारे ज्ञान का प्रसार बढ़ाती है। जगत् के अनेक तथ्य ऐसे होते हैं जो हमारी बाह्य इन्द्रियों तथा सामान्य स्थूल बुद्धि को प्रत्यक्ष नहीं होते। बुद्धि अपनी सूक्ष्म क्रिया द्वारा, विशेष मनन और चिन्तन द्वारा, उनका निरूपण करती है और कवि की प्रतिभा या कल्पना द्वारा उन्हें गोचर और मार्मिक रूप में सामने रखती है। ऐसी दशा में प्रतिभा या कल्पना अनुमान के इशारों पर चलती है और सामान्य रूप से निरूपित तथ्य के बीच से ऐसे विशेष दृश्य की उद्भावना कर लेती है जो मर्मस्पर्शी होता है। नाना भावों के लिए आलम्बन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती है, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से प्रतिभा या कल्पना उनका भिन्न-भिन्न रूपों में समन्वय करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरंभ में मनुष्य-जाति की चेतन सत्ता इन्द्रियज-ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गयी है त्यों-त्यों मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि व्यवसायात्मक होती गयी है। अब मनुष्य का ज्ञान-क्षेत्र बुद्धि व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। शुद्ध (किसी वाद या सम्प्रदाय के नहीं) विचार और चिन्तन की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसन्धान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का भी मूर्त और सजीव चित्रण—उसका भी इस रूप में प्रत्यक्षीकरण कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कुछ कवियों का काम होगा।

ये परिस्थितियाँ बहुत ही व्यापक होंगी, ये तथ्य न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे। यदि अत्याचार होगा तो रावण के अत्याचार-सा लोकव्यापी होगा। हाय होगी तो पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक होगी, पर एक हाय करने वाला दूसरे हाय करने वाले से इतनी दूर पर होगा कि सम्मिलित हाय की दारुणता केवल बाहरी आँखों की पहुँच से बाहर होगी। यदि प्राणियों की किसी सामान्य प्रवृत्ति का चित्रण होगा तो सामग्री कीटाणुओं की दुनिया तक से लायी जा सकती है। जगत् रूपी घन-चक्कर और गोरखधन्धे की महत्ता और जटिलता से चकित होने की चाह में हम अपनी अन्तर्दृष्टि के सामने एक ओर अणुओं-परमाणुओं और दूसरी ओर ज्योतिष्क पिण्डों के भ्रमण-चक्रों तक को ला सकते हैं। उपर्युक्त सामंजस्य प्रतिष्ठित हो जाने पर ज्ञान-विज्ञान के साथ काव्य का, सच्चे काव्य का, कोई विरोध न दिखायी पड़ेगा।

हमारे यहाँ धर्म की रसात्मक अनुभूति या भक्ति में ज्ञान उक्त सामंजस्य के कारण कभी बाधक नहीं हुआ और न धर्म ने आग और कल्हाड़े से ज्ञान-विज्ञान का विरोध किया। हमारे यहाँ 'कर्म' और 'उपासना' के समान 'ज्ञान' भी धर्म का एक अंग बहुत प्राचीन काल से माना गया था। पर सामी मज़हबों में अक्ल का दख़ल न होने के कारण पाश्चात्य देशों में ज्ञान-विज्ञान के प्रचार में बहुत बाधा पड़ी थी। बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया द्वारा उपलब्ध ज्ञान के लिए ईसाई-मत में जगह न थी। अतः जब ईसाई-मत में साम्प्रदायिक दर्शन (Theology) की नींव डालने के लिए आर्यजातियों, विशेषतः यूनानियों के तत्त्वचिन्तकों द्वारा प्रवर्तित ज्ञान की बातों को लेने की आवश्यकता हुई तब वे मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान के रूप में तो ली नहीं जा सकती थीं। यहूदी, ईसाई आदि सभी मतों के भीतर तो वे ही बातें ली जा सकती थीं जो किसी पैगम्बर, पहुँचे हुए रहस्यदर्शी संत या सिद्ध को 'हाल', 'मूर्च्छा' अथवा प्रेमोन्माद की दशा में रहस्यादर्शी भक्त सन्तों को अन्तःकरण के भीतर 'ईश्वर का समागम' प्राप्त होता था और उस आध्यात्मिक जगत् की कुछ बातें आभास के रूप में उन पर प्रकाशित की जाती थीं। ईसा की छठीं शताब्दी से लेकर बारहवीं तेरहवीं-शताब्दी तक यूनानी दर्शनों में निरूपित बातें इन्हीं 'आभासों' के रूप में रहस्यदर्शी सन्त लोग कहा करते थे।

ईश्वरीय आभास का रूप देने के लिए ये बातें नाना प्रकार की अन्योक्तियों और अध्यवसित रूपकों में लपेट कर विचित्र शब्दों में कही जाती थीं। अतः कबीर आदि रहस्यवादी सन्तों और यूरोप के रहस्यवादी कवियों की उक्तियों में जो वैलक्षण्य या विचित्र रूपक-जाल रहता है, उसका भी साम्प्रदायिक कारण और इतिहास है। ईसवी सन् ६०४ में सन्त ग्रेगरी (St. Gregory) नामक एक प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं। मूर्च्छा-उन्माद की दशा में ईश्वर का जो समागम होता है उसके सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि साधक ईश्वर को ठीक वैसा ही नहीं देखता जैसा कि वह परमार्थतः है, बल्कि उसका सोपाधि रूप देखता है। हमारे भीतर कल्मष का जो अन्धकार रहता है वह उस शुद्ध ज्योति को ठीक-ठीक हम तक पहुँचने नहीं देता। हम उसे साफ-साफ नहीं देख सकते, वैसे ही देख सकते हैं जैसे बहुत दूर की वस्तु कुछ धुंधली-सी दिखायी पड़ती है। इसके उपरान्त ईसा की बारहवीं शताब्दी में सन्त बरनार्ड (St. Bernard) ने यह बताया कि रहस्य-दर्शी को 'हाल' या आवेश की दशा में आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि किस ढंग से होती है। उन्होंने कहा कि "जब साधक के हृदय-देश में ईश्वर की भेजी हुई ज्योति की किरण झलक की तरह क्षण मात्र के लिए आ जाती है तब या तो उस

परम तेज की चकाचौंध कम करने के लिये अथवा उसके द्वारा प्रकाशित ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के योग्य बनाने के लिए, उस प्रेषित ज्ञान या तथ्य को व्यंजित करने के उपयुक्त पार्थिव जगत् का कुछ अनूठा रूप-विधान (रूपक) सामने आ जाता है। छलावे की तरह भाषित हुए उस रूपक को 'छाया-दृश्य' (Phantasmata) कहते हैं।

इसी 'छाया-दृश्य' के लक्षणों का अनुकरण सामी (Semitic) मज़हबों के भीतर चले हुए भक्ति के रहस्यमार्गों में पाया जाता है। सूफ़ियों में इसी परम्परा का निर्वाह शराब, प्याले आदि के रूपकों में मिलता है जो एक प्रकार के प्रतीक (Symbols) से हो गये हैं। निर्गुनपन्थ की बानियों में—विशेषतः कबीरदास की बानी में—जो वेदान्त, हठयोग आदि की साधारण बातों को लेकर पहेली के ढंग के रूपक बाँधने की प्रवृत्ति पायी जाती है, वह भी इसी रूढ़ि का निर्वाह है। रहस्यवादी अंग्रेज-कवि ब्लेक (Blake) ने कल्पना को जो ईश्वर का दिव्य साक्षात्कार बताया, उसका भी यही साम्प्रदायिक मूल है। इधर क्रोचे ने जो 'वाद' खड़ा किया है, वह भी इसी का आधुनिक वाग्विस्तार है।

ईसाई भक्तिमार्ग के इस 'छाया दृश्य' (Phantasmata) वाले प्रवाद का प्रभाव यूरोप के काव्यक्षेत्र में भी समय-समय पर प्रकट होता रहा। सन् १८८५ में फ्रांस के रहस्यात्मक प्रतीकवादियों (Symbolists Decadents) ने कविता का जो ढंग पकड़ा था, उसमें उक्त 'छाया-दृश्य' वाली धारणा का पूरा अनुसरण था। इसी से जब उक्त रहस्यवाद का ढंग ब्रह्म-समाज के भजनों में दिखायी दिया तब पुराने ईसाई भक्तों के उसी 'छाया-दृश्य' (Phantasmata) के अनुकरण के कारण उस ढंग की रचनाओं को 'छायावाद' कहने लगे। यह है हिन्दी के वर्तमान काव्यक्षेत्र में प्रचलित 'छायावाद' शब्द का मूल और इतिहास।

प्राचीन आर्य्यजातियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति नहीं थी—न योरप में, न भारतवर्ष में। प्राचीन यूनानी और रोमन दोनों इससे बचे हुए थे। तत्त्वज्ञान-सम्पन्न यूनानी जाति स्वच्छ विचार और संयत आत्मा धारण करती थी। वह परमात्म-बोध के लिए शुद्ध चिन्तन-मार्ग को छोड़ रहस्यवाद के अंधकार में भटकने-वाली नहीं थी। यही स्थिति प्राचीन भारतीय आर्यों की भी थी। यहाँ परमार्थ-तत्त्व बोध के लिए बुद्धि की स्वाभाविक पद्धति, चिन्तन के विशुद्ध मार्ग के अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग स्वीकृत न था। उपनिषद् की ब्रह्मविद्या के प्रवर्तक इसी स्वाभाविक बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति द्वारा ज्ञान की उपलब्धि करते थे। उनके द्वारा प्रवर्तित हमारा 'ज्ञानकांड' मूर्च्छा, स्वप्न या बेहोशी की उपज नहीं है, तत्त्वचिन्तन का फल है। वही हमारे वेदान्त-दर्शन के ब्रह्मस्पर्शी प्रासाद की नींव

है। उपनिषदों का तत्त्वज्ञानात्मक (Ratinalistic) स्वरूप स्पष्ट है। उनमें बहुत से स्थल संवाद के रूप में हैं, जिनमें शंका-समाधान भी है। जनक की सभा में शास्त्रार्थ के रूप में ब्रह्मवाद की चर्चा होती थी। उपनिषदों के स्फुट विचारों को ही व्यवस्थित शास्त्र के रूप में संकलित करने के लिए बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की।

खेद है कि ईसाई मत से प्रभावित ब्रह्म-समाज ने उपनिषदों का पल्ला पकड़ कर उन्हें रहस्यवादी रूप देने का प्रयत्न किया। बहुत से पाश्चात्य-लेखकों ने बड़ी खुशी से उन्हें इस रूप में ग्रहण किया और उपनिषदों के ज्ञान को रहस्यवाद-की कोटि में रखा। बात यह है कि उस कोटि में जाने से उनका तात्त्विक मूल्य घट जाता है और प्राचीन भारतीय आर्यों की तत्त्वज्ञान सम्पन्नता कुछ ओट में पड़ जाती है और यूनानियों की सामने दिखायी पड़ती है। उपनिषद् यदि रहस्य-दर्शियों के स्वप्न या आभास हैं तब तो प्राचीन भारतीय भी सभ्यता की उसी सीढ़ी पर थे जिस पर प्राचीन यहूदी। उपनिषदों को रहस्यवाद कहने का आधार केवल यही है कि उनकी कुछ बातें उपमाओं या लक्षणाओं के द्वारा कुछ अनूठे ढंग से कही हुई मिलती हैं। बात यह है कि उस प्राचीन काल में दार्शनिक विवेचन को व्यक्त करने की व्यवस्थित शैली नहीं निकली थी। चिन्तन करते-करते कभी-कभी ऋषि भावोन्मुख भी हो जाते थे और अपनी बात अनूठी उक्ति के रूप में कह देते थे।

ज्ञान जब प्राप्त होगा तब शुद्ध बुद्धि की क्रिया से ही कल्पना, स्वप्न, भावोन्माद आदि द्वारा किसी उच्च कोटि का ज्ञान तो दूर की बात है, साधारण बातें भी नहीं जानी जा सकतीं। न हम कान से देख सकते हैं, न कान से सुन सकते हैं पर प्रेमलक्षणा भक्ति क्यों और किस प्रकार ज्ञान का भी एक रहस्यमय साधन सामी मजहबों में मानी गयी, यह हम अभी दिखा आये हैं। रहस्यवादी जो बातें कहते हैं वे तत्त्वज्ञ दार्शनिकों द्वारा निश्चित की हुई होती हैं, आसमान से टपकी या आत्मा से उठी नहीं होतीं। उन्हीं बातों को सुनकर या इधर-उधर से लेकर वे उन पर कल्पना का रंग चढ़ाते और उन्हें अनूठे रूपकों और अन्योक्तियों में कहा करते हैं। कोई कह सकता है कि आज तक किसी पहुँचे हुए रहस्यवादी ने कोई एक भी बात ऐसी कही है जो पहले से प्रचलित न चली आती हो? कबीर की बानी में ज्ञान की कोई एक नूतन कणिका भी कोई दिखा सकता है? ज्ञान के क्षेत्र में रहस्यवाद का कोई मूल्य नहीं है। रहस्यवाद से किसी नये तथ्य की, नये ज्ञान की, उपलब्धि नहीं हो सकती, यह बात रहस्यवाद पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करने वालों ने लिखी है।

सामी मतों के भक्ति-मार्गों में ज्ञान-पक्ष यद्यपि लिया गया है आर्यजाति के तत्त्वचिन्तकों से, पर बताया जाता है ऊपर लिखे रहस्यात्मक ढंग से आभास-रूप में प्राप्त। इसी से पाश्चात्य लेखक भारतीय भक्ति-मार्ग को भी रहस्यवाद के भीतर घसीटा करते हैं। पर यह उनका शुद्ध भ्रम है, यह मैं आगे दिखाऊँगा। सामी मतों की भक्ति-साधना में दाम्पत्य-वासना (Sex-instinct) का सहारा लिया गया जिससे 'माधुर्य भाव' का विकास उसमें विशेष दिखायी पड़ता है। ईसाइयों की धर्मपुस्तक में एक जगह आया है कि "जिस प्रकार दूल्हा दुलहिन के साथ रमण करता है, इसी प्रकार ईश्वर तुझ में रमण करे।" इसी को लेकर 'स्वर्गीय दूल्हा (Heavenly Bridegroom)" की भावना चली। जिस प्रकार हमारे यहाँ के हठयोगियों ने मनुष्य के भीतर चक्रों, कमलों, मणिपूर इत्यादि की कल्पना की है, उसी प्रकार साधक ईसाइयों ने उस स्वर्गीय दूल्हे के साथ विहार करने के लिए अन्तर्देश में कई प्रकार के रंगमहल या कोठरियाँ कायम की थीं।

ईसा की बारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में सन्त बरनार्ड (St. Bernard) नाम के जो प्रसिद्ध भक्त हो गये हैं, उन्होंने दूल्हे के 'तीसरे कक्ष' में प्रवेश का इस प्रकार वर्णन किया है—"यद्यपि वे ईश्वर कई बार मेरे भीतर आये पर मैंने न जाना कि वे कब आये। आ जाने पर कभी-कभी मुझे उनकी आहट मिली है, उनके विद्यमान होने का स्मरण भी मुझे है, वे आने वाले हैं इसका आभास भी मुझे कभी-कभी पहले से मिला है, पर वे कब भीतर आये और कब बाहर गये, इसका पता मुझे कभी न चला।"

अब इसी प्रकार की रचना की झलक आप आज इस बीसवीं शताब्दी में भी 'गीताञ्जलि', 'साधना' तथा मासिक पत्रों में समय-समय पर निकलने वाले गद्य-काव्यों में स्पष्ट देख सकते हैं। कबीर की 'सुन्नि महलिया' भी सामी रहस्यवाद की ओर से आयी है।

भारतवर्ष के वैष्णव-धर्म में भी जैसे सेव्य-सेवक आदि कई भावों से उपासना मानी गयी थी, वैसे ही गोपियों के कृष्ण-प्रेम को लेकर 'माधुर्य भाव' की उपासना भी मानी गयी थी, पर उसका स्वरूप केवल भावात्मक था, उसमें न तो भीतर महलों आदि की कल्पना थी, न मूर्च्छा, उन्माद आदि लक्षण। पीछे मुसलमानी शासन-काल में कुछ कृष्णभक्तों पर—जैसे, चैतन्य-महाप्रभु, मीरा, नागरीदास पर—सूफियों का प्रभाव पड़ा। भारतवर्ष के भीतर माधुर्य-भाव का ग्रहण प्राचीन काल में दक्षिण में हुआ। बड़े-बड़े मन्दिरों में जो देवदासियाँ रहा करती थीं, इसका प्रवर्तन पहले उन्हीं के बीच जान पड़ता है। माता-पिता लड़कियों को

मन्दिर में चढ़ा आते थे, जहाँ उनका विवाह ठाकुर जी के साथ हो जाता था। वे ही देवदासियाँ हो जाती थीं। उनके लिए मन्दिर में प्रतिष्ठित भगवान् की उपासना पति-रूप में विधेय थी। इन देवदासियों में से कुछ उच्च कोटि की भक्तिनें भी निकल आती थीं।

दक्षिण में अन्दाल इसी प्रकार की भक्तिन थी, जिसका जन्म वि० सं० ७७३ के आस-पास हुआ था। यह बहुत छोटी अवस्था में किसी साधु को एक पेड़ के नीचे मिली थी। वह साधु भगवान् का स्वप्न पाकर इसे विवाह के वस्त्र पहनाकर, श्रीरंग जी के मन्दिर में छोड़ आया था। अन्दाल के पद द्रविड़ भाषा में 'तिरुप्पावय' नामक पुस्तक में अब तक मिलते हैं। अन्दाल एक स्थान पर कहती है—"अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।" इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें रहस्य का समावेश अवश्य हो जायगा। भारतीय भक्ति का मूल रूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस 'माधुर्य-भाव' का अधिक प्रचार न हुआ। पीछे मुसलमानी जमाने में सूफियों की देखा-देखी इस भाव की ओर कुछ कृष्णभक्त रहस्यात्मक ढंग से प्रवृत्त हुए।

भारतवर्ष में धर्म के भीतर भी ज्ञान की प्रकृत पद्धति और प्रेम की प्रकृत पद्धति स्वीकृत थी; अतः न ज्ञान के क्षेत्र में और न भगवत्प्रेम के क्षेत्र में रहस्यवाद की आवश्यकता हुई। साधनात्मक और क्रियात्मक रहस्यवाद का अलबत्त योग, तंत्र और रसायन के रूप में विकास हुआ। यहाँ ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और योग-मार्ग तीनों अलग-अलग रहे हैं। इस स्पष्ट विभाग के कारण भारतीय परम्परा का भक्त न तो पारमार्थिक ज्ञान का दावा करता है, न अलौकिक सिद्धि या रहस्यदर्शन का। ज्ञान के अधिकारी, तर्कबुद्धि-सम्पन्न, चिन्तनशील दार्शनिक ही माने जाते हैं। तत्त्वज्ञान की झलक के लिए शुद्ध बुद्धि के अतिरिक्त और कोई दूसरी खिड़की नहीं मानी जाती। भारतीय भक्त हृदय की उसी पद्धति से भगवान् से प्रेम करता है जिस पद्धति से पुत्र-कलत्र से। इस प्रेम के लिए कोई अप्राकृतिक पद्धति अपेक्षित नहीं। भक्ति की अनुभूति भी 'भक्तिरस' कही जाती है। रस की अनुभूति एक प्राकृतिक या स्वाभाविक अनुभूति है। पर रहस्यवादी की ईश्वर-समागमवाली दशा या तो योगियों की तुरीयावस्था अथवा चित्त-विक्षेप के रूप में मानी जाती है—जैसी किसी भूत या देवता के सिर आने पर होती है। इस दशा पर आस्था सभ्यता की आदिम अवस्था का संस्कार है जो किसी-न-किसी रूप में अब तक चला चलता है। उसी के कारण जैसा भूत-प्रेत, कुल-देवता आदि का सिर पर आना, वैसा ही यह ईश्वर का सिर पर आना समझा

जाता है। हमारे यहाँ के भक्ति-मार्ग में यह बिल्कुल नहीं है। आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर न कभी रामकृष्ण आये, न ब्रह्म—हाँ ब्रह्मराक्षस अलबत्त आते हैं। हनुमान जी भी कभी-कभी भक्त मंडली से उछल कर किसी सेवक के सिर पर आ जाया करते हैं।

भारतीय परम्परा के भक्त का प्रेम-मार्ग सीधा-सादा और स्वाभाविक है, जिस पर चलना सब जानते हैं, चाहे चले न। वह ऐसा नहीं जिसे कोई बिरला ही जानता हो या पा सकता हो। वह तो संसार में सबके लिए ऐसा ही सुलभ है जैसे अन्न और जल—

निगम अगम, साहब सुगम, राम सांचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माह॥—तुलसी

जिस हृदय से भक्ति की जाती है, वह सब के पास है। सरलता इस मार्ग का नित्य लक्षण है—मन की सरलता, वचन की सरलता और कर्म की सरलता—

सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुबर-प्रेम-प्रसूति॥

भारतीय परम्परा के सच्चे भक्त में दुराव-छिपाव की प्रवृत्ति नहीं होती। उसे यह प्रकट करना नहीं रहता कि जो बातें मैं जानता हूँ, उसे कोई बिरला ही समझ सकता है, इससे अपनी वाणी को अटपटी और रहस्यमयी बनाने की आवश्यकता उसे कभी नहीं होती। वह सीधी-सादी सामान्य बात को भी रूपकों में लपेट कर पहेली बनाने और असम्बद्धता के साथ कहने नहीं जाता। बात यह है कि अपना प्रेम वह किसी अज्ञात के प्रति नहीं बताता। उसका उपास्य ज्ञात होता है। उसके निकट ईश्वर ज्ञात और अज्ञात दोनों है। जितना अज्ञात है उसे तो वह परमार्थान्वेषी दार्शनिकों के चिन्तन के लिए छोड़ देता है और जितना ज्ञात है उसी को लेकर वह प्रेम में लीन रहता है। ज्ञात पक्ष में यह सारा जगत् ब्रह्म का व्यक्त प्रसार है जिसके भीतर रक्षण और रञ्जन की नित्य कला भासमान रहती है। बाहर जगत् के बीच इस कला का दर्शन भक्ति का पक्ष है। अपने मन के भीतर 'ढूंढ़ना' यह योग का पक्ष है। बाहर जगत् में जहाँ रक्षण और रञ्जन की यह कला भक्त को दिखायी पड़ती है, वहाँ वह सिर झुकाता है। श्रीमद्भागवत में इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण हम पाते हैं। व्रज के गोप इन्द्र की पूजा किया करते थे। श्रीकृष्ण ने नन्द से कहा कि इससे अच्छा तो यह है कि हम इस गोवर्द्धन पर्वत की पूजा करें, गायों की पूजा करें, ब्राह्मणों की पूजा करें। जो साक्षात् या सीधे पालन-पोषण, रक्षण-रंजन करता दिखायी दे, वही देवता है—

तस्मात्सम्पूजयेत्कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अंजसा येन वर्त्तेत तदेवास्य हि दैवतम्।
तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः।
य इन्द्रयागसमारम्भास्तैरयं साध्यतां मखः।।भाग०—१०-२४-२३

यहीं 'अंजस् पूजा'—सीधे उसकी पूजा जो प्रत्यक्ष रक्षक और प्रत्यक्ष रंजक है—भारतीय भक्ति-भावना का प्रधान स्वरूप है। इसी से इस प्रत्यक्ष बाह्य जगत् के बीच रामकृष्ण के रूप में अपनी रक्षण-रंजन-कला का प्रकाश करने वाले भगवान् के व्यक्त रूप को लेकर भारतीय भक्ति-मार्ग सच्ची भावुकता के साथ चला। यदि किसी पर्वत से, किसी नदी से, किसी वृक्ष से, किसी पशु से—प्रकृति के छोटे-बड़े किसी रूप से—लोक का उपकार है तो उसमें स्थित हमारी पूज्य बुद्धि भगवान् ही के प्रति समझनी चाहिए। इस प्रकार व्यक्त और प्रत्यक्ष रूपों के प्रति पूज्य बुद्धि हमारे भक्ति-मार्ग का वह प्रधान अवयव है जो उसे उन मार्गों से अलग करता है, ऐसे प्रत्यक्ष रूपों के प्रति पूज्य भाव रखना पाप कहते हैं।

सारांश यह कि हमारे यहाँ का (सगुण) भक्ति-काव्य भी ब्रह्म के अज्ञात और अव्यक्त स्वरूप को आध्यात्मिक आभास द्वारा बताने का दावा करता हुआ नहीं चला है। वह इसी व्यक्त जगत् और जीवन के बीच भगवान् की कला का दर्शन करा कर भावमग्न करना चाहता है। भक्ति-मार्ग के सम्बन्ध में यहाँ इतना निवेदन करने का मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कि सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की रचनाएँ भी रहस्यात्मक स्वप्न, आभास आदि की दृष्टि से न देखी जायँ, उनके द्वारा गाये हुए चरित्र भी अन्योक्ति, रूपक आदि न बताये जायँ और उनसे तरह-तरह के आध्यात्मिक अर्थ निकालने की बेजा हरकत न की जाय। भक्ति काव्य भी काव्य ही है और काव्य की तह में, जैसा कि मैं कहता आ रहा हूँ, इसी जगत् और जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ छिपी रहती हैं।

कविता के सम्बन्ध में मेरी धारणा बराबर से यही रही है कि वह एक ऐसी साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के शुद्ध रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किये जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को अपने व्यक्तिगत योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट-कर, अपने आपको बिल्कुल भूल कर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती

है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, वही कविता है। कविता के साथ 'आनन्द' शब्द जुड़ा रहने से उसे विलास या सुख-भोग की सामग्री ही ढूंढा करते हैं उनमें उस रागात्मक 'स्वत्व' की कमी है जिसके द्वारा व्यक्त सत्ता मात्र के साथ मनुष्य अपने हृदय के सब भावों का केवल प्रेम, हर्ष, आश्चर्य आदि का ही नहीं, करुणा, क्रोध, जुगुप्सा आदि का भी—ठीक और उपयुक्त सम्बन्ध घटित कर लेता है। इसी से हमारे यहाँ 'सत्वोद्रेक' के बिना सच्ची रसानुभूति नहीं मानी गयी है।

चिर-प्रतिष्ठित काव्य के प्रकृत स्वरूप के सम्बन्ध में इतना कह कर अब मैं क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' की उन छह बातों को लेता हूँ जो इस स्वरूप के विरुद्ध पड़ती हैं और जिनका प्रभाव इधर-उधर हमारे वर्तमान साहित्य-क्षेत्र में भी दिखायी पड़ने लगा है।

(१) प्रस्तुत के मार्मिक रूप-विधान का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूप-विधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग।

उक्त वाद के अनुसार तो काव्य में प्रस्तुत पक्ष कुछ होता ही नहीं। प्रस्तुत-पक्ष तो तब होगा जब काव्य की अभिव्यंजना का जगत् या जीवन की बातों से कोई सम्बन्ध होगा। जबकि किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं, जबकि अभि-व्यंजना अध्यात्म-जगत् से उठी हुई वस्तु है, तब कैसा प्रस्तुत? क्रोचे के अनुसार काव्य में जीवन की कुछ वस्तुएँ या बातें जो ले ली जाया करती हैं, वे केवल मसाले के रूप में। अब ये ही वस्तुएँ या बातें साहित्य में 'प्रस्तुत' कहलाती हैं। अतः जब इन वस्तुओं या बातों के प्रति किसी प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करना काव्य का उद्देश्य ही नहीं, तब इनको ऐसे मार्मिकरूप में रखने की आवश्यकता ही क्या जिससे उनके प्रति कोई भाव जगे। प्रस्तुत कहलाने वाली जीवन की वस्तुओं या बातो का तो सहारा मात्र कल्पना की एक नूतन सृष्टि खड़ी करने में लिया जाता है। अतः कवि की प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग प्रस्तुत के मार्मिक, प्रत्यक्षीकरण में नहीं उससे अलग विचित्र या रमणीय रूप-विधान में है। प्रस्तुत से अलग रूप-विधान ही अप्रस्तुत या उपमान कहलाता है। उपर्युक्त धारणा अंग्रेजी के समीक्षा-क्षेत्र में इतना जोर पकड़ गयी है कि 'रूप-विधान' (Imagery) शब्द का प्रयोग अप्रस्तुत रूप-विधान के लिए ही होता है। श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर का काव्य के अलंकारों पर एक लेख मैंने कहीं देखा था जिसमें रूप-विधान के सम्बन्ध में यही धारणा स्पष्ट लक्षित होती थी। उनके "रूप और अरूप" नामक प्रबन्ध के अन्तर्गत इस कथन में भी इसी का आभास पाया जाता है—

"मनुष्य का साहित्य-शिल्पकला में हृदय का भाव-रूप में घृत जरूर होता है, पर रूप में बद्ध नहीं होता। इसीलिए वह केवल नये-नये के प्रवाह की सृष्टि करता है, इसीलिए प्रतिभा को नवनवोन्मेषिणी बुद्धि कहते हैं।" इसके आगे उन्होंने यह दृष्टान्त दिया है—"मान लिया जाय कि पूर्णिमा की शुभ्र रात्रि का सौन्दर्य देखकर किसी कवि ने वर्णन किया कि मानो सुरलोक के नीलकान्त-मणिमय प्रांगण में सुरांगनाएँ नन्दन की नवमल्लिका की फूलशय्या।"

यह उद्धरण मैंने केवल यह दिखाने के लिए दिया है कि ठाकुर महोदय भी प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग अप्रस्तुत विधान में ही समझते हैं। उनके उपर्युक्त वचन क्रोचे की इस बात का समर्थन नहीं करते हैं कि काव्य में न कोई प्रस्तुत पक्ष होता है, न उसके प्रति हृदय की कोई अनुभूति। यहाँ उन्होंने स्पष्ट रीति से प्रस्तुत वस्तु 'रात्रि' में सौन्दर्य माना है और उसके प्रति लक्ष्य में प्रिय भाव का उदय कहा है। अतः जो लोग विलायती समीक्षाओं में से इधर-उधर के ऐसे वाक्य लेकर कि 'काव्य का विषय क्या?', 'काव्य में अर्थ क्या?' अपनी जानकारी प्रकट किया करते हैं उन्हें ठाकुर महोदय के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए।

यहाँ मेरा अभिप्राय केवल इस धारणा को असंगत सिद्ध करने का है कि काव्य में प्रतिभा का, कल्पना का काम केवल ढूँढ़-ढूँढ़ कर या अपनी अन्तरात्मा में से निकाल-निकाल कर, तरह-तरह के अप्रस्तुत रूपों का विधान करना ही है। यह तो हमारे यहाँ का वही पुराना 'अलंकारवाद' ही हुआ जो थोड़ा रूप बदल कर और अलंकार शब्द को हटा कर प्रकट हुआ है। क्या रूप बदला है, यह मैं अलंकार के प्रसंग में सूचित करूँगा। जो अप्रस्तुत रूप-विधान या उपमानों की योजना में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग और काव्यत्व मानेंगे, उनके निकट का हेमन्त-वर्णन, कालिदास का मेघदूत, वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) के सीधे-सादे रूप में चित्रित बिना तड़क-भड़क-वाले सामान्य ग्रामीण दृश्य ही न ठहरेंगे। मेघदूत न कल्पना की कोरी उड़ान है, न कला की विचित्रता वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेमदृष्टि। क्या "त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः, त्वामारूढं पवनपदवीम्', विश्रान्तस्सन्व्रज नगनदीतीर-जातानि सिंचन्" इत्यादि प्रस्तुत रूप-विधान काव्य नहीं? जिन्हें इनमें काव्य न दिखायी पड़े उनके सम्बन्ध में समझना चाहिए कि वे बारातों में निकलने वाली कागज की फुलवारी को काव्य समझे बैठे हैं। वे केवल तमाशबीन हैं।

प्रस्तुत पक्ष का रूप-विधान भी कवि की प्रतिभा द्वारा ही होता है। भाव की प्रेरणा से नाना रूप-संस्कार जग पड़ते हैं जिनका अपनी प्रतिभा या कल्पना

द्वारा समन्वय करके कवि प्रस्तुत वस्तुओं या तथ्यों का एक मार्मिक दृश्य खड़ा करता है। काव्य में प्रतिभा या कल्पना का मैं यह पहला काम समझता हूं। जो नानाप्रकार के अप्रस्तुत उपमान जोड़ने में ही काव्य समझेंगे, उनके हृदय पर प्रकृति की नानावस्तुओं और व्यापारों का कोई मार्मिक प्रभाव न रह जायगा। वे मार्मिक से मार्मिक प्रत्यक्ष दृश्य के सामने वार्निश किये हुए काठ के कुंदे या गढ़ी हुई पत्थर की मूर्ति के समान खड़े रह जायेंगे। ऐसे लोगों के द्वारा काव्य का विभाव-पक्ष ही ध्वस्त हो जायगा।

अप्रस्तुत योजना पर ही अधिक ध्यान देने की प्रवृत्ति आजकल की नयी रंगत की कविताओं में भी दिखायी पड़ रही है। पं० सुमित्रानन्दन पन्त ऐसे कवियों पर भी, जो जगत् और जीवन की मार्मिक अनुभूतियों से सम्पन्न हैं, 'अभि-व्यंजनावाद' से निकली हुई इस प्रवृत्ति का प्रभाव कहीं-कही अधिक मात्रा में दिखायी पड़ जाता है, जैसे, उनकी 'छाया' नाम की कविता में।

(२) जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर सच्ची भावानुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़, केवल अभिव्यंजना या उक्ति में वैलक्षण लाने का प्रयास।

क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' सच पूछिए तो एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' है। संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में भी कुंतक नाम के एक आचार्य 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्' कह उठे थे। उनकी दृष्टि में भी 'उक्ति की वक्रता' ही काव्य है। वक्रता काव्य में अपेक्षित अवश्य होती है, पर वहीं तक जहाँ तक उससे हृदय की किसी अनुभूति से सम्बन्ध होता है। यों ही बोध मात्र कराने के लिए जिस रूप में बात कही जाती है उसी रूप में रखने से भावानुभूति नहीं जगती। बात को ऐसे रूप में रखना पड़ता है जो भाव जगाने में समर्थ हो। इसी से कहा गया है कि 'इतिवृत्तमात्रनिर्वाहिण नात्मपदलाभः।' इस रूप में बात बिना अलंकार के, बिना किसी प्रकार की अप्रस्तुत योजना के भी कही जा सकती है। इसी से "काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण" में अलंकार काव्य का कोई नित्य अंग नहीं माना गया है। प्रस्तुत बातें ज्यों-की-त्यों सादे रूप में भी आकर भाव की बहुत अच्छी और स्वाभाविक व्यंजना कर देती है, जैसे, ठाकुर कवि का यह सवैया लीजिए—

> वा निरमोहिन रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है,
> बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है।
> ठाकुर या मन को परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है,
> आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो विसेष कै जानति ह्वै है।।

इसमें अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर किसी नये प्रेमी के चित्त के 'वितर्क' की कैसी सीधी-सादी व्यंजना है। इसमें आयी हुई बातें प्रस्तुत होने पर भी 'इतिवृत्त मात्र' की दृष्टि से फालतू हैं। 'इतिवृत्ति' का मतलब है 'इतनी ही तो बात है' कहने वाला व्यर्थ वे सब बातें न कहने जायगा जो सवैये में हैं।

भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्त और स्वच्छन्द गति के लिए काव्य में वक्रता या वैचित्र्य अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, इसमें सन्देह नहीं। 'खड़ीबोली' की कविता जिस रूखी-सूखी चेष्टा के साथ खड़ी हुई थी, उसमें काव्य की झलक बहुत कम थी। खड़ीबोली की कविताओं में उपमा-रूपक आदि के ढाँचे तो रहते थे पर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और भाषा की विमुक्त स्वच्छन्द गति नहीं दिखायी देती थी। 'अभिव्यंजनावाद' के कारण यूरोप के काव्य-क्षेत्र में उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति जो हिन्दी के वर्तमान काव्य-क्षेत्र में आयी उससे खड़ीबोली की कविता की व्यंजना-प्रणाली में बहुत कुछ सजीवता और स्वच्छन्दता आयी। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्यभाषा की व्यंजकता अवश्य बढ़ रही है। दूसरी अच्छी बात यह हुई है कि अप्रस्तुतों या उपमानों के रखने में केवल सादृश्य-साधर्म्य पर दृष्टि न रह कर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर अधिक रहने लगी है।

पर यह सब शुभ लक्षण देख कर जितना सन्तोष होता है उससे शायद ही कुछ कम खेद यह देख कर होता है कि अधिकतर लोग केवल वक्रता या अभिव्यंजना की विचित्रता को ही सब कुछ मानने लगे हैं। जीवन की अनेक मार्मिक दशाओं, जगत् की अनेक मार्मिक परिस्थितियों के उद्घाटन द्वारा भावों में मग्न करने में कवियों की वाणी तत्पर नहीं दिखायी दे रही है। अतः वर्तमान रचनाओं का बहुत-सा भाग जीवन से विच्छिन्न-सा दिखायी पड़ता है।

(३) जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबन्ध-काव्यों की ओर से उदासीनता और मुक्तकों—विशेषतः प्रेमोद्गारपूर्ण प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति।

यह यूरोप के वर्तमान काव्य-क्षेत्र की बहुत व्यापक क्या, सामान्य प्रवृत्ति है जिसके कारण वहाँ बहुत दिनों से सफल महाकाव्य के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। मिल्टन, दान्ते और गेटे की रचनाएँ ही अन्तिम के समान दिखायी पड़ रही हैं। शैली के समय से लेकर अब तक महाकाव्य के लिए प्रयत्न तो होते रहे पर सफल नहीं। बात यह है कि प्रवृत्ति अन्तर्वृत्ति-निरूपक प्रगीत मुक्तकों की ओर ही अधिक हो जाने के कारण वाह्यार्थ-निरूपिणी प्रतिभा

का ह्रास हो गया और छोटी-छोटी फुटकल रचनाओं के अभ्यास के कारण किसी सुव्यवस्थित, भव्य और विशाल आयोजन की क्षमता जाती रही। इस सम्बन्ध में डाक्टर केर की बात ध्यान देने योग्य है। यूरोप में महाकाव्य के ह्रास के कारणों का विचार करते हुए वे एक बड़ा भारी कारण उपन्यासों का चलन बताते हैं। उपन्यासों का बहुत कुछ आकर्षण संवादों में बात-चीत के रंग-ढंग में होता है। इस बात में पद्य-बद्ध कथाकाव्य उनका सामना नहीं कर सकते, पर आधुनिक प्रबन्ध-काव्यों के प्रयासी प्रायः संवादों को ही, आकर्षण की वस्तु समझ, प्रधानता दिया करते हैं। कथा-प्रवाह को मार्मिक बनाने का प्रयत्न वे नहीं करते।

इधर पन्द्रह वर्ष के भीतर के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र को लें तो डॉक्टर केर की बात बहुत कुछ ठीक घटती पायी जायगी। बात यह है कि यदि एक जगह की प्रवृत्ति दूसरी जगह पहुँचायी जायगी तो उसके साथ लगी हुई भलाई या बुराई भी। मैथिलीशरण जी गुप्त के 'साकेत' को लीजिए जिसे काव्य की दृष्टि से मैं खड़ी-बोली की अत्यन्त प्रौढ़ रचना मानता हूँ। उसमें पुराने ढाँचे का शब्द-कौशल पूर्ण चमत्कार और नये ढंग की अभिव्यंजना का वैचित्र्य दोनों प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं। दोनों का सुन्दर मेल इस काव्य की विशेषता है। पर खेद है कि एक बड़ा प्रबन्ध-काव्य या महाकाव्य लिखने की इच्छा उन्हें उस समय हुई जब उनकी प्रवृत्ति देखा-देखी अंग्रेजी ढंग के फुटकल प्रगीत काव्यों की ओर हो चुकी थी। इससे प्रबन्ध-काव्य के अवयवों में जीवन की विविध दशाएँ सामने लाने वाले कथाचक्र, वस्तुवर्णन, संवाद और भावव्यंजना के ठीक-ठीक परिमाण की व्यवस्था वे न रख सके। संवाद और भाव-व्यंजना, इन्हीं दो अवयवों की प्रधानता हो गयी। दो सर्ग तो उर्मिला के वियोग की नाना दशाओं की व्यंजना में ही लग गये। कथा-प्रवाह बहुत कम पाया जाता है। कथा-प्रवाह या सम्बन्ध-निर्वाह प्रबन्ध-काव्य की पहली वस्तु है, जैसा कि माघ कवि ने कहा है—

> बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
> अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥

पर डॉ० केर ने महाकाव्य रचने की असफलता का कारण जो उपन्यासों का प्रचार बताया है वह ठीक तो है, पर अकेला नहीं। इस असफलता का मुख्य कारण है 'कलावाद', 'अभिव्यंजनावाद' आदि के प्रभाव से प्रगीत मुक्तकों की ओर ही कवियों का टूटा पड़ना। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी प्रबन्ध-काव्यों की रचना भक्तिकाल के भीतर ही विशद रूप में मिलती है। रीतिकाल प्रकीर्णकों

या मुक्तकों का काल था। तब से बराबर हिन्दी में भी फुटकल रचनाओं के अभ्यासी कवि चले आए, इससे अच्छे प्रवन्ध-काव्य न बन सके।

पहले रीतिकाल की फुटकल रचनाओं के अभ्यास से प्रबन्ध-काव्य का मार्ग रुका रहा, अब आजकल प्रगीत मुक्तकों की यूरोपीय प्रवृत्ति के अनुकरण से उसके मार्ग में बाधा पड़ रही हैं। उपन्यासों के प्रचार को मैं वैसा बाधक नहीं समझता।

(४) असीम, अनन्त ऐसे शब्दों द्वारा रचनाओं पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।

जो रचनाएँ वस्तुतः रहस्यवाद को लेकर चलें उनमें तो आध्यात्मिक पुट आवश्यक ही हैं। उनको तो एक साम्प्रदायिक परम्परा के अन्तर्गत मानकर अलग ही छोड़ देना चाहिए। पर नये ढंग की जितनी कविताएं बनें सब के भीतर कहीं-न-कहीं असीम, अनन्त को सम्पुटित करने की मैं कोई जरूरत नहीं समझता। मैं कई बार कह चुका हूँ कि आजकल जितनी कविताएँ 'छायावाद' की कही जाती हैं उनमें से अधिकांश का 'रहस्यवाद' से कोई सम्बन्ध ही नहीं। 'छायावाद' शब्द किस प्रकार रहस्यवाद-सूचक है, यह मैं दिखा आया हूँ। अतः नयी रंगत की कविता के लिए यह शब्द ठीक नहीं समझता। श्रीयुत पं० सुमित्रानन्दन पन्त की प्रायः सब कविताएँ जगत् और जीवन के किसी-न-किसी मार्मिक पक्ष से सम्बन्ध रखती हैं। श्री जयशंकर प्रसाद जी की वाणी भी या तो वेदना की विवृत्ति में अथवा सुख-सौन्दर्य और रमणीयता की अनुभूति उत्पन्न करने में लीन देखी जाती हैं। इधर-उधर 'स्वप्न, छाया, मद-मदिर' आदि रहस्यवाद के कुछ रूढ़ शब्दों और कहीं-कहीं अनन्त-असीम की ओर संकेतों के रहने से ही कविता रहस्यवाद की नहीं हो जाती। नयी पद्धति की कविताओं की सामान्य आकर्षक विशेषता व्यंजना की प्रणाली में है। यह प्रणाली हमारे कुछ नवीन कुशल कवियों के हाथ में स्वतन्त्र विकास कर रही है। अतः अब उस पर से 'छायावाद' के नाम की विलायती बंगला मुहर हट जानी चाहिए।

रवीन्द्र बाबू यदि अनन्त की ओर ताका करें तो यह आवश्यक नहीं कि सब की टकटकी उसी ओर लगे। उनको तो मैं एक बड़ा भारी आलंकारिक मानता हूँ। किसी बात को जितने अधिक विलक्षण और व्यंजक शब्दों में वे लपेट सकते हैं, दूसरा नहीं। उनके लाये हुए अप्रस्तुत रूप अद्भुत दीप्ति के साथ अर्थ और भाव का प्रकाश करते हैं। इतना होने पर भी उनकी जिन रचनाओं में 'आध्यात्मिक' अदा विशेष रहती है उनकी तह में अनुभूति की कोई नवीन भूमि नहीं मिलती। वहीं रूप की क्षणभंगुरता, ससीम का असीम के साथ मिलन आदि दिखायी पड़ता

हैं। पर जो कविताएँ जगत् या जीवन की किसी मार्मिक वस्तु या तथ्य को लेकर अथवा लोकवाद के साथ समन्वित होकर चली हैं, वे अत्यन्त हृदयग्राहिणी हैं। उदाहरण के लिए 'ताजमहल' को लक्ष्य करके लिखी हुई कविता लीजिए, जिसमें कवि शाहजहाँ को इस प्रकार सम्बोधित करके—

हे सम्राट् कवि, एइ तव हृदयेर छवि,
एइ तव नव मेघदूत, अपूर्व अद्भुत।

कहता है—"हीरा, मोती और मणियों की घटा, शून्य दिगन्त के इन्द्रधनुष की छटा की भाँति, यदि लुप्त हो जाती है तो हो जाय, केवल एक बूँद आँखों का आँसू-यह शुभ्र, समुज्वल ताजमहल-काल के कपोल-प्रान्त पर बचा रहे।"

कहने का तात्पर्य यह कि वर्तमान काव्य और समीक्षा दोनों के क्षेत्र में 'आध्यात्मिक' शब्द भी बहुत-से निरर्थक वाग्जाल का कारण हो रहा है। इसके कारण अनुभूति की सच्चाई की भी कम परवा की जा रही है।

(५) 'कला' शब्द के कारण काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्पवाली, बेल-बूटे और नक्काशीवाली, हलकी धारणा।

इसके सम्बन्ध में पहले बहुत-कुछ कहा जा चुका है। यह देखकर खेद होता है कि इस हलकी धारणा का प्रचार बढ़ता जाता है। कारण यह है कि बड़े लोगों की ओर से भी बीच-बीच में इसे सहारा मिलता जाता है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर भी इस धारणा का पूरा प्रभाव जान पड़ता है। वे भी कभी तो शिल्प के अन्तर्गत काव्य को भी ले लेते हैं और कभी शिल्प-साहित्य एक साँस में कह जाते हैं। मैं फिर भी जोर के साथ कहता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा इष्ट है तो उसका 'पीछा' इस 'कला' शब्द से जहाँ तक शीघ्र छुड़ाया जाय, अच्छा।

अपने भाषण के आरम्भ ही में मैंने अपनी अयोग्यता प्रमाणित करने का वचन दिया था। कम-से-कम मैंने इतना तो अवश्य सिद्ध कर दिया कि मेरा इस परिषद् का सभासद् चुना जाना 'कला की दृष्टि से' अनुपयुक्त हुआ।

आजकल की नयी रचनाओं में कुछ दूर तक चलने वाली संश्लिष्ट रूप-योजना तथा भावनाओं की अन्विति का जो अभाव पाया जाता है उसकी जवाब-देही भी मैं 'कलावाद' ही के सिर मढ़ना चाहता हूँ।

(६) समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास।

इसके सम्बन्ध में भी पीछे बहुत-कुछ कहा जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना है कि विचारशीलता के ह्रास से पुष्ट और समर्थ साहित्य का विकास रुक जायगा। भारतवर्ष का सम्पर्क संसार के और भागों से बढ़ रहा है। यदि हममें विवेक-बल रहेगा तो हम चारों ओर से उपयोगी और पोषक सामग्री लेकर

और पचाकर अपने साहित्य को पुष्ट और दृढ़ करेंगे। यदि यह विवेक-बल न रहेगा तो जैसे अनेक प्रकार के विदेशी रोगों ने आकर यहाँ अड्डा जमा लिया है, वैसे ही अनेक प्रकार की व्याधियाँ आकर हमारे साहित्य को ग्रस लेंगी और उसका स्वतन्त्र विकास रुक जायगा।

यहाँ तक तो 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के भले-बुरे प्रभाव का वर्णन हुआ। अब मैं अपने यहाँ की साहित्य मीमांसा-पद्धति के सम्बन्ध में दो-चार बातें निवेदन कर देना चाहता हूँ। शब्द-शक्ति के प्रसंग में मैं कह आया हूँ कि इस पद्धति पर चल कर हम सारे संसार के नये-पुराने काव्य की बहुत ही स्पष्ट और स्वच्छ समीक्षा कर सकते हैं। मैं अब अधिक समय न लेकर रस, रीति और अलङ्कार के सम्बन्ध में कुछ अपने विचार प्रकट करूँगा।

पहले 'रस' लीजिए। इसका निरूपण बहुत ही व्यवस्थित रूप में हुआ है। स्थायी संचारी का भेद बहुत ही मार्मिक और सूक्ष्म दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर हुआ है। क्यों कुछ भाव स्थायी कहे गये और कुछ संचारी? अच्छी तरह विचार करने पर भेद का आधार मिल जाता है। स्थायी वे ही भाव माने गये हैं जो संक्रमक हैं, जिनकी व्यंजना श्रोता या पाठक में भी उन्ही भावों का संचार कर सकती है।

मनोविज्ञान में भावों की प्रधानता और स्थायित्व का जो विचार किया गया है वह दूसरी दृष्टि से। भावों के वर्गीकरण आदि की हमारे यहाँ बहुत अच्छी व्यवस्था हुई है। पर इसका मतलब यह नहीं कि उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विचार-परम्परा द्वारा उसकी और उन्नति, परिष्कृति और संशोधन न हों। स्थायित्व की ही बात लीजिए। अच्छी तरह ध्यान देने पर यह पता चलेगा कि भाव की तीन दशाएँ होती हैं—

क्षणिक दशा, स्थायी-दशा और शील-दशा। किसी भाव की क्षणिक दशा एक अवसर पर एक आलम्बन के प्रति होती है, स्थायी दशा अनेक अवसरों पर एक ही आलम्बन के प्रति होती है और शील-दशा अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति होती है। क्षणिक दशा मुक्तक रचनाओं में देखी जाती है, स्थायी-दशा महा-काव्य, खण्ड-काव्य आदि प्रबन्धों में और शील-दशा पात्रों के चरित्र-चित्रण में। इतना मैंने केवल उदाहरण के लिए कहा है। साहित्य-क्षेत्र की इन सब बातों का विचार मैंने एक अलग ग्रन्थ में किया है जो समय पर प्रकाशित होगा।

इसके अन्तर्गत हमारे यहाँ बड़े महत्त्व का सिद्धान्त 'साधारणीकरण' का है। 'साधारणीकरण' का सीधे शब्दों में अर्थ है श्रोता का भी उसी भाव में मग्न होना,

जिस भाव की कोई काव्यगत पात्र (या कवि) व्यंजना कर रहा है। यह दशा तो रस की 'उत्तम दशा' है। पर रस की एक 'मध्यम दशा' भी होती है जिसमें पात्र द्वारा व्यंजित भाव में श्रोता का हृदय योग न देकर उस पात्र के ही प्रति किसी भाव का अनुभव करने लगता है। जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध, दीन और अनाथ पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या पाठक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जग सकता है। यह भी एक प्रकार की रसात्मक अनुभूति ही है, पर मध्यम कोटि की। अतः प्रकृति के वैचित्र्य-प्रदर्शन की दृष्टि से लिखे हुए पाश्चात्य नाटकों से इसी प्रकार की अनुभूति होती है। पर हमारे यहाँ के पुराने नाटकों में रस की प्रधानता रहने से 'साधारणीकरण' अधिक अपेक्षित होता है।

'चमत्कारवादियों' के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ले लेने पर रसानुभूति की क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती हैं।

अब अलंकार लीजिए। अलंकारों में अधिकतर साम्यमूलक अलंकार ही अधिक चलते हैं। अतः इस साम्य के सम्बन्ध में थोड़ा विवेचन कर लेना चाहिए। हमारे यहाँ साम्य मुख्यतः तीन प्रकार के माने गये हैं—सादृश्य (रूप की समानता), साधर्म्य (धर्म अर्थात् गुण-क्रिया आदि की समानता) तथा शब्दसाम्य (केवल शब्द या नाम के आधार पर समानता)। इनमें से तीसरे को लेकर तमाशे खड़े करना तो केवल केशव ऐसे चमत्कारवादी कवियों का काम है। प्रथम दो के सम्बन्ध में ही कुछ निवेदन करने की आवश्यकता है। सादृश्य के सम्बन्ध में पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि काव्य में उसकी योजना बोध या जानकारी कराने के लिए नहीं की जा सकती, बल्कि सौन्दर्य्य, माधुर्य, भीषणता इत्यादि की भावना जगाने के लिए की जाती है। जैसे, किसी क्रुद्ध व्यक्ति की आँखों के सम्बन्ध में यही कहा जायगा कि 'वे अंगारे-सी लाल हैं' यह नहीं कहा जायगा कि 'कमल के समान लाल हैं।'

इस बात का स्पष्ट शब्दों में निर्देश न होने से बहुत-से कवियों ने केवल सादृश्य को रूप रंग की समानता को पकड़ कर सुन्दर वस्तुओं के कुछ भद्दे उपमान खड़े कर दिये हैं। जैसे, केवल पतलापन लेकर कटि की उपमा भिड़ की कमर या सिंहनी की कमर से दे दी, यह न सोचा कि भिड़ की कमर का चित्र कल्पना में आने से किसी प्रकार की सौन्दर्य-भावना मन में न आयेगी और सिंहनी के सामने आ जाने पर तो जो कुछ सौन्दर्य-भावना पहले से जगी भी होगी, वह भी भाग खड़ी होगी। तात्पर्य यह कि काव्य में जो अप्रस्तुत वस्तुएँ (उपमान) लायी जाती हैं

वे यह देखकर कि उनके द्वारा प्रस्तुत के सम्बन्ध में सौन्दर्य-माधुर्य आदि की भावना में कुछ वृद्धि होगी। अतः प्रभाव-साम्य पहले देख लेना चाहिए।

बड़े हर्ष की बात है कि हिन्दी की वर्तमान नये ढंग की कविताओं में विशेषतः प्रभाव-साम्य पर ही दृष्टि रखी जाती है। सादृश्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी केवल प्रभाव-साम्य या हलका-सा संकेत लेकर ही अप्रस्तुत की बेधड़क योजना कर दी जाती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

पल्लव से—

(१) इन्द्रधनु-सा आशा का सेतु,
अनिल में अटका कभी अछोर।
(साम्य के आधार-विविधता, आधार की सूक्ष्मता)

(२) नवोढ़ा-बाल-लहर।
(साम्य का आधार लज्जा से सिसकना या सुकड़ना)

(३) सिसकते हैं समुद्र से मन।
(साम्य का आधार सिसकने का शब्द नहीं। सिसकने में छाती का नीचे-ऊपर होना मात्र)

आँसू से—

(१) उनका सुख नाच रहा था,
दुख-द्रुमदल के हिलने से।
शृंगार चमकता उनका
मेरी करुणा मिलने से।
(विरह व्यथा का क्षेम द्रुमदल का हिलना)

अभिप्राय यह है कि प्रेमी जितना ही विकल होता है प्रेम-पात्र अपने सौन्दर्य का प्रभाव देख उतना ही प्रसन्न होता है। प्रेमी रोकर जितना ही आँसू गिराता है उतना ही मानों प्रेमपात्र का सौन्दर्य धुल कर निखरता आता है अर्थात् लोगों की दृष्टि में उसकी सुन्दरता और भी अधिक दिखायी पड़ती जाती है।

(२) जल उठा स्नेह-दीपक-सा
नवनीत हृदय था मेरा,
अब शेष धूम रेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा।

(धूमरेखाबातों की धुँधली स्मृति। अँधेरा=हृदय का अंधकार या शून्यता)

अभिप्राय यह है कि प्रिय के न रहने पर हृदय अंधकारमय या शून्य हो गया,

उसके बीच केवल धुँधली पुरानी स्मृतियाँ इस प्रकार उठ-उठ कर घूम रही हैं जिस प्रकार दीपक बुझने पर धुँए की रेखा अँधेरे में उठ-उठ कर अनेक बल खाती घूमती है।

प्रभाव और रमणीयता पर दृष्टि रखकर कुछ हमारे पुराने कवियों ने भी अत्यन्त मार्मिक और सुन्दर अप्रस्तुत-योजना की है, जैसे, सूरदास जी ने इस पद में—

ज्यों चकई प्रीत बिंब देखि कै आनन्दी पिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जल आनि।।

थोड़े से हेर-फेर के साथ यही भावना पन्त जी की इन पक्तियों में है—

मिले थे दो मानस अज्ञात,
स्नेह-शशि बिम्बित था भरपूर।
अनिल-सा कर अकरुण आघात,
प्रेम-प्रतिमा कर दी वह चूर।।

काव्य के वर्तमान समीक्षकों की दृष्टि में दबी हुई या प्रच्छन्न अप्रस्तुत-योजना जिसे हमारे यहाँ व्यंग्य रूपक कहेंगे, बहुत उत्कृष्ट मानी जाती है, जैसी कि जायसी की इस उक्ति में है—

हीरा लेइ सो विद्रुम धारा। बिहंसत जगत भएउ उजियारा।।

यह पद्मिनी के ओठों और दाँतों का वर्णन है, जिसमें अप्रस्तुत प्रभात का रूप बिल्कुल छिपा हुआ है। पद्मिनी के हँसने पर दाँतों की उज्ज्वल आभा अधरों की अरुण आभा लेकर जब फैलती है तब सारा संसार प्रकाशित या प्रफुल्ल हो जाता है—उसी प्रकार जैसे प्रभात काल की श्वेत अरुण आभा के फैलने से भूमण्डल प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार वर्षा का व्यंग्य रूपक पन्त जी के इस पद्य में है—

जब निरस्त त्रिभुवन का यौवन
गिर कर प्रबल तृषा के भार,
रोमावलि की शरशय्या में
तड़प तड़प करता चीत्कार,
हरते हो तब तुम जग का दुख
बहा प्रेम-सुरसरि की धार।

अप्रस्तुत-विधान के नए ढंग का अच्छा निरूपण आजकल के दो प्रतिनिधि कवियों की इन पक्तियों से हो जाता है—

(क) सुरीले ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान,

विकच बचपन को, मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान।—पन्त

(इसमें कहा गया है कि उस बालिका का गान ही बाल्यावस्था और उसके भोले मन का उपमान बन जाता था अर्थात् वह गान स्वतः शैशव और उसकी उमंग ही था। इसमें उपमान और उपमेय के बीच व्यंग्य-व्यंजक भाव का ही सम्बन्ध है, रूप-साम्य कुछ भी नहीं)।

(ख) कामना कला की विकसी
कमनीय मूर्ति हो तेरी,
खिचती अब हृदय-पटल पर
अभिलाषा बन कर मेरी।—प्रसाद

(कला सौन्दर्य का विधान करती है। स्वयं कला के मन में जो सौन्दर्य की भावना है, वही मानो तेरे रूप में मूर्त्त होकर व्यक्त हुई है और इधर मेरे मन में उस रूपदर्शन का अभिलाषरूप रमणीय भाव बनी है। इस प्रकार 'आश्रय' और 'आलम्बन' दोनों का विधान हो गया है। इसमें भी वही व्यंग्य-व्यंजक भाव का सम्बन्ध है)।

ये दोनों उक्तियाँ इस बात का पूरा संकेत करती हैं कि किस प्रकार अप्रस्तुत-विधान में व्यंजकता पर ही मुख्य दृष्टि रखी जाती है।

नए ढंग की कविता की सबसे बड़ी विशेषता है लाक्षणिकता। कुछ वस्तुओं का प्रतीकवत् (Symbols) ग्रहण भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है। लक्षणा का पेट बहुत गहरा है। नए ढंग की कविताओं के भीतर यहाँ से वहाँ तक लक्षणाएँ भरी मिलेंगी—उपादान लक्षण भी लक्षणा भी, जैसे—

(१) मर्म-पीड़ा के हास। (हास-पूर्ण विकसित या प्रवृद्ध रूप। पीड़ा और हास के विरोध के कारण 'विरोधाभास' का भी चमत्कार है)।

(२) चाँदनी का स्वभाव में भास,
विचारों में बच्चों की साँस।

(चाँदनी=स्वच्छता, शीतलता और मृदुलता। बच्चों की साँस=भोलापन)।

(३) स्नेह का वासन्ती संसार,
पुनः उच्छ्वासों का आकाश।

(वासन्ती संसार=संयोग की सुख-दशा। आकाश=शून्य जीवन। वसन्त के ताप और बगोले से भरे ग्रीष्म का अप्रस्तुत रूप भी छिपा हुआ है)।

व्यंजना की इन पद्धतियों में कहीं-कहीं अंग्रेजी भाषा की शैली ज्यों-की-त्यों मिलती है, जैसे—'बच्चों के तुतले भय सी' (तुतले-तुतली बोली में व्यंजित)।

इस प्रकार का अनुकरण मैं अच्छा नहीं समझता। कहीं-कहीं इससे उक्ति बिल्कुल अजनबी हो जाती है, जैसे—'विचारों में बच्चों की साँस।' जो अंग्रेज़ी के Innocent breath से परिचित नहीं, वे इसे लेकर व्यर्थ हैरान होंगे। रचना करते समय इस बात का ध्यान पहले रहना चाहिए कि जो कुछ मैं लिख रहा हूँ हिन्दी-पढ़े लोगों के लिए लिख रहा हूँ, अंग्रेज़ी पढ़े लोगों के लिए नहीं। एक दिन मैंने देखा कि मेरे एक मित्र हिन्दी की एक मासिक पत्रिका लिए बैठे हैं। निकट आया, तब देखा कि उनके सामने एक कविता खुली है। उन्होंने मुझे देखते ही उसकी पहली ही पंक्ति पर उंगली रखकर कहा कि 'देखिए तो यह क्या है।' वह पंक्ति इस प्रकार थी—

मेरे जीवन के अंतिम पाहन!

मैंने कहा यह कुछ नहीं, अंगरेज़ी का 'Lastmilestone' है।

अब 'रीति' की बात लीजिए। 'रीति' का विधान शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इसी दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों और रौद्र, भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परुष और कर्कश वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया गया है। पर इसका यह मतलब नहीं कि 'मंजु, मंजुल, प्रांजल' तथा 'उद्दंड, प्रचंड, मार्तण्ड' लिखकर ही काव्य की सिद्धि समझ ली जाय। इसका मतलब इतना ही है कि पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करने के लिए काव्य बहुत कुछ संगीत-तत्त्व का ही सहारा लेता है। बहुत-सी रचनाएँ तो केवल पद-लालित्य और छन्द की मधुरता के कारण ही लोकप्रिय हो जाती हैं। संस्कृत-साहित्य में रीति पर सब से ज्यादा जोर देने वाले वामन हुए हैं।

पर 'रीति' को बिल्कुल एक पुरानी बात समझ कर टालना न चाहिए। अभी एक प्रकार का फ्रान्सीसी 'रीतिवाद' (French Impressionism) बड़े ज़ोर-शोर से चला है जिसमें शब्दों के अर्थों पर उतना जोर न देकर उनकी नाद-शक्ति पर ही अधिक ध्यान देने का आग्रह किया गया है। इसका थोड़ा-सा परिचय मैं आगे दूँगा।

शब्द-शक्ति, रस, रीति और अलंकार—अपने यहाँ की ये बातें काव्य की स्पष्ट और स्वच्छ मीमांसा में कितने काम की हैं, मैं समझता हूँ, इसके सम्बन्ध में अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। देशी-विदेशी, नई-पुरानी—सब प्रकार की कविताओं की समीक्षा का मार्ग इनका सहारा लेने से सुगम होगा। आवश्यकता इस बात की है कि उत्तरोत्तर नवीन विचार-परंपरा द्वारा इन पद्धतियों की परिष्कृति, उन्नति और समृद्धि होती रहे। पर यह हो कैसे? वर्त्तमान हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कुछ लोग तो ऐसे हैं जो लक्षणों की पुरानी लकीर से

जरा भी इधर-उधर होने की कल्पना ही नहीं कर सकते। बेचारे नवीनतावादी अभी कलाबाजी कर रहे हैं, उन्हें विलायती समीक्षा-क्षेत्र के उड़ते हुए लटकों की उद्धरणी और यूरोप के ग्रन्थकारों की नाम-माला जपने से फुरसत नहीं। अब रहे उच्च आधुनिक शिक्षा-प्राप्त 'संस्कृत स्कॉलर' नामक प्राणी। वे तो भारतीय वाङ्मय में जो कुछ हो चुका है उसी को संसार के सामने—संसार का अर्थ आजकल यूरोप और अमेरिका लिया जाता है—रखने में लगे हैं। यही उनका परम पुरुषार्थ है। उन्हें अपने साहित्य को और आगे बढ़ा कर उन्नत करने से क्या प्रयोजन?

यहाँ तक तो मैंने अपने यहाँ की काव्य-मीमांसा की पद्धति का, पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र के नाना वादों-प्रवादों से चली प्रवृत्तियों का तथा हिन्दी के आधुनिक साहित्य-क्षेत्र पर उन प्रवृत्तियों के भले-बुरे प्रभाव का वर्णन किया। पर ये प्रवृत्तियाँ पुरानी हैं—कुछ तो पचासों वर्ष, कुछ सैकड़ों वर्ष पुरानी। पर, जैसा कि मैं कई जगह कह चुका हूँ, यूरोप में साहित्य की प्रवृत्तियाँ तो इधर कपड़े के फैशन की तरह जल्दी-जल्दी बदला करती हैं। वहाँ की इस पुरानी प्रवृत्तियों से गला छूटेगा तो नयी आकर दबायेंगी—चाहे कुछ दिनों पीछे, वहाँ पुरानी हो जाने पर। इससे पहले से सावधान रहना मैं अच्छा समझता हूँ।

यूरोप के वर्तमान साहित्य-क्षेत्र की सबसे नयी घटना है 'बुद्धि के साथ युद्ध।' इस युद्ध के नायक हैं फ्रांस के अनातोले फ्रांस (Anatole France), जिन्होंने कहा है—"बुद्धि के द्वारा सत्य को छोड़कर और सब कुछ सिद्ध हो सकता है। मनुष्य बुद्धि या तर्क के आदेश पर कोई कर्म नहीं करता—अपने प्रेम, घृणा, बैर, भय आदि मनोविकारों के आदेश पर ही सब कुछ करता है। बुद्धि पर उसे विश्वास नहीं होता। बुद्धि या तर्क का सहारा तो लोग अपनी भली-बुरी प्रवृत्तियों को ठीक प्रमाणित करने के लिए लेते हैं।" ईसा की १९वीं शताब्दी में जो आधिभौतिक वाद इतने जोर-शोर से यूरोप में उठा था उसी से क्षुब्ध होकर प्रतिकार-स्वरूप वहाँ कई प्रकार के आन्दोलन चले। 'आध्यात्मिकता' जगी, मशीनों का विरोध शुरू हुआ, मनुष्य मात्र के साथ भ्रातृभाव उमड़ा और अक्ल पर चढ़ाई बोल दी गयी। और क्षेत्रों में क्या हुआ, इससे तो यहाँ प्रयोजन नहीं। साहित्य के क्षेत्र में जो हुआ या हो रहा है, उसी की ओर थोड़ा ध्यान देने की जरूरत है।

कुछ लोगों को एकबारगी यह भासित होने लगा कि अब तो जो अच्छे-अच्छे काव्य नहीं बनते हैं उसका एकमात्र कारण है बुद्धि। बुद्धि इतनी अधिक बढ़ गयी है कि उसने प्रतिभा और भावना के वे सब रास्ते ही रोक दिये हैं जिनसे कविता का स्रोत बहा करता था। यह दशा देख कुछ लोग तो हाथ पर हाथ

रखकर , निराश होकर, बैठ रहे और यह समझ लिया कि अब कविता-देवी का भोलापन सब दिन के लिये गया। अब इस युग में मनुष्य-जाति की अन्तर्वृत्ति बुद्धि से इतनी जकड़ उठी है कि कविता का पुनरुद्धार असम्भव है। इन्ही नैराश्य-वादियों में अनातोले फ्रांस है। वर्तमान अंग्रेजी साहित्य-क्षेत्र में उनके नैराश्य में योग देने वाले हैं मि० हाउसमन (Hausman) और एलियट (I. S. Eliot)। ये लोग केवल समय-समय पर अपनी कुढ़न और बौखलाहट भर प्रकट कर देते हैं।

पर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो एकबारगी निराश नहीं हैं। वे बुद्धि के पीछे डंडा लेकर खड़े हो गये हैं। वे भावना के खोये हुए भोलेपन को लौटा लाने की कुछ आशा रखते हैं। वे समझते हैं कि बुद्धि द्वारा फैलाये हुए जाल को छिन्न-भिन्न करके वे भावना के स्वतन्त्र विचरण के लिये फिर मैदान निकाल लेंगे। इनमें से कुछ लोग तो बड़ी मिहनत से तरह-तरह के प्राचीन चित्र और जंगली जातियों की चित्रकारियाँ इकट्ठी कर रहे हैं कि शायद कला का रहस्य कुछ मिल जाय। इन चित्रों के रंग और रेखाएँ भद्दी भी होती हैं तो विचित्र-विचित्र सिद्धान्तों की उद्भावना करके समझाया जाता है कि वे इस सिद्धान्त पर हैं, उस सिद्धान्त पर हैं। बुद्धिग्रस्त होने के कारण हम उनके सौन्दर्य की अनुभूति तक नहीं पहुँच पाते हैं। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध लेखक और नाटककार बरनर्ड शा (Bernard Shaw) भी सुधार की आशा रखने वाले बुद्धि-विरोधियों में हैं। उनका कहना है कि बुद्धि उत्पादिका या क्रियात्मिका नहीं, केवल निश्चयात्मिका है। उससे हमारा उद्धार नहीं हो सकता। हमें क्रियात्मिका-वृत्ति का सहारा लेना चाहिए, नहीं तो हम गये, सब दिन के लिये।

काव्य के क्षेत्र से बुद्धि को एकबारगी निकाल बाहर करने पर सबसे मुस्तैद दिखायी पड़ते हैं कमिंग्ज़ साहब (E. E. Cummings) जो अमेरिका के एक कवि हैं। उन्होंने बुद्धि का पूरा विरोध प्रदर्शित करने के लिये अपनी एक पुस्तक का नाम रखा है 'पाँच होता है'—अर्थात् दो और दो चार नहीं, पाँच होता है। इस सम्बन्ध में एक ही मनोरंजक निबन्ध 'कविता का खोया हुआ भोलापन' (The Lost Innocence of Poetry) कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के साहित्य-विभाग के अध्यापकों के लिखे निबन्धों के सन् १९२९ के संग्रह में है।

आजकल कहीं-कहीं समीक्षाओं के भीतर जो यह लिखा देखने को मिलता है कि 'यह तो बुद्धिवाद है, यह तो बुद्धित्व है' वह किस दशा से उड़कर आया हुआ वाक्य है, इसका कुछ पता उपर्युक्त विवरण से लग सकता है। पश्चिम में काव्य की भावना में बुद्धि क्यों इतनी अधिक दिखायी दे रही है, उसका कारण प्रत्यक्ष है।

उसका कारण है काव्य के सम्बन्ध में यह संकुचित और बालोचित धारणा कि उसकी अनुभूति 'विस्मय' और 'कुतूहल' के रूप में होती है। 'विस्मय' और 'कुतूहल' बालकों और जंगली जातियों का लक्षण अवश्य है। पर बहुत निम्न कोटि की काव्यानुभूति 'कुतूहल' और 'विस्मय' के रूप में होती है, यह मैं अच्छी तरह दिखा चुका हूँ।

अब वर्तमान यूरोपीय काव्य-क्षेत्र की दो-चार और प्रवृत्तियों का उल्लेख करके मैं अपने भाषण को समाप्त करना चाहता हूँ।

इधर हाल में इंग्लैण्ड के काव्य-क्षेत्र में गत महायुद्ध के दो-चार वर्ष पहले से 'प्रकृति की ओर फिर लौटने' के लक्षण कवियों ने दिखाये। रूपर्ट ब्रूक जिनका कि उल्लेख पीछे हो चुका है, इसी पक्ष के अनुयायी थे। वे बड़ी ही सच्ची भावना के कवि थे। प्रकृति के चिर परिचित सादे और सामान्य माधुर्य ने उनके मन में घर कर लिया था। रूपों की चमक-दमक, तड़क-भड़क, भव्यता, विशालता की ओर जिस प्रकार उनका मन नहीं लगता था, उसी प्रकार वचन-वक्रता, भाषा की उछल-कूद, कल्पना की उड़ान की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। हरेल्ड मुनरो आदि कई एक इस पक्ष के अनुयायी कवि अभी वर्तमान हैं। जीवन की सामान्य और घरेलू वस्तुओं को ये लोग बड़े प्यार की दृष्टि से देखते हैं।

एक दूसरे सिद्धान्त के प्रवर्तक फ्लिट हैं जिनकी 'तारक-जाल में' नाम की पुस्तक सन् १९०९ में प्रकाशित हुई थी। उनका सिद्धान्त है कि कविता में जो बात कही जाय वह सब इस रूप में हो कि उसकी मूर्त्त भावना हो सके। इसीलिए इस सिद्धान्त को लोग 'मूर्त्तविधान-वाद' कहने लगे। इसके अनुयायी काव्य में भाववाचक शब्द रखने के विरोधी हैं। विचारात्मक तथा लम्बी कविताएँ भी ये लोग अच्छी नहीं समझते।

पहले एक प्रकार के 'रीतिवाद' का उल्लेख हो चुका है जो फ्रांस से 'संवेदना-वाद' के नाम से चला है। उसके अनुयायी कविता को संगीत के और निकट लाना चाहते हैं। ये लोग शब्दों के प्रयोग में उनके अर्थों पर ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं समझते जितना उनकी नाद-शक्ति पर। जैसे, यदि मधुमक्खियों के धावे का वर्णन होगा तो 'भिन्न-भिन्न' ऐसी ध्वनिवाले, हवा के बहने और पत्तों के बीच घुसने का वर्णन होगा तो 'सर-सर', 'मर्मर' ऐसी ध्वनि-वाले शब्द इकट्ठे किये जायँगे। तुलसीदास जी की चौपाई का यह चरण इसका उदाहरण होगा—

कंकन, किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।

इसमें 'झनकार' की संवेदना का अनुभव सुनने मात्र से हो जाता है। वीर-रस की कविताओं में पाये जाने वाले 'चटाक-पटाक', 'कड़क-धड़क' आदि शब्दों तथा अमृतध्वनि छन्द से तो हिन्दी पाठक भी पूरे परिचित होंगे। सूदन कवि की ये पंक्तियाँ ही देखिए—

धड्धद्धरं धड्धद्धरं भड्भब्भरं भड्भब्भरं।
तड़तत्तरं तड़तत्तरं, कड़कक्करं कड़कक्कर॥

'संवेदनावाद' और 'मूर्त्त-विधान-वाद' दोनों को मिलाकर सबसे विलक्षण तमाशा पूर्वोक्त कमिंग्ज साहब ने खड़ा किया है। उन्होंने पदभंग, पदलोप, वाक्यलोप तथा अक्षर-विन्यास, चरण-विन्यास इत्यादि के न जाने कितने नये-नये करतब दिखाये हैं, जैसे—

सि-पाही स् (ी) टी-देता है।

उनकी रचना का ढंग दिखाने के लिये उनकी एक कविता, थोड़े-से आवश्यक हेरफेर के साथ, नीचे देता हूँ। यद्यपि इसकी विचित्रताएँ बहुत कुछ अंग्रेजी भाषा और उसके छन्दों की मात्रा आदि से सम्बन्ध रखती हैं और हिन्दी में नहीं दिखायी जा सकतीं, फिर भी कुछ अंदाज़ा रूप-रंग का हो जायगा। कविता यह है—

सूर्यास्त

से-दंश
स्वर्ण 'गुन्' जाल
शिखर पर
रजत
पाठ करता है
बड़े-बड़े घंटे बजते हैं गेरू से
मोटे निठल्ले नगाड़े
और एक उत्तुंग
पवन
खींचता है
सागर
को
स्वप्न
से

यह समुद्र के किनारे सूर्यास्त का वर्णन है जिसका विषय यह है। समुद्र की खारी हवा काटती-सी है। डूबते सूर्य की किरणें ऊँची उठी तरंग की श्वेत फेनिल चोटी पर पड़ कर पीली मधुमक्खियों के फैले हुए झुंड-सी लगती हैं। वह ऊपर उठी लहर देवमंदिर के मण्डप-सी जान पड़ती है, जिसके भीतर पाठ होता है, बड़े-बड़े घण्टे बजते है, गेरू से पुते दरवाजे होते हैं, नगाड़े बजते हैं, बड़ी तोंद वाले मोटे निठल्ले पुजारी बैठे रहते हैं। हवा समुद्र के जल को वैसे ही खींचती जान पड़ती है जैसे मछुवा जाल खींचता हो। सूर्यास्त हो जाता है। धुँधलापन, फिर अंधकार हो जाता है, लोग सोते हैं।

अब किस ढंग से इन सब बातों की सवेदना उत्पन्न करने के लिये पदविन्यास किया गया है, थोड़ा यह देखिये—'सं' से सनसनाहट अर्थात् हवा चलने की और 'दंश' से चमड़ा फटने, पानी की ठंडक और मधुमक्खी के डंक मारने की संवेदना उत्पन्न की गयी है। 'स्वर्ण' से सूर्य की किरणों और मधु-मक्खियों के पीछे पीले रंग का आभास दिया गया है। 'गुन्' से गुनगुनाहट और गुँजार का सकेत किया गया है, जो 'दंश' के साथ मिल कर मधुमक्खियों की भावना उत्पन्न करता है। 'जाल' झुँड का द्योतक है। 'पाठ', 'घण्टे' और 'नगाड़े' को मिला कर, मंदिरों में होने वाले शब्द तथा समुद्र के गर्जन और छीटों के कलकल का आभास दिया गया है। लटके हुए 'घण्टे' की मूर्त्त भावना मे लहरों के नीचे-ऊपर झूलने का भी संकेत है। 'गेरू' में संध्या की ललाई झलकाई गयी है। 'नगाड़े' में निकली हुई तोंद का भी संकेत है। रचना के प्रथम खंड में 'सूर्य' और 'समुद्र' शब्द नहीं रखे गये हैं। 'स्वर्ण' में तपे सोने के ताप और दमक की भावना रख कर सूर्य का, और 'रजत' में शीतलता और स्वच्छता की भावना रख कर जलराशि या समुद्र का संकेत फिर कर दिया गया है (बड़ी कृपा!)। इसमें 'स' के अनुप्रास से भी सहायता ली गयी है। यह अनुप्रास पहले खंड में 'स' अक्षर से आरंम्भ होने वाले 'सूर्य' और 'समुद्र'—इन दो शब्दों की ओर भी इशारा करता है।

कमिंग्ज साहब की समझ में यह विषय को ठीक वैसे ही सामने रखना है जैसे संवेदना उत्पन्न होती है। इसमें ऐसे शब्द नहीं हैं जो अर्थ-सम्बन्ध मिलाने के लिये, या व्याकरण के अनुसार वाक्य-विन्यास के लिए लाये जाते हैं, पर संवेदना उत्पन्न करने में काम नहीं देते (जैसे–'और' 'किन्तु', फिर इत्यादि)। उनके अनुसार यह खालिस का अनुरोध पूरा करने वाले फालतू शब्द निकाल दिये गये हैं।

थोड़ा सोचिये कि कमिंग्ज के इस विचित्र विधान के मूल में क्या है? काव्य-दृष्टि की परिमिति और प्रतिभा के अनवकाश के बीच नवीनता के लिये नैराश्य-पूर्ण आकुलता। 'सूर्योदय', 'सूर्यास्त' आदि बहुत पुराने विषय हैं जिनपर न

जाने कितने कवि अच्छी-से-अच्छी कविताएँ कर गये हैं। अब इन्ही को लेकर जो विलक्षणता और नवीनता दिखाना चाहेगा वह मार्मिक दृष्टि के अभाव मे सिवा इसके कि नये-नये वादों का अंध अनुसरण करे, शब्दों की कलाबाजी दिखाये, पहेली खड़ी करे, और करेगा क्या ?

काव्य और समालोचना के विवेचन में, मैं समझता हूँ, मैंने बहुत अधिक समय ले लिया—इतना अधिक कि अब साहित्य के और अंगों के सम्बन्ध मे केवल दो-दो बातें ही कही जा सकती हैं।

नाटक

साहित्य का एक बड़ा आवश्यक अंग 'दृश्य काव्य' है जिसके अनेक भेद हमारे यहाँ किये गये हैं। रचना की प्रक्रिया का भी बड़ा प्रकाण्ड, कौशलपूर्ण और जटिल निरूपण है। हमारे साहित्य में रूपक या नाटक भी काव्य ही हैं, अतः रस ही पर दृष्टि उनमें भी रखी गयी है। पाश्चात्य-नाटकों में अन्तःप्रकृति के वैचित्र्यप्रदर्शन पर विशेश दृष्टि रखी जाती है। हिन्दी मे नाटकों का जिस रूप में विकास हुआ, उसमें दोनों दृष्टियों का मेल है। यह बात बहुत अच्छी हुई है। भारतेन्दु-काल में जिन नाटकों की रचना हुई उनमें अन्तः प्रकृति के वैचित्र्य का विधान नहीं के बराबर है। पर इधर जो नाटक लिखे जा रहे हैं, उनमें यह विधान भी आ रहा है।

पाश्चात्य-नाटकों की प्रवृत्ति इधर एकदम 'वास्तविकता' की ओर होरही है। नाटक से काव्यत्व और भावात्मकता दूर करने का प्रयास हो रहा है। पुराने साम्यवादी होने के कारण बर्नार्ड शा ने मनुष्य-समाज की व्यवस्था सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर वर्तमान परिस्थितियों का बहुत सटीक प्रत्यक्षीकरण किया है। एक अंकवाले नाटकों का चलन भी वहाँ हो रहा है। हमारी हिन्दी में भी इस प्रकार के नाटकों के ऊपरी ढाँचे लेकर दो-एक सज्जन 'नवीनता के आन्दोलन' में अपना योग प्रदर्शित कर रहे हैं।

मेरा नम्र निवेदन यह है कि पश्चिम में चाहे जो हो रहा हो, हमें अपने दृश्य-साहित्य को एकदम मँगनी की वस्तु बनाने की आवश्यकता नहीं। जिस देश में दृश्य-काव्य का आविर्भाव अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ हो उसके भीतर उसका स्वतन्त्र रूप में नूतन विकास न हो सके, यह खेद की बात होगी। यह देखकर मुझे अत्यन्त आनन्द होता है कि 'प्रसाद' जी के नाटकों में इस प्रकार के विकास के पूरे लक्षण मिलते हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में सबसे बड़ी विशेपता है प्राचीन काल के रीति-व्यवहार, शिष्टाचार, शासन-व्यवस्था आदि का ठीक इतिहास-सम्मत चित्रण। वस्तु-विन्यास और शील-निरूपण का कौशल भी

उत्कृष्ट कोटि का है। उनके रचे 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' आदि नाटकों को लेकर आज हिन्दी पूरा गर्व कर सकती है। मेरे देखने में अच्छे सामाजिक नाटकों का अभाव अभी बना है। इसके लिए 'प्रसाद' जी से न कहूँगा। जिस ऐतिहासिक क्षेत्र को उन्होंने लिया है उसी के भीतर उन्हें अपनी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास करना चाहिए। 'वरमाला' के लेखक श्री गोविन्दवल्लभ पन्त भी अच्छे नाटककार हैं। स्वर्गीय बदरीनाथ भट्ट की 'दुर्गावती' में अभिनय की विनोदपूर्ण सामग्री है।

इधर हाल में पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने 'ज्योत्स्ना' लिखकर 'कल्पना-जगत्' को प्रत्यक्ष रूप में लाने का अच्छा आयोजन किया है। पर ऐसे नाटक शुद्ध नाटक की कोटि में न आकर, काव्य की कोटि में ही अपना स्थान रखते है। शैली ने भी पृथिवी, पवन इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों को लेकर इस ढग से दो-एक नाटक लिखे थे, जिनके अभिनय का ख्याल किसी ने कभी नहीं किया।

हर्ष की बात है कि पारसी ढंग की थिएटर-कम्पनियों ने भी अब हिन्दी में लिखे नाटकों का अभिनय आरम्भ कर दिया है। इसके लिये सबसे पहले साधुवाद के पात्र हैं प० नारायणप्रसाद बेताब। उनके अतिरिक्त आग़ा हशर साहब, मोहम्मद इसहाक़ साहब (शबाब), बाबू आनन्दप्रसाद कपूर, बा० शिवराम दास गुप्त तथा व्याकुल जी ने भी थिएटरों में खेले जाने के लिये कई नाटक लिखे हैं।

उपन्यास

हमारे यहाँ के 'कादम्बरी', 'दशकुमार-चरित', आदि पुराने कथात्मक गद्यप्रबन्ध गद्य-काव्य के रूप में ही मिलते हैं। उनकी रचना अत्यन्त अलकृत और रसात्मक है। हमारे आधुनिक हिन्दी-साहित्य में 'उपन्यास' का नाम भी बंगला से आया और उपन्यास का अंग्रेजी ढाँचा भी। कथात्मक गद्य-प्रबन्ध के लिये वास्तव में यह ढाँचा बहुत ही उत्कृष्ट है। उपन्यास के दो तरह के ढाँचे मिलते हैं—पुराने और नये। पुराने ढाँचे में काव्यत्व की मात्रा यथेष्ट रहती थी। परिच्छेदों के आरम्भ में अच्छे अलकृत दृश्य-वर्णन होते थे और पात्रों की बात-चीत भी कहीं-कहीं रसात्मक होती थी। बगला में जिस समय उपन्यास आये, उस समय यूरोप में पुराना ढाँचा ही प्रचलित था, जिसे बहुत ही सुन्दर ढंग से बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त आदि ने भारतीय-साहित्य में लिया—ऐसे सुन्दर ढंग से कि यह जान ही न पड़ा कि वह कही बाहर से आया है। भारतेन्दु-काल से लेकर प्रेमचन्द जी के पहले तक हिन्दी में भी उपन्यास इसी ढाचे पर लिखे जाते रहे।

पीछे यूरोप में 'नाटक' और 'उपन्यास' दोनों से काव्यत्व का अवयव बहुत कुछ निकालने की प्रवृत्ति हुई और दृश्य-वर्णन, भाव-व्यजना, आलकारिक चमत्कार आदि हटाये जाने लगे। इस नये ढाँचे के उपन्यास, जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, प्रेमचन्द जी के समय से हिन्दी में आने लगे। वर्तमान सामाजिक जीवन के विविध पक्षों और अन्तर्वृत्तियों की बड़ी पैनी परख प्रेमचन्द जी को मिली है। उन्होंने हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र को जगमगा दिया। वे हमारे गर्व और गौरव के कारण हैं। सामाजिक उपन्यास हिन्दी में अच्छे लिखे जा रहे हैं। पर मेरा एक निवेदन है। इधर वहुत से उपन्यासों में देश की सामान्य जीवन-पद्धति को छोड़ बिल्कुल यूरोपीय सभ्यता के ढाँचे में ढले हुए छोटे-से समुदाय के जीवन का चित्रण बहुत अधिक पाया जाता है। मिस्टर, मिसेज़, मिस, ड्राइंगरूम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा इत्यादि ही उपन्यासों में अधिक दिखायी पड़ने लगे हैं। मैं मानना हूँ कि आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष है, पर सामान्य पक्ष नही। देश के असली, सामाजिक और गार्हस्थ्य-जीवन के जैसे चित्र पुराने उपन्यासों में रहते थे वैसे अब कम होते जा रहे हैं। यह मैं अच्छा नही समझता।

उपन्यास के पुराने ढाँचे के सम्बन्ध में मैं एक बात कहना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमें हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबन्धों के स्वरूप का भी आभास रहता था।

मनुष्य के दोषों और पापों को उदारदृष्टि से देखना, सत्यपथ से भटके हुए लोगों के प्रति घृणा का भाव न उत्पन्न करके दया का भाव उत्पन्न करना और जीवन की कठोर वास्तविक परिस्थितियों के बीच भी उदात्त और कोमल भावों का स्फुरण दिखाना, आधुनिक उपन्यासों का आदर्श माना जाता है।

उपन्यासकारों में इधर प्रेमचन्द जी के अतिरिक्त पं० विश्वम्भरनाथ कौशिक, श्री सुदर्शन, बा० बृन्दावनलाल वर्मा, बा० प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार आदि महानुभाव वहुत अच्छा कार्य कर रहे हैं।

मेरे देखने में उत्कृष्ट कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव ज्यों-का-त्यों बना है। यदि जयशंकर प्रसाद जी इस ओर भी ध्यान दें तो इस अभाव की पूर्ति बहुत अच्छी तरह हो सकती है। मैं तो अपनी ओर से यही कहूँगा कि सामाजिक उपन्यास का क्षेत्र तो वे प्रेमचन्द जी ऐसे लोगों के लिये छोड़ दें जो ऐतिहासिक नाटकों की रचना को 'गड़े हुए मुर्दे उखाड़ना' कहते हैं और स्वयं इतिहास के प्राचीन क्षेत्र में स्वच्छन्द क्रीड़ा करने वाली अपनी प्रतिभा को ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर प्रवृत्त करें।

इधर यूरोप में छोटी कहानियों का बहुत अधिक प्रचार हुआ। ये होती भी

हैं अत्यन्त मार्मिक। यह कम हर्ष की बात नहीं है कि हमारी हिन्दी में भी इसका अच्छा विकास हुआ। मेरे देखने में कहानियों के तीन रूप हिन्दी में दिखायी पड़ रहे हैं—(१) यूरोपीय आदर्श पर सादे ढंग से केवल कुछ घटनाएँ और बातचीत सामने रखने वाला, जिसका नमूना है—स्वर्गीय गुलेरी जी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था'। (२) कुछ अलङ्कृत दृश्यचित्रयुक्त—यह रूप हृदयेश जी की कहानियों में मिलता है। (३) कल्पनात्मक और भावात्मक.—यह रूप 'प्रसाद' जी और रायकृष्णदास जी की कहानियों में मिलेगा।

प्रेमचन्द्र जी ने भी बड़ी सुन्दर छोटी कहानियाँ लिखी हैं। कहानियों के क्षेत्र में श्री पं० ज्वालादत्त शर्मा, पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह, श्री चतुरसेन शास्त्री, श्रीयुत गोविन्दवल्लभ पंत, बा० शिवपूजन सहाय, पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्रीबालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार विशेष उल्लेख-योग्य हैं।

हास्यरस की कहानियाँ लिखने वाले पहले तो श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव ही थे, अब बा० अन्नपूर्णानन्द जी शिष्ट हास का बहुत अच्छा नमूना सामने ला रहे हैं।

हास्यरस के सम्बन्ध में इस बात का भी निरूपण हुआ है कि हास्य के आलम्बन से विनोद तो होता ही है, पर उसके प्रति कोई और भाव भी—जैसे, घृणा, विरक्ति, उपेक्षा, दया—रहता है। अब तक यही विवेचित हुआ था कि उत्कृष्ट हास्यरस में आलम्बन के प्रति प्रेमभाव होता है, अर्थात् वह प्रिय लगता है। पर अब यह कहा जाने लगा है कि उसके प्रति दया का भाव होना चाहिए और वह दया ऐसी हो जिसके पात्र, हम अपने को भी समझें—अर्थात् जिस स्थिति में आलम्बन को देख हम हँसे, उसमें हम भी हों।

गद्य-काव्य

जब से श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताञ्जलि' की बहुत ख्याति हुई तब से हिन्दी में नये ढंग के गद्यकाव्य बहुत दिखायी पड़ने लगे। श्रीयुत रायकृष्णदास जी की 'साधना', वियोगी हरि का 'अन्तर्नाद' आदि कई प्रसिद्ध पुस्तकों के अतिरिक्त आजकल मासिक पत्रिकाओं में भी समय-समय पर अनेक रूपरंग के भावात्मक गद्य प्रबन्ध निकला करते हैं। साहित्य में इस प्रकार के गद्य-प्रबन्धों का भी एक विशिष्ट स्थान है। पर इनकी भरमार मैं अच्छा नहीं समझता। यदि इसी प्रकार के गद्य की ओर ही लोगों का ध्यान रहेगा, तो प्रकृत गद्य का विकास रुक जायेगा और भाषा की शक्ति की वृद्धि में बहुत बाधा पड़ेगी। वर्तमान उर्दू-साहित्य के क्षेत्र में भी इस प्रकार के भावात्मक गद्य की प्रवृत्ति देख उर्दू-साहित्य के इतिहास-

लेखक श्रीयुत रामबाबू सक्सेना बहुत घबराये है। निबन्ध—ऐसे प्रकृत निबन्ध जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में अभी कम देखने मे आ रहे है। आशा है, इस अंग की पूर्ति की ओर भी हमारे सहेयोगी साहित्य-सेवियों का ध्यान जायगा।

भाषा

साहित्य के नाना अंगों का विशदरूप में निर्माण देख जितना आनन्द होता है उतना ही भाषा की ओर असावधानी देख खेद होता है। मासिक-पत्रिकाओ में बहुत से लेखों को उठा कर देखिये तो उनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भरी मिलेंगी। हमारे सुयोग्य सम्पादकगण यदि इस ओर ध्यान दें तो मुझे विश्वास है कि यह बुराई दूर हो सकती है। खैर, यह बुराई तो दूर हो जायेगी पर हमारी भाषा का स्वरूप ही विकृत करने वाली एक प्रवृत्ति बहुत भयंकर रूप में बढ़ रही है—वह है अंग्रेज़ी के चलते वाक्यों और मुहावरों को शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद करके रखना। 'दृष्टिकोण', 'प्रकाश डालना' आदि तक तो खैरियत थी, पर जब उपन्यासों में भी इस तरह के वाक्य भरे जाने लगेंगे, जैसे—

(१) उसके हृदय में अवश्य ही **एक ललित कोना होगा** जहाँ रतन ने स्थान पा लिया होगा।

(२) वह उन लोगों में से न था **जो घास को थोड़ी देर भी अपने पैरों तले उगने देते हों**।

तब हमारी भाषा अपना कहाँ ठिकाना ढूंढेगी ?

आजकल कभी-कभी हिन्दी-हिन्दुस्तानी का झगड़ा भी उठा करता है। हमारे साहित्य की भाषा का स्वरूप क्या होना चाहिए, यह पचासों वर्ष पहले स्थिर हो चुका। उसमें फेरफार करने की कोई आवश्यकता नही। अपने साहित्य की भाषा का स्वरूप हम वही रख सकते हैं जो बराबर से चला आ रहा है तथा जो उत्तरी भारत के और भूखंडों के साहित्य की भाषा के रूप के मेल में होगा। हिन्दी-हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में प्रो० धीरेन्द्रवर्मा ने एकेडमी की 'तिमाही पत्रिका' में जो कुछ लिखा था, उसे मैं खासा स्पष्टवाद समझता हूँ।

अब मैं आप महानुभावों का बहुत अधिक समय ले चुका। इस स्थान पर एक प्रकार से आप लोगों के धैर्य की पूरी परीक्षा हो गयी। मेरी निस्सार और रूखी-सूखी बातों को इतनी देर बैठ कर सुनना, अनुग्रह के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? आज अपने वर्तमान हिन्दी साहित्य के प्रशस्त प्रसार को देख मुझे उन दिनों का स्मरण हो रहा है जब थोड़े से लोग किसी भव्य भविष्य की

आशा बाँधे हिन्दी की सेवा कर रहे थे। आज अपने को इतने बड़े और प्रभावशाली विद्वम्मण्डल के सामने खड़ा पाकर मुझे तो ऐसा भासित हो रहा है कि वह भव्य भविष्य यही था। मेरी पुरानी कामनाएँ तो आज पूर्ण हो गयीं, पर जीवनक्षेत्र में कामनाओं का अन्त नहीं। एक पूरी हुई, फिर दूसरी, जिन आंखों से मैंने इतना देखा उन्ही से अब अपने हिन्दी साहित्य को विश्व की नित्य और अखण्ड विभूति से शक्ति, सौन्दर्य और मंगल का प्रभूत सचय करके एक स्वतन्त्र 'नव-निधि' के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहता हूँ। अपनी इस कामना को आप महानुभावों के सम्मुख प्रकट करके अब मैं क्षमा माँगता और धन्यवाद देता हुआ अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

⊙

अभिभाषण-२

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

⊙ ⊙

बंधुवर्ग,

अनेक वयोवृद्ध साहित्य महारथियों के रहते हुए हिन्दी प्रेमियों ने इस परिषद् के सभापति के रूप में जो मुझे चुनकर भेजा है, इसका उद्देश्य कदाचित् नयी पीढ़ी को प्रोत्साहित करना तथा उसके दृष्टिकोण को समझना मात्र है। कार्य-भार उठाने के लिये बड़े-बूढ़े नवयुवकों को ऐसी ही युक्तियों से तैयार किया करते हैं। जो हो, गुरुजनों की आज्ञा शिरोधार्य है। मैं इस अवसर-प्रदान तथा आदरभाव के लिये साहित्यसेवियों का आभारी हूँ।

हमारी अत्यन्त प्राचीन भाषा का नया कलेवर—मेरा तात्पर्य यहाँ खड़ी-बोली हिन्दी से है—तथा उसका साहित्य इस समय कुछ असाधारण परिस्थितियों में होकर गुजर रहा है। इन नवीन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप अनेक कई समस्याएँ, नयी उलझनें, नये भ्रम हमारी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दियों तथा अहिन्दियों दोनों ही के बीच में फैल रहे हैं। अपनी भाषा और अपने साहित्य के भावी हित की दृष्टि से इनमें से कुछ प्रधान समस्याओं की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। बात जरा बचकानी-सी मालूम होती है किन्तु मेरी समझ में हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में बहुत-सी वर्तमान समस्याओं का प्रधान कारण हिन्दी की परिभाषा, नाम तथा स्थान के सम्बन्ध में भ्रम अथवा दृष्टिकोण का भेद है। अतः सबसे पहले इनके विषय में यदि हम और आप सुथरे ढंग से सोच सकें तो उत्तम होगा।

आप कहेंगे कि हिन्दी की परिभाषा के सम्बन्ध में मतभेद ही क्या हो सकता है, किन्तु वास्तव में मतभेद नहीं हो तो समझ का फेर कहीं पर अवश्य है। हिन्दीसेवियों का एक वर्ग हिन्दी-भाषा शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करता है दूसरा वर्ग उसका प्रयोग कदाचित् भिन्न अर्थ में करता है। देश में हिन्दी भाषा के रूप के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं। क्योंकि हम लोग हिन्दी-साहित्य-परिषद् के

रंगमंच पर बैठे विचार विनिमय कर रहे हैं; अतः हमारे लिये हिन्दी-भाषा का प्रधानतया वह रूप महत्त्वपूर्ण है जिसमें हमारा साहित्य लिखा गया था तथा आज भी लिखा जा रहा है। मेरा तात्पर्य चन्द, कबीर, तुलसी, सूर, नानक, विद्यापति, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, भारतेन्दु, रत्नाकर, प्रेमचन्द, प्रसाद की भाषा से है। इनकी ही रचनाओं को तो आप हिन्दी साहित्य की श्रेणी में रखते हैं तथा इन रचनाओं की भाषा को ही तो आप साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी भाषा नाम देते हैं। इस दृष्टिकोण से मैं हिन्दी भाषा की एक परिभाषा आपके सामने रख रहा हूँ। हिन्दी प्रेमियों से मेरा अनुरोध है कि वे इस परिभाषा के प्रत्येक अंश पर ध्यानपूर्वक विचार करें और यदि इसे ठीक पावें तो अपनावें, यदि अपूर्ण अथवा किसी अंश में त्रुटिपूर्ण पावें तो विचार-विनिमय के उपरान्त उसे ठीक करें। हिन्दी के क्षेत्र में कार्य करने वालों के पथप्रदर्शन के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम और आप स्पष्ट रूप में समझे रहें कि आखिर किस हिन्दी के लिये हम और आप अपना तन, मन, धन लगा रहे हैं। हिन्दी-भाषा की यह परिभाषा निम्नलिखित है—

"व्यापक अर्थ में हिन्दी उस भाषा का नाम है जो अनेक बोलियों के रूप में आर्यावर्त के मध्यदेश अर्थात् वर्तमान हिन्दीप्रांत (संयुक्तप्रान्त), महाकोसल, राजस्थान, मध्यभारत, बिहार, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब प्रदेश की मूलजनता की मातृभाषा है। इन प्रदेशों के प्रवासी भाई भारत के अन्य प्रान्तों तथा विदेशों में भी आपस में अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं। हिन्दी भाषा का आधुनिक प्रचलित साहित्यिक रूप खड़ीबोली हिन्दी है जो मध्यदेश की पढ़ी लिखी मूलजनता की शिक्षा, पत्र-व्यवहार तथा पठन-पाठन आदि की भाषा है और साधारणतया देवनागरी-लिपि में लिखी और छापी जाती है। भारतवर्ष की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के समान खड़ीबोली हिन्दी तथा हिन्दी की लगभग समस्त बोलियों के व्याकरण-शब्दसमूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श आदि का प्रधान आधार भारत की प्राचीन संस्कृति है जो संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि के रूप में सुरक्षित है। ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, मारवाड़ी, गढ़वाली, उर्दू आदि हिन्दी के ही प्रादेशिक अथवा वर्गीय रूप हैं।"

इस तरह हम यह पाते हैं कि यद्यपि हिन्दी की प्रादेशिक तथा वर्गीय बोलियों में आपस में कुछ विभिन्नता है किन्तु आधुनिक समय में लगभग इन समस्त बोलियों के बोलने वालों ने हिन्दी के खड़ीबोली रूप को साहित्यिक माध्यम के रूप में चुन लिया है और इसी साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के द्वारा आज हमारे कवि, लेखक, पत्रकार, व्याख्याता आदि अपने-अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। कभी-कभी मुझे यह उलाहना सुनने को मिलता है कि हिन्दी-भाषा का रूप इतना अस्थिर है कि

हिन्दी-भाषा किसे कहा जाय, यह समझ में नहीं आता। मेरा उत्तर है कि यह एक भ्रम मात्र है। साहित्यिक दृष्टि से यदि आप आधुनिक हिन्दी के रूप को समझना चाहते हैं तो कामायनी, साकेत, प्रियप्रवास, रंगभूमि, गढ़कुंडार आदि किसी भी आधुनिक साहित्यिक कृति को उठा लें। व्यक्तिगत अभिरुचि तथा शैली के कारण छोटी-छोटी विशेषताओं का रहना तो स्वाभाविक है किन्तु यों आप इन सब में समान रूप से एक ऐसी विकसित, सुसंस्कृत तथा टकसाली भाषा पावेंगे कि जिसके व्याकरण, शब्दसमूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श में आपको कोई प्रधान भेद नहीं मिलेगा। यह साहित्यिक हिन्दी प्राचीन भारत की संस्कृत, पाली प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाओं की उत्तराधिकारिणी है और कम-से-कम अभी तक तो भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में अपने ऐतिहासिक प्रतिनिधित्व को कायम रक्खे हुए है। सम्भव है कि आप में से कुछ लोग सोच रहे हों कि साहित्य-परिषद् में भाषा सम्बन्धी इस विस्तार की क्या आवश्यकता थी? साहित्य के लिये भाषा का माध्यम अनिवार्य है। अतः भाषा के रूप तथा आदर्शों के सम्बन्ध में भ्रम अथवा मतभेद अंत में साहित्य के विकास में घातक हो सकता है। इसीलिए सबसे पहले इस सम्भव भ्रम की ओर मुझे आपका ध्यान आकर्षित करना पड़ा।

हिन्दी के सम्बन्ध में दूसरी गड़बड़ी उसके नाम के विषय में कुछ दिनों से फैल रही है। कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि आखिर नाम में क्या रखा है। एक हद तक यह बात ठीक है, किन्तु आप अपने पुत्र का नाम रहीमखाँ रखें अथवा रामस्वरूप। इससे कुछ तो अन्तर हो ही जाता है। व्यक्तियों का प्रायः एक निश्चित नाम होता है। रहीमखाँ उर्फ रामस्वरूप का चलन आपने कम देखा-सुना होगा। इसके अतिरिक्त नामकरण संस्कार के उपरांत अथवा, आजकल की परिस्थिति के अनुकूल स्कूल में नाम लिखाने के बाद से, वही नाम आजीवन व्यक्ति के साथ चलता रहता है। व्यक्ति के जीवन में कई बार नाम बदलना अपवाद स्वरूप है। यह बात भाषाओं के नाम पर भी लागू होती है। अभी कुछ दिन पहले तक जब मध्यदेशीय साहित्य की भाषा प्रधानतया ब्रज तथा अवधी थी, उस समय हिन्दी के लिये "भाखा" या 'भाषा" शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता था। इसके साथ प्रदेश का नाम जोड़कर अक्सर ब्रजभाषा, अवधी-भाषा आदि रूपों का व्यवहार हमें मिलता है। गत सौ वर्ष से, जब से हिन्दी के खड़ीबोली रूप को हम मध्यदेशवासियों ने अपने साहित्य के लिये अपनाया तब से हमने अपनी भाषा के इस आधुनिक साहित्यिक रूप का नाम हिन्दी रखा। तब से अब तक इस नाम के साथ कितना इतिहास, कितना मोह, कितना आकर्षण बढ़ता गया इसे बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। भला हो या बुरा हो, अपना हो या

व्युत्पत्ति की दृष्टि से पराया हो, हमारी भाषा का यह नाम चल गया और चल रहा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का दिया आर्यभाषा नाम निःसन्देह अधिक वैज्ञानिक था तथा मध्यदेशीय संस्कृति के अधिक निकट था किन्तु वह नही चल सका और वह बात वहाँ ही समाप्त हो गयी। किन्तु इधर हमारी भाषा के नाम के सम्बन्ध में अनेक दिशाओं से प्रयास होते दिखलायी पड़ रहे हैं। मेरा संकेत यहाँ तीन नये नामों की ओर है—अर्थात् हिन्दी-हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी तथा राष्ट्रभाषा। यदि ये नाम इस श्रेणी के होते जैसे हम अपने पुत्र रामप्रसाद को प्रेमवश मुनुआ, पुतुआ और बेटा नामों से भी पुकार लेते हैं तब तो मुझे कोई आपत्ति नही थी। किन्तु मुनुआ, पुतुआ तथा बेटा रामप्रसाद के स्थान पर चलवाना मेरी समझ में अनुचित है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि नाम परिवर्तन सम्बन्धी यह उद्योग हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रेम के कारण नहीं है। इनमें से कोई भी नाम किसी प्रसिद्ध हिन्दी साहित्य सेवी की ओर से नहीं आया है। इस विचार के सूत्रधार प्रायः देश के राजनीतिक हित-अनहित की चिन्ता रखने वाले महापुरुष हैं। हमारी भाषा के नाम के साथ यह खिलवाड़ करना अब उचित नही प्रतीत होता। हमारे राजनीतिज्ञ पडित यदि ये सोचते हों कि हिन्दी का नाम बदल कर वे उसे किसी दूसरे वर्ग के गले उतार सकेंगे तो, यह उनका भ्रम मात्र है। प्रत्येक हिन्दी का विद्यार्थी यह जानता है कि हिन्दी नाम प्रारम्भ में खड़ीबोली उर्दू भाषा के लिये प्रयुक्त होता था। हमने अपनी भाषा के लिये जब यह नाम अपनाया, तो दूसरे वर्ग ने हिन्दी छोड़कर हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू नाम रख लिया। यदि हम हिन्दी-हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू नाम से भी अपनी भाषा को पुकारने लगें तो दूसरा वर्ग हट कर कहीं और जा पहुँचेगा। 'राष्ट्रभाषा' जैसे ठेठ भारतीय नाम को तो दूसरे वर्ग से स्वीकृत करवाना असम्भव है। समस्या वास्तव में नाम की नहीं है, भाषा, शैली की है। यदि आप खड़ीबोली उर्दू-शैली को तथा तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक वातावरण को स्वीकृत करने को उद्यत हों तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि दूसरे वर्ग को हिन्दी नाम भी फिर से स्वीकृत करने में आपत्ति नहीं होगी। किन्तु क्या हमसे अपनी भाषा-शैली तथा साहित्यिक संस्कृति छुड़ायी जा सकती है? इसका उत्तर स्पष्ट है। सम्भव है कि कुछ व्यक्ति छोड़ दें किन्तु भारत जब तक भारत है तब तक देश नहीं छोड़ेगा। राजनीतिक सुविधाओं के कारण हमारी भाषा से सहानुभूति रखने वाले राजनीतिज्ञों से मेरा सादर अनुरोध है कि वे हमारी भाषा के सम्बन्ध में यह एक नयी गड़बड़ी उपस्थित न करें। यदि इससे कोई लाभ होता तब तो इस पर विचार भी किया जा सकता था किन्तु वास्तव मे हिन्दी को हन्दी-हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी अथवा राष्ट्रभाषा नामों से पुकारने से हिन्दी

उर्दू की समस्या हल नहीं होगी। इस समस्या को सुलझाने का एक ही उपाय था—या तो स्वर्गीय प्रसाद जी से स्वर्गीय इकबाल की भाषा में साहित्य रचना करवाना अथवा स्वर्गीय इकबाल से स्वर्गीय प्रसाद की भाषा में रचना करवाना। यदि इसे आप असम्भव समझते हों तो हिन्दी-उर्दू के बीच में एक नये नाम के गढ़ने से कोई फल नहीं। हिन्दुस्तानी अथवा राष्ट्रभाषा नाम के कारण हिन्दी की साहित्यिक शैली के सम्बन्ध में कुछ लेखकों के हृदय मे भ्रम फैलने लगा है, इसी कारण मुझे अपनी साहित्यिक भाषा के नाम के सम्बन्ध में आपका इतना समय नष्ट करने का साहस हुआ।

तीसरी समस्या, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, हिन्दी-भाषा और साहित्य के स्थान की समस्या है। जिस तरह प्रत्येक भाषा का एक घर होता है—बंगाली का घर बंगाल है, गुजराती का गुजरात, फारसी का ईरान, फ्रांसीसी का फ्रास—उसी प्रकार हिन्दी भाषा और साहित्य का भी कोई घर है या होना चाहिए, यह बात प्रायः भुला दी जाती है। इधर कुछ दिनों से हिन्दी के राष्ट्रभाषा अर्थात् अखिल भारतवर्षीय अन्तर्प्रान्तीय भाषा होने के पहलू पर इतना अधिक ज़ोर दिया गया है कि उसके घर की तरफ हमारा ध्यान ही नहीं जाता। वास्तव में हिन्दी-भाषा और साहित्य के दो पहलू हैं—एक प्रादेशिक तथा दूसरा अंतर्प्रान्तीय। हिन्दी भाषा का असली घर तो आर्यावर्त्त के मध्यदेश में गगा की घाटी में है जो आज विचित्र रूप से अनेक प्रान्तों तथा देशी राज्यो में विभक्त है। हमारी भाषा और साहित्य की रचना के प्रधान केन्द्र, संयुक्तप्रांत, महाकोसल, मध्यभारत, राजस्थान, बिहार, दिल्ली तथा पंजाब में है। यहाँ की पढ़ी-लिखी जनता की यह साहित्यिक भाषा है—राजभाषा तो अभी नहीं कह सकते। इन प्रदेशों के बाहर शेष भारत की जनता की साहित्यिक भाषाएँ भिन्न है, जैसे बंगाल में बंगला, गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी आदि। इन अन्य प्रदेशों की जनता तो हिन्दी को प्रधानतया अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय के साधन-स्वरूप ही देखती है। प्रत्येक की अपनी-अपनी साहित्यिक भाषा है किन्तु अन्तर्प्रान्तीय कार्यों के लिये कुछ लोगों के वास्ते उन्हे हिन्दी की भी आवश्यकता जान पड़ती है। हम हिन्दियों की साहित्यिक भाषा भी हिन्दी है और अन्तर्प्रान्तीय भाषा भी हिन्दी ही है, हिन्दी के बनने-बिगड़ने से एक बगाली, गुजराती या मराठी की भाषा या साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता; इसलिए हिन्दी के सम्बन्ध में विचार करते समय उसका एक तटस्थ व्यक्ति के समान दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। किन्तु हिन्दी भाषा या साहित्य के बनने-बिगड़ने पर हम हिन्दियों की पीढ़ियों का बनना-बिगड़ना निर्भर है। उदाहरणार्थ अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिये भारतीय, ईरानी,

जापानी आदि सभी लोग कामचलाऊ अंग्रेजी सीख लेते हैं और योग्यतानुसार सही-गलत प्रयोग करते रहते हैं किन्तु एक अंग्रेज़ का अपनी भाषा के हित-अनहित के सम्बन्ध में विशेष चिन्तित होना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में एक आदरणीय विद्वान् ने एक निजी पत्र में अपने विचार बहुत जोरदार शब्दों में प्रकट किये हैं। उनके ये सदा स्मरण रखने योग्य वचन निम्नलिखित हैं—"मैं कहता हूँ क्यों हिन्दी को हिन्दी नहीं कहा जाता, क्यों मातृभाषा नहीं कहा जाता, क्यों इस बात को स्वीकार करने से हम हिचकते हैं कि उसके द्वारा करोड़ों का सुख-दुःख अभिव्यक्त होता है; राष्ट्रभाषा अर्थात् तिजारत की भाषा, राजनीति की भाषा, कामचलाऊ भाषा, यही चीज़ प्रधान हो गयी और मातृभाषा, साहित्य भाषा, हमारे रुदन-हास्य की भाषा गौण। हमारे साहित्यक दारिद्रय का इससे बढ़कर अन्य प्रदर्शन क्या होगा ?

वास्तव में हिन्दी भाषा और साहित्य का उत्थान-पतन प्रधानतया हिन्दी भाषियों पर निर्भर है। हिन्दी-भाषा को जैसा रूप वे देंगे तथा उसके साहित्य को जितना ऊपर वे उठा सकेंगे, उसके आधार पर ही अन्य प्रान्तवासी राष्ट्रभाषा हिन्दी को सीख सकेंगे, वे उसके सम्बन्ध में अपनी धारणा बना सकेंगे। इस समय भ्रमवश एक भिन्न परिस्थिति होने जा रही है। हिन्दीभाषियों को अपनी भाषा आदि का रूप स्थिर करके राष्ट्रभाषा के हिमायतियों के सामने रखना चाहिए था। इस समय राष्ट्रभाषा-प्रचारक हिन्दी का रूप स्थिर करके हम हिन्दियों को भेंट करना चाहते हैं। इसका प्रधान कारण हमारा अपनी भाषा की ठीक सीमाओं को न समझना है। हिन्दी-भाषा और साहित्य अक्षयवट के समान है। मैं इसे अक्षयवट इसलिए कहता हूँ कि वास्तव में संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्वकालीन भाषाएँ तथा साहित्य हिन्दी-भाषा के ही पूर्वरूप है—हिन्दी इनकी ही आधुनिक प्रतिनिधि तथा उत्तराधिकारिणी है। इस अक्षयवट की जड़ें, तना तथा प्रधान शाखाएँ आर्यावर्त्त के मध्यदेश अथवा हिन्दी प्रदेश में स्थित हैं; किन्तु इस विशाल वटवृक्ष के स्निग्ध हरित पत्रों की छाया समस्त भारत को शीतलता प्रदान करती है। भारत के उपवन में इस अक्षयवट के चारों ओर बंगला, असमी, उड़िया, तमिल आदि के रूप में अनेक छोटे-बड़े नये-पुराने वृक्ष भी हैं। हम सबके हितैषी हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति का मूल प्रतिनिधि तो यह वटवृक्ष ही है। इसके सींचने के लिये और सुदृढ़ करने के लिये वास्तव में इसकी जड़ों में पानी देने तथा इसके तने की रक्षा करने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में, घर के मुखिया की तरह, इस सुदृढ़ वृक्ष की हरी-हरी पत्तियाँ उपवन के शेष वृक्षों की रक्षा सूर्य के आतप तथा प्रचण्ड वायु के कोप से आप ही करती रहेंगी। आज हम मूल और

शाखा में भेद नहीं कर पा रहे हैं। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पाया जाने वाला हिन्दी का राष्ट्रभाषा का स्वरूप तो अक्षयवट की शाखाओं और पत्तियों के समान है। यह शाखा-पत्र समूह कपड़े लपेटने या पानी डालने से पुष्ट तथा हरा नहीं होगा। उसको पुष्ट करने का एक ही उपाय है जड़ को सींचना और तने की रक्षा करना। मेरी समझ में हिन्दी भाषा और साहित्य के इन दो भिन्न क्षेत्रों को स्पष्ट रूप में समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी के घर हिन्दी को सुदृढ़ करना मुख्य कार्य है और हिन्दी हितैषियों की शक्ति का प्रधान अंश इसमें व्यय होना चाहिए—'नष्टे मूले नैव पत्रं न शाखा।' अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में हिन्दी का अन्य प्रान्तों में प्रचार भावी-भारत की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। यह क्षेत्र प्रधानतया राजनीतिज्ञों का है और इसका सम्बन्ध अन्य प्रान्तों के हित अनहित से भी है। अतः इस क्षेत्र मे इस वर्ग के लोगों को कार्य करने देना चाहिए। हिन्दी भाषियों को तथा साहित्यिकों को इस क्षेत्र मे काम करने वालों की सहायता करने के लिए सदा सहर्ष उद्यत रहना चाहिए किन्तु इस सम्बन्ध मे हिन्दी भाषियों तथा साहित्त्यिकों को अपनी शक्ति का अपव्यय नही करना चाहिए।

हिन्दी-भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ मूल समस्याओं की ओर मैंने आपका ध्यान आकर्षित किया है। यदि इन मूल भ्रमों का निवारण हो जावे तो हमारी अनेक कठिनाइयाँ सहसा स्वय लुप्त हो जावेंगी। समयाभाव के कारण मैं विषय का विवेचन विस्तार के साथ तो नहीं कर सका, किन्तु मैंने अपने दृष्टिकोण को भरसक स्पष्ट शब्दों में रखने का उद्योग किया है। हमारी भाषा के उचित विकास तथा नव-साहित्य-निर्माण में और भी अनेक छोटी-छोटी बाधाएँ उपस्थित हैं। इनका सम्बन्ध प्रधानतया हिन्दी-भाषियों से है। इनमें से भी कुछ के सम्बन्ध में मैं अपने विचार सक्षेप में आपके सामने विचारार्थ रखना चाहूँगा।

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में बाधक एक प्रधान समस्या हिन्दी-भाषी-प्रदेश की द्विभाषा समस्या है। इस सत्य से आँख नहीं मीचना चाहिए कि साहित्य तथा सस्कृति की दृष्टि से हिन्दी-प्रदेश में हिन्दी-उर्दू के रूप में दो भाषाओं और साहित्यों की पृथक् धाराएँ बह रही हैं। पश्चिमी मध्यदेश अर्थात् पजाब, दिल्ली, पश्चिमी सयुक्त प्रान्त तथा राजस्थान के जयपुर आदि के राज्यों में तो उर्दू धारा आज भी पर्याप्त रूप में बलवती है किन्तु शेष मध्यदेश में अथत् पूर्वी संयुक्तप्रान्त, बिहार, मध्यभारत तथा महाकोसल मे हिन्दी का आधिपत्य जनता पर काफी है। हिन्दी-प्रदेश की यह द्विभाषा समस्या एक असाधारण समस्या है क्योंकि बंगाल, गुजरात, तमिल, कर्नाटक आदि भारत के किसी भी अन्य भाषा-

प्रदेश के सामने यह संकट कम-से-कम अभी तो वर्तमान नहीं है। उदाहरण के लिए, बंगाली भाषा प्रत्येक बंगाली की अपनी प्रादेशिक भाषा है चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन कुछ भी हो। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में मैं हिन्दी-उर्दू मिलन को असम्भव समझता हूँ—वास्तव में दोनों में जमीन आसमान का अन्तर है। हिन्दी-लिपि, शब्द-समूह, तथा साहित्यिक आदर्श वैदिककाल से लेकर अपभ्रंश काल तक की भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत है। उर्दू-लिपि, शब्द-समूह तथा साहित्यिक आदर्श हिन्दी-प्रदेश में कल आये हैं और अभारतीय दृष्टिकोण से लबालब हैं। हिन्दियों की साहित्यिक सांस्कृतिक भाषा केवल हिन्दी है और हो सकती है। किन्तु-हिन्दी के सम्बन्ध में एक भ्रम के निवारण की नितान्त आवश्यकता है। वह यह कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा न होकर हिन्दियों की भाषा है। मध्य-देश अथवा हिन्दी-प्रदेश में रहने वाले प्रत्येक हिन्दी को—चाहे वह वैष्णव हो या शैव, मुसलमान हो या ईसाई, पारसी हो या बंगाली—हिन्दी भाषा साहित्य और लिपि को अपनी चीज़ समझकर सबसे पहले और प्रधान रूप में सीखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वर्गीय, प्रादेशिक या साम्प्रदायिक लिपि तथा भाषा को भी सीखे इसमें मुझे आपत्ति नहीं किन्तु उसका स्थान हिन्दी-प्रदेश में द्वितीय रह सकेगा, प्रथम नहीं। मेरी समझ में जिनकी मातृभाषा हिन्दी है और जो यह समझते हैं कि वास्तव में हिन्दी ही हिन्दी-प्रदेश की सच्ची साहित्यिक भाषा है उन्हें दूसरे पक्ष के सामने विनय के साथ, किन्तु साथ ही दृढ़ता के साथ, अपने इस दृष्टिकोण को रखना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि विशेषतया पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि प्रत्येक धर्म व जाति के लोगों में इस भावना का प्रचार करने का निरन्तर उद्योग हो। मैं उर्दू के विरुद्ध नहीं हूँ किन्तु मैं उर्दू को हिन्दी-प्रदेश में हिन्दी के बराबर नहीं रख पाता हूँ। मैं उसे एक द्वितीय भाषा के रूप में ही सोच पाता हूँ। हिन्दी-उर्दू की समस्या को हल करने का यही एक उपाय है। दूसरा उपाय उर्दू भाषा और लिपि को अपने प्रदेश की साहित्यिक भाषा मान लेना है। राजनीतिक प्रभावों से असम्भव भी सम्भव हो जाता है किन्तु अब तो देश की प्रगति स्वाभाविक अवस्था की ओर लौट रही है, अतः इस अस्वाभाविक परिस्थिति की कल्पना करना भी व्यर्थ है।

हिन्दी भाषा और साहित्य की त्रुटियों में से एक त्रुटि यह बतलायी जाती है कि वह सर्वसाधारण की भाषा और साहित्यिक आदर्श से बहुत दूर है। उसे जनता के निकट लाना चाहिए। इसमें अंशतः सार है, किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। साहित्यिक वर्ग तथा सर्वसाधारण में अन्तर का कम होना देश के लिए सदा हितकर है; किन्तु समस्त समाज को, फलतः समस्त साहित्य को, एक श्रेणी के अन्तर्गत

ला सकना मेरी समझ में एक स्वप्न मात्र है। साहित्य को सर्वसाधारण के निकट ले चलने के उद्योग के साथ सर्वसाधारण की अभिरुचि तथा ज्ञान को ऊपर उठाना भी साहित्यिकों का कर्त्तव्य है। साहित्यकार सिनेमा और थिएटर कम्पनियों की श्रेणी के व्यक्ति नहीं हैं जिनका प्रधान उद्देश्य सर्वसाधारण की माँग को पूरा करना मात्र होता है। साहित्यिकों का चरम उद्देश्य तो समाज को ऊपर उठाना है। मैं मानता हूँ कि अनावश्यक रूप से भाषा और साहित्य को क्लिष्ट बनाना उचित नही है किन्तु साथ ही, शैली का नाश करके तथा साहित्यिक अभिरुचि को तिलांजलि देकर साहित्य को नीचे उतारने के पक्ष मे भी मैं नहीं हूँ। भारतीय समाज के उच्चतम और निम्नतम वर्गो में भाषा और साहित्य के अतिरिक्त संस्कृति सम्बन्धी सभी बातों मे पर्याप्त अन्तर है। जैसे-जैसे यह संस्कृति सम्बन्धी अन्तर कम होता जावेगा, वैसे-वैसे हमारी सुसंस्कृत भाषा और हमारा उच्चसाहित्य भी सर्वसाधारण के निकट पहुँचता जावेगा। ऊपर के लोगों को नीचे झुकाने से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या नीचे के लोगों को ऊपर लाने की है—'कामायनी' को 'बनारसी कजलियों' के निकट ले जाने की अपेक्षा 'बनारसी कजली' पढ़ने वालों की अभिरुचि को 'कामायनी' की साहित्यिक अभिरुचि की ओर उठाने की विशेष आवश्यकता है।

हमारे साहित्य की प्रगति में बाधक तीसरा प्रधान कारण हमारे साहित्य निर्माताओं की आजीविका की समस्या है तथा प्रकाशकों के सामने पुस्तकों के खपत की समस्या है—"भूखे भजन न होय गोपाला"। वास्तव में हिन्दी साहित्यकार जिस त्याग और तपस्या के साथ अपना जीवन निर्वाह कर रहे हैं वह किसी से छिपा नहीं है। देश के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में से बहुत-से तो इंग्लैण्ड के आर्थिक आदर्श से मिलती-जुलती नौकरियों के प्रलोभन में फँस कर उस ओर खिच जाते हैं और अपना बहुमूल्य जीवन विदेशी यंत्र के चलाने में एक निर्जीव पुर्जे के समान व्यतीत कर देते है। देश के बचे-खुचे मस्तिष्क राष्ट्रीय सेवा की ओर झुकते हैं और इन सेवाओं में से एक अपने साहित्य की सेवा भी है। हिन्दी साहित्यकार को सरकारी वेतनों के टक्कर की आमदनी नहीं चाहिए—लक्ष्मी और सरस्वती का साथ कब हुआ है किन्तु साधारण रोटी-मकान-कपड़े की चिन्ता से मुक्त होना तो आवश्यक ही है, चाहे वह ज्वार की रोटी, छप्पर का मकान और खादी का कपड़ा ही क्यों न हो। बच्चों की शिक्षा और बीमारी, माता-पिता की असहाय अवस्था तथा स्त्री के कार्यभार बँटाने का कुछ साधारण उपाय तो होना ही चाहिए। निकट भविष्य में इस कठिनाई से निस्तार होना दिखलायी नहीं पड़ता किन्तु साहित्य की खपत के बढ़ने तथा सुसंगठित प्रकाशन संस्थाओं के पैदा होने से यह समस्या धीरे-धीरे

दूर हो सकेगी। प्रकाशकों से मुझे एक निवेदन करना है। अमीर इंग्लैण्ड की अंग्रेजी किताबों का ठाट-बाट हम लोगों के यहाँ नही निभ सकता। मैंने फ्रांस जैसे सुसम्पन्न देश तक में यह देखा है कि किताबों को सस्ता रखने के उद्देश्य से छपाई, कागज तथा जिल्द आदि पर वे लोग कम-से-कम व्यय करते हैं—हाँ, पुस्तक शुद्ध, तथा कलापूर्ण ढंग से छापने में वे किसी प्रकार की कमी नही होने देते। हमें भी अपने पुस्तकों को बहुत सस्ता करने की जरूरत है। अपने देश की गरीबी को देखकर आदर्श रूप मे तो एक पाई का दैनिक पत्र तथा एक पैसे की साधारण पुस्तक मिलनी चाहिए। मै जानता हूँ कि अभी यह बात असम्भव है, किन्तु एक पैसे का अच्छा दैनिक तथा एक आना से चार आना मूल्य तक की अच्छी पुस्तक सम्भव है। एक रुपया मूल्य रखकर—जिसे हम लोग प्रायः कम समझते हैं—हम अपने साहित्य को तीस रुपये मासिक पाने वाले क्लर्क तक भला कैसे पहुँचा सकते हैं। फिर हमारी अधिकांश जनता की आमदनी तो तीस रुपये मासिक न होकर कदाचित् तीस रुपये वार्षिक है। जो हो, हमारी पुस्तकों के सस्ते से सस्ते, किन्तु साथ ही शुद्ध सस्करण, निकलने चाहिए। इसमें प्रकाशक, लेखक तथा जनता सब ही का लाभ होगा।

मैंने साहित्य के आदर्शो तथा मनोरम रहस्यों की ओर आपका ध्यान जान-बूझ कर नही दिलाया है। इस प्रकार के वार्त्तालाप का स्थान तो शिक्षालयों और विद्यापीठों में है, साहित्यिकों का यह मेला इसके लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। गत वर्षो मे प्रकाशित हिन्दी साहित्य की आलोचना भी मैंने आपके सामने जान-बूझ कर ही नही रखी है। यह कार्य तो हमारी पत्र-पत्रिकायें, आलोचनात्मक ग्रन्थ तथा साहित्यिक सस्थाओं के वार्षिक विवरण करते ही रहते है, अतः हम और आप साधारणतया इससे परिचित हैं ही। फिर हमारे पास इतना अवकाश भी तो नहीं है। इसी कारण मैंने कुछ मूल कठिनाइयों और समस्याओं तक ही अपने वक्तव्य को सीमित रक्खा है।

संभव है कि मेरे इस भाषण से कुछ लोगों को यह भ्रम हुआ हो कि हम साहित्यिक लोग देश की राजनीतिक समस्याओं तथा उस क्षेत्र में कार्य करने वालों की सेवाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसा कदापि नही है। वास्तव में देश की राजनीतिक समस्या हमारे जीवन मरण की समस्या है, किन्तु साथ ही भाषा और साहित्य की समस्या भी कम गम्भीर समस्या नहीं है। सुसाहित्य तथा उसकी शिक्षा के अभाव में हमारी दीर्घकालीन राजनीतिक परतंत्रता के मूल कारण सन्निहित है। वास्तव में साहित्य मनुष्य की सस्कृति का विधाता है और राजनीति इस व्यापक संस्कृति का एक अंग मात्र है। मैं राष्ट्र के सिपाही को अत्यन्त आदर की

दृष्टि से देखता हूँ, किन्तु मैं देश के साहित्यकार को और भी अधिक सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ। सिपाही देश के धन-जन की रक्षा या नाश करने वाला है, किन्तु साहित्यकार तो राष्ट्र के मन, मस्तिष्क और आत्मा को बनाने-बिगाड़ने वाला है। राजनीतिज्ञ का महत्त्व तो देश-काल से सीमित है, किन्तु साहित्यकार के हाथ में तो संसार का भूत, वर्तमान तथा भविष्य सब ही कुछ है। अपने देश की स्वतन्त्रता के प्रयास के इस असाधारण युग में हमे—'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।' आदि इस वेद वाक्य को और भी स्मरण रखने की आवश्यकता है, नही तो यूरोपीय परिस्थिति की पुनरावृत्ति होने की अपने यहाँ भी फिर पूर्ण आशका है। ब्रह्म अर्थात् साहित्य मस्तिष्क और आँख हैं, क्षत्र अर्थात् राजनीति स्कंध और बाहुबल है। दोनों ही का सदुपयोग तथा दुरुपयोग हो सकता है, किन्तु साहित्य का दुरुपयोग बहुत अधिक भयंकर परिणाम वाला होता है, इसे कभी भी नहीं भुलाना चाहिए।

अत में, मैं हिन्दी प्रेमियों और हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान अपनी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध मे आत्मनिर्भरता की भावना की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। घमण्ड और उचित गर्व तथा आत्मविश्वास में अन्तर है। मै दूसरी बात चाहता हूँ, पहली नहीं। हमें अपनी भाषा और अपने साहित्य का आदर करना सीखना चाहिए। उसकी त्रुटियों को समझते हुए और उनके दूर करने का यत्न करते हुए, उसके गुणों का हमें प्रकाशन करना चाहिए। एक-दूसरे को ऊपर उठाने का यत्न करना चाहिए। परम्परा तथा अज्ञान के कारण अपने साहित्य के निन्दकों का हमे मुँह बन्द करना चाहिए। हमारा खड़ीबोली हिन्दी साहित्य अभी है ही कितने दिनों का, किन्तु इतने अल्पकाल मे ही वह कितना आगे बढ़ गया है—इस पर वास्तव में अभी प्रकाश ही नहीं डाला गया है। इधर कुछ वर्षों के अन्दर जो ग्रन्थ निकले है उनमें दर्जनों ऐसे हैं जो उच्चतम साहित्य की श्रेणी में स्थान पाने योग्य है। मैं बड़े-बड़े लेखकों के नामों और बड़े-बड़े ग्रन्थों को यहाँ नही गिनाना चाहता। मुझे तो अपने साहित्य में अपनी और आगे की पीढ़ी के लेखको की रचनाओं मे ही ऐसे अनेक ग्रन्थों का स्मरण आ रहा है जिनके रस-सौन्दर्य तथा शैली-सौन्दर्य का लोहा बड़े-से-बड़े साहित्यिको को मानना पड़ेगा। जैनेन्द्रकुमार की 'परख' को जिसने पढ़ा होगा वह क्या कट्टो को कभी भी भुला सकता है, भगवती चरण वर्मा की 'चित्रलेखा' की कल्पना में कितनी उड़ान और पूर्णता है, हरिकृष्ण प्रेमी के 'अनंत के पथ पर' शीर्षक खण्ड-काव्य की रसानुभूति और प्रवाह असाधारण श्रेणी में रखने योग्य हैं। सुमित्रानन्दन पन्त की एक-एक रचना की बारीकी साँची के तोरणों की नक्काशी का स्मरण दिलाती है। यदि मैं इस तरह गिनाता चलूँ

तो कदाचित् इस सूची का कभी अन्त ही न हो। वास्तव में इस समय आलोचना करने की अपेक्षा हमें अपने साहित्य के रसास्वादन के अभ्यास की बहुत अधिक आवश्यकता है।

कठिनाइयों के रहते हुए भी हमें क्षण भर भी हताश नहीं होना चाहिए। हिन्दी भाषा और साहित्य ने तो जन्म से ही अपने पैरों पर खड़ा होना सीखा है। असाधारण विरोधी परिस्थितियों तक में हम अपनी पताका फहराते रहे हैं। शासकवर्ग की सहायता तो हमें कभी मिली ही नहीं। हमारे हिन्दी-प्रदेश के दरबारों में जब फ़ारसी राजभाषा थी, उस समय हमने सूर, कबीर और तुलसी पैदा किये थे। फ़ारसी आयी और चली गयी, किन्तु सूर-तुलसी-कबीर तो अमर हैं। हमारे प्रदेश मे जब अंग्रेजी राजभाषा हुई तब हमने अपनी तपस्या से रत्नाकर, प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे रत्न उत्पन्न किये। अंग्रेजी जा रही है किन्तु यह निश्चय है कि हमारे इन रत्नों की चमक दिन-दिन बढ़ती जावेगी। आज भी राजनीतिक परिस्थिति हमारी भाषा और साहित्य के लिए पूर्णतया अनुकूल नही है किन्तु हमें इसकी क्षण भर भी चिन्ता नही करनी चाहिए। यदि हमारा आत्मविश्वास कायम रहा, यदि हमारे हृदयों में भारतीय संस्कृति का चिराग़ जलता रहा, तो मध्यदेश के इस बलवान् स्रोत के नित्य प्रवाह को संसार की कोई भी शक्ति रोक नही सकती।

⊙

अभिभाषण—३

पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

⊙ ⊙

देवियो और सज्जनो,

उस्ताद केदारा सिखा रहे थे, कहा, यह शेर की चाल चलता है—'स' से 'म' में, फिर 'प' से दूसरे 'स' पर। मुझे शार्दूल-विक्रीड़ित याद आया। हिन्दी-साहित्य इसी चाल से चला है; एक साथ दो-दो पर्दे पार करता हुआ। पहली छलांग भरी, तब भाषा की लड़ाई थी; दूसरी भरी, तब साहित्य की। अब उसके राग का रूप तैयार हो गया है।

जो कुछ भी नजर आता है वह जमीन और आसमान की गोद में उतना सुन्दर नहीं, जितना नजर में है। वह उतनी साफ नजर है जो जितना दूसरों की नजर से मिलती है।

हिन्दी ने जब से भाषा का सवाल हल किया—खिचड़ी शैली की विजय हुई, तब से आज तक हिन्दी, भाषा और भावों की उदारता में, बढ़ती गयी है। आज वह साहित्य के विचार से रूढ़ियों से बहुत आगे है। विश्व-साहित्य में दी जानेवाली रचनाएँ उसमें हैं। उसके साहित्यिकों के नामों के साथ मिल्टन, ह्यूगो, रवीन्द्रनाथ, ब्रौनिंग, शेली, कीट्स, वर्डस्वर्थ, हार्डी, टाल्सटाय आदि अनेक नाम लिये गये हैं। मैं यह कह सकता हूँ कि उसके पद्य-साहित्य में ऐसी-ऐसी रचनाएँ हैं जैसी समृद्ध साहित्यों में ही मिल सकती हैं, जो साहित्य किसी तरह भी आज की दृष्टि से रिक्त न होगा। उसके साथ उसका सम्पूर्ण ब्रजभाषा-साहित्य मिलने पर काव्य में वह भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति साबित होगी। यों बंगला के आधुनिक पद्य-साहित्य के जोड़ का उसके गद्य का विकास भी आश्चर्य में डालता है। अभी बंगला और मराठी का गद्य उससे तगड़ा है; लेकिन आधुनिकता में, चुभते व्यंग्य में, आलंकारिक ढंग के साथ-साथ भाव की पूरी अदायगी में यानी कला में, कहीं-कहीं वह आगे जायगी। पद्य के बाद हिन्दी का कहानी-साहित्य है, फिर उपन्यास। नाटक, एकांकी नाटक, व्यंग्य, समालोचना, जीवनचरित्र, समाजवाद, इतिहास, दर्शन,

भूगोल, विज्ञान, पत्र-पत्रिका, अनुवाद आदि अल्प विस्तर हैं। अभिनय में बंगाल और महाराष्ट्र हमसे बहुत आगे हैं। हमारे यहाँ स्थायी रंगमंच का अभाव बहुत खटकता है। कलकत्ते की पारसी कम्पनियाँ साहित्य के लिए कुछ नहीं ठहरीं। टाकी में हिन्दी आगे है, लेकिन डायरेक्टर बंगाली कला की दृष्टि से अच्छे हैं; अभिनेताओं में सहगल; अभिनेत्रियों में काननबाला, देविका रानी, शान्ता आप्टे। संगीत की प्राचीन पद्धति में मराठे और कुछ मुसलमान; नयी रीति में बंगाली। नृत्य में लखनऊ और दक्षिण भारत। चित्रकला में बंगाल। हमारे यहाँ उस्ताद रामप्रसाद मुग़ल क़लम के अन्तिम चित्रकार हैं और सुप्रसिद्ध, विजयवर्गीय नये ढंग के अच्छे हैं; रामेश्वर जीते होते तो बहुत कुछ अभाव मिट गया होता।

हम जब एक बार अपने प्राचीन साहित्य की ओर, और तदनुकूल बँधे हुए—आज भी समाज में प्रचलित होली, धमार, चैती, सावन, मलार, कजली, बारहमासी और अहीर-गड़रिया, कुम्हार-धोबियों के अलग-अलग बिरहों की ओर ध्यान देते हैं, व्याह-जनेऊ के गीत, सोहर और देवी की लचारियाँ आदि गाते स्त्रियों को सुनते हैं, हरछठ करवा आदि पूजते, चित्रकारी करते देखते हैं, साथ ही नवीन युग की बातें सोचते हैं—साहित्य मिलाते हैं—साथ चलने के लिए सोचते हैं, धार्मिक, सामाजिक तथा अन्य भाषा वाली अड़चन-कठिनाइयाँ सामने आती हैं, उस समय एक साहित्यिक की—खास तौर से हिन्दी-साहित्यिक की एक राजनीतिक से कम उद्वेगशील अवस्था नहीं होती।

किसी साहित्य की नकल पर कोई साहित्य तैयार नहीं होता। उसमें अपनी शक्ति होनी चाहिए, मौलिकता होनी चाहिए, अपने प्रकाश से दिखता हुआ रास्ता होना चाहिए, 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' को वह सत्य साबित करता हुआ हो। हिन्दी के प्रतिभाशाली साहित्यिक उन्हीं समाजों के हैं जो शंकर तथा उनके बाद के धर्माचार्यों से दीक्षित हैं। इन साहित्यिकों का कोई नवीन धर्म-संस्कार नहीं हुआ, उन्हीं पुराने समाजों के अन्तर्गत रहते हुए इन्होंने कुल समाजों की एक परिणति वाला रास्ता, सच्चे दर्शन ज्ञान से, दिव्य-चक्षुओं से देखते हुए, लेख और कविता आदि से साबित करते हुए, पूर्वानुसरण को नवानुवर्तन रूप दिया। उन्होंने लिखा, प्रकृति जिस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के समाज-पिण्ड जोड़ती है, उसी तरह तोड़ती है। पराधीनता ही वर्ण-व्यवस्था की अक्षमता का प्रमाण है। सात सौ साल की गुलामी ने उन पिण्डों को और अच्छी तरह जर्जर कर दिया है। अब वास्तव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नहीं हैं, अब शूद्र हैं, सबके बराबर अधिकार। उन्नति तभी तक रुकी हुई है, जब तक लोग मानते नहीं। जब यह लिखा गया था, कौमी बँटवारा न हुआ था। चमार बराबरी पर न बैठते थे।

आधुनिक साहित्यिकों ने शब्दों के दर्शन पर विचार करते हुए देखा, ॐ कुल अक्षरों का एकीकृत रूप वैज्ञानिक युक्ति से समझाया गया है। यह ॐ यहाँ के सभी सम्प्रदायों से गृहीत है। इस ॐ का बिन्दु मे पर्यवसान होता है। यह बिन्दु पूर्ण—सर्व है। इस बिन्दु से ही अक्षर—स्वर और व्यञ्जन बने हैं। अक्षरों से शब्द, शब्दों से वाक्य, वाक्यों से भिन्न-भिन्न विषयों के पूर्णरूप। जिस तरह सृष्टि को सदोष कहा है, उसी तरह शब्दों के मेल भी सदोष है। क्योंकि बिन्दु से उतरने की आवश्यकता ही दोषकर सिद्ध होती है। सृष्ट मनुष्य जिस तरह सत्कर्मों या साधना विशेष द्वारा मुक्त होता है, उसी तरह लिखित वाक्य-बन्ध भी ऊँचे और विशद अर्थ में परिणति पाते हुए। यही भाषा-साहित्य की मुक्ति है। ऐसी मुक्ति के भिन्न-भिन्न उपायों से—जो शास्त्रान्तर्गत है—आधुनिक साहित्यकारों ने अनेक निदर्शन दिये—रचनाएँ दी।

मै सीधी तरह कहूँगा। समस्त खण्ड आकाश लिये हुए है, समस्त खण्ड आकाश से छुटे भी जुड़े है। बिना आकाश के आप एक कण का अस्तित्व नहीं साबित कर सकते। कण को देखने के लिए आकाश की आवश्यकता है, इसी तरह आकाश के देखने—समझने के लिए कण की आवश्यकता है। कण न हो—पृथ्वी न हो—सूर्य न हो यानी जो कुछ भी सीमित देख पड़ता है वह न हो तो आकाश भी न होगा। सीमित वस्तु की सार्थकता तभी है जब उसके साथ एक असीम है। बिना असीम के रहे कोई सीमा नही रह सकती। जो लोग "अनन्त की ओर दौड़ने वाले" कह कर आधुनिक साहित्य का मजाक उड़ाते थे, उन्हे मालूम होना चाहिए कि बिना अनन्त की ओर बढ़े वे रोटी का टुकड़ा भी नही पकड़ सकते। उन्ही जैसे आदमियों से, बहुत पहले, "अक्ल बड़ी या भैस?" पूछा गया है। आधुनिक साहित्यकारों ने इन वीरों से बराबर भैस की पूँछ जोड़ देने के लिए कहा है और अनेकानेक कलात्मक ढग से।

उनकी वे बातें, वीरों की—देश के दीवानों की समझ में नही आयी; लेकिन "हिन्दी राष्ट्र-भाषा है", यह वीरों ने समझ लिया, क्योंकि यह छायावाद नहीं—बिल्कुल प्रकाशवाद था, अब वे छायवादी पूछते है, "आपकी वह राष्ट्रभाषा कहाँ है? अब उसका क्या स्वरूप है?—मद्रास मे सम्मेलन के जरिए जिस भाषा का प्रचार किया-कराया गया था, वह कौन भाषा थी? क्यों प्रचार किया गया?—क्या उस भाषा के उच्च साहित्य के अध्ययन से मद्रासियों को धन्य करने के विचार से?" अब छायावाद कौन-सा मालूम देता है?

हिन्दी की 'खिचड़ी शैली' में अरबी, फ़ारसी के शब्दों के लिए काफी जगह रखी गयी थी, प्रायः कुछ मुहाविरे आते हैं, संस्कृत के शब्द भी हैं। संस्कृत के

शब्द भाषा की उन्नति के साथ संगत कारणों से आये और आते हैं। हिन्दी वाले जब अपना घर सँभालेंगे तब वैदिक-सस्कृत, पाली-प्राकृत की ओर ही जायँगे। अंग्रेजी, फ़ारसी, अरबी, बंगला या अपर प्रान्तीय भाषा के आवश्यक शब्द वे लेते हैं, लेने के लिए तैयार हैं।

लेकिन अगर हर तरह हिन्दी के सीधे-साधे शब्द संस्कृत होने के कारण निकाले जायँगे तो भाषा की यह सूरत बच्चे के माँ-बाप को; राष्ट्र के वृहत्तर वर्ग को पसन्द आयेगी, विश्वास नहीं। अंग्रेजी चलती ही है। हिन्दू और मुसलमान अपनी-अपनी भाषा में शिक्षा पायेंगे, तभी अच्छाई है। भाषा साहित्य के सौ-पचास साल की दौड़ के बाद यह साबित हो जायगा कि ग्राहिका-शक्ति किस भाषा की अधिक है, विश्व-साहित्य में किसकी अधिक पैठ है? यह साहित्य का मूल सिद्धान्त है कि सामाजिक विचारों में जो जितना बढ़ा हुआ संसार के समाज से मिलने में समर्थ है अपने उपन्यास, नाटक, काव्य और विचारों से, वह उतना समर्थ है। पचास साल बाद या सौ साल बाद, हम एक-दूसरे के महत्त्व को समझने के बाद ही मिल सकेंगे। अभी अगर भक्तिभाव की उपासना हिन्दू छोड़ नहीं सकते और मुसल्मान ग्रहण नहीं कर सकते तो तब तक देश-सेवा के नाम से स्वार्थ-सेवा की ही साधना चल सकती है। दिव्य-भावों की उपासनायें, वैसे गीत, वैसा साहित्य हिन्दू अभी नहीं छोड़ सकते। भावों का मेल ही सही-सही मेल है। पं० जवाहरलाल जी नेहरू कहते हैं कि अभी तक कोई राष्ट्रीय गीत नहीं लिखा गया—यह प्रान्तीय सभी भाषाओं के साहित्य के लिए है; बगला के लिए तो है ही जहाँ का 'वन्देमातरम्' गान है; रवीन्द्रनाथ का 'जन-गन-मन अधिनायक जय हे भारत भाग्यविधाता' भी योग्य नहीं।

हिन्दुस्तानी का जैसा प्रचार हो रहा है, कौमी बँटवारे के अनुसार नहीं। इस उच्चता तक पहुँच न सकेंगे। उर्दू-साहित्य के स्वभाव से हिन्दी अपने प्रवर्धन-काल से परिचित है। हिन्दी ने मीर, ग़ालिब, दाग़ और जिगर को वही सम्मान दिया है जो अपने बड़े-से-बड़े कवि को देती है। उसकी पत्र-पत्रिकाएँ बराबर उर्दू के शेर उद्धृत करती हैं। साहित्यिक ही नहीं, हिन्दीभाषी जनता भी उर्दू के सैकड़ों नहीं तो बीसियों शेर और गजलें कंठस्थ किये हुए हैं। हिन्दी के कवियों ने उर्दू के छन्द बड़े प्रेम से अपनाये और आगे भी साहित्य में अपनायेंगे। अच्छा होता अगर उर्दू में भी आज की हिन्दी की जैसी रागिनी बजती सुन पड़ती।

प्रगतिशील साहित्यिकों का हिन्दी में प्रसार हो रहा है, यह एक दूसरी निर्माण-कला की अग्र-सूचना है। अभी प्रगतिशील कोई साहित्यिक ऐसा नहीं जो विचार, लेखन-कला और भाषाज्ञान में अपने पूर्ववर्ती साहित्यिक के समकक्ष हो।

यौन-विज्ञान (सेक्स) की बुनियाद पर हिन्दी में जो रचनाएँ होने लगी हैं, तार्किक दृष्टि से उठी हुई हैं। कला की पदवी प्राप्त करते रहने पर ये निर्महत्त्व नहीं होंगी।

अत्याधुनिक कवि और आलोचक जो हिन्दी में आये है, सबसे अधिक शक्तिशाली मालूम पड़ते हैं। साहित्यिक बड़ी उत्कण्ठा से इनके लिखे काव्य और आलोचनाएँ देखते है।

⊙

अभिभाषण—४

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

⊙ ⊙

महानुभाव,

आज हमारे साहित्य में एक नया प्रगतिशील आन्दोलन आरम्भ हो चुका है। साहित्य के सभी नये आन्दोलन एक अर्थ में प्रगतिशील कहे जा सकते है क्योंकि वे किसी-न-किसी नयी सामाजिक या सांस्कृतिक प्रगति से उत्पन्न होते और किसी-न-किसी नवीन प्रगतिशील विचारधारा के सहचर हुआ करते हैं। इस दृष्टि से हमारा साहित्य पिछले तीस वर्षो में तीन प्रगतिशील आन्दोलनों का सृजन-संचालन कर चुका है। यहाँ मैं उस चौथे की चर्चा नहीं करूँगा जो इन तीनों से पहले का हिन्दी के नवयुग का प्रथम आन्दोलन था और जिसके पुरस्कर्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि थे। मैं कहना यह चाहता हूँ कि इन तीन-चार प्रगतिशील आन्दोलनों के रहते अपने अति नवीन आन्दोलन का नाम 'प्रगतिशील' रखना विशेष उपयुक्त नही हुआ। इस नामकरण से भ्रम होता है कि हमारे पहले के आन्दोलन प्रगतिशील नही थे। प्रगतिशील ही नही वे प्रचलित साहित्य-सरणियों के विरुद्ध विरहात्मक भी थे। ऐसी अवस्था मे केवल इस अन्तिम आन्दोलन का नाम 'प्रगतिशील' रखना कुछ ऐसा भ्रम है जैसे पुत्र अपना नाम पिता के नाम पर रख ले।

फिर, मेरे विचार से किसी साहित्यिक आन्दोलन का प्रगतिशील होना ही काफी नहीं है। प्रगति तो प्राकृतिक गति है। वह परिवर्तनशील वस्तु व्यापार का आवश्यक परिणाम है। तो क्या परिवर्तन का प्रतिबिम्ब होना ही साहित्य का एक-मात्र स्वरूप या लक्ष्य है? मेरे विचार से नही। प्रथम तो परिवर्तन की सारी दिशाओं का परिज्ञान होना चाहिए। विकासमूलक शक्तियों और दिशाओं की पहचान होनी चाहिए। तभी हम कृत्रिम साधनों से (जिनके अन्तर्गत मानसिक रूढ़ियाँ, संस्कार और बाहरी सामाजिक अथवा राजनीतिक शक्तियाँ भी शामिल हैं) रोके हुए आवश्यक परिवर्तन को साहित्य द्वारा उद्घाटित कर सकेंगे और साथ ही कृत्रिम साधनों से बढ़ाये हुए अनावश्यक परिवर्तन या विच्छेद (Fissiparous tendencies) को रोक भी सकेंगे।

यहाँ आप पूछेंगे कि साहित्यिक को इस प्रकार के बुद्धिव्यवसाय या विवाद मे पड़ने की आवश्यकता क्या है? वह तो भावजगत् का प्राणी है। वह यदि अपने भावों को सौन्दर्यपूर्ण साहित्यशैली से प्रकाशित कर देता है तो उसके लिए इतना ही पर्याप्त होना चाहिए। मैं इसे नही मानता। साहित्य केवल व्यक्तिगत भावों के प्रदर्शन की भूमि नहीं हो सकता। व्यक्तिगत भाव भी आखिर क्या है? उस व्यक्ति-विशेष पर पड़े हुए विभिन्न ज्ञात-अज्ञात उपकरणों का प्रभाव। वे उपकरण उसे कहाँ से मिले? अपने समय के समाज और सामाजिक चेष्टाओं से। तब प्रश्न यह है कि वह उस समाज और उन चेष्टाओं को आँख मूँद कर क्यों ले? आँखें खुली क्यों न रखें और क्यों न अपने सामूहिक उत्तरदायित्व को समझे? यह केवल एक उत्तरदायित्व ही नही है व्यक्तित्व का उन्नायक साधन है। फिर यह ऊपर से लादा हुआ कोई बोझ भी नही है, यह मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने की स्वाभाविक सूचना है।

व्यक्ति और समाज के बीच चलने वाले स्वाभाविक आदान-प्रदान को सचेत होकर ग्रहण करना काव्य-साहित्य को प्रगतिशील ही नहीं, उत्थानमूलक भी बनाने में उपयोगी सिद्ध होगा। यदि हमने अनुकृति के आधार पर अथवा प्रतिरोध करने की क्षमता के अभाव के कारण कुछ विश्वासों, प्रभावों या अनुभवों को धारण कर रखा है तो स्पष्ट है कि हममें साहित्यिक उत्कर्ष की संभावना बहुत थोड़ी है। यह असम्भव नही कि इन व्यक्तिगत प्रभावों के आधार पर हम ऐसे साहित्य का निर्माण करें (बशर्ते हममें कुछ काव्यशक्ति है) जो कुछ दिनों तक बहुत काफी लोकप्रिय हो जाय, क्योंकि जनसाधारण तो अपना प्रतिबिम्ब ही साहित्य में देखना चाहता है और अक्सर ढाल की ओर चलने में उसे सुविधा मालूम देती है, पर देश और जाति के स्थायी साहित्य में यह नीचे की ओर लुढ़कना स्थान न पा सकेगा।

आप यह न समझे कि मैं साहित्य के लिए किसी रूढ़िबद्ध ऊँची नीति अथवा आदर्शवाद की सिफारिश कर रहा हूँ। ऐसा करना बिल्कुल ही मेरा लक्ष्य नहीं है। किसी बँधी-बँधायी लीक अथवा नपे-जुखे आदर्शो के पैमाने पर साहित्य की प्रगति और उसका उन्नयन नहीं हो सकता। बदलते हुए समय के साथ प्रगति का मार्ग भी बदलेगा। हमारे आदर्शो में भी परिवर्तन और उलट-फेर होंगे। मेरा आग्रह केवल इतना है कि हम आँख मूँद कर किसी वस्तु को न लें। न हम आये हुए प्रभावों अथवा नवीनता के झोंके में बह जायँ और न विगत आदर्शों का स्वप्न देखते रहें। निराशा के लिए निराशा की फुलझड़ियाँ बरसाना हम साहित्य में बन्द कर दें और साथ ही आकाशकुसुमों की आशा भी छोड़ दें।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि साहित्य से करुणरस को अथवा ऊँची आदर्शात्मक कल्पनाओं को उठा देना होगा। उठाना या बैठाना हमें किसी को नहीं। साहित्य में आशा और निराशा, करुण और वीर—सबके लिए समान स्थान है और रहेगा किन्तु उनकी नियोजना प्रगतिमूलक और उद्देश्ययुक्त करनी होगी, निरुद्देश्य और अस्तव्यस्त नहीं। शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक अथवा भवभूति का उत्तररामचरित करुणा से भरे हुए है, किन्तु क्या वे शक्तिहीनता और निर्बलता उत्पन्न करते हैं? नहीं, वे हमारी भावना का इस प्रकार स्पर्श करते है कि उनसे जीवन के सुन्दर लक्ष्यों के प्रति आस्था बढ़ती है। इसी उन्नयिनी परिपाटी की रक्षा हमें करनी होगी और यह तब होगा जब हम साहित्य की प्रगति को जीवन के साथ सम्बद्ध किये रहेंगे।

साहित्य के साथ जीवन को सम्बद्ध किये रखने का मतलब सिर्फ इतना है कि जीवन सम्बन्धिनी आधारभूत चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाय। हम मृत्यु के अथवा अगति के उपासक न बन जायँ। निराशा और आत्म-पीड़न को अर्घ्य न देने लगें। इसका यह आशय नहीं कि साहित्य में निराशामूलक प्रवृत्तियों का चित्रण ही न किया जाय। किया वह अवश्य जाय पर आदर्श बना कर नहीं। रचनाकार स्वयं उनमें अभिभूत होकर जीवन का लक्ष्य न छोड़ दे। जीवन का लक्ष्य है जीना। जीना जितना ही व्यापक और समुन्नत स्वरूप धारण कर सके, उतनी ही साहित्यकार की कृतकार्यता होगी। यहाँ मैं फिर कहूँगा कि जीने का व्यापक और समुन्नत स्वरूप कोई रूढ़बद्ध वस्तु नहीं है, किन्तु वह सचेत सतत विकास है।

अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है कि जब सारा समाज निराशा के गर्त में गिरा हुआ है तब वह आशा के गीत कैसे गाये? मैं आशा के गीतों का आग्रह नहीं करता। मेरा आग्रह केवल इतना ही है कि हम आत्म-विस्मृत न हों, यह जाने रहें कि हम सम्प्रति निराशा के गर्त में गिरे हुए हैं। किन्तु यह स्थायी गिरना नहीं।

क्या इस सूत्र को मै बुद्धिवाद या बुद्धिसूत्र कहूँ? बहुत व्यापक अर्थ में इसे यह नाम दे सकूँगा। आप पूछेंगे, व्यापक अर्थ से मेरा आशय क्या है? आशय यह है कि वाद के रूप में बुद्धिवाद कुछ मोटी रेखाओं के भीतर घिरा है। साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास में ऐसे युग आये हैं और आ सकते हैं जिसमें यह मोटी रेखाओं वाला बुद्धिवाद सहायक नहीं हुआ या न हो (उदाहरण के लिए बुद्धिमूलक के बदले विश्वासमूलक प्रगतियाँ भी हुई हैं) किन्तु प्रगतिशील चेतना के रूप में बुद्धि सदैव विकास के साथ रही है।

यदि इस सूत्र के कुछ बाहरी निदर्शन या दृष्टान्त आप चाहें तो मोटे तौर पर मैं नीचे के निदर्शन दूंगा— १. अति शृङ्गारोन्मुख प्रवृत्तियाँ (Morbidity) प्रगति के विरुद्ध हैं। २. अति उदासीन प्रवृत्तियाँ प्रगतिमूलक नहीं। ३. केवल कौतूहल प्रगति की बड़ी वस्तु नहीं। ४. केवल मनोरञ्जन प्रगति के लिए पर्याप्त नहीं। ५. बाह्य संघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक संघर्ष प्रगतिशील साहित्य में अधिक महत्त्व रखते हैं। ये दृष्टान्त मैं साहित्यिक इतिहास के आधार पर दे रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि ये वैज्ञानिक भी है।

यह तो हुआ प्रगतिशील साहित्य का प्रथम सूत्र। इसे मैं आत्मचेतना अथवा जीवनचेतना के नाम से पुकारूँगा। इसके अभाव में साहित्य, सच पूछिए तो साहित्य पद का अधिकारी नहीं होता। वह क्षयशील कला भी क्या कला कहा सकती है जो मृत्यु, आत्मपीड़न अथवा जीवनशोषण की ओर प्रगतिशील हो? इसके उत्तर में सम्भव है कुछ लोग कहें कि जीर्ण जीवन की अनिवार्य समाप्ति सत्य में ही होगी और नवीन जीवन का उद्भव उसके पश्चात् ही होगा। जीर्ण जीवन का अन्त मृत्यु ठीक है, किन्तु क्या वह मृत्यु हमारा आदर्श हो सकती है? आदर्श तो हमारा जीवन ही होगा। क्षय के लिए क्षय और मृत्यु के लिए मृत्यु की वरेण्यता हम किसी प्रकार प्रतिपादित नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों मे, हम ह्रासोन्मुख या जीवनविघातिनी कला की कला कहकर प्रशसा नही कर सकेंगे।

प्रगतिशील साहित्य का दूसरा सूत्र है परिवर्तन के क्रम को समझना, नवीन समस्याओं के सम्पर्क में आना और नवीन ज्ञान का उपयोग करना। यह भी जागरूक और दृष्टिसम्पन्न साहित्यिकों के ही वश का काम है। जो कवि सामयिक जीवन की जितनी ही महान् हलचलों के बीच से गुजरेगा और साथ ही जितना ही अनुभव-प्रवण होगा, उसकी साहित्यिक सम्भावनाएँ उतनी ही विशाल होंगी। अपनी प्रशस्त कल्पना के द्वारा जो वर्तमान हलचलों का यथार्थ स्वरूप और आगम की झलक जितनी स्पष्टता से देख सकेगा वह उतना ही बड़ा साहित्यकार होगा। रवीन्द्रनाथ और बकिमचन्द्र की प्रशंसा भारतीय साहित्य में इतनी अधिक क्यों है? केवल इसलिए नहीं कि उनमें बड़े ऊँचे दर्जे की काव्यप्रतिमा है या थी, वरन् इसलिए भी कि वे परिवर्तनशील समय और उसकी आवश्यकताओं का निरूपण साहित्य में औरों से पहले कर सके। सामने आयी हुई और आगे आने वाली समस्याओं को पहचानने और उनका हल ढूँढ़ने में वे औरों से पहले समर्थ हुए। न उन्होंने कृत्रिम समस्याओं या अनावश्यक आशंकाओं का सृजन किया और न आये हुए प्रश्नों से मुँह मोड़ा। उन समस्याओं और प्रश्नों का उन्होंने सुन्दर साहित्यिक निरूपण किया और उनका सही हल बतलाया।

यह प्रगतिशीलता समय सापेक्ष्य है। आज की हमारी समस्याएँ वे ही नहीं हैं जो पचीस साल पहले थी। कुछ चीजों का नाम लेना भी उस समय सम्भव न था जिनका आज खुले आम व्यवहार होता है। लिबरल राजनीति अपने समय की प्रगतिशील राजनीति थी, किन्तु क्या आज भी उसे प्रगतिशील कहा जा सकता है? किसी समय में वह व्यावहारिक वस्तु थी, आज वह पिछड़ी हुई समझी जाती है। किन्तु इस कारण उसका ऐतिहासिक मूल्य नष्ट नहीं होता। जिस समय राजनैतिक चेतना उच्च मध्य वर्गों तक सीमित थी उस समय लिबरल राजनीति क्रियाशील वस्तु थी, आज वह निष्क्रिय जान पड़ती है। राजनीतिक चेतना का विकास हो रहा है, वह क्रमशः प्रसरित होकर निम्नतम वर्गों मे भी पहुँच जायगी। उस समय की राजनीति हमारे आज के प्रयासों को क्या कहेगी, इसकी हम केवल कल्पना कर सकते हैं। व्यवहार मे तो हमें आज की अवस्था देखनी होगी। हमारा झुकाव किस ओर है, यही हमारे लिए निर्णयात्मक वस्तु है। साहित्य में तो झुकाव भी कोई अनिवार्य वस्तु नहीं। हम किस दिशा में क्रियाशील हैं और किन प्रश्नों को कितनी सफाई के साथ और कितने प्रभावशाली रूप में सामने रख रहे हैं, इतना ही समझ लेना पर्याप्त है। इसके साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि किस प्रश्न पर हमारी नजर कब पड़ी है? हमारे पूर्व औरों ने इस प्रश्न को उठाया है या नहीं, उठाया तो क्या समाधान किया है और हम इस विषय में अपनी कौन-सी विशेषता रख रहे है?

यदि साहित्यकार की दृष्टि अपने समय की प्रमुख समस्याओं पर पूरे तौर से पड़ी है और उसने अपने साहित्य में उनका मार्मिक चित्रण किया है तो यह बात विशेष महत्त्व की नही है कि वह उनका क्या हल हमारे सामने रखता है। रचयिता की बौद्धिक तीव्रता और ग्राहिका शक्ति का आभास हमें इतने में भी मिल सकता है कि उसने अपने समय की विभिन्न सामाजिक प्रगतियों और मार्ग में आने वाली दिक्कतों को देखा है या नहीं। वह कोई उडंछू आदमी तो नहीं है। वर्षों पूर्व मैथिली-शरण जी के अथवा प्रेमचन्द जी के सामने जो प्रश्न थे और उन पर जिस प्रकार की प्रतिक्रिया उनकी थी, वही या उतनी ही आज भी हमारी हो, यह आवश्यक नहीं। न यही आवश्यक है कि आज हम उन्हें समय से पिछड़ा हुआ सिद्ध करने में अपने समय और शक्ति का अपव्यय करें। हम उन्हें आज का नेता नहीं मानते इतना ही हमारे लिए बस होना चाहिए। साहित्य के इतिहास में उनका जो स्थान है उसे उनसे कोई नहीं छीन सकता।

यहाँ अब यदि हमें इस सूत्र से निकले हुए कतिपय निष्कर्ष स्थूल रूप से आपके सामने रखने हों तो मैं इस प्रकार रखूँगा—१. परिवर्तन के अन्तर्गत प्रगतिशील

शक्तियों को पहचानना; २. परिवर्तन से उत्पन्न हुई विचारधारा के शब्द-संकेतों का मनोयोग के साथ अध्ययन और प्राचीन प्रगतिशील विचारधारा की शब्दावली और उसके उद्देश्यों की नवीन उद्देश्यों से तुलना; ३. नवीन समस्याओं का प्रगतिशील हल; ४. प्राचीनता के मोह का परित्याग; ५. नवीन समस्याओं के संबंध में साहित्यिक प्रेरणा उत्पन्न करना; ६. रूढ़ियों के प्रति शका उत्पन्न; ७. सोन्मुखी और अस्तगत होते हुए जीवन के यथार्थ (वासोन्मुख) स्वरूप करना और का कलात्मक उद्घाटन।

एक युग में रहकर भी एक समस्या पर कई दृष्टियों से आक्रमण किया जा सकता है। यह तो युग की चेतनात्मक जागृति का सूचक है कि लोग अनेक प्रकार से किसी प्रश्न पर विचार करते हैं। इस सबंध मे किमी प्रकार की हठधर्मी का मैं पक्षपाती नही हूँ। मैं इस वैविध्य को प्रोत्साहन देना चाहता हूँ। इस विषय में मुझे अपने दो मित्रों की अक्सर याद आती है—श्री जैनेन्द्रकुमार और श्री नरोत्तम प्रसाद नागर। दोनों का दृष्टिकोण परस्पर विरोधी है। एक दक्षिणी ध्रुव दूसरा उत्तरी ध्रुव। एक अर्हत् प्रेमी और दूसरे फ्रायड के परम भक्त। 'सुनीता' जैनेन्द्र का एक सामाजिक उपन्यास है। उसमें चित्रण है एक ऐसे परिवार का जिसमें एक युवती पत्नी और उसके पतिदेव हैं। पतिदेव के मित्र एक नवयुवक का बाहर से आगमन होता है। इस नवयुवक में आकर्षण की सृष्टि होती है उसे एक गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन से संबद्ध करके। अब यह क्रान्तिकारी पुरुष है और वह युवती स्त्री। परदा नहीं है। पतिदेव उपन्यास की समस्या को सामने लाने के लिए कुछ दिनों को घर से बाहर कहीं काम से चले जाते हैं। समस्या बिल्कुल प्रत्यक्ष है, परदा रहित परिवार में परपुरुष के प्रवेश की समस्या। अवश्य यह आज की हमारी एक आवश्यक समस्या है। किन्तु इसका समाधान ? इसका समाधान जैनेन्द्र जी करते हैं—एक रात नग्न रूप में उस स्त्री को दिखाकर और क्रान्तिकारी पुरुष के मन में तात्कालिक विरक्ति या मानसिक आघात उत्पन्न करके। किन्तु क्या यह कोई वास्तविक समाधान है ? मैं इसे वास्तविक समाधान नहीं मानता। किन्तु नरोत्तम प्रसाद इसके एक कदम आगे बढ़ते है। उनका आक्रमण जैनेन्द्र की संपूर्ण मनोभूमि पर है। मैं इस समाधान को उपन्यास का कोई आवश्यक अंश भी नहीं मानता। किन्तु नरोत्तम इतने से ही उसका पल्ला छोड़ने वाले नहीं। वे 'शुतरमुर्ग' पुराण लिख कर यह दिखाते हैं कि दमित इच्छाओं का विस्फोट ऐसी ही कृत्रिम प्रणालियों से होता है जिन्हें लोग रहस्यात्मक रूप देकर छिपाना चाहते हैं।

इसी प्रकार हमारे साहित्य में विचारधाराओं का प्रवाह बड़े वेग से फैल रहा

है जिसे मैं व्यक्तिगत रूप से शुभ लक्षण समझता हूँ। आज हमारे यहाँ आध्यात्मिक और वैज्ञानिक संज्ञक वादों को लेकर जो बौद्धिक चर्चा उठी हुई है, उसका परिणाम अच्छा ही देखने में आता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि आक्रमण के साथ-साथ एक दूसरे को समझने की चेष्टा भी उतनी ही मात्रा में होनी चाहिए। साथ ही, यह भी ध्यान में रखना होगा कि कला अथवा साहित्य में नियोजित होने पर कोई भी वस्तु-योजना स्वतंत्र रूप से नहीं परखी जा सकेगी। उसकी परीक्षा उक्त कला या साहित्य-वस्तु के प्रभाव के अंतर्गत करनी होगी।

उदाहरण के लिए जैनेन्द्रकुमार के इस नग्नता-प्रसंग को ही लीजिए। इसके गुण-दोष की परीक्षा हमें इस परिस्थिति के बीच रख कर करनी होगी जो उपन्यास में आयी हुई है। कला में नग्नता स्वतः कोई भली या बुरी वस्तु नहीं। श्रीमद्भागवत और महाकवि सूरदास ने सोलह सहस्र गोपियों का चीर हरण कराया है। यूरोपीय मूर्तिकला के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य कतिपय नग्न प्रदर्शनों का माना जाता है। यह कह कर मैं श्री जैनेन्द्रकुमार की ओर से सफाई नहीं पेश कर रहा हूँ, न यही इजहार दे रहा हूँ कि कलाकृति की समीक्षा में रचयिता की मानसिक-अंतर्चेतना का प्रश्न नहीं उठता। मेरा कहना केवल इतना है कि कला में की गयी कोई भी वस्तु-योजना कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से परखी जानी चाहिए।

उदाहरण के लिए हम 'त्यागपत्र' नामक उपन्यास को लेते है। यदि इसकी समीक्षा मनोविश्लेषण की दृष्टि से की जाय तो विश्लेषक अपना अधिक समय नायिका मृणाल के चरित्र संबंधी अस्वाभाविक झुकावों की ओर देगा। मृणाल की बेतों से मार खाने की इच्छा, अपने भतीजे को गोद में भरना, उससे लिपटना और उसे लिपटाना आदि की मीमांसा वह करेगा। यही रचना वस्तुवादी या **Rationalist** परीक्षक को दी जाय तो वह सूचित करेगा कि इस उपन्यास में अव्यवहार्य अहिंसा का प्रसार करने के लिए उपन्यासकार अपनी नायिका को अनाकांक्षित कष्टों के घोर झमेले में डालता है। वह कहेगा कि मृणाल जैसी तेजस्विता रखने वाली स्त्री यदि विवाह न करना तय कर लेती तो उसका विवाह ही उस व्यक्ति से न होता जिसे वह नहीं चाहती और तब विषम विवाह की समस्या को इस रूप में रखने का अवसर ही न आता। जो स्त्री अपनी अनिच्छा से विवाहित हुई है वह विवाह होने पर पति को सर्वस्व समर्पण कर उसकी अनुचरी बन जायगी, यह गांधीजी की उस टेकनिक के अनुकूल भले ही हो कि जेल के बाहर सत्याग्रह कर पर भीतर सारे नियमों का पालन। किन्तु यह विद्रोही मनोवृत्ति के विकास के उपयुक्त नहीं। इसी प्रकार यह वह भी कहेगा कि उपन्यास की

नायिका किसी क्रमबद्ध मनोविज्ञान के आधार पर नहीं चलती, बल्कि एक अहिंसा-वादी सिद्धान्त-विशेष की पुष्टि के लिए भाँति-भाँति की परिस्थितियों में डाली जाती और आचरण करती है। किन्तु कला-समीक्षक इन पहलुओं पर ही ध्यान न देकर यह भी जानना चाहेगा कि उपन्यास विषम-विवाह की समस्या पर (जो उस उपन्यास में आयोजित है) कैसी गहरी चोट करने में सफल हुआ है। उसे यह अवश्य अनुभव होगा कि मृणाल आज की परवश नारी और विवश कन्या की प्रतीक बना कर दिखायी गयी है। प्रचारात्मक अधिकांश कृतियों की भाँति इसमें भी कुछ दोष हैं अतिरंजना के। और अस्पष्टता इस उपन्यास का दुर्गुण बन गया है, पर इसके प्रभावात्मक गुणों की अवहेलना नहीं की जा सकेगी।

यहीं हम प्रगतिशील साहित्य के तीसरे सूत्र को पकड़ते हैं जिसे हम कला-निर्माण का सूत्र कहेंगे। ऊपर श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री प्रेमचद का हवाला आ चुका है। वहाँ मैंने यह संकेत किया है कि ये दोनों अपने समय के प्रगतिशील साहित्यकार थे, किन्तु ये आज के हमारे नेता नहीं हैं। उनका स्थान इतिहास मे हो गया है, यह एक पक्ष की बात है। उनका एक दूसरा पक्ष है कला-निर्माण का, क्योंकि ये कोरे विचारक नहीं हैं कवि और कलाकार भी हैं। इस दृष्टि से उनकी रचनाएँ सब समयों में पढ़ी जायँगी और समधिक आनन्द प्रदान करेंगी। जिन क्षणों में हम किसी विचारात्मक दृष्टि से अनुशासित नहीं होते, केवल काव्य का अध्ययन करना चाहते हैं, उन क्षणों में कवियों के कला-निर्माण का पक्ष प्रमुख होकर हमारे सामने आता है। तब हम यह नहीं सोचते कि उसने क्या कहा है और किस वर्ग के लिए कहा है, बल्कि यह जानना चाहते हैं कि उसने मानव जीवन के किन पहलुओं पर प्रकाश डाला है, जीवन का समष्टि स्वरूप कैसा खड़ा किया है। किस दिशा में वह हमें प्रभावित कर सका है और किस अथवा किन कला-परिपाटियों का अनुसरण किया है। अक्सर ऐसा भी देखा जाता है कि रचयिता चाहे किसी प्रशस्त विचारधारा का स्वामी न हो किन्तु मानवजीवन के विचित्र अंशों और अवसरों के चित्रण में उसे बड़ी दक्षता प्राप्त हुई है। जीवन के किन सूत्रों को उसने उठाया है, उनका यथोचित समाहार वह कर सका है या नहीं, उसका नक्शा कितना बड़ा है उसकी कला-योजना (चित्र-रचना की क्षमता) और भाषाशैली कैसी है, इस प्रकार के प्रश्न इस अध्ययन में आते हैं। प्रभाव की गहराई, जीवन के व्यापक स्वरूपों का उद्घाटन और उन्हें सत्य के कलात्मक आभास से भरना, अंतर्निहित विचार प्रवाह का प्राणमय संघटन, सारी कृति का समाहित और अटूट ऐक्य आदि ऊँची कल्पना और काव्यशक्ति के परिचायक हैं और इन गुणों से ही कलाकार के महत्त्व का निर्धारण होता है।

कलाकार द्वारा अंकित चरित्र विशेष या चित्र-विशेष की आज कोई व्यावहारिक उपयोगिता चाहे न हो पर कलात्मक उपयोगिता सब समयों में रहेगी—जैसे डिकेन्स के उपन्यास। कभी सामाजिक प्रगति के अवरुद्ध द्वारों का उद्घाटन करने के लिए बुद्धि-विशिष्ट कला की सृष्टि होती है, जैसे इब्सन के नाटक। इस कला के अनेक भेदोपभेद हो जाते हैं और इतिहास में अलग-अलग शैलियों का विन्यास हो जाता है। महान् कलाकारों ने सैकड़ों वर्षों के साहित्यिक इतिहास पर अपनी शैलियों की छाप छोड़ी है। दूर-दूर देशों और दूर-दूर समयों में, जिनके बीच सामाजिक स्थितियों और समस्याओं का कोई एका नहीं—ये शैलियाँ बरती जाती हैं। शेक्सपियर की शैली डी० एल० राय में और होमर अथवा मिल्टन का अनुसरण माइकेल मधुसूदन दत्त में दिखायी देता है। क्लैसिक और रोमैण्टिक नाम की दो अभिव्यक्त शैलियाँ विकसित हुई जिनके भीतर समस्त साहित्य का आकलन किया जाता है (अब भ्रम से कुछ लोग इन दोनों को पृथक्-पृथक् जीवनदर्शन के रूप में लेने लगे हैं पर वास्तव में ये जीवनदर्शन नहीं हैं, कला-शैलियाँ मात्र हैं)। इसी प्रकार 'रियलिज़्म' या वस्तुवाद साहित्यिक और कलात्मक अभिव्यक्ति का एक क्रम है जिसे आज आध्यात्मिक या आदर्शात्मक जीवन-दर्शन का विरोधी माना जाता है। यह भ्रान्ति इन दिनों हमारे साहित्य में खूब फैल रही है।

कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल में अँगूठी खो जाने के संयोग से नाटक में अमित आकर्षण की सृष्टि हुई है। इसी प्रकार शेक्सपियर अपने नाटकों में आकस्मिक संयोगों की नियोजना से कथा को तीव्र आकर्षणमय बनाता है। आज हम एक बुद्धिवादी युग में निवास करते हैं, इसलिए संयोग-नियोजन को हल्की कला-सृष्टि का उपक्रम मानते हैं। हम अधिक विश्वसनीय और सुसंगत आधार नवीन कला का चाहते हैं। उसे हम पा सके हैं या नहीं, यह दूसरा प्रश्न है। यह तो मैंने एक उदाहरण मात्र दिया। हमारा उद्योग कलानिर्माण की दिशा में भी अनेकमुखी प्रगतिशील विकास का है। यह साहित्य और कला के लिए शुभ लक्षण है।

कला-निर्माण का पक्ष साहित्य का प्रधान पक्ष है। इसके अंतर्गत परीक्षित होने पर उन समस्त अनधिकारियों की पोल खुल जाती है जो साहित्य के बाहर बड़े विचारक, जीवन समस्या को सुलझाने वाले दार्शनिक और अग्रगामी बना करते हैं। निश्चय ही वे अपने क्षेत्र में अग्रगामी होंगे, किन्तु साहित्य में आने पर तो उनकी जाँच हमारी साहित्यिक कसौटी पर होगी। संभव है उन्होंने बहुत बड़ा नक्शा बनाने की (महाकाव्य या बड़ा उपन्यास तैयार करने की) हिमाकत की हो, पर नक्शे का बड़ा होना ही उनके असफल हो जाने का कारण बन सकता है। बड़े नक्शे को सजाना, सजीव करना, रूपों-रंगों, कथाओं-अंतर्कथाओं को यथास्थान

नियोजित करना, सारे नक्शे में रचयिता के अंतर्निहित प्राण-प्रवाह का प्रवेश करना, जीवनचरित्र की प्रत्येक रेखा को सप्रयोजन, सुसंबद्ध और गुम्फित स्वरूप देना साधारण कलाकार का कार्य नहीं। यह साधारण कलाकार चरित्रों की सृष्टि कर सकता है, अंतर्व्याप्त स्पंदन और कला की आत्मा की नहीं। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की अपेक्षा उनकी छोटी आख्यायिकाएँ क्यों श्रेष्ठ कला मानी जाती हैं? क्योंकि छोटे दायरे में प्रेमचन्द जी अधिक सफल काम कर सके हैं। और जब प्रेमचंद जी की यह बात है तब उनकी क्या चर्चा जिनकी कला की सीमा में प्रवेश ही नहीं, किन्तु जो अव्यवस्थित समय का लाभ उठा कर अपने को प्रगतिशील साहित्यिक विज्ञापित करते हैं। प्रगतिशील साहित्यिक के लिए आवश्यकता यह नहीं है कि वह नयी विचारणा को लेकर साहित्य के बगीचे में उसे इस प्रकार लगा दे कि वह चार ही दिन में सूख जाय। आवश्यकता यह है कि वह अपनी विचार-लता को कला के संजीवन-रस से सिंचित कर और उसे उपवन के अन्य सुंदर वृक्षों और बेलियों के साथ लहलहाने योग्य बनाये।

ये ही तीन प्रधान सूत्र, मेरे विचार से, प्रगतिशील साहित्य के हैं—जीवन-आस्था, परिवर्तन की पहचान और उपचार तथा कलात्मक स्वरूप का नियोजन। इनमें पहला सूत्र, जीवन-आस्था, प्रकृति की अपनी तजवीज है इसलिए वह ऐसी रचनाओं का आप-से-आप लोप करती चलती है जो उसकी तजवीज के विरुद्ध हैं। किन्तु मुद्रण-कला की अभिवृद्धि के साथ पुस्तकों की ऐसी बाढ़ आ गयी है कि प्रकृति का यह काम पिछड़ गया है। इस सम्बन्ध में हमारा कर्तव्य स्पष्ट ही यह है कि हम प्राकृतिक कार्य में सहायक होकर उसे शीघ्र कारगर होने दें। दूसरा सूत्र हमें मानवसुलभ आलस्य और गतानुगतिकता के विरुद्ध उठ खड़ा होने की चुनौती देता है। नवीन ज्ञान का प्रकाश ग्रहण करने को आमंत्रित करता है। परिवर्तन की एक व्यावहारिक सीमा के अंतर्गत सुव्यवस्थित जीवन-योजना का निर्माण करने का रास्ता सुझाता है। सभी समयों की अपनी-अपनी समस्याएँ होती हैं। उन-उन समयों के साहित्यकार उनका कैसा नक्शा उतारते हैं और कैसे प्रभावशाली तथा निर्णयात्मक रूप में उन्हें हल कर पाते हैं—यह साहित्यकार के महत्व का एक अचूक मापदंड है। विविध विचारधाराओं का प्रसार, मैं कह चुका हूँ, मेरी दृष्टि में, एक उपादेय वस्तु है, साहित्य-क्षेत्र के सजीव, सक्रिय और उर्वर होने का सूचक है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि हम विकारग्रस्त मानसिक अवस्था और तज्जन्य साहित्यिक रचना का भी नवीन विचारधारा और अनुपम कलाकृति कह कर स्वागत करें।

तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण सूत्र है कला के अपने विकास का। भ्रमवश

लोग यह समझ लेते हैं कि किसी विशेष वाद की, जिसके वे हिमायती हैं, काव्य में स्थापना हो जाना ही काव्य के लिए महत्त्वप्रद है। कुछ लोग बड़े ऊँचे आदर्शों का, यहाँ तक कि कुछ लोग राम के नाम का ही काव्य में आ जाना काव्य का चरम लाभ मान लेते हैं। ऐसे ही लोग रहस्यवाद अथवा किसी आध्यात्मिक भावधारा के प्रवेश मात्र से कला के प्रति श्रद्धास्पद धारणा बना लेते हैं। और ठीक इसी के विपरीत कुछ अन्य लोग इसी कारण उसे कोसना आरंभ कर देते हैं। दोनों बहुत ही ऊपरी दृष्टियाँ हैं। ऐसी स्थिति में पहले तो हमें यह देखना होगा कि उस वाद-विशेष का किस प्रकार के मानसिक माध्यम में पर्यवसान हो रहा है (कोई भी वाद या विचारधारा जब कलारूप में आवेगी तो मानसिक माध्यम से होकर ही)। यदि मानसिक माध्यम स्वतः समुन्नत नहीं तो कोई भी वाद श्रेष्ठ कला के निर्माण में सहायक नहीं हो सकता और यदि मानसिक माध्यम सुसंपन्न है तो हमें यह देखना होगा कि उस माध्यम में मानस-साक्षात्कार कराने की, कलात्मक अभिव्यक्ति की शक्ति कितनी है। इसलिए मुख्य प्रश्न यह नहीं कि वाद कौन सा है, बल्कि मुख्य प्रश्न यह है कि वह वाद रचनाकार की मनःस्थिति को किस दिशा में परि-चालित करता है और कैसे काव्य की सृष्टि में संलग्न करता है। किसी वाद-विशेष को रचयिता ने किस रूप में ग्रहण किया है और उसमें काव्यशक्ति कितनी है। अपने मानसिक चित्रपट को काव्य के रूप में अंकित कर देने, फोटोग्राफी की भाषा में 'नेगेटिव' को चित्र का रूप देने में उनकी योग्यता कितनी है। बहुत कुछ रचयिता के अपने व्यक्तित्व और कौशल पर अवलंबित है। इसी व्यक्तित्व का काव्यकला में विकासक्रम नौटंकी से लेकर प्रशस्त जीवन चित्रों की ओर विशाल मानसिक योजना तक देखा जा सकता है।

किन्तु एक बात मैं यहाँ अवश्य कहूँगा। जिन मानसिक उद्वेलनों और विचार-चक्रों का सृजन हमारे युग में हो रहा है, वे ही उत्कृष्ट काव्य के रूप में परिणत होने के अधिक योग्य हैं। हम यहाँ तक कह सकेंगे कि जिस युग में जितने ही बलशाली उद्वेलन जिस दिशा में उठेंगे उन उद्वेलनों को लेकर उतने ही महान् साहित्यकार के जन्म लेने की संभावना उस दिशा में होगी। रूसी और फ्रांसीसी क्रान्तियुगों के साहित्यिक इतिहास से यह कथन परिपुष्ट हो जाता है। कोई भी विराट् उथल-पुथल का युग एक असाधारण मानसिक क्रियाशीलता लेकर आता ही है। आवश्यकता केवल एक ऐसे संयोग की होती है कि कोई रचनाशील मस्तिष्क उस महान् उथल-पुथल को साकार कर दे, उस क्रियाशीलता की विस्तृत छाप छोड़ जाय—अर्थात् उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिक रचनाएँ दे जाय। किन्तु इस बात का आग्रह फिर भी नहीं किया जा सकता कि वे रचनाएँ बाह्य रूप से किसी

परिपाटी-विशेष अथवा किसी वाद-विशेष के अनुकूल हों। इसलिए जो लोग काव्य में किन्हीं वादों को रखने का हठ करते हैं जैसा कि कतिपय 'प्रगतिशील साहित्यिक' आज कर रहे हैं। यही नहीं, उन वादों के काव्योत्कर्ष का प्रभाव रचनाकार पर पड़ता ही है उसे किसी प्रकार की अभिव्यक्ति-विशेष के लिए बाध्य क्यों किया जाय ?

आज हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य के सृजन के कौन से क्षेत्र हैं? निश्चय ही समाजवादी विचारों के क्षेत्र। क्यों? क्योंकि उन्हीं क्षेत्रों ने इस समय नवीन प्रतिभा को आकर्षित कर रक्खा है। क्यों नहीं आज प्रचलित धार्मिक क्षेत्रों में श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाएँ और सुंदर कला-निर्माण हो रहा है? क्यों आज वे पुरानी अनुकृति से ही अथवा दूसरे नवीन क्षेत्रों की प्रगतिशील शैलियों को अपना कर ही संतोष कर रहे हैं? स्वतः नयी भूमि क्यों नहीं तैयार करते? स्पष्ट ही इसलिए कि वहाँ जीवन और उद्भावना का अभाव तथा पिष्ट-पेषण का प्राधान्य है। किन्तु क्या इसी कारण इस प्रगतिशील साहित्य के लिए नियम बना देना होगा कि वह किसी एक प्रणाली से ही व्यक्त किया जाय अथवा किसी विशेष मतवाद का समय-असमय राग अलापा करे। ऐसा करना तो प्रगति को कुंठित कर देना और रचनात्मक शक्तियों को प्रचार की दिशा में मोड़ देना होगा। निश्चय ही प्रचार कला का कोई लक्ष्य नहीं, कला का लक्ष्य तो है सृष्टि। नयी प्राणप्रतिष्ठा, नये-तौर-तरीके (टेकनीक), नूतन छंद, नवीन भाषा, नयी भावाभि-व्यक्ति—ये कला की अपनी प्रगतियाँ हैं।

फिर प्रश्न यह भी है कि केवल समाजवाद ही क्यों? क्या वह जीवन के सब विभागों को पूरा कर लेता है? क्या मनुष्यसमाज के सामने और कोई सवाल नहीं रहा, विकास की कोई दिशा नहीं रही? क्या समाजवाद से ही मनुष्यता अपने आदर्श विकास पर पहुँच जायगी और उसके प्रतिष्ठित होने पर प्रगति का मार्ग बंद हो जायगा? ऐसा दावा कोई नहीं कर सकता। मानव-विकास की अनेक समस्याएँ उसके पहले हैं और उसके पीछे भी रहेंगी। अनेक नवीन प्रश्न उठेंगे। सतत विकास ही प्रगति का ध्येय है। ऐसी अवस्था में कलाकार का रचना-स्वातंत्र्य छीना नहीं जाना चाहिए।

किन्तु हमारी दृष्टि आज बौद्धिक वादों और उनके साहित्यिक निरूपणों की ओर इतनी अग्रसर है कि हम मुख्य कला-विवेचन को छोड़ ही बैठे हैं। यही कारण है कि हम वाद-विशेष का नाम लेकर रचना करनेवालों के प्रति एक धारणा कायम कर लेते हैं और फिर किसी प्रकार उसे छोड़ने को तैयार नहीं होते। हमारी निष्पक्ष कलादृष्टि संकुचित हो जाती है। इसी कारण बहुत से रचनाकारों को

अनुचित लांछन मिली है (जैसे 'प्रसाद' जी के काव्य को आये दिन कुछ क्षेत्रों में मिल रही है) और बहुतों को अनुचित प्रशंसा भी हासिल हुई है। (जैसे प्रेमचंद जी के उपन्यासों की कलात्मक निःशक्तता की ओर ध्यान न देकर कुछ लोग उन्हें आसमानी उचाइयों पर पहुँचा रहे हैं अथवा श्री सुमित्रानन्दन पंत की कुछ नवीन रचनाओं की, केवल कम्यूनिस्ट छाप के कारण, सराहना की जा रही है। उपदेशात्मकता में वे तीस साल पूर्व की कविताओं की ओर बढ़ रही हैं और शृंगारिकता में बिहारीलाल से होड़ करती हैं।)

ऊपर मैंने जिन तीन प्रगतिशील सूत्रों का उल्लेख किया वे साहित्य और कलाओं में एक-दूसरे से मिले रहते हैं। यही नहीं, वे एक-दूसरे को वेष्टित करते और सुदृढ़ बनाते हैं। ये सूत्र जब साहित्य में एक साथ ग्रथित हैं तब इनका पृथक्-पृथक् निरूपण करने में न केवल कुछ कठिनाई होती है बल्कि यह शंका भी उत्पन्न होती है कि क्या ये एक-दूसरे से पृथक् किये भी जा सकते हैं। यहाँ मैंने इनका अलग-अलग निर्देश इसलिए किया है कि इनको मैं तीन पृथक् प्रवृत्तियाँ मानता हूँ जो संयुक्त होकर भी अपने अपने विशिष्ट प्रकार से साहित्य अथवा कला का उन्नयन करती हैं।

अब मैं आपका अधिक समय नहीं लूंगा, किन्तु अपना यह वक्तव्य समाप्त करने के पूर्व मैं आप लोगों के सामने (जो अधिकांश हिन्दी प्रांत के निवासी नहीं हैं) अपने साहित्य के उन तीन नवीन उत्थानों के विशिष्ट रचनाकारों के नामों का सक्षेप में उल्लेख करूँगा जिन उत्थानों का जिक्र मैंने अपने वक्तव्य के आरम्भ में किया है। यहाँ इन उन्नायकों की विशेषताओं का प्रदर्शन नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि उसके लिए समय पर्याप्त नहीं। किन्तु नामावली स्वतः अपना उपयोग रखती है। आप चाहें तो इनमें से एक या अनेक का रचना-सौष्ठव देखने के लिए इनका अध्ययन करें और अपने-अपने प्रान्तीय साहित्यकारों की तुलना में इन्हें रख कर देखें। ये नाम मैंने अपनी रुचि से छाँटे हैं, इसलिए इनकी जिम्मेदारी स्वभावतः मुझ पर ही है। अतः मैं सबसे पहले उन महानुभावों से क्षमा लूंगा जिनके नाम इस छोटे पैमाने में नहीं आ सके हैं।

मैं कह चुका हूँ कि हमारा साहित्य पिछले तीस वर्षों में तीन प्रगतिशील आन्दोलनो का सृजन-संचालन कर चुका है। एक तो विगत युद्ध के पूर्व का साहित्यिक आन्दोलन जिनके विधाता गद्य में श्री महाबीरप्रसाद द्विवेदी और काव्य में श्री मैथिलीशरण गुप्त माने जा सकते हैं। इसके अन्य उन्नायकों में श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय और श्री श्रीधर पाठक जैसे काव्यरसिक भी गिने जायेंगे। महायुद्ध के पश्चात् भी यह आन्दोलन चलता रहा जबकि इसकी आखिरी बहार

में दो सर्वसुंदर पुष्प खिले—श्री रामचद्र शुक्ल और श्री प्रेमचद। दूसरा साहित्यिक आन्दोलन यद्यपि शिलान्यास की दृष्टि से महायुद्ध का समसामयिक है, किन्तु उसने जड़ पकड़ी श्री जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' काव्य के प्रकाशन के पश्चात्। यह साहित्य में रोमैण्टिक-विद्रोह का आन्दोलन कहा जा सकता है जिसने विभिन्न रचनाकारों की प्रवृत्ति के अनुसार बहुमुखी रूप धारण किये है। पंत और निराला इसके प्रमुख काव्य उन्नायकों में हैं। कल्पना, कला, शब्दशक्ति और व्यक्तित्व उसे इन दोनों ने दिया। फिर एक ओर यह महादेवी की करुण आध्यात्मिक रागिनी में परिणित हो गया और दूसरी ओर भगवतीचरण वर्मा की उन्मादयुक्त खुमारी तक पहुँच गया। सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार और रामनाथ 'सुमन' की ऐकान्तिकता और आदर्शवादिता से लेकर भगवतीप्रसाद की निराशामूलक कथाओं तक इसकी अनेकानेक भावभंगियां दिशाविभाग और 'शेड्स्' दिखायी देते है। इसकी एक अनोखी दीप्ति श्री 'उग्र' की रचनाओ में दीखी थी किन्तु प्रतिकूल झझावात ने वह सुन्दर दीपक बुझा दिया। हाल की कहानियों में उसकी किमाकार (कुरूप) लौ ही रह गयी है जिसके प्रशसक है उसकी उगती प्रतिभा पर कुठाराघात करने वाले कुछ महानुभाव। 'नवीन' और 'माखनलाल' इस व्यापक आन्दोलन के राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रहरी हैं। 'दिनकर' उनके वीर बालक हैं, सुभद्राकुमारी उनकी सहकारिणी। श्री इलाचंद्र जोशी, रामकुमार वर्मा, गोविन्द वल्लभ पंत और वृन्दावन लाल के नाम भी इस युग के उन्नायकों मे आते है। इस विराट् आन्दोलन के प्रधान प्रतिनिधि जिनकी रचना मे ऊपर उल्लेख किये गये प्रायः सभी 'शेड्स्' या दिशाविभाग मिलते है—श्री जयशंकर प्रसाद है। प्रतिभा, कल्पना, अध्ययन और बौद्धिक अंतर्दृष्टि में वे अपने साहित्ययुग के अन्यतम व्यक्ति थे। साहित्यनिर्माण में उनका-सा बहुमुखी, विस्तृत और प्रतिनिधिमूलक कार्य किसी ने नहीं किया।

इस कल्पनाप्रधान विद्रोही-युग की सामयिक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई राजनीति मे समाजवादी विचारों के आगमन और अतर्राष्ट्रीय पी० ई० एन० क्लब की हिन्दी में स्थापना के पश्चात्। इस क्लब की सदस्यता हिन्दी में मुंहमाँगे मिल रही थी, इसलिए बहुत-से अयाचित और अनाकांक्षित व्यक्ति इसमें आरम्भ से ही सम्मिलित हो गये। जिन्हें साहित्य के राजद्वार से मार्ग नही मिला वे इस रास्ते घुस आये। फिर सम्भवतः इस क्लब को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से इसमें श्री सुमित्रानन्दन पंत जैसे भिन्नरुचि व्यक्ति को प्रवेश कराया गया और उन्हें प्रगति का सूत्र सौंपा गया। यह सारी चेष्टा ऊपर ही ऊपर चल रही थी। काव्यक्षेत्र में इसके पनपने के लिए जमीन तैयार नही की गयी।

जमीन आगे चलकर तैयार हुई पर स्वतंत्र उद्योगों से। उसका अधिनायकत्त्व पंत को नही मिल पाया, वह मिला 'बच्चन' और 'अंचल' को जिन्होंने काव्यक्षेत्र में नयी भाषा चलायी, नयी भावधारा प्रवाहित की। कथा-साहित्य में उसके उन्नायक 'अज्ञेय' और यशपाल आदि हैं। नाटकों में नवीन कार्य लक्ष्मीनारायण मिश्र ने आरम्भ किया और अब भुवनेश्वर प्रसाद आदि चला रहे है। विचारों के क्षेत्र में इस नयी हलचल का प्रतिनिधि मैं डॉक्टर हेमचंद्र जोशी को मानता हूँ, यद्यपि अब वे इस क्षेत्र में नहीं हैं। मेरा विश्वास है कि अब भी यह आन्दोलन अपनी गहरी नींव नही जमा सका है और इसका स्वाभाविक कारण यही है कि रचनात्मक कार्य की अपेक्षा, प्रचार और प्रदर्शन की ओर हमारी अधिक अभिरुचि है। दूसरी बात यह है कि प्रतिक्रिया के रूप में इसके उच्छृंखल पक्षों ने जोर पकड़ रखा है।

किसी भी साहित्यिक आन्दोलन की सही-सही विशेषताओं का निरूपण और परख मेरे विचार से उस आन्दोलन के पुरस्कर्ता उतनी निष्पक्ष दृष्टि से नहीं कर सकते। इसके लिए आवश्यकता है तटस्थ समीक्षा की जिसका अधिकांश भार विश्वविद्यालयों के अध्यापकों और विशेषज्ञों (Academicians and Specialists) को उठाना चाहिए। मुझे यह कहते खेद होता है कि हमारे विश्वविद्यालयों के अध्यापक अपने इस कर्तव्य की ओर उचित रूप से अग्रसर नही है।

इसके लिए यह भी आवश्यकता है कि सामयिक पत्रिकाएँ और पत्र इस विषय में दिलचस्पी ले और सम्यक् रूप से सामयिक साहित्य के अनेकानेक पहलुओं पर प्रकाश डाले। खेद है कि यह क्षेत्र और भी अविकसित है और इस समय बहुत थोड़े योग्य व्यक्ति सामयिक पत्र-पत्रिकाओं का परिचालन कर रहे हैं। बड़ी और पुरानी पत्रिकाओं की यह अधोगति देखकर ही हाल में कुछ छोटी-छोटी विचारात्मक पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी है। मैं इन उद्योगों की सफलता चाहता हूँ। साप्ताहिक और दैनिक पत्र भी साहित्य सम्बन्धी चर्चा के लिए अपना द्वार प्रायः बंद किये हुए हैं। वे लोकरुचि की दुहाई देते हैं और कहते है कोई पढ़ता नहीं इन लेखों को। किन्तु क्या इतनी ही सफाई काफी है? मेरे विचार से कुछ दिनों तक निरुद्देश्य भी विचारपूर्ण साहित्यिक लेखों को (जहाँ तक हो सके सरल भाषा में) छापते रहना रुचि-सस्कार-कारक होगा। हमारे पत्र-सपादक क्या इस कर्तव्य की ओर ध्यान देंगे? आज हिन्दी मे निम्नकोटि की कहानियाँ और तत्संबंधी पत्रिकाओं का बाजार गर्म है। कई प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ साहित्य की दृष्टि से एकदम निरुद्देश्य निकल रही हैं। यह स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक है। मैं तो इसके सुधार की अपील भर कर सकता हूँ।

अभिभाषण-५

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

वन्धुओ और देवियो,

आपने मुझ जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति को जो यह सम्मान देने की कृपा की, उसका एक ही उद्देश्य मेरी समझ मे आया है। साहित्य रचना को जीवन-साधन के रूप में निर्वाह करनेवाले साहित्यकार का अपने समाज और राष्ट्र के प्रति निश्चय ही एक दृष्टिकोण होना है। और युग की माँग है कि वह दृष्टिकोण स्पष्ट हो। अतएव ऐसा अवसर देने के लिए मैं आपका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

स्वान्तः सुखाय साहित्य-रचना का युग

अपने देश मे साहित्य-रचना का कार्य पहले स्वान्तः सुखाय होता था। महर्षि वेदव्यास और वाल्मीकि आदि ऐसे साहित्यकार थे, जिनके सम्बन्ध में यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्य को जीवन-निर्वाह का हेतु उन्होंने कभी नहीं वनाया। किन्तु कालान्तर में साहित्यकार स्वतत्र जीविका-भोगी न रहकर राज्याश्रित हो गया। इस अवस्था-परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि साहित्य-रचना में जो स्वतंत्रता उसे राज्याश्रित होने से पूर्व प्राप्त थी, तब रह न सकी। प्रायः उसे अनिच्छा-पूर्वक भी रचना करनी पड़ी। आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति उसकी प्रेरणा पर लदने लगी और एक ऐसा भी समय आ गया, जब उसकी अपनी अन्तरात्मा की पुकार दब गयी और समस्त साहित्य राजकीय वैभव और पराक्रम के कीर्त्ति-गान अथवा रस-पिपासा-तृप्ति मात्र का साधन हो गया।

हमारे आदिकालीन साहित्य-निर्माता साधक होते थे। जगत्, सृष्टि, समाज और उसकी व्यवस्था में, मनुष्य-जीवन के निखिल सामान्य और विशिष्ट स्वरूपों में, मानवी सुख और यंत्रणा भोग के नाना प्रकारों में, वे एक चिरस्थायी, निश्चित और व्यापक विधान पाते थे। मनुष्य के दैनिक जीवन के क्षण-क्षण की कर्मधारा को हृदयङ्गम करते हुए जगत् और सृष्टि के अगम रहस्यों के भेदाभेद की व्याख्या

उन्होंने की थी। वे मानव-हृदय के अतलस्पर्शी ज्ञाता थे। उनकी अन्तर्दृष्टि इतनी तीव्र, उनका चिन्तनलोक इतना विस्तृत और उनके विवेक का मापदण्ड इतना खरा उतरता था कि जीवन से परे वे अजीवन के भी तत्वदर्शी हो गये थे। उनकी वाणी में सत्य जलते हुए अंगार के रूप में फूटता था। उनका क्रोध अमिट, अक्षय, भविष्यवाणी बनकर रहता था। जीवन-रहस्य के अनुसंधान में कामवासना, तृष्णा, स्वार्थ और असंयम को जला-जलाकर उसी की अग्नि से उन्होंने अपने में गरमाहट की जीवनी-शक्ति स्थिर रक्खी। अपने न्याय, नीति, धर्म और संस्कृति में हम जिस कठोर सत्य का दर्शन पाते हैं, वह उनकी इसी साधना का फल था। आज तक हम अपने अन्तःकरण में जिस संस्कृति के अक्षय तत्त्व पा रहे हैं, वे उसके निर्माता थे।

राष्ट्र, संस्कृति और साहित्य

संस्कृति और साहित्य का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य की आत्मा में सस्कृति निवास ही नहीं करती, वरन् साहित्य वास्तव में संस्कृति का ही भाव-पक्ष है। किसी राष्ट्र की संस्कृति क्या है, यह जानने का सबसे सुगम और उत्तम मार्ग उसका साहित्य है। किन्तु साहित्य का संस्कृति के साथ जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, उससे कम सम्बन्ध उसका राष्ट्र के साथ नहीं होता। यहाँ तक कि कभी-कभी साहित्य के लिए यह एक विचारणीय विषय बन जाता है कि वह राष्ट्र का पक्ष ले, या संस्कृति का।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या कभी राष्ट्र के स्वार्थ उसकी संस्कृति के विपक्ष में भी जाते हैं? मैं कहूँगा—हाँ, कभी-कभी ऐसा होता है। राष्ट्र के सामने जव उसकी स्वाधीनता के रक्षण अथवा पोषण की समस्या प्रधान हो जाती है, अथवा वह अपना नव-निर्माण करना चाहता है, तब वह स्थायी कार्यकलाप की गनि रोककर केवल तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर विशेष रूप से उन्मुख होता है। युग के रूप में बाँटना चाहें, तो हम कह सकते हैं कि साहित्य दो प्रकार का होता है—एक शान्तियुग का, दूसरा अशान्ति युग का। और अशान्ति युग के साहित्य का सांस्कृतिक हितों और योजनाओं से उतना सम्बन्ध नहीं रहता, जितना राष्ट्र की तात्कालिक समस्याओं और हलचलों से। तभी साहित्यकार व्यक्तिगत आस्थाओं, विश्वासों और प्रवृत्तियों का मोह त्यागकर क्रान्तिकारी तथा राष्ट्रीय भावधाराओं का पोषण करता है। साहित्य की रचना का यही वह काल होता है जब वह स्वान्तः सुखाय नहीं होती। पर शान्ति-युग में साहित्य और कला का आदर्श स्वान्तःसुखाय भी होता है। इसी युग में अधिक सम्भावना

रहती है कि साहित्य अथवा कला केवल भावोच्छ्वासमयी हो और सौन्दर्य्य की आकांक्षा-पूर्ति उसका ध्येय हो। 'कला कला के लिए' इसी स्थिति के सिद्धान्त का विकसित रूप है।

आज का साहित्य और साहित्यकार

किन्तु इस समय हमारे देश के सामने समस्याओं के पर्वत खड़े हैं। स्वतंत्रता की समस्या तो सर्वप्रधान है; किन्तु उसकी प्राप्ति के मार्ग में जो आधारभूत बाधाएँ हैं, वे पृथक् रूप में, एकाकिनी होकर भी, कम उलझनदार और भीषण नही हैं। क्या ऐसी स्वाधीनता कभी शोभन हो सकती है, जो आज प्राप्त होकर कल खो दी जा सके? स्वाधीनता हमें ऐसी चाहिए, जिससे हम अपने राष्ट्र का नवनिर्माण करने में समर्थ हों। हम समर्थ हों कि समय-कुसमय के अन्तर्राष्ट्रीय आघातों और आक्रमणों से अपने देश की रक्षा तो कर सकें--अपनी प्राप्य स्वाधीनता की मानमर्यादा को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की क्रूर चालों से अक्षुण्ण तो रख सकें।

राष्ट्र की सामयिक समस्याएँ क्या हैं, वे कैसे सुलझ सकती हैं, इसका चिन्तन और विधानात्मक आकलन राजनीतिक क्षेत्र के तत्वदर्शी विचारक-मनीषियों का काम है। हमें तो केवल यह देखना है कि इस दिशा में साहित्य का अपना धर्म क्या है?

एक युग था, जब साहित्यकार समाज और देश की समस्याओं के हल से अपना सम्बन्ध नहीं मानता था। वह जीवन की व्याख्या में भावोच्छ्वास का स्रष्टा होता था। उसकी दृष्टि सौन्दर्य्य की आकांक्षातृप्ति की ओर रहती थी। किन्तु आज सौन्दर्य की भूख को तृप्त करने तक ही कला को सीमित रखने—केवल भावोच्छ्वास को जगाने—तक हम साहित्य को मर्यादित नही रख सकते। आज के साहित्यकार को नैतिक ज्ञान के आलोक की सृष्टि करते हुए, जनगण की दैनिक आवश्यकताओं, सम्भावनाओं और उसकी विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को, उसके निम्न धरातल से उठाकर, जीवन के लिए उपयोगी, समाज के लिए हितकर और राष्ट्र के लिए चेतना-प्रद बनाना होगा। आज का साहित्यकार मानवता के नाम पर, संस्कारगत रूढ़ियों, मानसिक दुर्बलताओं और विकृतियों को महत्त्व देना स्वीकार नही करता। वह तो राष्ट्र के नव-निर्माण में बाधा पहुँचानेवाली—गति-निरोधक —रूढ़ियों का पर्दा फाड़कर कला के उस शिव और महासत्य रूप का प्रतिपादन करेगा, जिसका धर्म है मनुष्य को उसके क्षणिक भावावेश से ऊपर उठाकर विवेक के हाथ में सौंप देना। युग की माँग है कि साहित्य नवपथ-

गामी हो क्योंकि उसका मुख्य हेतु सृष्टि की भावी नव कल्पना है। वह क्रान्तिकारी हो; क्योंकि नवीन अनुभावों की किरण-रेखाएँ परम्परा के गति-विरोधी आभिजात्य पर बिजली की भाँति गिरती है। और वह आवश्यकतानुसार ध्वंसक भी हो; क्योंकि वह समाज में उस प्रकार की शान्ति रखने का पक्षपाती नहीं, जो श्मशान अथवा समाधि-स्थान-सी नीरव, निर्जीव और नाशमूलक होती है। वह तो निन्द्रित, कायर और भीरु समाज के शान्ति-भंग को राष्ट्रीय जागरण के नाम पर परमावश्यक मानता है।

राष्ट्रीयता का व्यापक रूप

यहाँ राष्ट्र शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। युग की माँग है कि एक ओर साहित्यकार राष्ट्र की उत्थान-मूलक भावनाओं का समर्थक हो, तो दूसरी ओर राष्ट्रीय विचारक और अधिकारी वर्ग भी साहित्य की प्रगतियों को बल देता रहे। पर हमारे यहाँ हुआ यह है कि हमारे जो साहित्यिक बन्धु, एक साधक की भाँति, चुपचाप साहित्य-रचना में रत रहे हैं—स्पष्ट है कि प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण राष्ट्रीय हलचलों में क्रियात्मक भाग नही लिया—उनको देश के राजनैतिक वर्ग से उपेक्षा और अनास्था मिली है। मैं इसे उलहने के रूप में नहीं ले रहा। किन्तु संकोच त्यागकर इतना कहना चाहता हूँ कि इस विषय मे कुछ भ्रान्तियाँ उस समाज में अवश्य हैं। यहाँ तक कि हमारे देश की जो जनता साहित्यिक और साहित्यानुरागी मानी जाती है, इस अंश में उसने भी कम भ्रान्ति का परिचय नहीं दिया। हमारे साहित्यकारों के प्रति उसकी भी हीनभावना कम नहीं है। अतएव-आवश्यक हो गया है कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता के मर्म को हम एक बार समझ लें।

राष्ट्र किसी सीमितभूभाग के प्रासादों और महलों के सत्ताधारियों का नाम नहीं है। अँगुलियों के पोरों में गिने जानेवाले महामति राजनीतिज्ञों अथवा शासकों की व्यक्तिगत मान्यताओं के पीछे भी राष्ट्र ने चक्कर काटना नहीं सीखा। राष्ट्र तो उस भूभाग के जनगण, उसकी भाषा, संस्कृति और शासन-व्यवस्था की उस आधारभूत एकता का नाम है, जो इन विशेषताओं के कारण अपने को दूसरे राष्ट्र से पृथक् बनाती है। स्वतंत्र होना अथवा स्वाधीनता की ओर उन्मुख होना उसकी पहली शर्त है। अतएव राष्ट्रीय कर्तव्यों की पूर्ति केवल तभी होती है, जब उसके विधायकों के व्यवहारों का परिणाम पक्षपातहीन होता है। राष्ट्र एक आत्मा है, एक सिद्धान्त। दो वस्तुएँ उसका निर्माण करती हैं। पहली उसके अतीत की होती है, दूसरी वर्तमान की। पहली जनसाधारण में व्याप्त परम्पराजन्य

स्तुतियों की समृद्धि है, दूसरी उसकी संगठन सम्बन्धी आकांक्षाओं की वास्तविक स्वीकृति। अतएव जो भाव-धाराएँ राष्ट्र के संगठन, शासन-व्यवस्था, संस्कृति और आत्म-चेतना के संरक्षण और उन्नयन मे बाधा न पहुँचाकर उन्हे स्थिर रखती, उत्तेजन देकर उन्हें स्पष्ट करती, विचार और विमर्श की सृष्टि करके उनकी दुर्बल और विकृत प्रवृत्तियो और मान्यताओं पर आलोक फेंकती है, वे सब राष्ट्रीय है। यहाँ शासन-व्यवस्था शब्दों का प्रयोग मैंने राष्ट्र के लिए किया है। स्पष्ट है कि मेरा अभिप्राय वर्तमान परिस्थिति मे अपने देश की राष्ट्रीय व्यवस्थाओं से है।

इस स्थल पर मैं अपने कतिपय परमपूज्य नेताओं को यह भी स्मरण दिला देना चाहता हूँ कि भारतीय राष्ट्र में जो कुछ भी चेतना आज आप देखते है, उसमें हम साहित्यिकों का कम भाग नहीं है। साहित्य और राजनीति का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। और, अगर यह सत्य है कि राजनीति का प्रभाव साहित्य पर पड़े बिना नहीं रह सकता, तो यह भी उतना ही सत्य है कि साहित्य से राजनीति के आदर्शों को पोषण मिलता है। राजनीति राष्ट्र की प्रगति के लिए जहाँ संकेत है, वहाँ साहित्य उसकी भावात्मक कर्म-धारा। राजनीति के आदर्शों की पूर्ति साहित्य का अपना स्वभाव है, धर्म है। किन्तु जहाँ राजनीति सांस्कृतिक धरातल से पृथक् जाती है, वहाँ साहित्य का यह धर्म हो जाता है कि वह उसकी भ्रमात्मक मान्यताओं और धारणाओं से अपनी संस्कृति का रक्षण करे। इस स्थल पर मैं यह भूल नहीं रहा हूँ कि अशान्तिकालीन साहित्य का धर्म यह भी है कि वह अपनी आधारभूत स्थायी प्रवृत्तियों का मोह त्यागकर क्रान्तिकारी धाराओं की ओर उन्मुख हो। अस्तु, यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि ऐसी दशा में साहित्य किसका पक्ष ले? संस्कृति का अथवा राष्ट्र के तात्कालिक हित का?

राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ अन्याय

तब यहाँ इस उत्तर-स्थापना से पूर्व हमें देखना होगा कि—(१) राष्ट्र के नव-निर्माण के लिए, साहित्य का तात्कालिक धर्म, उसके भावी विकास में अपना स्थान क्या रखेगा। यहाँ हमें यह भी देखना होगा कि (२) साहित्य के उस तात्कालिक धर्म में जन-मत की आस्था कितनी है।

दोनों ही दृष्टियों से राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्वरूप के सम्बन्ध में, कहने भर को हिन्दुस्तानी किन्तु वास्तव में उर्दू का पक्ष लेकर, क्या सरकार और क्या हमारे कुछ राजनीति-विधायकों ने जिस एकांगी और पक्षपात-पूर्ण नीति का परिचय दिया है, वह न केवल हम साहित्यकारों के लिए वरन् सम्पूर्ण हिन्दी संसार के लिए

इस समय असह्य हो उठा है। मैं इसे निर्विवाद मानता हूँ कि हिन्दी सम्पूर्ण राष्ट्र की अन्तरात्मा की एकमात्र सरल भाषा है। किन्तु, मुझे बहुत खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि इस सम्बन्ध में हमारे एक-आध मान्य नेताओं ने भ्रमवश भूल की है। भारत की जिस पठित-अपठित शिक्षित-अशिक्षित, अर्धनग्न, मूक और दीन-हीन जनता का प्रतिनिधित्व वे कर रहे हैं, जो राम-कृष्ण की उपासक है और जिसके घरों में रामायण तथा गीता का पाठ होता है, उसकी सांस्कृतिक मान्यता की ओर यदि वे एक बार दृष्टि डालने का कष्ट करते, तो अपने थोड़े से नगर-निवासी मुसलिम बन्धुओं अथवा सहयोगी नेताओं से किसी प्रकार उनके संकुचित अथवा आतंकित होने की स्थिति ही न उत्पन्न होती। मैं यहाँ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि जो मुसलिम जनता गाँवों में निवास करती है (और स्पष्ट है कि वह नगर-निवासी मुसलिमों से कहीं अधिक है) हिन्दी को वह भलीभाँति समझती है और उसके विषय में उसका विरोध भी नहीं के समान है। (यह बात मैं एक ऐसे ग्राम के निवासी की हैसियत से कह रहा हूँ, जिसकी मुसलिम जन-संख्या पाँच सौ से ऊपर है।) फिर जिस प्रजातंत्र के लिये हम लड़ रहे हैं, उसके अनुसार, राष्ट्रभाषा के निर्णय के सम्बन्ध में, नगण्य विरोध से प्रभावित होने का अर्थ उनकी मानसिक दुर्बलता नहीं तो और क्या है? अपने जिन नेताओं के प्रति अटूट श्रद्धा यह हृदय रखता है, उन्हीं के लिए जब उसे इन शब्दों का प्रयोग करना पड़े, तब यह स्वर कितने गहरे आघात का होगा, यह सोचने की बात है।

साहित्यकार को युग-वाहक नहीं, युग-चेता होना चाहिए

अशान्तिकालीन साहित्य के नवपथगामी, क्रान्तिकारी और ध्वंसक इन तीनों रूपों में जन-साहित्य की पूर्ति हो जाती है। प्रायः हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता रहता है कि क्या साहित्यकार का अपना कोई दृष्टिकोण नहीं होता? क्या वह केवलयुग-वाहक (Time Saryar) होता है? अपनी मान्यता हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं कि अशान्तियुगीन साहित्य केवल राष्ट्र की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर उन्मुख हुआ करता है। किन्तु इस दिशा में कुछ विचारणीय विषयों पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक हो गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि साहित्यकार युगवाहक नहीं होता। यह भी सत्य है कि वह रात-दिन अविकल चिन्तन में रत रहकर, विश्व के अणु-अणु के भीतर पैठकर मानवता के चिरन्तन सत्य के अन्वेषण में लगा रहता है। राष्ट्र के लिए वह कम गौरव की वस्तु नहीं है। ऐसे साहित्यकारों की कमी नहीं है जिन्होंने अपनी कृतियों में समाज और राष्ट्र की समस्याओं को विशेष महत्त्व नहीं दिया, फिर भी वे न

केवल युग के, वरन् युग-युगान्तर के मान्य साहित्यकार हो गये हैं। वह कलाकार कम वन्दनीय नहीं है, जिसकी कृतियाँ युग-विशेष की सीमाओं में न आकर चिर-काल और चिरजीवन की सम्पत्ति हुआ करती हैं। यह भी सत्य है कि जनता की रुचि सदा एक-सी नहीं रहती। ऐसा भी समय आता है, जब चिन्तन और कला की सूक्ष्म विशेषताओं पर रीझना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। आज तो आँधियाँ ही युग की विशेषता बन गयी है। इसलिए ऐसा साहित्य पचा सकना उसके लिए कठिन हो सकता है, जिसमें मस्तिष्क को रुक-रुककर आगे बढ़ना पड़ता है। आज तो सम्भव है, जनता को यह सोचना पड़ता हो कि जैसे मैं जीवन-कलह के लिए भाग रही हूँ, मेरा साहित्य भी क्यों न उसी तरह भागता रहे! किन्तु आँधियों का अस्तित्व कितनी देर के लिए होता है! फिर ऐसे अशान्त और अस्थिर काल की प्रवृत्तियों को महाकाल के चिरस्थायी पट पर छापने की चेष्टा कहाँ तक युक्ति-युक्त है?

किन्तु साहित्यकार को युग-वाहक न मानते हुए भी युगचेता तो हमें मानना ही होगा! अन्ततोगत्वा साहित्यकार भी होता इसी लोक का प्राणी है। अपने समुन्नत मानस-क्षितिज के कारण, इसमें सन्देह नहीं कि, वह समाज के उच्च-से-उच्च व्यक्ति के समान व्यक्तिगत स्वतंत्रता-लाभ करने का पूर्ण अधिकारी है। किन्तु कलाकार और साहित्यकार होने के अतिरिक्त वह मनुष्य भी है, समाज का एक अंग भी। और अपने इस अंश के कर्तव्य-भार से वह बच नहीं सकता। उसका यह नैतिक उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह समाज को अपनी व्यावहारिक सेवाएँ भी अवश्य ही प्रदान करे। कलाकार होने के नाते जो लोग सामाजिक उत्तर-दायित्व की अवहेलना करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि वे भी एक सामाजिक प्राणी हैं और अपने इस अंश के कर्तव्य से वे किसी प्रकार मुक्त नहीं हो सकते।

रह गयी बात उनकी कलात्मक विशेषता की। सो, जो कला सामाजिक पृष्ठभूमि से परे अनिश्चित, अनन्त और केवल कल्पना-क्षेत्रों में चिरन्तन सत्य का अन्वेषण कर सकती है, वह सामाजिक भूमि पर आकर ही कुण्ठित हो जायगी, यह बात मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। क्या विश्व-साहित्य में ऐसे साहित्यकारों की कमी है, जिन्होंने समाज, इतिहास और राजनीति की भूमि पर उतरकर भी अपनी कलात्मक विदग्धता का अत्यन्त अभिराम आकलन किया है? सर्वश्री विक्टर ह्यूगो, गोर्की, इब्सन और शॉ एवं अपने प्रेमचन्द तथा 'प्रसाद' को हम क्यों महत्त्व देते हैं? क्योंकि इतिहास, राजनीति और समाज की पृष्ठभूमि लेकर भी मानवता के अक्षय समीकरण पर उनकी दृष्टि बराबर स्थिर रही है।

जन-साहित्य की रूपरेखा

अब हमें इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना है कि हमारे जन-साहित्य की रूपरेखा क्या हो? (१) क्या जन-साहित्य वह है जिसकी रचना जन-साधारण द्वारा की जाय? (२) अथवा यह कि रचित वह चाहे जिस समुदाय द्वारा हो, किन्तु उसका ध्येय ऐसी शासन-व्यवस्था का समर्थन होना चाहिए, जिसमें पूँजीपति सत्ताधारियों की अपेक्षा श्रमजीवियों के अधिकारों का अधिक पोषण सम्भव हो। (३) अथवा उस साहित्य में कुछ ऐसी संजीवनी शक्ति हो कि एक ओर से वह जनसाधारण की भावधाराओं का पोषण करनेवाली हो, तो दूसरी ओर से अखिल मानवता के उत्पीड़न और जागरण पर भी प्रकाश डालती हो।

प्रथम प्रकार के साहित्य के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह होगी कि जनसाधारण के द्वारा जो साहित्य आयेगा, उसका बौद्धिक धरातल बहुत निम्न-कोटि का होगा। यहाँ उन कारणों पर प्रकाश डालने का अवसर नहीं है, जिनके द्वारा यह प्रमाणित किया जा सके कि जन-साधारण के द्वारा जिस प्रकार की साहित्य-रचना सम्भव है, वह कभी उच्चकोटि की हो नहीं सकती। यह ठीक है कि प्रतिभा वर्ग की चेरी नहीं है। वह निम्नवर्ग में भी हो सकती है। किन्तु जन-साधारण के ज्ञान और चिन्तन का स्तर प्रायः उतना उच्च नहीं होता, जितने की अपेक्षा, साहित्य के विकास के लिए, अनिवार्य होती है। यहाँ कुछ अपवादों की बात पर मैं ध्यान नहीं दे रहा। यहाँ तो प्रकृत स्थिति के मर्म पर ही विशेष दृष्टि रखना आवश्यक हो गया है।

द्वितीय प्रकार के साहित्य का उद्देश्य वर्ग-संघर्ष है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार के राष्ट्रीय नवनिर्माण की ओर हमारी दृष्टि आज उन्मुख है, वर्ग-चेतना उसके लिए अनिवार्य है। किन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि ज्ञान और प्रतिभा, विवेक और भावोच्छ्वास के समन्वय के लिए वर्ग-संघर्ष, आज की परिस्थिति देखते हुए, हमारे साहित्य के लिए युक्तिसंगत कहाँ तक है? यहाँ यह भी स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि नैतिक आलोक और बौद्धिक विकास के क्षेत्र पर केवल वर्ग-संघर्ष को अधिकृत कर देना साहित्य के स्वतंत्र प्रतिष्ठान के लिए सदा हितकर नहीं होता। समाज का अंतिम विकसित रूप वह होगा, जिसमें वर्ग-विभेद का लोप हो जायगा। तब तो समस्त समाज ही एक वर्ग हो जायगा। इसके सिवा क्या निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इस वर्ग-भेद की उत्पत्ति समाज की उस अव्यवस्था ने की है जो उसमें असमान वितरण की पोषक रही है और सम्पूर्ण साहित्य को इस सीमा में घेर देने का अर्थ न साहित्य का विकास हो सकता है, न राष्ट्र की नवचेतना।

किन्तु थोड़ी देर के लिए हम यह मान भी लें कि जनसाधारण में वर्ग-संघर्ष उत्पन्न करना समाज के नवनिर्माण के लिए परमावश्यक है। परन्तु तब इस विषय की एक दूसरी दिशा भी हमें देखनी होगी। क्या इस समय हमारे राष्ट्र की ऐसी परिस्थिति है कि वर्ग-संघर्ष के द्वारा उसमें गृह-युद्ध का विष फैलाया जाय? जो राष्ट्र स्वाधीन नहीं है, क्या उसकी यह पहली आवश्यकता है कि गृह-युद्ध की महामारी से वह अपने आपको जर्जर कर डाले? इस दिशा में, वर्तमान परिस्थिति में, स्पष्ट रूप से मैं एक भ्रान्ति देखता हूँ। हमें तो इस समय वास्तव में ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो—(१) हमारी सामूहिक ज्ञान-पिपासा को शान्त करे, (२) उन दुर्बलताओं पर प्रकाश डाले, जिन्होंने हमारे सामाजिक संगठन को शक्तिहीन और जर्जर कर रखा है और (३) हमारी उन मानसिक विकृतियों को दूर करे, जो समाज के स्वस्थ जीवन के लिए आज प्राणघातक और आर्थिक परिपोषण के लिए विनाशात्मक हो रही हैं।

तीसरे प्रकार के साहित्य के लिए काल और युग का कोई बन्धन नहीं हो सकता। वह सदा रचा गया है और रचा जायगा।

प्रगतिवाद : वर्ग-संघर्ष में अभीष्ट और अनिष्ट

जन-साहित्य के निर्माण के नाम पर हमारे बीच एक नवीन मत की स्थापना हो गयी है। स्पष्ट है कि हम उसे प्रगतिवाद के नाम से पुकारते हैं। जहाँ तक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है, बहुत अंशों में मैं उसका समर्थक हूँ। अप्रत्यक्ष रूप से, उसके सम्बन्ध में, मेरा प्रासंगिक मत ऊपर प्रकट हो चुका है। कुछ थोड़ी-सी गौण बातें रह गयी हैं। यहाँ ऐसा अवसर नहीं है कि मैं उन सब पर प्रकाश डालूँ, अतएव केवल दो-एक बातें ले लेता हूँ।

एक तो हमारे कुछ प्रगति-समीक्षक बन्धु वर्ग-संघर्ष के नाम पर उस साहित्यिक समुदाय के प्रति आज हिंसक हो उठे हैं, जिनके साथ उनका मतभेद है। एक तो यह प्रवृत्ति विदेशी है और उसकी ट्रू कॉपी हमारे वे बन्धु यहाँ उस परिस्थिति में कर रहे हैं, जो उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सर्वथा भिन्न है। दूसरे, इस समय वह हमारे देश के लिए कल्याणकर भी नहीं है। हम फिर कहते हैं कि जिस राष्ट्र को इस समय विदेशी शासन की दासता से मुक्त होना है, उसके भीतर साहित्यिक समुदाय में संगठनात्मक एकता का नाश करनेवाली इस छूत को फैलाना राष्ट्र की स्वतंत्रता के मार्ग को अवरुद्ध करना नहीं तो और क्या है? हमारे प्रगतिवादी होने का यह अर्थ तो नहीं है कि जो प्रगतिवादी नहीं हैं, हम कहें कि वे साहित्यकार नहीं हैं, या उनके प्रति ऐसा ढंग बना लें, जैसे वे मनुष्य

नहीं हैं। यह एक विकृति है और इसका निराकरण होना ही चाहिये। हिन्दी में प्रगतिवाद का अवतरण अपने पीछे एक इतिहास रखता है। यह ठीक है कि साहित्य में उसने नव-जीवन का संचार किया है। यह भी सत्य है कि जब हमारा तरुण समाज उस ओर उन्मुख है, तो उसके आधारभूत अवयव युग-धर्म ही के रूप में उसने ग्रहण किये हैं। किन्तु एक प्रगतिवादी साहित्य ही जीवित रहने के लिए आया है और उससे पूर्व अथवा अन्य धाराओं का साहित्य मुर्दा है, छिः-छिः मिथ्या, तुच्छ और हीन है, ऐसी बात नहीं है। बल्कि मैं तो कहूँगा कि ऐसा सोचना भी एक प्रमाद है। साहित्य-जगत् में वर्ग-संघर्ष के इस रूप को किसी प्रकार प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए।

इसके सिवा वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष इन दोनों शब्दों के आधारभूत अर्थों के अन्तर को भी हमें देखना होगा। वर्ग-संघर्ष की प्रवृत्ति तो यह है कि हम अपने और अपने वर्ग के अधिकारों की प्रतिष्ठा के लिए अविधानात्मक अशान्ति को निमंत्रण दें। किन्तु वर्ग-चेतना की प्रवृत्ति ऐसी नहीं है। वर्ग-चेतना तो असमान वितरण के उन आधारभूत कारणों से विधानात्मक असहयोग करना है, जिन्होंने समाज को आर्थिक असमानता से विषाक्त कर रखा है। आज जन-साधारण में यह भाव उत्पन्न हो गया है कि एक वर्ग हमारा शोषण कर रहा है और हमें उसकी इस प्रवृत्ति में सहायक नहीं होना चाहिये। वह इसके लिए अपना संगठन करता और प्रयत्नशील रहता है कि कभी उस पर व्यक्तिगत-सामूहिक संकट आये, तो वह अपने संगठन से उसका सामना करे। मैं इस वर्ग-चेतना का समर्थक हूँ। पर इस समाज में भी ऐसी सम्भावना कम ही होती है कि वर्ग का व्यक्ति दूसरे वर्ग से मिलता न हो और परिस्थिति के अनुसार उसका सहयोग न प्राप्त करता हो। स्पष्ट है कि चेतना का प्रकट में मौन किन्तु भीतर से क्रियात्मक रूप आवश्यक नहीं है कि अविधानात्मक और अशान्तिकर ही हो।

किन्तु हिन्दी-संसार की स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। यहाँ तो न केवल साहित्य-समीक्षाओं में, वरन् पारस्परिक साक्षात्कार, मिलन और विचार-विनिमय में भी इतनी अधिक अनुदारता, असहिष्णुता और कटुता आ गयी है कि समाज में जो एक समूहगत एकता होती है, आज उसी का लोप हो चला है। हम पूछते हैं कि जिन साहित्यकारों ने हिन्दी का पक्ष लेकर कुछ आन्दोलन किया, वे इसी कारण साम्प्रदायिक हैं और उनकी यह नीति देश के लिए घातक है, ऐसा सोचना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि या तो हमने अन्धश्रद्धा के हाथ अपना मानस बेच दिया है अथवा वर्ग-वाद के पंक में फँसकर हमने वह सहिष्णुता और विचारशीलता भी खो दी है, जो मानवता की पहली शर्त है?

साहित्य का अर्थ है सहित का भाव। और क्रान्ति का मूल उद्देश्य विनाश नहीं है, सृष्टि है। प्रगति भी सृष्टि ही के लिए वाञ्छनीय है। चलना है तो आगे और दायें-बायें देखकर चलना होगा। और दौड़ना भी है तो सम्हलकर। प्रगतिशील होने का यह अर्थ नहीं है कि हम किसी की छाती को कुचलते हुए चलें। न इस दौड़ का परिणाम यह होना चाहिए कि हम टक्कर खाकर गिर पड़ें और आघात के भागी बने।

साहित्य में प्रगति का आकलन केवल वर्गगत आर्थिक समस्याओ पर सीमित नहीं होना चाहिए। मनुष्य जीवन के नाना रूपों और उसकी विविध कार्य-प्रणालियों पर एकमात्र आर्थिक असमानता का ही प्रभाव है, यह बात नहीं है। देखना हमें यह भी पड़ेगा कि—(१) समाज के औसत व्यक्ति का बौद्धिक स्तर उसके भावी विकास के मार्ग में उत्तरोत्तर ऊँचा बन रहा है या नहीं और यदि कहो उसकी उन्नति मे अवरोधस्वरूप कुछ बाधाएँ रूढ़ि और परम्परा के समर्थन और पिष्टपेषण, नवीन अनुभवों और प्रयोगों के प्रति उदासीनता, तटस्थता और विरोध को लेकर आ खड़ी हुई हैं, तो उनके प्रति समाज का दृष्टिकोण क्या है। इसके अतिरिक्त हमें इस बात पर भी दृष्टि रखनी होगी कि (२) समाज के औसत व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य कैसा है। हो सकता है कि प्रगति के नाम पर कुछ ऐसी प्रवृत्तियों ने रूढ़ि का रूप धारण कर लिया हो, किसी देश-विशेष में जो बहुत महत्त्व की सिद्ध हुई हों, किन्तु कालान्तर में, दूसरे देश के लिए, हितकारक होने की अपेक्षा सर्वथा अहितकर सिद्ध हों। और (३) विचार हमें उन कारणों पर भी करना पड़ेगा जिनके द्वारा प्रगति के साधनों के अधिनायक और समर्थक ही अपने व्यावहारिक जीवन में उन दुर्बलताओं के शिकार हुए है, जो प्रगति-विरोधी हैं।

वर्ग-संघर्ष की सबसे अधिक शोचनीय स्थिति यह है कि हम प्रगतिवाद के आधारभूत सिद्धान्त को त्यागकर उन प्रशाखाओं की मान्यताओं में अपने को फँसा दें, सर्वथा गौण हैं और जिनके समर्थन में सम्भव है, हम उन मानसिक विकृ-तियों, अपरूप पद्धतियों और भ्रान्तियों को भी अपनी कार्य-शैली का गुण मान ले, जिनसे मानवता का पोषण न होकर संहार होना ही अधिक स्वाभाविक है। उदाहरणवत्, समाज के एक औसत व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति के प्रति यदि घृणा का यह भाव हमने उत्पन्न कर दिया कि वह राह-घाट मे यकायक देख पड़ने पर, उसकी अधिक सम्भव भेंट के विरोध में, घृणा से दूसरी ओर घूमकर चल दें; यदि एक मनुष्य के प्रति दूसरे मनुष्य की स्वाभाविक संवेदना प्राप्त करने के उन मार्गों को भी हमने बन्द कर दिया, जिन्होंने हमको सामाजिक प्राणी बनाया है; यदि

हमने वर्गीय स्वार्थों की अतिरंजनात्मक भित्तियों को दो मित्रों अथवा पड़ोसियों के बीच इस तरह लाकर खड़ा कर दिया कि दोनों के साक्षात्कार, वार्तालाप और विचार-विनिमय की समस्त सम्भावनाएँ ही नष्ट हो गयीं, तो यह वर्ग-संघर्ष का एक अत्यन्त घृणित और बीभत्स रूप होगा।

संघर्ष के जागृत रूप की स्थिति तो वास्तव में यह है कि अपने द्वारा पहचाना और स्वीकार किया हुआ हमारा जो भी महत् उद्देश्य है, जीवन का यथार्थ सुख हम उसकी पूर्ति में ही देखें और अपने आपको व्यय कर डालें—: यहाँ तक कि कर्दम की राशि में फेंके जाने से पूर्व तक, पूर्णरूप से, अपने को एक बार खपा दें। ज्वर-ग्रस्त, स्वार्थपूर्ण बीमारियों और उलहनों की एक ऐसी लघु पुत्तलिका बनने की अपेक्षा, जो प्रतिक्षण यह शिकायत करती रहती हो कि मुझको सुखी बनाने के लिए संसार पूरा-पूरा ध्यान नहीं देता, यह अधिक अच्छा है कि मनुष्य प्रकृति की एक जीवित शक्ति बने।

मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि जब हम समझौता करने की परिस्थिति से आगे बढ़ जाते हैं, तब संघर्ष का अवैध रूप हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। मेरा अभिप्राय यहाँ केवल यह है कि संघर्ष के अवैध और अनैतिक रूप को अपनाने से पूर्व हम उन संयोगों, अवसरों और प्रयोगों के लाभ से अपने को वंचित न करें, जिसकी पृष्ठभूमि हम बना चुके हैं और सम्भव है वह हमारे अत्यन्त निकट आ पहुँचा हो।

पर इसकी एक दूसरी दिशा भी हमको देखनी है। इस समय हिन्दी साहित्य-कारों की आन्तरिक स्थिति बहुत ही भयावह है। उनके पोषण के सारे मार्ग अवरुद्ध हैं। उनका अपना कोई संगठन नहीं है। वे टुकड़ियों में विभाजित हैं। आर्थिक हीनता, आत्मिक असंतोष और सामाजिक सहानुभूति के अभाव के कारण वे हीनभाव से आहत हो रहे हैं। उनका अन्तराल दारिद्रय के कशाघातों से आज अत्यन्त जीर्ण और जर्जर हो रहा है। उनकी वाणी में एक युगवेता साहित्यिक के योग्य दर्प नहीं, बल नहीं। उनके सृजनात्मक प्रेरणा पर, पद मर्यादा के अनुरूप आर्थिक स्थिति न बना सकने की खीझ, झुँझलाहट और अन्य मानसिक विकृतियों ने अपना आसन जमा रखा है। जो वर्ग पन्द्रह कोटि जनता की मानसिक भूख को शांत करने जैसे गुरुभार-वहन का उत्तरदायित्व रखता हो, उसी की यह दशा है कि अपनी एकमात्र संगठनात्मक इस सम्मेलन जैसी संस्था के दूरवर्ती वार्षिक अधिवेशन पर, वह अपनी संतोषकर सामूहिक उपस्थिति से, विचार-विनिमय का योग देने में भी असमर्थ हो रहा है! यह कितने परिताप का विषय है? हमारे जो बन्धु साहित्य के विविध क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व

रखते हैं, मैं पूछता हूँ कि क्या वे अपने भाग का उत्तरदायित्व निर्वाह करते है। क्या हम सब मिलकर कोई ऐसा आयोजन नही कर सकते, जिससे साहित्य के रचनात्मक अभावों की पूर्ति करते हुए हम अपने प्रतिभाशाली, योग्य किन्तु आर्थिक अवलम्ब-हीन बंधुओं की आधारभूत समस्याओं का समाधान तो कर सकें?

इस अवसर पर मैं यह भी स्पष्ट कर दूं कि हमारे यहाँ कठिनाई यह है कि पुस्तकों के बेचने का कार्य जिन हाथों से होता है, वही चुनाव करते हैं—उस साहित्य का, जो उन्हे प्रकाशित करना होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उच्च-से-उच्च साहित्य या तो हमारे मस्तिष्क और काल्पनिक जगत् मे बन्द पड़ा रहता है, अथवा ट्रंकों में। और साधारण-से-साधारण, पिछड़ा और असामयिक साहित्य दूसरी भाषाओं से अनुवादित होकर, बाजार में आकर, हिन्दी के भविष्य पर आघात करने का कारण बनता है। और इसमें सहयोग करते हैं हमारे वे बन्धुवर, जिनका ज्ञान-क्षेत्र बहुत सीमित है, जीवन-निर्वाह के अन्य साधनों को अपनाने में जो कृतकार्य हो नहीं सके और उपर्युक्त प्रकार के अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित प्रकाशकों के साथ सस्ते-से-सस्ते और हीन शर्तों पर समझौता करने पर विवश हैं।

किन्तु हमारे उत्तरदायी साहित्यिकों ने भी वितरण-सम्बन्धी संतुलन की कम उपेक्षा नहीं की। जो साहित्यिक बन्धु केवल लेखन पर आधारित हैं, स्पष्ट है कि वे अवसर, संयोग और अवलम्ब पाने के अधिकारी उनसे पहले हैं, जो सौभाग्य से या तो सम्पन्न हैं या प्रोफेसर; और महीने में दो सौ से लेकर छः सौ रुपये तक पाया करते हैं। किन्तु हो यह रहा है कि सरकारी और अर्धसरकारी परीक्षाओं में परीक्षक, पाठ्य-पुस्तकों के निर्वाचन में कमेटियों का संयोजक और सदस्य, उन पुस्तकों की स्वीकृति में संग्रहकर्ता अथवा सम्पादक और रेडियो पर सम्माननीय वक्ता आज एकमात्र प्रोफेसर-वर्ग है। यह आवश्यक नहीं है कि वह हिन्दी-विभाग का ही हो। इतना ही यथेष्ट समझा जाता है कि वह हिन्दी भाषा और साहित्य से परिचित है। और हमारे वस्तुवादी दृष्टिकोण का यह कितना नग्न और विकृत रूप है कि आगे चलकर यही वर्ग-संघर्ष करता है (पुस्तक-प्रणयन में तो कम, पर संग्रहकार और सम्पादक के नाम पर केवल नाम देने अथवा बेगार भुगतने में अधिक) उस साहित्यिक वर्ग के साथ, जिसका सारा जीवन केवल साहित्याराधना में व्यतीत हुआ है और जिसके बदले में उसने प्राप्त किया है घोर दारिद्रय, समाज और कुटुम्ब की लाञ्छना, मित्रों और सम्माननीय आत्मीय स्वजनों की उपेक्षा और अवमानना!

मैं अपने बन्धुओं से पूछता हूँ कि संघर्ष के इस वीभत्स रूप का उत्तरदायित्व

किस पर है ? क्या हमारी एकता की यह सबसे हीन, जीर्ण-जर्जर, स्थिति नहीं है ? क्या हमारी यह स्थिति उदासीनता के नाम पर कायरता और भीरुता से पूर्ण, अज्ञान के नाम पर मूर्खता से आवृत्त और असफलता के नाम पर अत्यन्त लज्जास्पद नहीं है ?

प्रकाशक और लेखक

वर्तमान परिस्थिति में हिन्दी लेखकों पर जो विपत्ति है, उसका उत्तरदायित्व प्रकाशकों पर ही अधिक हम इसलिए नहीं डाल सकते कि वे जान-बूझकर लेखकों का शोषण करते हैं, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि आंशिक रूप में यह सत्य अवश्य है। यथार्थ स्थिति यह है कि हिन्दी का औसत प्रकाशक अर्धशिक्षित और पूँजीहीन है। अन्य कोई कार्य कर न सकने की ही दशा में वह इस ओर आया है। देश और साहित्य के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण होना चाहिए, इसकी अपेक्षा उसके लिए इस बात पर सजग होना अधिक आवश्यक, निकटवर्ती, सुलभ और स्वाभाविक है कि—(१) कौन पुस्तक जल्दी बिक जायगी ? (२) किसमें लागत कम लगेगी और (३) किसमें लेखक को रुपया कम-से-कम देना होगा। और उसकी इस स्थिति में सहायक है आज की पुस्तक-विक्री। जब उसकी आधारिक स्थिति ही दृढ़ है, तब वह तात्कालिक लाभ की चिन्ता अधिक क्यों न करे ? अधिक रुपया चाहनेवाले लेखकों से सहयोग वह क्यों करे, जब ऐसे भी लेखक उसे मिल जाते हैं, जो रुपया कम चाहते हैं, या कतई नहीं चाहते; चाहते केवल यह हैं कि वे किसी-न-किसी रूप में लेखक मान लिये जायँ। विचार करने की बात है कि ऐसी स्थिति में एक श्रमजीवी साहित्यकार कहाँ जायगा और कैसे रहेगा ? सुनते हैं विदेशों में ऐसी एजन्सियाँ हैं, जो प्रकाशकों को लेखक और लेखकों को प्रकाशक देने का कार्य करती हैं। हममें संगठन, सूझ और ईमानदारी, दृढ़ता और मिशनरी स्पिरिट हो, तो क्या हम इतना भी नहीं कर सकते कि आन्दोलन करें, उस साहित्य और प्रकाशन के विरुद्ध, जो समय की गति के प्रति सजग नहीं है। हममें कल्पना की अपेक्षा व्यावहारिक सद्बुद्धि हो, तो क्या हम ऐसी संस्थाएँ नहीं बना सकते, जो एक ओर समय पर लेखकों की आवश्यकता-पूर्ति करें, दूसरी ओर उनसे अपनी आवश्यकता की कृति तैयार करवा लें। पिछले वर्ष श्री जैनेन्द्रकुमार जी ने एक योजना सम्मेलन के सामने रखी थी। यदि वह सम्मेलन के अधीन व्यवहार का रूप नहीं पा सकी पर ऐसी स्थिति तो नहीं है कि उसके क्षेत्र को कुछ और व्यापक कर दिया जाता, तो भी वह इसी प्रकार समाप्त हो जाती। मेरा अपना

विचार तो यह है कि जैनेन्द्र जी ठीक ढंग से उसे उठाते, तो उन्हें अवश्य सफलता मिलती।

साहित्यालोचन की कसौटी

यह हुआ हिन्दी-साहित्य में आने तथा पनपनेवाली आज की प्रगतिशीलधारा की अग्रिम और पश्चिम स्थितियों के सम्बन्ध में मेरा अपना दृष्टिकोण। अब आज के साहित्य पर भी अपना भाव प्रकट कर दूं। ललित साहित्य के मुख्य रूप से काव्य, नाटक, उपन्यास, लघुकथा, संस्मरण, निबन्ध और समालोचना—सात भाग किये जाते हैं। अपने यहाँ जीवनचरित और यात्रा-वर्णनों का प्रचलन अभी कम है। अन्यथा इनकी परिगणना भी ललित-साहित्य के अन्तर्गत ही होनी चाहिए। नाटक का विकसित और कामचलाऊ लघुरूप अब एकांकी नाटक मान लिया गया है। उसी प्रकार लघुकथा का शब्द-चित्र और जीवनचरित का रेखा-चित्र। काव्य और गद्य के मिश्रण से एक नयी वस्तु हमारे बीच आ गयी है गद्य-काव्य। यद्यपि उसके लिए भाव-चित्र नाम अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

हिन्दी के आधुनिक काव्य का अर्थ आजकल एकमात्र खड़ीबोली काव्य लिया जाता है। यद्यपि ब्रजभाषा में अभी तक कुछ तो सृजनात्मक शक्ति बनी हुई है। खड़ीबोली का काव्य अपना कौमार्य युग पार कर चुका है और इस समय वह पूर्ण वयःसन्धि प्राप्त कर रहा है।

काव्य की परख हिन्दी में पहले शाब्दिक चमत्कार के रूप में होती थी। कालान्तर में आन्तरिक भाव और व्यञ्जना पर आलोचक की दृष्टि जाने लगी। देखा यह गया कि आत्म-विस्मृति के तल पर ले आ सकने की शक्ति कवि में कितनी है? किसी-न-किसी अंश में यह पद्धति हिन्दी आलोचना में अब भी चल रही है। किन्तु आज न केवल काव्य के वरन् सम्पूर्ण साहित्य के आलोचन की कसौटी कुछ और है। आज हम देखते हैं कि—(१) साहित्कार के कथन में, आत्मानुभूति की भूमि पर, जो भावात्मक आलोक फूटा है, उसमें समाज की स्थिति क्या है? साहित्यकार जिस समाज का अंग है, उससे वह संतुष्ट कहाँ तक है? और यदि उसे समाज से कोई असंतोष है, तो उसका आधार क्या है? (२) साहित्यकार का मानस-स्तर कैसा है? व्यक्तिगत दुर्बलताओं और विकृतियों का शिकार तो वह नहीं बना? और (३) यह कि वस्तुस्थिति को देखते हुए साहित्यकार का अपना कथन क्या है? वह व्यक्ति, समाज और जगत् के लिए कोई विशेष सन्देश अथवा विचार-दृष्टि रखता है या नहीं।

धाराओं का विभाजन

हिन्दी-साहित्य को इस कसौटी से देखने पर हम किस परिणाम पर पहुँचते हैं यही हमें देखना है। किन्तु उस परिणाम पर पहुँचने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि हम साहित्य के प्रवृत्तिमूलक रूप की ओर एक दृष्टिक्षेप कर लें। स्पष्ट है कि ऐसी इच्छा करते ही हम वादों पर आ पहुँचेंगे और वादों के सम्बन्ध में मेरी व्यक्तिगत आस्था इतनी ही समझिये कि मैं उसे आकलन का एक स्थूल वैज्ञानिक प्रकार मानता हूँ। अन्यथा कला और साहित्य की जो स्वतंत्र, सूक्ष्म और अतल-स्पर्शी सत्ता है, वास्तव में वाद उसे परख नहीं पाते। इसका सबसे प्रबल कारण यह है कि––(१) साहित्य की सृष्टि पहले होती है, वाद की बाद को। साहित्य पनपने लगता है, तब कहीं आलोचक उसे सूँघ-सूँघकर वाद की सृष्टि कर पाते हैं और तब तक साहित्य आगे बढ़ जाता है। (२) दूसरी बात यह है कि कोई भी स्वतंत्र-चेता कवि कभी किसी एक वाद के पीछे नहीं चलता। जीवन की लम्बी दौड़ में जो रेखाएँ क्षेत्रों अथवा भूमियों पर बनती हैं, आवश्यक नहीं है कि वे सदा स्पष्ट ही हों और पहचानी ही जा सकें। इसके सिवा वे रेखाएँ सदा एक-सी हो भी नहीं सकतीं। जिस प्रकार कवि एक ही वस्तु को पचास प्रकार से व्यक्त करता है, उसी भाँति वह जीवन में एक-सी शैलियों और व्यञ्जनाओं में अनेक प्रकार के अनुभव, मनोद्वेग, निष्कर्ष और दृष्टिकोण भी दे सकता है। तब क्या आलोचक उसकी प्रत्येक कृति के लिए नये-नये वाद का आकलन करेगा?

किन्तु जैसा कि मैंने पहले कहा, वाद किसी कृति को वृत्तिमूलक विभाजन में डालने का एक सीधा वैज्ञानिक ढंग है। और जब तक इस विषय में किसी अन्य परिपाटी का आविष्कार न हो, हमें इसी का अवलम्ब ग्रहण करना होगा।

तो, इस समय हिन्दी-साहित्य में मुख्यत: गांधीवाद और समाजवाद की विचार-दृष्टि देख पड़ती है। विस्तार में जाने पर––(१) गांधीवाद से सांस्कृतिक आलोक-वाद, राष्ट्रीय आलोकवाद, छायावाद और रहस्यवाद तथा (२) यथार्थवाद और प्रगतिवाद––ये अनेक धाराएँ और फूट पड़ती हैं। इन धाराओं के अनुसार हिन्दी के साहित्यकारों का विभाजन जिस प्रकार होता है, उसकी तालिकाएँ अन्त में दी जा रही हैं।

विविध धाराओं का स्पष्टीकरण

आप देखेंगे, इन तालिकाओं में केवल दो वादों के अन्तर्गत हमने सारे साहित्य को देखने की चेष्टा की है। सम्भव है, इन वादों के अन्तर्गत जिस प्रकार साहित्य

की अनेक धाराओं का प्रवाह मैंने देखा है, आप बन्धुओं में कुछ, उससे सहमत न हों। और स्थान-निर्णय के विषय में मतभेद होना तो ओर भी अधिक स्वाभाविक है। किन्तु तो भी इन तालिकाओं के निरूपण की आधारभूत मान्यताएँ आपके समक्ष रख देना मेरे लिए आवश्यक हो गया है। उदाहरणवत्, आधुनिक काव्य-साहित्य के आदिकाल की वृत्तियाँ, उसकी व्यञ्जनाएँ सांस्कृतिक और राष्ट्रीय आलोकवाद में आती हैं। अर्थात् जो कवि, हिन्दू-संस्कृति के आधारभूत अवयवों के समर्थन और उन्नयन का स्वर रखते हैं, वे सब गांधोवाद के अन्तर्गत हैं। छायावाद और रहस्यवाद की उत्पत्ति भी गांधीवाद की ही देन है। बात यह है कि पिछले महायुद्ध के बाद का विश्व अपने पूर्व रूप को त्यागकर जब सर्वथा नवीन रूप में आ गया, समाज का औद्योगीकरण हो गया और उसकी विचार-दृष्टि में अतीत की मान्यताओं के प्रति एक संशय उत्पन्न हो गया, जब मनुष्य का आन्तरिक भाव आध्यात्मिक न होकर भौतिक हो चला तब उसकी भौतिक आकांक्षाओं का धरातल भी विस्तृत हो गया। स्वाभाविक था कि कवि की अन्तःप्रेरणा उन वृत्तियों से अधिक प्रभावित हो, जो सामाजिक द्वन्द्व से टक्कर लेने का सामर्थ्य न रखने के कारण रागात्मक अतृप्ति और पलायन में शरण पा सकें। और उन्हें इस प्रकार छायावाद और रहस्यवाद में अंकुरित कर पनपाने का कार्य गांधीवाद ने ही किया है।

इसी प्रकार रोमांसवाद की उत्पत्ति गांधीवाद के प्रति एक अनास्था का उद्घोष करनेवाली है। जो कवि सामाजिक संगठन की सीमित, संकुचित और जड़ता-बोधक शृंखलाओं में अपना भावात्मक समर्थन नहीं पाता, वह पलायन की ओर उन्मुख न होकर क्रान्तिवादी हो जाता है। स्पष्ट है कि समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति एक विद्रोहात्मक स्वर उसने ग्रहण कर लिया है और इसलिए उसका केन्द्रिक सहयोग गांधीवाद से न होकर समाजवाद में होता है।

साहित्य के अन्तर्गत व्यंग-विनोद का भी अपना एक स्थान है। इन धाराओं के विभाजन में उसका स्थान कहाँ हो, यह भी एक प्रश्न है। इसके लिए सबसे सुगम मार्ग यह है कि हम कवि की व्यञ्जना में उस मूलप्रवृत्ति की खोज करें, जिसके कारण व्यंग्यकार ने मूलप्रणेता अथवा भावधारा-विशेष पर व्यंग्य किया है। परन्तु व्यंग्यकार की प्रवृत्ति यदि रोमांसकारिणी भावना को सजग करना है, तो स्वाभाविक है कि व्यंग्य का वर्गीकन रोमांसवाद में ही हो सकेगा।

रह गया यथार्थवाद। सो, रोमांसवाद और प्रगतिवाद के संयोजन की वह एक स्पष्ट रेखा है। प्रगतिवाद तो सामाजिक क्रान्ति को निमंत्रण देता है, समाज के नवनिर्माण के लिए वह वर्तमान के प्रति एक विध्वंसात्मक दृष्टि रखता है।

किन्तु यथार्थवादी समाज की दुर्बलताओं और विकृतियों, वीभत्स और दुर्गन्ध-पूरक दुरवस्थाओं की अभिव्यक्ति में एक वज्रादपि कठोर अभिनेता का रूप धारण करता है। सच पूछिये तो यथार्थवादी का पथ रोमांसवाद और प्रगतिवाद दोनों की अपेक्षा अधिक भयावह और दुष्कर है। समाज की सर्वाधिक लाञ्छना का उद्घोष वही तो वहन करता है।

किन्तु यथार्थवादी की एक कठिनाई इससे भी बड़ी है। उसके प्रवृत्तिमूलक अन्वेषण का सारा खेल मनोविज्ञान पर आधारित होता है। समाज का कोई एक व्यक्ति, जो उसकी इकाई का भी भार वहन करता है, यदि अपनी मानसिक विकृतियों से जीवन की समाप्ति का आह्वान करता है, तो यथार्थवादी को ही उसकी उन मानसिक विकृतियों के क्रम-विकास का भी व्याख्याता बनना पड़ता है। हमारे प्रगतिवादी आलोचक प्रायः यथार्थवादी की इस स्थिति के मर्म को ग्रहण नहीं कर पाते। तभी वे कह उठते हैं कि यह कलाकार तो सर्वथा निराशा-मूलक है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि यथार्थवादी ने यदि समाज के ह्रासोन्मुख वर्ग का चित्रांकन किया है, तो उसका यही अभिप्राय समझ लेना एक भ्रम है कि वह उनका समर्थक है। यदि उसने समाज की ह्रासोन्मुख वृत्तियों के चित्रांकन में समाज की इकाईवाले व्यक्ति का ह्रासमूलक अध्ययन उपस्थित किया है, तो उसका मुख्य उद्देश्य वहाँ यह प्रकट करना है कि समाज के वर्तमान संगठन की एक मान्यता के प्रति विद्रोही बनकर, उसका दूसरी सांस्कृतिक मान्यता के समर्थन में अपनी आहुति देना भी सर्वथा अगतिमूलक ही होता है।

हिन्दी-साहित्य के कुछ प्रगतिशील आलोचक इस समय इसी स्थल पर भूल कर रहे हैं। कथा-साहित्य के आलोचन में तो ऐसी भूलें हम नित्य देखते हैं। यथार्थवादी का एक क्षेत्र मनोविश्लेषण भी है। मैं यह मानता हूँ कि मनोविश्लेषक कथाकार अध्ययन की गहराई में जाकर, कभी-कभी असावधानी से कला का क्षेत्र छोड़कर, विज्ञान के क्षेत्र में जा पहुँचता है। मैं यह भी स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ कि समाज की ह्रासोन्मुख वृत्तियों के अनुसंधान में ही संलग्न रहकर—उसको एक क्रान्तिकारी उत्तेजन देने के अपने प्रमुख कर्त्तव्य के प्रति विमुख होकर—अपराधी भी वह प्रत्यक्ष रूप से हो सकता है। किन्तु मनोविश्लेषक कथाकार आंशिक रूप से अपने क्षेत्र में रहकर प्रगतिवाद का विरोधी बन जाता है अथवा अपनी दिशा में कार्य करने का उसका मूल्य नगण्य है, यह धारणा सर्वथा भ्रमात्मक है।

मासिक और साप्ताहिक पत्र

साहित्य को समुन्नत बनाने में मासिक और साप्ताहिक पत्रों के सम्पादकों का

उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। पर दुर्भाग्य से हमारे यहाँ ऐसे सम्पादकों का सर्वथा अभाव है, जो पत्रकार-कला के पूर्ण पंडित हों। किन्तु पांडित्य की विषयगत मर्यादा के अभाव में साधारण ज्ञान और सामयिक सजगता, सूझ और भविष्य के प्रति एक सतर्क दृष्टि की आशा तो हम उनसे कर ही सकते हैं। यहाँ स्थिति यह है कि पत्र-संचालकों के सीमित सामर्थ्य का कुफल भोगते हैं हमारे पत्रकार। जहाँ अनेक सहायक सम्पादकों के बिना न कार्यविभाजन सम्भव है, न कार्य-शैली की सुघरता, वहाँ हम उनको दोष भी कैसे दे सकते हैं! परन्तु ऐसी स्थिति में भी हम उनसे इतनी आशा तो कर ही सकते हैं कि वे अपनी सीमाओं के भीतर रह कर जितनी सहायता साहित्य के अभ्युदय में साधारण चेतन-दृष्टि से कर सकते हैं, उतनी तो करें। यह बड़े खेद की बात है कि हमारे बीच अब ऐसे तत्त्वनिष्ठ, सजग और स्वतंत्रविचारक सम्पादकों का सर्वथा अभाव है, जैसे थे दिवंगत आचार्य द्विवेदी, जिन्होंने लेखकों की भाषा शुद्ध कर उन्हें लिखना सिखलाया और विषयगत साहित्य का संकेत और अध्ययन-निर्देश देकर उन्हें उस विषय में अधिकारासीन किया।—जैसे थे ज्योति-पुञ्ज गणेशशंकर विद्यार्थी, जो नवप्रतिभा की परख और पोषण-चेष्टा में चिरस्मरणीय रहेंगे।—जैसे थे उदाराशय और उन्नत-मना कृष्णकांत मालवीय, जिन्होंने असाधारण प्रतिभा की प्रतिष्ठा में, रुपये के अभाव में, मित्रों से लेकर सहायता करने में भी कभी संकोच नहीं किया। मैं इस स्थल पर इन विभूतियों के लिए क्या कहूँ! मुझे तो इस क्रम में आज की स्थिति के कंट्रास्ट की चर्चा करते हुए बड़ा संकोच हो रहा है। आज हमारे बीच ऐसे भी सम्पादक हैं जो पारिश्रमिक देने का वचन देकर रचना मँगवाते और छापते हैं; पर वचन का मोल चुकाने के नाम पर अपमान करने में भी नहीं चूकते!—जो पत्र-संचालन की नीति के नाम पर साहित्यकारों के साथ व्यवहार करने में भेद, कपट और अन्य ऐसे उपायों का अवलम्ब लेते हैं, जिनके भीतर स्वार्थपरता, क्षुद्रता और शोषण रहता है। योग्य-से-योग्य अधिकारी लेखकों के साथ सहयोग करने में वे अपनी अप्रतिष्ठा, अमर्यादा और अवमानना का अनुभव करते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि कैसे हो?

किन्तु भीतर की इस स्थिति को ही न देखकर हमें यदि अपने पत्रों की विषयगत चयनिका, विचारात्मक दृढ़ता और भविष्य के क्षितिज की किरणावली का उल्लेख करना पड़े, तो मैं अनेक मतभेदों को रखते हुए भी कहना चाहूँगा कि मासिक-पत्रों में 'हंस', 'साहित्य-संदेश' तथा 'वीणा' और साप्ताहिकों में 'विचार', विश्ववाणी', 'भारत', 'देशदूत' तथा 'प्रताप' के सम्पादकों का कार्य प्रशंसनीय है।

कुछ संस्थाएँ

कतिपय संस्थाएँ भी हमारे देश में ऐसी हैं, जो समय-समय पर साहित्यकारों को बुलाकर और साहित्य-चर्चा का एक वातावरण बनाकर साहित्य की श्रीवृद्धि में योग देती रहती हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक इस प्रकार की संस्थाएँ अपने कार्य-क्रम में केवल कवि-सम्मेलन तक सीमित रहती थीं। किन्तु इधर साहित्य की अन्य धाराओं के प्रति भी उनका ध्यान गया है। पर इस कार्य में जनसाधारण के सहयोग की कुछ अधिक अपेक्षा मान ली गयी है। मेरी धारणा है कि गम्भीर विषयों की चर्चा पर जमे रहने और निबन्ध सुनने का धैर्य और सामर्थ्य रखने की प्रवृत्ति हमारी जनता में अभी उत्पन्न ही नहीं हुई है। ऐसी दशा में इस विषय में हताश होना उचित नहीं है। पर यदि इस प्रकार की योजनाएँ अधिक संगठित रूप में हों, तो उनसे साहित्य को बहुत उत्तेजन मिल सकता है। इस सम्बन्ध में मेरठ साहित्य-परिषद्, हिन्दी-प्रचारिणी सभा बरेली और सुहृद्-संघ, मुजफ्फरपुर के कार्य-कलाप ने अच्छे संयोजन का परिचय दिया है। ये नाम मैं अपने निजी अनुभव के आधार पर ले रहा हूँ। सम्भव है, ऐसी संस्थाएँ और भी हों। पर जानकारी के अभाव में उनके सम्बन्ध में कुछ कहना मुझे रुचिकर नहीं हुआ।

भविष्य किनका है ?

अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी क्या इसमें कुछ सन्देह है कि हिन्दी-साहित्य सृष्टि की दिशा में बालरवि की एक ज्वलन्त लालिमा देख रहा है ? कविता के क्षेत्र में सर्वश्री नवीन, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, अंचल, दिनकर तथा सोहनलाल द्विवेदी युग और साहित्य, नवराष्ट्र और नवसंस्कृति की एक आशा हैं। नाटक और एकांकी नाटक के क्षेत्र में सर्वश्री उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और गोविन्ददास (सेठ) नवदृष्टि, प्रतिभा और शक्ति के पुञ्ज हैं। उपन्यास के युग-पूरक समाधान का सामर्थ्य हम सर्वश्री जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी और सर्वदानन्द वर्मा में देख रहे हैं। और कहानी-साहित्य के सम्बन्ध में हमारा दावा है कि इस समय वह उच्चशिखर पर है। इस क्षेत्र में सर्वश्री 'अज्ञेय, यशपाल, 'पहाड़ी', 'वनमाली' तथा 'विष्णु' की तात्त्विक विदग्धता प्रशंसनीय है।

किन्तु जिन पर साहित्य को सुदृढ़ और सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का उत्तरदायित्व है, मैं देख रहा हूँ कि वे समालोचक और निबन्धकार भी भविष्य के प्रति यथेष्ट जागरूक दृष्टि रखते हैं। उनमें मर्म-स्पर्श की योग्यता है और समालोचक में खरी

बात कहने और फिर भी सम्बद्ध व्यक्ति को बुरा लगने की स्थिति से बचकर निकल जाने का जो एक चातुर्य होता है, वह भी यथेष्ट मात्रा में है। इनमें सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, गुलाबराय, रामनाथ 'सुमन', शिवदान सिंह चौहान, हजारीप्रसाद द्विवेदी, विनयमोहन शर्मा, नगेन्द्र, नरोत्तमप्रसाद नागर, ब्रजमोहन गुप्त, सत्येन्द्र, प्रभाकर माचवे, सद्गुरुशरण अवस्थी, गोपालप्रसाद व्यास, सुरेन्द्र बालूपुरी, प्रभागचन्द शर्मा और कान्तिचन्द्र सौनरिक्सा अग्रणी हैं।

हमारा उत्तरदायित्व

साहित्यकार का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा होता है। युग की क्षणिक लाँञ्छनाओं के भय से यदि वह अपने अन्तःकरण का स्वर, सचाई के साथ ऊँचा न उठा सका, तो अपने उन पाठकों को गहन गर्त से बचाने का अवसर वह निश्चय ही खो देगा, जिनके निर्माण में उसका मस्तिष्क लगा है और जिनकी प्रगति मे उसकी आत्मा। क्षणिक यश के लोभ में पड़कर यदि उसने किसी अनिष्ट के आह्वान में योग दिया, तो उसके दुष्परिणाम का उत्तरदायित्व उसके सिवा और किस पर होगा? जो लोग निरन्तर वर्तमान समाज के विध्वंस का स्वप्न देखते हैं वे यह क्यों भूल जाते हैं कि समाज के इस वर्तमान रूप में उनकी व्यक्तिगत अकर्मण्यता का भी कम भाग नहीं है। यदि वे आज के समाज से, अपनी अचल कर्मनिष्ठा के द्वारा, अपने आदर्शों की पूर्ति नहीं करा सकते, तो उनकी रुचि के अनुरूप कोई नया समाज कभी नहीं आयेगा। स्वयं अपने आप को खपाये बिना न यह समाज कभी ध्वस्त होगा, न कोई नवीन उत्पन्न। मनुष्य यही है और सदा ऐसा ही रहेगा। वह सत्य है तो यही है और असत्य है तो भी यही। अपनी क्रियात्मक चेतना द्वारा चाहें तो वे उसे अनुकूल भी बना सकते हैं। और जब तक वे उसे प्रतिकूल समझते रहेंगे, तब तक वह अनुकूल कभी नहीं बनेगा।

अभिनन्दन

पर इस चर्चा में अभी केवल उन्हीं व्यक्तियों का स्मरण आया है, जिनकी सेवाएँ अपना साकार रूप रखती हैं। पर मैं तो उन विभूतियों की वन्दना में भी अपना सौभाग्य देखता हूँ जिन्होंने प्रतिकूल प्रवाह के प्रति दृढ़ता और कर्तव्य के प्रति आत्मीयता का भाव रखकर हिन्दी भाषा के गौरव को अक्षुण्ण रखा और उसके साहित्य को गति देने में भ्रामक लाञ्छनाओं और कुतर्कों की परवा न करके न्याय और सत्य का अत्यन्त सजीव पक्ष अपनाया है। इन व्यक्तियों में पूज्य टंडन जी,

श्री सम्पूर्णानन्द जी, पंडित रामनारायण मिश्र, पंडित वेंकटेश्वर नारायण तिवारी और श्री चन्द्रबली पांडेय की सेवाएँ अभिनन्दनीय हैं।

साहित्य की भावी रेखाएँ युग की तरुण शक्तियों का मुँह देखा करती हैं। हमारा सबसे बड़ा कार्य यह है कि हम उन नव-नव ज्योतियों को अपने हृदय का सारा स्नेह दान करते चलें। हम यह न भूलें कि आज का अवसर कल की सृष्टि के सिर पर पोषण का हाथ है।—हम यह न भूलें कि हमारे देश की जनता का रात-दिन नित्य अपने सांध्य क्षितिज की एक लालिमा देखता है। वह लालिमा भविष्य का एक संकेत है और उसके प्रति कर्तव्य की गुरुता हम से कुछ चाहती है। और हम यह कभी न भूलें कि एकमात्र सत्य और शिव की ही पूजा में हमारा सबसे बड़ा सौन्दर्य है।

⊙

अभिभाषण-६

डॉ० रामकुमार वर्मा

देवियो और सज्जनो,

साहित्य सम्मेलन के गत वर्ष के सभापति पूज्य पं० अमरनाथ झा ने अपने भाषण में कहा था—"न्याय यदि किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण में और हिन्दी के प्रचार में विश्वविद्यालयों से प्रशंसनीय सहायता मिली है।" उनके कथन की प्रमाणिकता में विश्वास रख कर आपने इस वर्ष, ज्ञात होता है, अपने कार्य-संचालन के लिए यूनिवर्सिटी की ओर दृष्टि की है और मुझे अवसर दिया है कि मैं इस साहित्य-परिषद् की सेवा करूँ। इस कृपा के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। मुझे अपनी असमर्थताओं का अभिज्ञान है। आप मुझे क्षमा करें यदि मैं इस अवसर पर प्रायः कही जाने वाली बातें अधिक कहूँ; क्योंकि इस संघर्ष के युग में अधिक शिष्टाचार की बातों में मेरा विश्वास नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार द्वेष और विचार-संकीर्णता से मुक्ति पाकर साहित्य के उत्थान में योग देना है। साहस और आत्म-विश्वास में मेरी पूरी आस्था है। मैं चाहता हूँ कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति साहस और शक्ति से सम्पन्न होकर साहित्य की सेवा करे। अतः मैं आपको साहित्य के इस कार्य-क्षेत्र में सस्नेह आमंत्रित करता हूँ।

आज संसार के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांति मची हुई है। हमारा देश भी उससे नहीं बच सका है। निर्धन भारत में तो यह क्रांति समस्त जीवन की परिधि में अग्नि-रेखा बनकर समायी हुई है। एक तो यहाँ की जनता साहित्य के प्रति पहले से ही उदासीन थी, फिर आज के जीवन की असुविधाओं ने उसे मानसिक भोजन की अपेक्षा शारीरिक भोजन की ओर अधिक यत्नशील बना दिया है। युद्ध की लपटों में हमारी आवश्यकताएँ और भी तृषित हो उठी हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य-सृजन और अनुशीलन के लिए अवकाश कहाँ है? फिर प्रकाशन की असुविधाएँ भारतीय किसान के जीवन की असुविधाओं की भाँति ही दिनों-दिन बढ़ रही हैं। किन्तु हमें निर्भीकता से आगे बढ़ना है और उन सभी बाधाओं पर विजय प्राप्त करनी है जिनसे हमारी गति में रुकावटें आ रही हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछली दशाब्दी से हमारे साहित्य-सृजन में प्रगति आ गयी है। किन्तु यह प्रगति ललित साहित्य में अधिक हुई है, उपयोगी साहित्य में कम। राष्ट्रभाषा हिन्दी की समृद्धि के लिए जिन-जिन साधनों की पूर्ति होनी चाहिए उनकी ओर अभी तक हमारा लक्ष्य आगे नहीं बढ़ सका है। अ-हिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी के प्रचार से ही हमारे इष्ट की पूर्ति नहीं होती। हमें हिन्दी को भौगोलिक परिधि के विस्तार के साथ-ही-साथ भाषा और भावों की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ाने की भी पूरी चेष्टा करनी है।

आज भारतीय जीवन बहुत विपन्न और असन्तोषजनक है। जीवन की विवशता के साथ आर्थिक असुविधाएँ और मानसिक दुर्बलताएँ साहित्यिक जीवन के लिए अहितकर सिद्ध हो रही हैं। युग-युग से संचित की हुई एवं प्राचीन साहित्य से पोषित हमारी सांस्कृतिक भावनाएँ पिछले पहर के स्वप्न की भाँति अस्पष्ट होती जा रही हैं। हमारा देश आज अपने उस आदर्श को भूल गया है जिसकी साधना में जाति, धर्म, समुदाय और सिद्धांतों की सीमित परिधि से मुक्त भार-तीयता की अमिट छाप थी।

आज की सभ्यता क्या है? भौतिकवाद के समस्त उपकरणों को समेटकर जीवन की सुविधाओं को एक करना ही जैसे प्रत्येक सभ्य देश का आदर्श हो गया है। स्वार्थ-साधन के स्वर्ण स्वप्न से जगानेवाली कोई भी ध्वनि कर्कश और अनुचित ज्ञात होती है। जहाँ प्रेम का स्थान घृणा ने ले रखा है, जहाँ व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं है, वहाँ साहित्य की साधना किस आदर्श की पूर्ति कर सकती है? घृणा में साहित्य का आदर्श कभी पनप नहीं सकता, उसके लिए आवश्यक है कल्याण की भावना। हमें यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि पश्चिम की सभ्यता में पारस्परिक घृणा और स्वार्थ ने एक प्रमुख स्थान ले रखा है। हमने जीवन को पहिचानने का सुलझा हुआ दृष्टिकोण भले ही प्राप्त कर लिया हो, किन्तु हमारे सामने यह दृष्टिकोण बहुत संकुचित होकर आया है। आर्थिक स्वतंत्रता ने साहित्य की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया है।

भारतीयों का नैतिक जीवन संसार के समस्त अंगों में पैठ कर उससे भी आगे बढ़ने का है। हमारे साहित्य का दृष्टिकोण इसी भावना में पोषित होता आया है। साहित्य का आदर्श केवल ज्ञान के रंगीन रत्न ही एकत्र करना नहीं, उसका आदर्श है सार्वभौमिक मानव-जीवन का ऐक्य और संगठन। देश और जलवायु की विभिन्नताएँ रहते हुए भी साहित्य एक अव्यक्त सूत्र से मानव-हित और सह-योग के बिखरे हुए पल्लवों का बंदनवार शिव और कल्याण की भावना से सरस्वती-

मन्दिर के चारों ओर बाँध देता है। वह देश-देश में प्रेम और शांति का दूत बन कर मानव सम्प्रदायों में शांति की व्यवस्था करता है। वह युगों के 'चिर प्रवाम श्यामल पथ में, 'पिक प्राणों की पुकार' की तरह गूँजता रहता है और आकाश उसकी नीली प्रतिध्वनि से अपने को जागृत रखता है। वेद और उपनिषद्-साहित्य अरण्यों में लिखा जाकर भी सार्वभौमिक जीवन में स्पंदित हुआ। वेद की प्रकृति-उपासना जितना आध्यात्मिक जीवन प्रशांत करती है, उतना ही सांसारिक जीवन सुदृढ़ बनाती है। जनक विदेह की सभा में याज्ञवल्क्य के प्रवचनों ने आध्यात्मिक जीवन की जितनी गुत्थियाँ सुलझायीं, उतनी ही पार्थिव जीवन की भी। रामायण और महाभारत की घटनाओं में जीवन की सहस्रमुखी धाराएँ सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन की कितनी संतप्त भूमि शीतल कर रही हैं! यही पवित्र धाराएँ जन-समुदाय की भाषा में तुलसी, सूर और मीरा की सरस वाणियाँ पाकर समस्त देश को हरा-भरा कर सकीं। शाश्वत जीवन के ये आकाश-दीप जीवन के बहुत बड़े भू-भाग पर प्रकाश डालते हैं।

लेकिन, आज भारतीय युवक इन सब बातों में विश्वास नहीं रखते। वे तो पश्चिम के जीवन के अनुरागी बनकर उसी के राग गा रहे हैं। श्रीमती सरोजिनी नायडू के शब्दों में वे पश्चिम की पीली अनुकृति मात्र (पेल कापीज़ ऑफ डि वेस्ट) हैं। क्या वे नहीं जानते कि उनके पास जीवन का वह दिव्य संगीत है जो वे पश्चिम की बाँसुरी में फूँक सकते हैं? उनके पास भी वह रंगीन फूल का बीज है जो पश्चिम के उपवन में लग कर दर्शकों के नेत्रों में कई रंगों के प्रतिबिम्ब डाल सकता है! उनके पास भी वह माणिक है जिससे पश्चिम के प्रासाद प्रकाशित किये जा सकते हैं! प्राचीन साहित्यकारों को छोड़ दीजिए। हमारे यही नवयुवक साहित्यिक हैं जो देश के भाग्य का निर्माण करेंगे। इन्हीं की लेखनी हमारे उत्थान का इतिहास लिखेगी। आज इन्हें अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए। इस समय किसी भी भारतीय साहित्यिक को अधिकार नहीं है कि वह साहित्य को अपनी व्यक्तिगत उन्नति या प्रशंसा का साधन बनाये। वह साहित्य के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उसे सर्वप्रथम अपने देश की सम्पत्ति के रूप में साहित्य की रचना करनी है। कविता उसके लिए प्रेयसी की प्रेम-पत्रिका नहीं हो सकती, कहानी उसकी वासनामयी आत्मकथा नहीं बन सकती, नाटक उसके लिए प्रेम का अभिनय नहीं हो सकता। नहुष ने इन्द्राणी के साथ प्रेम का जो नाटक खेला था, वह उसके स्वर्ग से निर्वासित हो जाने का संकेत था। साहित्य के क्षेत्र से निर्वासित हो जाने का ऐसा कोई संकेत दुहराया न जावे, यही हमारी कामना है।

लेखक और कवि में पूर्ण आत्मीयता चाहिए। किसी प्रकार की संकीर्णता से उसकी लेखनी कुण्ठित हो जाती है। उसकी वाणी मलयानिल की भाँति बहनी चाहिए, जिसमें जन-जन से प्रेम हो। उसके काव्य का इन्द्रधनुष पूर्व से पश्चिम तक खिच जावे। भगवती भागीरथी की भाँति वह सबके लिए समान रूप से पवित्र हो। कवि और लेखक के लिए किसी के प्रति घृणा करना असम्भव है। वह कभी प्रतिहिंसा से अग्रसर नहीं हो सकता। और यदि उसके काव्य में घृणा और प्रतिहिंसा की भावनाएँ हैं तो, वह कवि नहीं हो सकता। इस महायुद्ध के अवसर पर तो उसका दायित्व और भी बढ़ गया है। प्रान्तों, देशों और राष्ट्रों में प्रेम की भावना का संचार करना उसका कर्त्तव्य हो गया है। वर्गों में पारस्परिक द्वेष का जो अंकुर फूट निकला है, उसे छिन्नमूल करने का उत्तरदायित्व उसी पर है। सभ्यता और संस्कृति के वे स्मारक, जो इस महायुद्ध की लपटों में नष्ट होने जा रहे हैं, उन्हें अपने स्नेह के आवरण से रक्षित कर भावी संतति को सौंपना उसी का कर्तव्य है।

आज हमारा साहित्य भिन्न-भिन्न प्रभावों में पोषित होकर बड़ा हो रहा है। भारतीय विचार-धारा के अन्तःप्रवाह से सिंचित होकर उसने पश्चिम के प्रकाश में अपनी पंखुड़ियाँ खोली हैं। दैनिक जीवन की घटनाओं के समीर ने उसे आन्दोलित किया है। उसमें जीवन के विविध दृष्टिकोणों के फूल खिल आये हैं। लेकिन एक बात है। प्राचीन फूलों की सुगन्धि से इन फूलों की सुगन्धि बदली हुई है। जहाँ पहले आध्यात्मिक सौरभ हमारे साहित्य का प्राण था, आज लौकिक और जीवनगत हलकी सुगन्धि हमारे साहित्य को अनुप्राणित कर रही है। हमारे साहित्य ने जैसे एक नये जीवन में प्रवेश किया है। जीवन ने जैसे स्वयं अपना आत्मविश्लेषण कर अपना प्रत्येक भाग साहित्य को समर्पित कर दिया है। सूर्य की किरण के सप्तरङ्गी विभाजन की भाँति जीवन का विभाजन हमारे नेत्रों के समक्ष आकर्षक और कलापूर्ण बन गया है। जिस प्रकार एक हिलता हुआ तार आस-पास के वायुमण्डल में सहस्रों कम्पन उत्पन्न कर देता है, उसी भाँति हमारा झंकृत होता हुआ जीवन मनोविज्ञान के सहस्रों कम्पन में हमारे साहित्य को अगणित दृष्टि-बिन्दु देता जा रहा है। आज हमारे साहित्य के पास क्षीर-शायी शेष की अनन्त जिह्वाएँ हैं; किन्तु उनमें विष न हो, कल्याणकारी अमृत हो! राष्ट्र को अमर जीवन प्रदान करनेवाला मंगलमय सुधा-बिन्दु हो!

राष्ट्रों, वर्गों और सम्प्रदायों में प्रेम का सरस गीत गानेवाली यह सुधा-वाणी हमारी भौतिकता में से स्वार्थ और ईर्ष्या का विष दूर कर दे! वह संकीर्णता

के क्षीण दीपक को उत्सुक तारक-तेज में परिवर्तित कर सके, वह संसार के कण-कण में पैठ कर विश्व-बन्धुत्व की भावना से हमारी दृष्टि को सर्वव्यापी बना सके, यही हमारी आकांक्षा है।

अपने ध्येय और दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमारे सामने जो समस्याएँ हैं, उन पर हमें विचार करना है। हमारे राष्ट्र का आदर्श बहुत ऊँचा है। हमारे देश ने अपने जीवन का जो दृष्टिकोण निर्धारित किया था, वह हमारे प्राचीन साहित्य की वाणियों में आज भी मुखरित हो रहा है; किन्तु वर्तमान विषम परिस्थितियों और प्रतिबंधों ने हमारे साहित्य में जो बाधाएँ उपस्थित कर दी हैं, उन्हें एक बार हमें सुलझी हुई दृष्टि से देख लेना चाहिए। हमें आत्म-विश्लेषण करना है, आत्म-प्रशंसा नहीं। हमारे साहित्य में आज जो अभाव है, उन्हें हमें दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में मैं अपने साहित्य के मात्र गुण-गौरव-वर्णन में आपका समय नहीं लूँगा। मैं द्वेष-भाव से रहित होकर अपने साहित्य के अभावों पर विचार करना चाहता हूँ। प्रशंसा के लिए बहुत समय है। भविष्य स्वयं अपने अक्षय श्रद्धाभाव से हमारे श्रेष्ठ साहित्य का अभिनंदन करेगा किंतु आज हमें स्पष्ट रूप से अपनी वास्तविक परिस्थितियों को समझ लेना चाहिए। अपना विश्लेषण कर, अपनी दृष्टि बाहर न ले जा कर, अपनी ही ओर मोड़ देने से आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। अपने कवि कबीर के शब्दों में मैं कह दूँ—

"उलटि समाना आप में, प्रकटी जोति अनन्त।"

अपने साहित्य पर विचार कीजिये। प्रति वर्ष काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचना के ग्रन्थ बड़ी संख्या में प्रकाशित होते रहे हैं किन्तु यदि आप उनके दृष्टिकोणों की ओर देखने का प्रयत्न करे तो आपको निराशा ही होगी। बहुत कम ग्रन्थ आपको ऐसे मिलेंगे जिनमें हमारे लेखकों ने हमारे जीवन के प्रश्नों को सुलझाने में सहायता दी है। एक ही भावना या एक ही बात बदले हुए शब्दों में हमारे सामने रखी गयी है जैसे, सूर्य की एक किरण खिड़की के विविध रंगों के शीशों से निकल कर पृथ्वी पर इन्द्रधनुष बन गयी है जिसमें कोई स्थायित्व नही है। जैसे साहित्य में कठिनाई से एक कंठ-ध्वनि निकल सकी है और सीमित भावों की दीवारों से उसकी अनेक प्रतिध्वनियाँ हमारे कानों में हल्की और तीव्र शब्द-तरंगें भेज रही हैं जिन्हे हम नवीन और अभिनव मान बैठे हैं। और इसके अनेक कारण हैं—

१. हमारे आधुनिक साहित्य का आधार वास्तविक परिस्थितियों और

अनुभूतियों में कम है। उसकी अभिव्यक्ति उस स्वाभाविकता के साथ नही हो सकी है जिसमें साहित्य जीवन का भाग बन जाता है।

२. पश्चिम के युगान्तरकारी साहित्य के ज्वार में हमारे बहुत-से साहित्यिकों के संस्कार बह गये हैं और वे उच्छृङ्खलता में ऐसे अस्वस्थ साहित्य का निर्माण कर रहे हैं जिनसे राष्ट्र का जीवन अशुभ हो सकता है।

३. हमारे कवियों और लेखकों में अधिकतर अनुकरण की प्रवृत्ति बनी हुई है जिससे उनके व्यक्तित्व की छाप उनकी रचना पर प्रायः नहीं बन पाती।

४. हमारे अनेक लेखकों ने साहित्य-रचना में अध्ययन, अनुशीलन और निरीक्षण की आवश्यकता नही समझी है। इसीलिए वे प्रथम रचना में कुछ बातें कह कर परवर्ती रचनाओं में उन्हीं को विविध शब्दों में दुहराने लगते हैं। इससे उनका दृष्टिकोण विस्तृत नही हो पाता।

इन बातों पर हम कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे। हमारे बहुत-से आधुनिक साहित्यकार जीवन की वास्तविकता का रस नहीं ले सके है। वे वस्तुस्थिति का बोलता हुआ चित्र प्रस्तुत नहीं कर सके हैं क्योंकि उन्होंने जीवन में डूबने की चेष्टा नहीं की। बिहारी के 'अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग' उन पर अक्षरशः घटित किया जा सकता है। यही कारण है कि हमारा आज का साहित्यिक मजदूर और किसान पर 'साहित्य की रचना करता हुआ हमारे हृदय में एक टीस और कण्ठ में एक उच्छ्वास नहीं उठा सका है। वह किसान के जीवन की कल्पना करता हुआ एक ही प्रकार की असुविधाएँ गिनाता चलता है जैसे लन्दन की एक फर्म में एक कजूस खरीदार चाकुओं के २३५ डिजाइनों या सिगरेट के १३६ ब्रैंडों की आलोचना करता है लेकिन लेता एक भी नहीं है। जब भारत के ८९ प्रतिशत निवासी किसान या कृषि से अपनी आजीविका चलाते है और उनके जीवन में प्रवेश करने के अनेक अवसर हमारे सामने आते हैं तब यदि हमारे लेखक उनके जीवन की वास्तविक अनुभूति प्राप्त न कर सके तो आप उनकी साहित्य-साधना का क्या मूल्य समझेंगे? हमारे नवीन साहित्यिकों की लेखनी में अभी इतना बल भी तो नहीं है कि वे असंतुष्ट जीवन के चित्रों को ज्वालामुखी का रूप दे सके। हमारे आधुनिक साहित्यिक रूस के जिस साहित्य का अनुकरण कर रहे हैं वह सत्य और वास्तविकता में आमूल डूबा हुआ है। वह अपने दुःख में बहुत प्राचीन और आँसुओं में बहुत बुद्धि-सम्पन्न है (ओल्ड इन ग्रीफ एण्ड वेरी वाइज इन टीयर्स) किन्तु हमारे नवीन लेखक रूसी साहित्य से प्रभावित होते हुए भी अपने साहित्य में जीवन की वास्तविकता नहीं ला सके हैं। एक कौतूहल और देखिए। यह रूसी साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी से शक्ति-सम्पन्न हुआ है। इसमें न पूर्व काल है न

नाध्यनिक। फिर भी भाव-सम्पन्नता में इस साहित्य ने प्राचीन साहित्यों से आगे कदम बढ़ाया है। इसका कारण यही है कि यह साहित्य वास्तविक जीवन के अभावों से उत्पन्न हुआ है और इसमें क्रन्दन और विद्रोह का स्वर मस्तिष्क से नही, हृदय से निकल कर संसार के वायुमण्डल में फैल गया है। हमारे साहित्यकारों ने इसकी तीव्रता के आगे अपना सिर झुका दिया है। वे इसकी उष्णता तो प्राप्त कर सके हैं किन्तु प्रकाश नही। जीवन पर आघात करनेवाली जो प्रेरणा और आक्रमण-शक्ति रूसी लेखकों के पास है वह हमारे हिन्दी लेखकों के पास नहीं आ सकी है। उदाहरण के लिए मुझे एक छोटे से प्रसंग की ओर संकेत करने की आज्ञा दीजिए। नेक्रासोव (१८२१-१८७७) रूस का एक प्रमुख लेखक हो गया है। वह एक तेजस्वी यथार्थवादी था। उसने अपने साहित्य का समस्त आक्रोश जीवन की कष्टकारक परिस्थितियों से लिया था। वह जनता का कवि था। उसने प्रकृति के अनेक चित्र खीचे हैं और वे चित्र केवल मानव जगत् के सुख-दुःख को चित्रित करने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत किये गये है। वह किसानों का ऐसा चित्रकार है जिसमें यथार्थ की गहरी रेखाएँ हैं, आदर्श का सुनहला रङ्ग नही। उसने एक कविता लिखी है--दि रेड नोजेड फ्रास्ट। इसमें एक तीव्र कल्पना है किन्तु यह कल्पना सत्य के कितने समीप है! शीतकालीन कुहरे में एक किसान-विधवा काम कर रही है। कुहरा एक राजा का रूप रखकर उसके समीप आता है और उसे शीत की अधिकता से जकड़ कर मार डालता है। जिस समय वह विधवा मर रही है उस समय यह कुहरा वीर वेश में आकर उसे अपने रजत राज्य, हीरक और मोती के गीत सुनाता है और दूसरी ओर वह विधवा ग्रीष्म का उष्ण और मादक दिन और पके हुए अन्नों की राशि का स्वप्न देखती हुई समाप्त हो जाती है। किसान-विधवा का स्वप्न जनता के श्रमिक जीवन की कठोरता पर जो आघात करता है, वह युगों-युगों तक क्रांति की लपटे उठाता रहेगा। मैंने यहाँ रूसी साहित्य का उदाहरण इसलिए दिया है कि हमारा आज का साहित्यकार अधिकतर रूसी साहित्य से प्रभावित होकर ही अपने आगामी साहित्य की कल्पना कर रहा है, यद्यपि अभी तक वह रूसी साहित्य के वस्तुवाद से मीलों दूर है। साहित्य में वास्तविकता का प्रश्न हमारे अभावों से उठता है और उन अभावों को समझने की क्षमता आज हमारे साहित्यकार में नहीं के बराबर है। इसी रूसी साहित्य के प्रभाव ने हमारे साहित्यकारों को अपने परम्परागत साहित्यिक संस्कारों से रहित कर दिया है और आज हमारे लेखकों को अपनी रचनाओं की प्रेरणा हमारी संस्कृति से न मिलकर रूस के राष्ट्रीय सिद्धांतों से मिल रही है। यों यदि हमारे साहित्यकार चाहें तो वे अपनी अनुवीक्षण-शक्ति से ही अपने देश की अवस्था से यथेष्ट सामग्री प्राप्त कर सकते

हैं, उन्हें कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। वे अपने जीवन से ही ऐसी अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं कि वह अन्य देशों के जीवन के लिए भी अनुकरणीय बन सकती है पर सम्भवतः हमारे साहित्यिकों को अपने देश और अपनी राष्ट्रीयता में अधिक महत्त्व ज्ञात नहीं होता।

पश्चिम के युगान्तरकारी साहित्य से हमारे साहित्य का जितना हित हुआ है, उतना अहित भी। पश्चिम के साहित्य से हित तो यह हुआ है कि हमारे साहित्य का दृष्टिकोण बहुत व्यापक और विस्तृत हो गया है। जीवन के लौकिक पक्ष के प्रति हम अधिक जागरूक हो गये है और संसार के विविध क्षेत्रों की प्रगति को भी हम साहित्य की सीमा मे बाँध सके हैं। हमारी दृष्टि ललित साहित्य में ही केन्द्रीभूत न होकर उपयोगी साहित्य की ओर भी गयी है और साहित्य की परिधि अनेक विषयों को घेर कर बहुत विस्तृत बन सकी है। हम अपने जीवन में अनेक द्वारों से प्रवेश पा सके हैं और अपने अनुभव को अधिक सक्रिय बना सके है। साहित्य और भाषा को ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर समझ कर हम विश्व-साहित्य से अपना सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ हो सके हैं। किन्तु इन सब हितों के साथ जो अहित हुए हैं उन पर भी हमारी दृष्टि चली जाती है। पहली तो साहित्यिक संस्कारों की बात है। यह तो मैं मानता हूँ कि साहित्य अपनी चरम उन्नति में सर्वजनीन बन जाता है किन्तु वह जिस समाज और जिस राष्ट्र मे निर्मित होता है उसके संस्कारों की छाप नहीं भूल जाता और यदि साहित्य अपने संस्कारों को भूल जाय तो फिर उस साहित्य का कोई व्यक्तित्व नहीं रह जाता। आप फ्रांस, जर्मनी, इङ्गलैण्ड और रूस के साहित्यों के उदाहरण लीजिए। प्रत्येक साहित्य के पीछे उसके राष्ट्र की युग-युग की साधना छिपी रहती है। शेक्सपीयर के नाटकों में, टालस्टॉय की कहानियों में, तुलसीदास के काव्य में, क्या हम विश्वजनीनता नहीं पाते ? किन्तु इन महान् साहित्यिकों के राष्ट्रगत सस्कार उनके साथ हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द की कहानियों में भारतीय आदर्श पूर्ण स्वाभाविकता लिए हुए हमारे जीवन की प्रगतिशीलता का द्योतक है। स्वर्गीय प्रसाद के नाटकों में हमारे प्राचीन इतिहास के चरित्रों में जो जीवन स्पंदित हो रहा है, वह उन्हें सदैव भारतीय राष्ट्र का कलाकार घोषित करेगा। आधुनिक कलाकार अपने राष्ट्रगत समस्त संस्कारों को मिटाकर रूस या इङ्गलैण्ड के आदर्शों का अन्धानुकरण कर रहे है। हम यह मानते हैं कि मानवता में एक क्रान्ति फैल रही है और समस्त संसार के राष्ट्र सम्भवतः किसी दिन एक ही परिवार के सदस्य होंगे, किन्तु भावी मनुष्य की संस्कृति के निर्माण में भारतीय विचारधारा का क्या योग होगा यदि हम किसी भी राष्ट्र के ग्रामोफोन बन कर अपनी मौलिक भावनाओं को भूल जायँ ? आज रूस ने

राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में जितनी क्रांति उपस्थित की है उतनी किसी भी देश ने उपस्थित नहीं की। क्या आगामी कल की संस्कृति रूस की इस क्रांतिकारी भावना को अपने विकास के इतिहास में स्थान न देगी? हमारे प्राचीन साहित्य को देखिए। क्या इस प्रकार की क्रांतियाँ हमारे देश में नहीं हुई? यह बात दूसरी है कि मानवता का संघर्ष इतने बड़े पैमाने पर कभी न हुआ हो और आज का संसार पुराने अनुभवों से शक्ति-सम्पन्न होकर कल के संसार से अधिक समझदार हो गया हो; किन्तु क्या हम अपनी प्राचीन क्रांतियों के आधार पर नवीन क्रांति की योजना में अपने स्वतंत्र विचारों से मानव-संस्कृति को अधिक शक्ति प्रदान नहीं कर सकते? यह तभी सम्भव है जब संसार की आज तक की प्रगति पर दृष्टि रखते हुए हम अपने संस्कारों और समाजगत दृष्टिकोणों को विकसित करें एक नवीन और व्यवस्थित दृष्टिकोण ससार को दे। मैं इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि पश्चिम के प्रवाह में भारतीय विचारधारा के लिए कोई स्थान ही नहीं है और हमारे साहित्य में उन्मेष तभी आ सकता है जब हम रूस या इङ्गलैण्ड के क्रांतिकारी विचारों के भाग-मात्र बन कर अपने साहित्य का निर्माण करें।

इस पश्चिम के साहित्यगत अन्धानुकरण का सबसे बड़ा प्रभाव तो यही है कि हम आजतक अपने साहित्य की आलोचना के सिद्धांतों का निर्माण नही कर सके हैं। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त तो हम भूल ही गये हैं, क्योंकि हमारी कविता आज 'रस' के सिद्धान्त से नहीं चलती। हमारे नाटकों में संस्कृत का नाट्य-शास्त्र काम नहीं देता। उनमें न प्राचीन नाटकों की अर्थ-प्रकृतियाँ हैं, न संधियाँ हैं, न अर्थोपक्षेपक हैं, न नायकों के वर्ग है, न रस के सिद्धान्त हैं और न वृत्तियाँ हैं। नांदी और भरतवाक्य तो हो ही नहीं सकते, क्योंकि आधुनिक नाटककारों का ईश्वर की प्रार्थना या मंगल-कामना मे कोई विश्वास नही हैं। हमारे महाकाव्य या खंडकाव्यों का निर्माण किस सिद्धान्त के आधार पर होगा, हम कह नही सकते। पश्चिमी आलोचना-पद्धति के भीतर उसकी समस्त प्राचीन साहित्य-साधना है। उसके पीछे उसका एक इतिहास है। हम करते यह है कि विदेशी साहित्यिक परम्पराओं से बने हुए साहित्यिक सिद्धान्तों को हम भारतीय परिस्थितियों में बने हुए साहित्य पर लाद देना चाहते हैं और उसके गुण-दोषों का विवेचन करना चाहते हैं। हम जानते हैं कि हमारा साहित्य पश्चिम के प्रभावों से बन रहा है किन्तु उसके निर्माणकर्ता भारतीय हैं। वे भारतीय परिस्थितियों के बीच पले है। युग-युग के संस्कार उनके रक्त में घुल-मिल गये हैं। उनसे आवाज आ रही है कि हमारे देश की जलवायु भिन्न है, मनुष्यों का रहन-सहन भिन्न है,

उनकी परम्पराएँ और विश्वास भिन्न हैं, उनके जीवन की अवस्थाएँ भिन्न हैं। इन सब के योग से निर्मित साहित्य को पश्चिम के आलोचना-सिद्धान्तों पर कसना भारतीय साहित्य के प्रति अन्याय करना है। हमे चाहिए कि संस्कृत के साहित्यिक आदर्शो और पश्चिम की आलोचना-पद्धति मे एक समझौता करे। आधुनिक भारतीय भाषाओं के आलोचना-सिद्धान्तों का निर्माण होना चाहिए जिनमें हमारी परिस्थितियों से उत्पन्न साहित्य का पश्चिमी प्रभावों के मेल से जो रूप निकले, उसका यथोचित मूल्यांकन हो सके। प्राचीन रस-सिद्धान्तों में समयानुसार सशोधन हो, भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों में कुछ परिवर्तन किया जाय। हम अपने महाकाव्यो और खडकाव्यों के लिए निश्चित आदर्श बना सके और संसार के काव्य-साहित्य को नवीन शैलियाँ और जीवन के स्वतंत्र दृष्टिकोण दे सके।

पश्चिम के यथार्थवाद से हम अपने साहित्यगत व्यक्तित्व को तो भूल ही गये हैं, साथ ही हम अपनी उच्छृङ्खलता में साहित्य की समस्त मर्यादाओं को मिटाने का साहस भी करने लगे हैं। हमने अपनी कविता की स्वतंत्रता में छंद को सबसे बड़ा बन्धन मान कर उसके हाथ-पैर तोड़ डाले हैं। जब मात्राओं की क़ैद हमें असह्य है तो वर्णवृत्तों के गणों की तो बात ही जाने दीजिए। उन्हें तो हम शिवजी के गणों से भी अधिक भयानक समझ बैठे हैं। मर्यादाओं को तोड़ने का जोश तो इतना भीषण हो गया है कि कुछ कवियों ने व्यक्तिगत सदाचार को भी तिलाञ्जलि दे दी है। अश्लील से अश्लील पंक्ति लिखने में उन्हें हिचक नहीं होती। नारी को वे गाली दे रहे हैं और दु:शासन की भाँति उसका वस्त्र खींचने में अपनी शक्ति की पूर्ति समझ रहे हैं। ऐसे कवि अपने को प्रगतिशील कहते है।

मैं अपने ऐसे बन्धुओं से प्रार्थना करूँगा कि वे प्रगतिशीलता का यथार्थ दृष्टिकोण समझने की चेष्टा करें। वे नारियों के शील की रक्षा करें, अपने दृष्टिकोण में मानव बनें और वर्ग-भेद दूर करने के लिए घृणा के बदले सौहार्द का अवलम्बन करें। आप विश्वास मानिये, घृणा का साहित्य राष्ट्र-निर्माण में सहायक न होगा। मैं आल इंडिया प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन से भी प्रार्थना करूँगा कि वह इन नवीन कवियों का दृष्टिकोण संशोधित और परिमार्जित करने में सहायक हो।

हमारे नवीन साहित्यकारों की यथार्थवाद-सम्बन्धी नग्नता के साथ अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई है। हमारा लेखक अभी तक अपने विचारों और सिद्धान्तों में विश्वास उत्पन्न नहीं कर सका है। वह अपने साहित्यिक जीवन में कीट्स और शैली अथवा टाल्सटॉय और चेखाव तो बनना चाहता है किन्तु वह

स्वयं जो कुछ है, वह नहीं बनना चाहता। यही कारण है कि उसकी रचनाओं पर व्यक्तित्व की छाप नहीं होती।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पश्चिम के साहित्य से कोई लाभ न उठाया जाय। हमारे साहित्य के दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाने के लिए यदि पश्चिम का साहित्य किसी प्रकार सहायक हो सकता है तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए; किन्तु जो सामग्री हम बाहर से लें उसे हम अनुशीलन और मनन-पूर्वक अपनी बनाकर लें। अपनी आवश्यकता के अनुसार हम बाहर की सामग्री में काट-छाँट भी कर सकते हैं किन्तु हम अपने अनुभव और विवेक-बुद्धि की कड़ी आँच में विदेशी साहित्य को तपा कर परखने और स्वीकार करने के आदी नहीं हैं। इसीलिए हम अपनी रचनाओं पर विदेशी रचनाओं का व्यक्तित्व लाद देते हैं। जिनका विदेशी साहित्य से परिचय नहीं है वे अपने ही साहित्य के कवियों और लेखकों का अनुकरण करते हैं। आज हमारे कितने कवि पंडित सुमित्रानन्दन पंत के संस्करण बन रहे हैं। भावों के अनुकरण की बात जाने दीजिए, कितने कवियों ने उनके शब्द-विन्यास को ही जैसे का तैसा उठा लिया है! और इसका कारण यह है कि हमारे लेखकों में अध्ययन और अनुशीलन के लिए बहुत कम उत्साह है। हमारे साहित्य में ऐसे कितने लेखक हैं जिन्होंने हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं की जानकारी प्राप्त की है, जो हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त अन्य साहित्यों के भाव-सौन्दर्य से परिचित हैं? अथवा ऐसे लेखक भी कितने हैं जिन्हें अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास का ही पूरा ज्ञान है? आपको क्लेश होगा जब आप यह जानेंगे कि ऐसे लेखकों की संख्या अधिक नहीं है। हिन्दी के अधिकांश लेखक अन्य साहित्यों की सुनी-सुनायी बातों पर ही अपने साहित्यिक ज्ञान का विज्ञापन करते हैं। जब उनका साहित्यिक ज्ञान इतना सीमित और अधूरा है तब वे समाज और देश को क्या संदेश देंगे? बिना अध्ययन और अनुशीलन के उच्चकोटि के साहित्य की रचना विरले साहित्यकारों में ही होती है। साधारणतः साहित्य के निर्माण में एक व्यापक और विस्तृत दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है और उसके लिए अध्ययन और अनुशीलन अपेक्षित हैं। यही कारण है कि हमारा समालोचना-साहित्य अभी तक श्री-सपन्न नहीं हो पाया है। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने समालोचना के जिस आदर्श की ओर संकेत किया था, वह आदर्श कितने लेखकों द्वारा प्राप्त किया जा सका? दो-एक अच्छे समालोचकों को छोड़कर समस्त हिन्दी साहित्य समालोचकों से रंक है। आये-दिन पत्र-पत्रिकाओं में समालोचनाएँ निकलती रहती हैं, वे पाठकों के साहित्य-सम्बन्धी निर्णयों के निर्माण में कितनी सहायक हैं, यह आप लोग स्पष्ट देख रहे हैं। इधर कविता के सम्बन्ध में जो

थोड़ी-बहुत निर्भीक समालोचनाएँ प्रकाशित हुई हैं वे आगे चल कर इतनी व्यक्तिगत और पारस्परिक राग-द्वेष से पूर्ण हो गयीं कि उनका उद्देश्य ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया। हमारे साहित्यिक मित्र भी तमाशबीन बन कर दो सूरमाओं का द्वन्द्व देखने का मजा लेने लगे और साहित्य की समालोचना एक ओर ही रखी रह गयी। सच्ची समालोचना के अभाव में साहित्य का नियन्त्रण भी नहीं हो सका है और वह ढालू जमीन के पानी की तरह चाहे जिधर बहने लगा है। जब तक हमारे लेखकों में अध्ययन और अनुशीलन के लिए विशेष उत्साह न होगा तब तक हमें सच्चे साहित्य के निर्माण की आशा नही करनी चाहिए।

इधर मुझे कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि हमारे हिन्दी साहित्य के अनुभवी और ख्याति-प्राप्त लेखक कुछ विशेष नहीं लिख रहे हैं। क्या हम यह मान लें कि वे जो कुछ लिखना चाहते थे, लिख चुके, अथवा वर्तमान परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी हैं कि उन्हें लिखने की कुछ प्रेरणा नहीं मिल रही है ! कवियों में श्री मैथिलीशरण जी के कुणाल-गीत, अर्जन और विसर्जन, काबा और करबला आदि ग्रंथों के सिवाय किसी अन्य कवि की कोई नवीन कृति देखने में नहीं आ रही है। महादेवी जी की दीप-शिखा से हमें प्रकाश अवश्य मिला था। प्रेमचन्द और प्रसाद जी के बाद हमें उपन्यास, कहानी और नाटक साहित्य सूना-सा ज्ञात हो रहा है। इधर कुछ कहानियाँ श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी और श्री चंद्रवती ऋषभसेन जैन द्वारा अवश्य अच्छी लिखी गयीं। श्री उदयशंकर भट्ट के एकांकी नाटकों का संग्रह भी अच्छा प्रकाशित हुआ। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा का ग्रंथ यूरोप के पत्र अपनी शैली और दृष्टिकोण में सर्वथा नवीन और मौलिक है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल की समालोचनाओं के बाद समालोचना पुस्तकें, अन्यमनस्कता से लिखी जा रही हैं। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री गुलाबराय, श्री नन्ददुलारे बाजपेयी और श्री शांतिप्रिय द्विवेदी इस क्षेत्र में अवश्य प्रयत्नशील हैं। साहित्य पर नियंत्रण रखनेवाले जितने भी अधिक समालोचक हों, साहित्य के हित में उतना ही अच्छा है। नवीन लेखकों की कृतियों में अवश्य अधिकता हो गयी है किन्तु खेद है कि उनका बहुत-सा भाग अल्पायु है। वह बहुत दिनों तक हमारा साथ नहीं देगा। क्या हम एक बार अपने लेखकों से अनुरोध करें कि साहित्य-साधना में पुनः प्रवृत्त हों ! सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि हमारे चारों ओर घटित होने वाली घटनाओं से हमारे लेखक और कवि अप्रभावित-से ही रहे हैं। वर्तमान महायुद्ध की विषम परिस्थितियों में जीवन कैसा असुविधाजनक हो गया है ? मानवता के मूल पर कुठाराघात हो रहा है, लाखों की संख्या में मनुष्य मृत्यु के अन्धकूप में गिर रहा है, क्या इसकी छाया हमारे कृतिकारों की लेखनी तक नहीं पहुँची है ? कितने कवियों

और लेखकों ने जीवन की वर्तमान चीत्कारपूर्ण ध्वनियों और प्रतिध्वनियों में अपने हृदय का उच्छ्वास निकलते देखा है? दूर क्यों जाते हैं? हमारे देश की सबसे महान् आत्मा ने इक्कीस प्रभातों में अपने पुण्य-व्रत की कसौटी पर सत्य के कञ्चन की लीक खींची। क्षीण होती हुई शक्ति ने जीवन की जिस संदिग्ध भावना को जगा दिया था, उससे कितनी लेखनियाँ कागज पर चल सकीं? केवल एक कवि ऐसा है जिसकी लेखनी उस महात्मा के हृदय-स्पंदन के साथ दौड़ती रही। मेरा संकेत श्री सियारामशरण गुप्त से है। यों दो-तीन कवियों ने इस सम्बन्ध में कुछ लिखा भी है, किन्तु वह अधिक नहीं है। क्या महात्मा जी के अमूल्य प्राणों की संदिग्धता भी हमारे कवियों और लेखकों में आशंका के भाव नहीं भर सकी? मैं तो आशा करता था कि महात्मा जी के व्रत के इक्कीस दिनों का साहित्य हिन्दी का ऐसा साहित्य होता जो पिछले इक्कीस वर्षों में न लिखा गया होता।

ललित साहित्य के साथ-ही-साथ उपयोगी साहित्य की भी हमें बड़ी आवश्यकता है। उपयोगी विषयों की विवेचना से ही साहित्य में बल आता है। वह एक ओर जनता को नये-नये विषयों की जानकारी कराता है तथा दूसरी ओर विश्वविद्यालयों में अपनी भाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाता है। इस क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दों के निर्माण और संग्रह की बड़ी आवश्यकता है। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग ने पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का कार्य अपने हाथ में ले लिया है। उसके द्वारा अर्थशास्त्र, व्यापार, इतिहास, राजनीति, भूगोल, दर्शन, कानून, भाषा-विज्ञान और व्याकरण, काव्यशास्त्र, रसायन, भौतिक, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र, कृषि, गणित, ज्योतिष और शिक्षा आदि विषयों के एम० ए० या एम० एस-सी० डिग्री तक के लिए विशिष्ट और पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की योजना बन गयी है। आवश्यकता इस बात की है कि उपर्युक्त विषयों पर प्रामाणिक ग्रंथों की रचना यथासम्भव शीघ्र ही हो, जिससे विश्वविद्यालयों की ऊँची-से-ऊँची कक्षा की पढ़ायी के लिए हिन्दी ही में पाठ्य-ग्रंथ प्राप्त हो सकें। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की भारतीय इतिहास की रूपरेखा और श्री दयाशंकर दुबे की अर्थशास्त्र की रूपरेखा की भाँति यदि अन्य विषयों की रूप-रेखाओं पर भी ग्रंथ लिखे जा सकें तो हमारे उपयोगी-साहित्य का बहुत हित होगा।

यह तो रही आत्म-विश्लेषण की बात, जो बिना किसी पक्षपात या द्वेष-भाव से लिखी गयी है। किसी भी व्यक्ति के प्रति मेरा अनुचित संकेत नहीं रहा है, मैंने तो साहित्य की वर्तमान रूपरेखा पर दृष्टि-निक्षेप करते हुए सद्भावनाओं से

प्रेरित होकर ये बातें लिख दी हैं। अब मैं आपके सामने कुछ ऐसी बातें प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिनसे हमारा साहित्य अधिक समृद्धशाली बन सकता है। साहित्य के अध्ययन और मनन के फलस्वरूप जो बातें मेरे हृदय में उठी हैं, उन्हीं की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

पहली बात तो यह है कि हमारी कविता में अभिव्यंजनात्मक शब्दों की विशेष कमी है या यों कहिए कि वर्तमान प्रगति को ध्यान में रखते हुए हमारे पास काव्य-शब्द बहुत परिमित हैं। इन शब्दों के अभाव में हमारी भावनाओं और कल्पना-प्रसूत चित्रों की मूर्त अभिव्यक्तियों में बड़ी कमी आ रही है। हम अभी तक भावों की सूक्ष्म रूप-रेखा के अनुरूप विशेषण नहीं बना सके हैं। यदि हम अंग्रेजी-काव्य में ऐसे विशेषणों को खोजें तो उनकी संख्या लाखों से ऊपर पहुँचेगी। हमारे मन में जब चित्रों का क्रम तीव्र गति से चलने लगता है तब उनके यथावत् रूप-रंग को स्पष्ट करने के लिए हमें अपरिमित शब्द-भांडार की आवश्यकता हुआ करती है। जब कोई अभिनेता, अभिनय के लिए रंगमंच पर जाने की तैयारी करता है तो उसके पास वस्त्रों के विविध प्रकार का संग्रह अपेक्षित है जिसमें से वह अपने अभिनय के अनुकूल वस्त्र चुनकर अपने कार्य को अधिक-से-अधिक प्रभावशाली बना सके। जब कोई चित्रकार किसी दृश्य का चित्रांकन करने बैठता है तो उसे रंगों की हल्की और गहरी छटा की अनेक तूलिकाओं की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार कवि को अपनी काव्य-सामग्री में एक विचार को व्यक्त करने वाले तरह-तरह के शब्दों की हल्की और गहरी भावपूर्ण शब्दावली की आवश्यकता होती है। हमारे भाव चाहे अपनी व्यापकता में अतुलनीय हों, किन्तु यदि उनके अभिव्यञ्जन के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं तो उन भावों की यथोचित प्रभावोत्पादकता पाठक के पास तक कैसे पहुँच सकती है? यथोचित शब्दों के अभाव में हम कभी साधारण, कभी संकीर्ण, कभी शक्तिशाली और कभी बहुत अशक्त शब्दों का प्रयोग करते हैं और हमारे तीर लक्ष्य-वेध करने के पहले ही धराशायी हो जाते हैं। मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त जब हम अनुवाद का कार्य करना चाहते हैं तब भी यदि हमें उपयुक्त शब्दों का अपरिमित कोश प्राप्त न हो, तो हम मूल लेखक के भावों की तीव्रता और उसकी वास्तविक भाव-व्यञ्जना स्पष्ट करने में असमर्थ होते हैं। इसीलिए प्राचीनकाल से शब्दों के अपरिमित भांडार की ओर साहित्यकारों का ध्यान था। हमारे साहित्य में अमरकोश अथवा अनेकार्थ नाममाला की आवश्यकता का कारण यही था। पश्चिमीय साहित्य में सिसरो और क्विनटिलियन ने भी इस विचार को प्रमुख रूप से साहित्य-निर्माताओं के लिए परमावश्यक समझा था। अंग्रेजी में तो शब्दों के रूपक तक बन गये हैं

और साधारण जनता में उनका प्रयोग बड़ी सरलता और स्वाभाविकता के साथ होने लगा है। उदाहरण के लिए, यान (Yawn) शब्द लीजिए जिसका अर्थ है—जँभाई लेना। जँभाई लेने में आदमी अपना मुँह राक्षस की तरह बड़ी भयानकता से खोलता है। ओंठ एक-दूसरे से अधिक-से-अधिक दूर हो जाते हैं। इसी दूरी का भाव लेकर 'यान' को क्रियारूप भी दे दिया गया—'ए विग डिस्टेंस यान्स बिटवीन दि टू।' इस समय जब संसार की अनेक भाषाओं में साहित्य-निधि सञ्चित हो रही है तो हमें उस निधि को अनुवाद के रूप में अपनाने के लिए और वस्तुओं की स्थिति, सादृश्य, प्रमाण, क्रम, संख्या, शक्ति, गति आदि को मौलिक रूप से प्रदर्शित करने के लिए नये-नये शब्द गढ़ने और प्रचलित करने की आवश्यकता है। आप रंगों का ही उदाहरण लीजिए। आपके बाग में कितने रंगों के कितने फूल हैं? लाल रंग के पच्चीसों हल्के और गहरे रंग हैं। उनके लिए आपके पास कितने शब्द हैं? अंग्रेजी में 'लाल' रंग के तरह-तरह के हल्के और गहरे 'ह्यूज' और 'टिंट्स' (इन दोनों अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची क्या हैं?) के लिये कुछ थोड़े से शब्द देखिए—

रेड (red), स्कारलेट (scarlet), वरमिलियन (vermilion), क्रिमसन (crimson), कारमाइन (carmine), पिंक (pink), मैरून (maroon), कारनेशन (carnation), डैमस्क (damask), रूबी (ruby), रोज (rose), ब्लश कलर (blush colour), पीच कलर (peach colour), फ्लेश कलर (flesh colour), गूल्स (gules), सालफरिनो (solferino), ऑरोरा (aurora) आदि इनकी बराबरी में हमारे पास शब्द नहीं हैं। लाल की तरह और भी रंग लिये जा सकते हैं। आश्चर्य तो यह है कि हमारा देश प्रकृति का सुरम्य आगार है। लाखों तरह के वन-पुष्प यहाँ स्वप्नों के इन्द्रजाल की तरह खिलते हैं लेकिन इनके लिए हमारे पास लाल, पीले, नीले या कुछ और शब्दों के सिवाय कोई विशेष शब्द-भांडार नहीं है जिसमें हम अपने फूलों के सौन्दर्य का स्पष्टीकरण कर सकें। इसी प्रकार विशेषण और क्रिया-रूपों की भाव-विविधता और रूप-सम्पन्नता की हमें बहुत आवश्यकता है। मैं अपने अंग्रेजी जाननेवाले पाठकों के सामने महाकवि शैली का एक अवतरण रखता हूँ जो उसकी कविता 'ए समर ईवनिंग चर्चयार्ड' से लिया गया है। आप देखें कि भावों की पूर्णता के लिए विशेषण और क्रिया-पदों का प्रयोग कितनी उपयुक्तता के साथ किया गया है:—

> The dead are sleeping in their sepulchres,
> And mouldering as they sleep, a thrilling sound,

Half sense, half thought, among the darkness stirs,
Breathed from their wormy beds all living things around,
And mingling with the still night and mute sky
Its awful hush is felt inaudibly.

मैंने एक छोटा-सा उदाहरण दिया है, इसी तरह के बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। मुझे कविता लिखते समय ऐसे अभाव बहुत खटकते हैं। मैं अपने पूज्य और मित्र कवियों से प्रार्थना करूँगा कि वे इस प्रकार के 'काव्य-शब्दों' का निर्माण करें।

दूसरी बात यह है कि हमारी साहित्यिक भाषा और जन-समुदाय की बोली का समन्वय होना आवश्यक है। यह देखने में आ रहा है कि आधुनिक खड़ीबोली की कविता धीरे-धीरे जन-समुदाय से दूर होती जा रही है। एक तो उसकी कल्पना अवास्तविक होती जा रही है और दूसरे उसमें संस्कृत के कठिन शब्द अधिकाधिक मात्रा में प्रविष्ट होते जा रहे हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमें संस्कृत से दूर न होना चाहिए, 'संस्कृत-ता' से दूर होना चाहिए। तुलसीदास के मानस में संस्कृत के हजारों तत्सम शब्द हैं किन्तु उनका प्रयोग उन्होंने इस कौशल से किया है कि उससे जनता की मानसिक भाव-भूमि को बहुत उर्वर-शक्ति प्राप्त हुई है। हमें अपनी कविता के नैतिक दृष्टिकोण को ठीक करने के साथ ही-साथ सामाजिक दृष्टिकोण को भी ठीक करना है। जो कविता समाज के साथ हँसते हुए उसे मनोविज्ञान के उन्नत सोपान तक नहीं ले जा सकी, उसकी महत्ता ही क्या रही? तुलसीदास की सरस भाव-ज्ञापन शैली जब केशव के अलंकारों में बद्ध हो गयी तो रीतिकाल की कविता कितनी संकुचित हुई, यह हिन्दी साहित्य के इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं। इसी तरह मिल्टन की कविता के बाद बहुत वर्षों तक अंग्रेजी में स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता नहीं आ सकी। हमारे कवियों को जीवन की सहज अनुभूतियों के साथ जनता की कल्पना के अत्यन्त समीप तक पहुँचना है। तभी वे अपनी भाषा के लिए जनता का संगठित बल एकत्र कर सकेंगे। इस समय यह हमारी बड़ी आवश्यकता है।

तीसरी बात यह है कि हमारी कविता में अन्य भाषाओं की शैलियों को भी हृदयङ्गम करने की क्षमता हो। अंग्रेजी-काव्य के नवयुग की शैली की विविधता और उर्दू की व्यंजनापूर्ण संक्षिप्त शैली की सम्पन्नता की ओर से हमें आँखें बन्द नहीं करनी चाहिए। हमें ग्राम-गीतों की सरलता भी चाहिए। इस प्रकार हमारी कविता में प्रत्येक प्रकार के भाव कला की प्रत्येक शैली में प्रकट किये जा सकते हैं

चौथी बात कहानियों और उपन्यासों के सम्बन्ध में है। हमारा कहानी-साहित्य उन्नति के साथ बढ़ रहा है किन्तु उसमें कला की अपेक्षा परिमाण की वृद्धि ही अधिक हो रही है। केवल कहानी के ही बहुत-से पत्र निकल रहे हैं जिनका उद्देश्य अधिकतर यही है कि रेलवे के यात्री ट्रेन में बैठ कर भी कहानी के सहारे वायु-यान की गति से अपनी यात्रा समाप्त कर सकें। ऐसी कहानियों में एकमात्र मनोरंजन के छींटे और वासना के चटकीले चित्र ही रहते हैं। इनसे जनता का क्या हित हो सकता है? देवकीनन्दन खत्री के साहित्य से यह कहानी-साहित्य किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है। इसमें भी प्रेम के तिलिस्म तोड़े जाते हैं और कालेज के विद्यार्थी ऐयार बनते हैं।

इन कहानियों के प्रकाशक यदि एकमात्र व्यावसायिक दृष्टि ध्यान में न रख र साहित्य के प्रति थोड़ा भी उत्तरदायित्व रखें तो हिन्दी का बड़ा उपकार होगा। ाग का साप्ताहिक 'अभ्युदय' अपने आदर्श का निर्वाह उचित रूप से कर रहा प्रकाशकों के पास कहानी-पत्र के रूप में जनता को आकर्षित करने का साधन ेष्ट मात्रा में है। यदि वे जनता को कहानी से साहित्य की कला का परिचय भी रा दें तो उनके द्वारा अप्रत्यक्ष और अज्ञात रीति से साधारण पाठक भी साहित्य के उपासक बन सकते हैं। क्या हम कहानी-पत्रों के सम्पादकों और प्रकाशकों से इस बात की आशा करें कि वे जनता के हृदय में जीवन की सरस अनुभूतियों के सुथरे चित्र कहानी-कला द्वारा रखने की चेष्टा करेंगे? उपन्यास-लेखन में अधिक उत्तरदायित्व है, उसकी ओर लेखकों का ही ध्यान जाना उचित है।

पाँचवीं बात नाटकों के सम्बन्ध में है। हमारे नाटक चित्रपट के आलोक मे हतप्रभ-से हो रहे हैं। फिर हमारे नाटककारों ने अपनी साहित्यिकता में रंगमंच को निर्वासित-साकर दिया है। नाटक की उपयोगिता उसके अभिनय में अधिक है। पाठ्य-नाटक उपन्यास से अधिक भिन्न नहीं कहे जा सकते। अतः नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिए उसे रंगमंच की कला से जोड़ना आवश्यक है। एक तो हमारे बहुत-से नाटककार रंगमंच की व्यवस्था से अनभिज्ञ हैं, दूसरे उन्हें नाटक लिखने के लिए कोई प्रोत्साहन भी नहीं है। नाटक को कलात्मक रूप देने का कार्य सबसे अधिक शिक्षा-सस्थाओं द्वारा किया जा सकता है। यदि वे प्रत्येक समारोहों में नाटक के अभिनय की व्यवस्था करें और नाटककारों को पुरस्कार देकर नाट्य-साहित्य की रचना में प्रयत्नशील हों तो साहित्य के इस निर्बल अंग में पुनः शक्ति का संचार हो सकता है। शिक्षा-सम्पन्न युवक नाटक-साहित्य की रचना में अधिक सफल हो सकते हैं, यदि वे अनवरत रूप से साधना करें।

इन सब प्रश्नों के साथ जो बात बहुत आवश्यक है, वह यह कि हमें अधिक-से-

अधिक प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य से परिचित होना चाहिए। हम एक ऐसी समिति का संगठन करें जिसमें गुजराती, बंगाली, मराठी, पंजाबी, ओड़िया, सिन्धी तथा तामिल, तेलगू, कनाड़ी और मलयालम भाषाओं के विद्वान् प्रतिनिधि मिल कर साहित्य-सम्बन्धी विचार-विनिमय करें तथा साहित्य की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करें। मुझे स्मरण आता है कि कुछ इसी प्रकार का मंतव्य सम्मेलन के २४वें अधिवेशन में, जो इन्दौर में हुआ था, स्थिर किया गया था। इसके लिए एक समिति भी बनायी गयी थी जिसके संयोजक श्री कन्हैयालाल मुंशी थे। किन्तु विषम परिस्थितियों ने इस कार्य को आगे नहीं बढ़ने दिया। हमें इस कार्य के लिए पुनः चेष्टा करनी चाहिए। विश्वविद्यालयों के एम० ए० के पाठ्यक्रम में प्रान्तीय भाषाएँ वैकल्पिक रूप से रखी जा सकती हैं।

हमें यह जान कर प्रसन्नता होती है कि हमारी साहित्यिक संस्थाएँ अब अधिक ठोस कार्य करने के लिए अग्रसर हो रही हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा, भारतीय हिन्दी परिषद् और हिन्दुस्तानी एकेडेमी अपने-अपने क्षेत्रों में अधिक प्रयत्नशील दिखलायी पड़ती हैं। नागरी प्रचारिणी सभा शीघ्र ही अपनी अर्द्धशताब्दी मनाने जा रही है। इस अवसर पर सभा ने हिन्दी साहित्य और कला के विविध अंगों को प्रस्तुत करने का विशाल आयोजन किया है। मेरी प्रार्थना तो यह है कि यदि ऐसे अवसर पर सभा द्वारा भारतीय भाषाओं के अनुशीलन के फलस्वरूप आलोचना-शास्त्र के सिद्धान्तों का निर्माण हो सकता तो साहित्य के विकास में एक नवीन प्रगति आ सकती। इसके साथ ही-साथ यदि नवीन खोजों के परिणाम-स्वरूप हिन्दी साहित्य का एक प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया जावे तो साहित्य के विद्यार्थियों का विशेष उपकार होगा।

प्रयाग की भारतीय हिन्दी परिषद् डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा के निरीक्षण में विशेष महत्त्व के कार्य कर रही है। पारिभाषिक शब्दावली, हिन्दी भाषा-शैली और व्याकरण के आदर्शीकरण, विश्वविद्यालयों के हिन्दी पाठ्यक्रम में समानता आदि के सम्बन्ध में भारतीय हिन्दी परिषद् ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। पुनर्निर्मित हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने भी श्री राय राजेश्वरबली का अदम्य उत्साह पाकर नवीन आयोजनाओं को हाथ में लिया है। एकेडेमी ने लेखकों के लिए अनेक पुरस्कारों की व्यवस्था की है। इससे निर्माण-कार्य में नवीन जागृति और स्फूर्ति अवश्य ही आ सकेगी। इन संस्थाओं के अतिरिक्त मध्य भारत हिन्दी साहित्य-समिति (इन्दौर), प्रसाद परिषद् (काशी), साहित्य-सदन (अबोहर), दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा (मद्रास), हिन्दी प्रचारिणी सभा (दिल्ली), सुहृद्-संघ (मुज-फ्फरपुर), विदर्भ प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन (अकोला), हिन्दी विद्यापीठ

(बम्बई), हिन्दी साहित्य परिषद् (मथुरा), हिन्दी साहित्य मण्डल (रायपुर) और श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् (टीकमगढ़) विशेष कार्यशील हैं। हमें आशा है कि इन संस्थाओं से हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्नति में विशेष सहायता मिलेगी।

हमारे सामने एक विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य प्राचीन ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र कर उन्हें सुसम्पादित रूप से प्रकाशित करने का है। इस सम्बन्ध में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर पण्डित अमरनाथ झा के प्रयत्न से राजा पन्नालाल (हैदराबाद) ने १२००) की वार्षिक भेंट इलाहाबाद यूनिवर्सिटी को प्रदान की है। फलस्वरूप श्री उमाशंकर शुक्ल एम० ए० ने नन्ददास के ग्रन्थों का सम्पादन अत्यन्त योग्यता से किया है। उसे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी ने प्रकाशित भी कर दिया है। मथुरा के प्रसिद्ध सेठ श्री महावीर प्रसाद जी पोद्दार की उदारता से सूर-सागर का एक प्रामाणिक संस्करण भी प्रकाशित होने जा रहा है। इसके प्रधान सम्पादक श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी होंगे और इसका कार्यालय मथुरा में होगा। हम आशा करते हैं कि हिन्दी साहित्य की छिपी हुई रत्न-राशि को प्रकाश में लाने के लिए अन्य दानवीर पीछे नहीं रहेंगे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन संग्रहालय प्रयाग, नागरी-प्रचारिणी सभा काशी और म्युनिसिपल म्यूजियम प्रयाग में हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। इन ग्रंथों के संग्रह में क्रमशः पण्डित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, श्री राय कृष्णदास और श्री ब्रजमोहन व्यास का परिश्रम सराहनीय है। इनके परिश्रम का सदुपयोग हिन्दी-हितैषियों को करना चाहिए। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने प्रकाशन की एक प्रशंसनीय योजना हाथ में ली है। हिन्दी विभाग में खोज करनेवाले अध्यापक या विद्यार्थियों के जो निबंध विश्वविद्यालय द्वारा मान्य समझे जाते हैं, और जिन पर डॉक्टरेट की डिग्री प्रदान की जाती है, उनके हिन्दी रूपान्तर को प्रकाशित करने का विचार प्रथम बार डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने कार्य-रूप में परिणत किया है। उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् से इस प्रकार के तीन निबंध प्रकाशित किये हैं--तुलसीदास (डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त), आधुनिक हिन्दी साहित्य--१८५०-१९०० (डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास--१९००-१९२५ (डॉक्टर श्रीकृष्णलाल)। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री उमाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित सेनापति-कृत कवित्त-रत्नाकर भी प्रकाशित किया गया है। यदि प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की इस प्रकाशन-योजना की भाँति अन्य विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों से भी इसी प्रकार के ग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था हो तो हिन्दी साहित्य के खोज-सम्बन्धी कार्य को बहुत प्रगति मिलेगी।

मैं एक विषय पर और विचार करना चाहता हूँ। श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी का छोटे-छोटे सजीव साहित्यिक जनपदों के निर्माण का प्रश्न महत्त्व का है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विस्तृत क्षेत्र रखनेवाली संस्थाएँ साहित्य के छोटे-छोटे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने का अवकाश कम पाती हैं और प्रान्तीय कठिनाइयों को प्रान्त के दृष्टिकोण से समझने में प्रायः विफल होती हैं। इसलिए प्रान्त विशेष के साहित्य-सम्बन्धी कार्यों को छोटे-छोटे मंडलों में बाँट कर हमें अपने साहित्य की अधिक-से-अधिक श्री और शोभा एकत्र कर लेनी चाहिए। ग्रामगीत की प्रचुर राशि और प्रान्तीय बोलियों की साहित्यिक निधि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी को अधिक समृद्धिशाली करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। विविधता में ही सौन्दर्य है। जिस प्रकार उषा के बहुरङ्गी बादलों से ही नभ और अधिक सौन्दर्यशाली ज्ञात होता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों की बोलियों के परिमार्जन और साहित्य-सृजन से हिन्दी का रूप और महत्त्व अधिक शोभा-सम्पन्न होगा। ऐसी स्थिति में हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू के प्रश्न पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा और हम हिन्दी को अधिक शक्तिशाली बना सकेंगे। मैं भाषा के व्यक्तित्व और संस्कारों में विश्वास रखता हूँ। अन्य भाषाओं से हिन्दी को समृद्धिशाली वहाँ तक बनाया जाय जहाँ तक कि उसका व्यक्तित्व नष्ट न हो। खिचड़ी भाषा को मैं साहित्य की भाषा नहीं समझता। रेडियो की भाषा ने हमारी भाषा को आगे नहीं बढ़ाया। साहित्यिक विषयों पर कुछ बातचीत हो जाना ही साहित्य को उन्नत बनाने की साधना नहीं है। यदि लखनऊ के बदले इलाहाबाद में रेडियो भवन होता तो सम्भवतः जनता की मनोवृत्ति के प्रभाव से तथा साहित्य-सम्मेलन के बल से हिन्दी भाषा और साहित्य की गतिविधि में विशेष स्फूर्ति आती। सच तो यह है कि रेडियो का कोई भी स्टेशन हिन्दी के केन्द्र में ही नहीं है।

हिन्दी साहित्य की उन्नति के लिए मैं अन्य साधनों में मासिक-पत्रों की अपेक्षा साप्ताहिक-पत्रों को उपयोगी समझता हूँ। साप्ताहिक-पत्र जनता के हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं और मासिक-पत्रों से अधिक शीघ्र नयी-नयी सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं। साधारण समाचारों के अतिरिक्त उनमें साहित्यिक विषयों और साहित्य-निर्माण सम्बन्धी आयोजनाओं का पूर्ण समावेश होना चाहिए। नये दृष्टिकोणों पर विचार करने के लिए एक सप्ताह का समय न कम है, न अधिक। यदि विशाल भारत, वीणा, विक्रम, सरस्वती, हंस, माधुरी, विश्ववाणी, साधना, दीदी और साहित्य-सन्देश के साप्ताहिक संस्करण निकल सकते तो साहित्य-निर्माण में अधिक सहायता मिलती। कागज की समस्या के हल हो जाने पर यह आयोजन सुगम हो सकेगा। हमें भविष्य को आशा की दृष्टि से देखना चाहिए। आजकल

देशदूत, कर्मवीर, आज, जागृति, शुभचिन्तक, बिजली और भारत अच्छे साप्ताहिक हैं जो साहित्य-साधना में अधिक कर्मशील हैं। सारथी अच्छा पत्र था, दुर्भाग्य से उसका प्रकाशन स्थगित कर दिया गया।

आपका अधिक समय लेने के लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। मुझे अपना दृष्टिकोण आपके सामने रखना था, इसलिए मैंने प्रत्येक बात अधिक स्पष्ट रूप से रखने की चेष्टा की है। अन्त में, मेरा आपसे यही निवेदन है कि आप साहित्य के क्षेत्र में दृष्टिकोण की संकीर्णता को स्थान न दें। राजनीति के चिन्तापूर्ण आवेग में साहित्य की प्रेरणा शिथिल न हो, यही आपको ध्यान में रखना है। आप सच्चे अर्थ में प्रगतिशील होकर साहित्य का निर्माण करें। 'हिम-किरीटिनी' द्वारा 'भैरवी' का गुञ्जार हो। प्रान्तीय भाषाओं का सहयोग प्राप्त कर आप हिन्दी की कलात्मकता से भारती के नवीन भाव-भवन का निर्माण कर सकें, यही हमारी कामना है।

⊙

अभिभाषण–७

आचार्य शिवपूजन सहाय

⊙ ⊙

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीताराम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।।

सहृदय सज्जनों और देवियो,

रामकृपा का ही यह प्रभाव है कि जिस पवित्र आसन पर बड़े-बड़े विद्वान् बैठाये जा चुके हैं, उस पर मुझ जैसे हिन्दी के अकिञ्चन किङ्कर को भी बैठने का सुअवसर दिया गया। और, यह भी रामकृपा का ही प्रताप है कि सौभाग्यवश आपकी कृपादृष्टि की कोर बिहार की ओर फिरी भी, तो उसने राह में पड़े रोड़े को ही देखा, अमूल्य रत्नों पर ध्यान ही न दिया। अस्तु, जो काम रामकृपा की प्रेरणा से ही हुआ है उसमें सफलता मिलने की आशा भी रामकृपा पर ही अवलम्बित है।

इस मंच से अब तक हिन्दी-साहित्य की गतिविधि के परखने का ही काम होता आया है। पर यह काम विचारकों और समीक्षकों का है। मैं न चिन्तक हूँ, न समालोचक। हिन्दी की पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में जहाँ-कहीं कोई अनूठी पाँती पा जाता हूँ, मन-ही-मन गुनगुनाने लगता हूँ—मस्ती में झूमने लगता हूँ—उमंग और आह्लाद से थिरक उठता हूँ। ऐसे तरंगी हृदय का व्यक्ति साहित्य की अन्तर्गतियों का विवेचन या विश्लेषण कैसे कर सकता है? जो समीक्षक बन कर कभी साहित्य का अध्ययन नहीं करता, केवल अपनी रसानुभूति को तृप्त कर के ही स्वाध्याय को चरितार्थ मानता है, उसे अपने उदारतावश साहित्य की नापजोख का बड़ा भारी दायित्व सौंप दिया! 'साक-बनिक मनि-गुन-गन जैसे।'

आपकी इस उदारता के लिए कृतज्ञ हृदय से धन्यवाद देते हुए मैं आरम्भ में ही आपसे निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मेरे पास साहित्य की कोई कसौटी नहीं है। कसौटी तो उसके पास होती है जो बुद्धि-विवेक-सम्पन्न होता है। पर मैं न विवेकी हूँ, न बुद्धिजीवी। मैं तो शुद्ध श्रमजीवी या कोरा मसिजीवी हूँ। इसलिए आरम्भ से ही छानबीन से उदासीन रह कर रचनात्मक कार्यों की ओर मेरी प्रवृत्ति रही है। यद्यपि विषम परिस्थितियों ने कोई ठोस रचनात्मक कार्य करने न दिया,

तथापि इस भारतीय महासम्मेलन से ही कुछ साहित्यिक संकेत और प्रेरणाएँ पाकर अपनी क्षुद्र शक्ति के अनुसार मैं अपने ही प्रान्त में कुछ खोज-ढूँढ़ करता रहता हूँ।

इस सम्मेलन के गत इकतीसवें महाधिवेशन के अध्यक्ष पूज्य पण्डित माखन-लालजी चतुर्वेदी ने अपने कवित्वपूर्ण भाषण में जो छब्बीस योजनाएँ हिन्दी ससार के सम्मुख उपस्थित की थीं, उन्हीं मे से कुछ को कार्यान्वित करने के प्रयत्न मे लगा हुआ था और तब तक पूज्य पण्डित बनारसी दासजी चतुर्वेदी तथा विद्वद्वर श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल की योजनाएँ भी उत्तेजना एवं स्फूर्ति देने पहुँच गयी। मैं इन्हीं के उजाले में कुछ इधर-उधर टटोल ही रहा था कि आपका आदरणीय आदेश भी जा पहुँचा। मैं आपके निर्णय का उद्देश्य समझ ही न सका। भला जिस उच्च मंच से आप साहित्य और कला की पाण्डित्यपूर्ण परिभाषा तथा विश्लेषणात्मक व्याख्या सुन चुके हैं, उससे क्या अब आप आचरण के गीत सुनना चाहते हैं? जान पड़ता है, रसिकशिरोमणि महाकवि बिहारीलाल की कीर्त्ति-कौमुदी से जिसका दिङ्मण्डल उद्भासित है, अनुप्रास के अट्टहास से साहित्यसौध को मुखरित करनेवाले 'पद्माकर' की चतुरगिणी शब्दसेना के जयघोष से जिसका कोना-कोना निनादित है, तथा अनेक साहित्य-संरक्षक नरेन्द्रों के यशश्चन्दन से जहाँ की दिगङ्गनाओं के अंग चर्चित एवं सुरभित हैं, उस राजस्थानी राजधानी मे सम्भवतः एक साहित्यिक वैतालिक की ही आवश्यकता अनुभूत हुई। पर क्या यह कभी सम्भव है कि साहित्य सागर के अन्तस्तल में पैठकर निकाले हुए अनमोल मोतियों से आपके जो कान अलंकृत हैं, वे इस वन्दीजन की विरुदावली से तृप्त होंगे? मुझे ऐसी आशा नहीं, फिर भी प्रयत्न कर देखूँ।

हमारा हिन्दी साहित्य यद्यपि इस जाग्रत युग में भी अनेक अभावों से युक्त है, तथापि उसके विशाल गौरव का हमें प्रतिक्षण अनुभव होता है। उसके सेवकों, सहायकों और समर्थकों की टोली देखकर यह आशा भी बँधती है कि उसके अभावों का अन्त अनतिदूर भविष्य में ही होने वाला है। जब साहित्य मन्दिर को अपनी दिव्य ज्योति से जगमगाने वाले पुजारियों में हम शिरसावन्द्य महापुरुषों और श्रद्धेय वयोवृद्ध विद्वानों को देखते हैं, तब स्वभावतः हमारा हृदय हर्षोल्लास से उत्फुल्ल हो उठता है। महात्मा गांधी, महामना मालवीय जी, त्यागमूर्ति टण्डन जी, रायबहादुर श्याम-सुन्दरदास जी, डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी, डॉक्टर भगवानदास जी, माननीय सम्पूर्णानन्द जी, शिक्षणशास्त्री पण्डित रामनारायण मिश्र जी, काका कालेलकर, स्वामी भवानीदयाल सन्यासी, डॉक्टर सुनीतिकुमार, महामहोपाध्याय ओझा जी, महामहोपाध्याय 'भानु' जी, महामहोपाध्याय गिरिधर शर्माजी चतुर्वेदी, महामहो-

पाध्याय सकलनारायण शर्मा, भारतेन्दु सखा पण्डित चन्द्रशेखरधर मिश्र, पंडित अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी, बाबू हरिकृष्ण जी जौहर, बाबू गोपालराम जी गहमरी, श्री नाथूराम जी प्रेमी, सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार, लाला सन्तराम जी आदि हिन्दी माता के सपूतों की विद्यमानता हमारे सौभाग्य की ही सूचना देती हैं। इनकी तपस्या की सिद्धि ही हमारी आज की पूँजी है।

जब स्वदेश, समाज और साहित्य के कर्णधारस्वरूप अपने प्रथितयशा-पत्रकारों की ओर हम दृष्टिपात करते हैं तब हमारा मस्तक और भी गर्वोन्नत हो उठता है। पूज्य पराड़कर जी, तपोधन गर्दे जी, श्रद्धेय पण्डित माखनलाल जी और पण्डित बनारसीदास जी चतुर्वेदी, तप्तकाञ्चनप्रभ पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय, उद्योगवीर बाबू मूलचन्द जी अग्रवाल, तेजस्वी इन्द्र जी और पालीवाल जी, कर्मयोगी पण्डित सुन्दरलाल जी, एकान्ती सरस्वती-सेवक पण्डित रूपनारायण जी पाण्डेय, मृगयामर्मज्ञ पण्डित श्रीराम शर्मा, बहुश्रुत विद्वान् डॉक्टर हेमचन्द्र जोशी, विविध कलाविचक्षण श्री दुलारेलाल जी, सम्पादकाचार्य द्विवेदी जी के परम स्नेहभाजन पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल, व्यंग्यविनोदविशारद पण्डित हरिशंकर शर्मा, ज्योतिषाचार्य पण्डित सूर्य-नारायण व्यास, राष्ट्रभाषाभक्त पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय, उद्भट पराक्रमी पंडित मातासेवक पाठक, राजस्थान रत्न पण्डित झाबर मल्ल शर्मा, 'बोल शिव-जयम्' के उद्घोषक पण्डित रमाशंकर अवस्थी, ललकार भरी लेखनी के धनी निर्भीकोदात्त 'उग्र' जी, मौन भाव से पत्रकारकला की पूजा में संलग्न पण्डित नन्दकिशोर तिवारी और प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, अपनी धुन के पक्के पण्डित रामशंकर त्रिपाठी और श्री आगरकर जी, नवोत्साह के उद्रेक से उद्दीप्त श्री सत्यदेव विद्यालंकार और श्रीकान्त ठाकुर विद्यालंकार, नयी लहर और नयी उमंग के, साथी श्री गंगाधर अधिकारी, पंजाब में हिन्दी का झंडा ऊँचा रखनेवाले श्री खुशहालचन्द जी खुरसन्द, बिहार में संवादपत्र-प्रकाशन की नींव जमानेवाले श्री देवव्रत शास्त्री और श्री ब्रजशंकर वर्मा, बालसाहित्य के उन्नायक रायसाहब रामलोचनशरणजी, किशोर-साहित्य के उद्भावक पण्डित रामदहिन मिश्र जी, युवक साहित्य के प्रवर्त्तक श्री बेनीपुरीजी, महिला-साहित्य के संवर्द्धक श्री रामराजसिंह जी सहगल, भक्ति साहित्य के अनन्य अनुरागी श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार, आध्यात्मिक साहित्य के उत्प्रेरक श्री नागर जी, सब-के-सब, हमारे पत्रकार-जगत् के सुविस्तृत नभोमण्डल में देदीप्यमान नक्षत्रमण्डल की भाँति शोभा पा रहे है। इनमें कई महानुभाव कई अनिवार्य कारणों से सम्प्रति संन्यास ले चुके है या कर्मक्षेत्र से दूर हैं; पर आधुनिक पत्रकारकला के विकास में उनकी सेवाएँ निस्सन्देह चिरस्मरणीय हैं।

किन्तु आश्चर्य है कि ऐसे यशस्वी एवं मनस्वी पत्रकारो के रहते हुए भी अनेक क्षेत्रों में हिन्दी का पक्ष अभी यथेष्ट सबल नही है। हम तो यही आशा रखते है कि देश की राजनीतिक समस्याओं के साथ-साथ ये हमारी साहित्यिक समस्याएँ सुलझाने में भी दत्तचित्त रहा करेगे। पर खेद है कि हमारी यह आशा पर्याप्त रूप से पूर्ण नही हो पाती। भाषा की रूप-रेखा सँवारने-सुधारने में, शब्दों के शुद्ध रूप स्थिर करने में, शब्द-शुद्धि के लिए अक्षरों के उपयुक्त प्रयोग मे हिन्दी-पत्रकारो का सामूहिक सहयोग बड़ा लाभदायक हो सकता है। भाषा और लिपि की समस्याएँ इनका मुँह जोह रही हैं। ये चाहें तो साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारणी सभा और लेखकों तथा जनता को सदा सजग रख सकते हैं। सगठन का अमोघ अस्त्र पाकर भी यदि ये बिखरी शक्तियों को समेट न सके तो दूसरा कौन है जो हिन्दी को सनाथ करेगा? अभी हाल में गोरखपुर के प्रोफेसर राजनाथ पाण्डेय, एम० ए० ने तृतीय युक्तप्रान्तीय साहित्य सम्मेलन (बस्ती) की साहित्य-परिषद् मे 'भाषा-सस्कार' नामक जो विचारपूर्ण लेख पढ़ा था, उसका सदुपयोग जैसा पत्रकारो द्वारा होना चाहिए था वैसा नहीं हुआ और ऐसे उदाहरणों की कोई कमी नहीं है।

चित्रपट और रेडियो की समस्या भी हिन्दी पत्रकारों के लिए कुछ बीहड़ नही है। इनकी सत्ता जनता पर स्थापित हो चुकी है। इनकी सम्मिलित शक्ति जनता की मनोवृत्ति पलट सकती है। यद्यपि विज्ञापनों का मोह बड़ा भारी प्रलोभन है तथापि पत्र की लोकहितकर नीति या सिद्धान्त पर उसका प्रभाव पड़ना न्यायसंगत नहीं। युक्तप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने रेडियो की भाषानीति पर जो माननीय श्री रविशंकर शुक्ल जी की अंग्रेजी-पुस्तक प्रकाशित की है (जिसका हिन्दी संस्करण भी निकलता जरूरी है), वह अत्यन्त प्रशंसनीय प्रयत्न है और उसके आधार पर हमारे पत्रकार इस विषय को बहुत आगे बढ़ा सकते है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के गत स्वर्ण-जयन्ती-महोत्सव मे इस विषय का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था, जिसे पत्रकार यदि ले उड़ते तो अब तक 'सभा' की बहुत-कुछ अभीष्ट सिद्धि हुई होती। अकेली 'सभा' ही कितने कामों का बोझ ढो सकती है? मुजफ्फरपुर के 'सुहृद्-संघ' के सजीव प्रधान मंत्री श्री नीतीश्वरप्रसाद सिंह ने 'आर्यावर्त्त'-सम्पादक 'आजाद' और 'योगी'-सम्पादक व्रजशंकर जी के सहयोग से इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किया है; किन्तु यह काम किसी एक के बूते का नहीं। इसके लिए तो वैसा ही व्यापक हाहाकार उठना चाहिए जैसा दिगन्तव्यापी हाहाकार व्योमकेश की जटा में गंगावतरण के समय सुन पड़ा था। हमें उस समय के लिए भी तैयार रहना चाहिए जब अपनी भाषा की प्रतिष्ठा और संस्कृति की रक्षा के लिए हमे सिनेमा और रेडियो

से पूर्ण असहयोग करना पड़ेगा। वर्तमान परिस्थिति के पर्यवेक्षण से ऐसा अनुमान होता है कि उस समय को निमन्त्रण देते समय हमारी कड़ी अग्नि परीक्षा होगी।

ऐसी ही अनेक समस्याएँ हैं जिनका हल निकालने के लिए हिन्दी-पत्रकारों की संघशक्ति अपेक्षित है। साहित्य-संसार की इन गुत्थियों के सुलझने में तभी तक विलम्ब हो रहा है जब तक हमारे हिन्दी पत्रकार इस दिशा में अपनी तत्परता नहीं दिखाते। आजकल बहुत-से निरवलम्ब साहित्य-सेवियों और उनके असहाय परिवार की सहायता की समस्या बड़ी विषम होती जा रही है। इस पर हमारे पत्रकार यदि उचित ध्यान दें तो यह अधिक दिन जटिल नहीं रह पायेगी। सहानुभूति के छूछे शब्दों से हिन्दी माता की छाती का यह घाव भरने का नहीं। इस समय भी कई साहित्य-सेवी बड़े संकट में है। हमारे कितने ही विपद्ग्रस्त बन्धु अपने अनाथ परिवार को अश्रुगंगा में मँझधार छोड़ चुपचाप चले गये और बहुतेरे अब भी सघर्ष की चक्की में पिस रहे हैं। यदि हमारे पत्रकार उनकी सुध न लेंगे तो न कोई पूँजीपति पसीजेगा और न कोई संस्था ही द्रवेगी। मेरे प्रान्त के पुराने साप्ताहिक 'तिरहुत-समाचार' (मुजफ्फरपुर) ने अपनी सीमित शक्ति के अनुसार केवल पचीस रुपये की छोटी पूँजी से एक सहायता-कोष खोलकर अपने पाठकों और हिन्दी प्रेमियों से अपील की है। यदि सभी पत्र इस तरह के शुभ उद्योग का श्रीगणेश करें तो बूँद-बूँद से तालाब भर सकता है। किन्तु सर्वोत्तम यही होगा कि सभी पत्र अजस्र बनकर 'सम्मेलन' की निधि को ही भरपूर करें जिससे इस गुरुतर कार्य का सुव्यवस्थित संचालन हो सके।

हमारे स्वर्गीय साहित्यसेवियों की स्मृति-रक्षा की समस्या तो अतिशय महत्त्वपूर्ण है। यहाँ प्रसगवश बड़े क्लेश के साथ कहना पड़ता है कि हमारे कितने ही साहित्यसेवियों के स्वर्गीय होने पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं में तो संवेदना के दो शब्द भी नहीं निकलते। यदि अतिशयोक्ति न समझी जाय तो यहाँ तक कहने का साहस कर सकता हूँ कि पत्र के किसी फालतू कोने में दो-चार पंक्तियों का संक्षिप्त समाचार प्रकाशित करके ही कर्त्तव्य की इतिश्री कर दी जाती है! शरच्चन्द्र और रवीन्द्र के निधन के दूसरे ही दिन भोर में हमने दैनिक 'आनन्द-बाजार-पत्रिका' और 'वसुमती' के बीस-बीस सुदीर्घ पृष्ठों को नखशिख शोकनिमग्न देखा; पर अपने 'प्रेमचन्द' और 'प्रसाद' के लिए हमें अनेक पत्रों में अग्रलेख तक पढ़ने को न मिले! क्या हमारी छाती को छलनी कर जानेवाले ये महारथी केवल दस पंक्तियों के ही अधिकारी थे? आप भलीभाँति जानते हैं कि हमारे वर्चस्वी सम्पादक-प्रवर श्रद्धास्पद विद्यार्थी जी के लिए शुरू में तो बड़े जोरशोर से हूक उठी; पर जो

सहसा पट पड़ी तो फिर कभी किसी के कानों पर जूँ भी न रेगी। पण्डित बनारसीदास जी और पण्डित श्रीराम शर्मा ने कई बार हिन्दीजगत् के हृदय की भस्मराशि कुरेदने की कोशिश की, पर उसमें से अग्नि का एक कण भी न जागा। हमारे गणेश जी की ओजस्विनी लेखनी ने 'प्रताप' के रूप में जो महाभारत तैयार किया, उसमें देशसेवा के निमित्त जूझनेवाले असंख्य युवकों की कारुणिक कहानियाँ है, पर उन अभिमन्युओं के स्रष्टा और सरक्षक पार्थ का स्मृति-तीर्थ हम आज तक न बना सके। उस बलिदानी वीर ने अपने रक्त की एक-एक बूँद से सींच कर अपनी मातृभूमि में जो जागृति की फसल उगायी और लहलहाई थी, उसी की कटनी करके आज हमारे बड़े-बड़े धुरन्धर नेता कीर्त्ति के खलिहान लगा रहे हैं। पर हमारे पत्रकार यह सब जानबूझ कर भी उस हुतात्मा की स्मृतिरक्षा के लिए संगठित प्रयत्न करना कदाचित् असानयिक समझते हैं!

इसी प्रकार हम बहुत-सी दिवगत आत्माओं और जीवित विभूतियों को भी भूले बैठे हैं। श्रद्धेय पण्डित कृष्णकान्त मालवीय के सग्रहणीय सम्पादकीय लेखों से हम दीमकों को दावत दे रहे हैं। बाबू महावीरप्रसाद गहमरी का स्वयं अखबार छापना और स्वयं बाजार में बेचना हमारे ध्यान से उतर गया है। 'स्वदेश' सेवाव्रती पण्डित दशरथ प्रसाद द्विवेदी के पत्र-सम्पादनकौशल मे हमारे लिये कोई आकर्षण नही। गर्देजी की साधना हमारे लिए शायद नीरस हो गयी है। आखिर और कहा क्या जाय? हमारी उदासीनता की चिकित्सा सहज नहीं है। स्वर्गीय हेमचन्द्र मोदी की स्मृति-रक्षा के लिए श्री यशपाल जी ने जैसा श्लाघ्य प्रयत्न किया अथवा 'माधुरी'-सम्पादक ने 'पढ़ीस'-स्मृति-अक निकाल कर जैसा आदर्श उपस्थित किया, वैसा ही कुछ अगर सब के लिए हुआ करता, तो स्वर्गस्थ साहित्यिकों के ऋणभार से हम बहुत कुछ मुक्त हो जाते।

हमारे हिन्दी पत्रकारों की शक्ति अपरिमित है। यह युग उनका लोहा मान गया है। वे जुट जायें तो हिमालय हिला दे। मेरी यही प्रार्थना है कि वे अपनी शक्ति पहचाने और साहित्यिक विषयों में भी उतनी ही निष्ठा दिखावे जितनी राजनीतिक विषयों में दिखाते है। वे कृपया उदाराशयता के साथ यह इत्तला दर्ज करले कि उनके पत्रों में सम्मेलन के महाधिवेशनों की पूरी रिपोर्ट भी नहीं छपती!

पत्रकारकला हिन्दी मे अनुदिन उन्नतिशील दीख पड़ती है, यह बात बहुत रोचक प्रतीत होती है; परन्तु यह देख बड़ा विस्मय होता है कि अभी तक वह मुट्ठी भर लेखकों को भी सर्वथा स्वावलम्बी नही बना सकी है। शायद ऐसे लेखकों की गणना में अनामिका सार्थवती हो जाय तो कोई अचम्भा नहीं, जो केवल

पत्र-पत्रिकाओं का ही आश्रय ग्रहण करके निश्चिन्तता-पूर्वक अपने योगक्षेम का निर्वाह कर रहे हों।

जब तक लेखकों को शांतिपूर्वक जीवन-यापन का सुयोग न मिलेगा तब तक साहित्य का अभ्युदय असम्भव है। पत्रकारों और प्रकाशकों से उन्हें जैसा सहारा मिलना चाहिए, नहीं मिल रहा। यदि हमारे लेखक इस विषय के अपने सच्चे अनुभव लिपिबद्ध कर दें तो बहुतों को न्यायालय अथवा हिमालय की शरण लेनी पड़ेगी। हमारे सुधी समालोचक उनके मस्तिष्क की उपज को तो कसौटी पर कसते हैं; पर उनकी वास्तविक स्थिति की कोई धुँधली रेखा भी अपनी अनुभूति को कसौटी पर नहीं पड़ने देते। हम काफी खाद्य उपजाने का आन्दोलन खड़ा करने में तो बहादुर हैं; किन्तु पशुधन के भीषण ह्रास पर हम फूटी निगाह भी नहीं डालते। क्या हम चाहते हैं कि नखों से जमीन खोदकर उपज चौगुनी बढ़ायी जाय? यह त्रिकाल में भी नहीं होने का। यहाँ एक-आध साधारण उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा। हमलोग प० शान्तिप्रिय द्विवेदी की साहित्यसेवा से अच्छी तरह परिचित हैं। यदि उनकी लेखिनी जीविका के जंजाल में न फँसी होती तो उनकी प्रतिभा का जौहर और अधिक खुलता। मध्यप्रदेश की उर्वर भूमि का वह ललित पौधा श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', जो हिन्दीमाता के अंचल का एक सुरभित सुकुमार सुमन हैं और जिसे देख-देख हिन्दीमाता का दृगंचल आनन्दाश्रुसिक्त होता होगा, क्या पर्याप्त पोषण और प्रोत्साहन पाकर साहित्योद्यान की और अधिक शोभा न बढ़ाता? अजी, ऐसे-ऐसे कितने ही फूल विकट परिस्थितियों की लू-लपट में झुलस कर बिना खिले ही मुरझा गये। यदि हम उनके विकास में सहायक होते तो मातृमन्दिर की पूजा कितनी सुहावनी होती, यह सहज ही अनुभवगम्य है।

किन्तु ऐसी दशा मे अपने लेखक-बन्धुओं से भी मैं कहूँगा कि वे हिन्दीमाता की आराधना के लिए सच्ची साधना का अभ्यास करें। संतोष का संबल लेकर मातृमन्दिर के मार्ग पर अग्रसर होते रहने के निमित्त कृतसंकल्प हो जायँ। अपनी कामनाएँ और अपने स्त्री-बच्चों की आवश्यकताएँ मातृचरणों में अर्पित करके ही अपने को निहाल समझें। कंचन की माया की छाया वे अपनी आँखों में न पड़ने दें। प्रायः इस युग के लिए तो यह एक कल्पनातीत बात होगी कि वे लँगोटी बाँधकर नगर की हलचल से दूर कहीं 'अन्नपूर्णा के मन्दिर' में कुशासन पर आसीन हो साहित्यसाधना-लीन हों; पर इसकी आजमाइश की गुंजाइश इस युग में भी हो सकती है, यह कल्पना के परे नहीं है। हमारे जो लेखक-बन्धु नगर की माया-मरीचिका से मोहान्ध नहीं हुए हैं, उनके लिए हमारे असंख्य गाँव पलकों

के पाँवड़े बिछाये हुए हैं। यदि उन्हें प्रकृति की गोद पसंद हो, रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास हो, अपने चरित्र में पूरी प्रतीति हो, तो वे दस-बीस गाँवों का मंडल बनाकर किसी उपयुक्त केन्द्र-स्थल में साहित्य-कुटीर रच सकते हैं। वहाँ बस धूनी रमाने भर की देर है, 'सूर और तुलसी' के प्रताप से जन-मन जीतने मे देर न लगेगी। वहाँ समय की बचत और स्वास्थ्य की वृद्धि होगी, दुर्व्यसनों से पिण्ड छुटेगा और चिन्तन की धारा सदा स्वच्छ बनी रहेगी। स्वदेश के मौलिक रूप की बाँकी झाँकी वहीं मिल सकती है। वहाँ के विशुद्ध वायुमंडल मे जो साहित्य-सर्जन होगा, उससे यश-अर्जन भी कुछ कम न होगा। इसी प्रकार वे 'सम्मेलन' के सन्देश को भी देश के अन्तस्तल तक पहुँचा सकते हैं।

इस युग में लेखकों और कवियों से यह कहना कि भाषा और भाव की शुद्धता, सुन्दरता और पवित्रता से ही साहित्य की मर्यादा बढ़ती है, बड़ी भारी धृष्ठता है। तो भी कर्त्तव्य-विवश हो कहना पड़ता है; क्योंकि उनका ध्यान जैसा चाहिए वैसा इधर नहीं है। यदि उनके सामने महर्षि पतञ्जलि का यह वाक्य कह दिया जाय कि 'एकः शब्दः सकृदुच्चरितः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुग्भवति' तो वे हँस कर अप्रगतिशीलता का आरोप करने लगेंगे। किन्तु उन्हें स्मरण रखना होगा कि इसी एक वाक्य में उनकी सारी सफलता निहित है। शब्दों के सम्यक् ज्ञान और सुन्दर प्रयोग में ही उनकी कला की सिद्धि है। 'सम्यक् ज्ञान' और 'सुन्दर प्रयोग' का आशय जितना ही गम्भीर है उतना ही विस्तृत भी। 'लोकहिताय' अथवा 'लोकरंजनाय'—प्रायः दो ही उद्देश्यों से वे कुछ लिखते होंगे। इनमें किसी की पूर्त्ति मनमाने ढँग की रचना से नहीं हो सकती। अभी कुछ ही दिन हुए कि हिन्दी के चिन्तनशील लेखक और विद्वान् आलोचक प्रोफेसर प्रभाकर माचवे ने आधुनिक गद्यकवियों को बड़ी मिठास के साथ कुछ कोमल चेतावनियाँ दी थीं, पर यदि उन्हें अन्य होनहार गद्यकार और पद्यकार भी हृदयङ्गम कर लेते तो हिन्दी का बड़ा उपकार होता।

साहित्य-सरिता में जो उद्बुद्ध युग की अनियंत्रित भावनाओं की बाढ़ दिन-दिन उमड़ती जा रही है, उसके दुर्द्धर्ष वेग को रोकना या बाँधना सहसा सम्भव नहीं, तथापि बाढ़ के पानी को स्वास्थ्योपयोगी बनाने के लिए 'निर्मली' के प्रयोग द्वारा उसका परिष्कार कर लेना दुस्साध्य नहीं है। तात्पर्य यह कि जो कुछ भी प्रकाशित होकर जनता के सामने आवे, विधिवत् परिमार्जित होकर ही आवे। स्वस्थ भाषा और स्वस्थ विचार से ही स्वस्थ-साहित्य का निर्माण हो सकता है। स्वच्छता से परसा हुआ सत्तू भी रुचिकर होता है; किन्तु मलिनतापूर्ण छप्पन प्रकार नहीं। आजकल के नये शौकीन इस बात पर उचित ध्यान नहीं देते।

पुस्तक की बाहरी सजावट में भी सुरुचि और सादगी का ख्याल न रखकर प्राय: उद्दीपन-सामग्री का ही उपयोग करते हैं। किन्तु जब हम आकर्षक बहिरंग पर लट्टू होकर अन्तरग का निरीक्षण करने लगते है तब बड़ी ग्लानि और निराशा होती है।

मेरी यह निश्चित धारणा है—भले ही यह भ्रान्त एव उपहासास्पद समझी जाय—कि सुसम्पादित ग्रन्थों और पत्रों से ही साहित्य की श्रीवृद्धि हो सकती है। आजकल अधिकांश पुस्तकें सशोधित-सम्पादित नहीं होती। लेखक की फटी झोली से प्रकाशक की रगीन मेज पर—बस दो ही छलाँग में बाजार की हवा खाने लगती है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का वैभव और प्रभाव दिन-दिन बढ़ रहा है; परन्तु उसका भाण्डार जिन विपुल वस्तुओं के संचय से सजाया या सम्पन्न किया जा रहा है, उनमें काँच के चमकीले टुकडे कम नहीं हैं। निश्चय ही, 'लालों की नहिं बोरियाँ' यथार्थ उक्ति है, फिर भी, सजावट की सुन्दरता बढ़ाने के लिए काँच के टुकडों की भी आकृति सुडौल और सुहावनी होनी चाहिए।

हमें पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की संख्या-वृद्धि पर न इतराना चाहिए और न इस गर्व में फूलना चाहिए कि हमारी हिन्दी मे हर साल अन्य भाषाओं से कही अधिक पुस्तकें और पत्रिकाएँ निकलती हैं। पुस्तकों और पत्रों की सख्या-बाहुल्य से साहित्य की अभिवृद्धि का अनुमान तो होता है; पर हमें यह देखना चाहिए कि भाषा और भाव की दृष्टि से वे कहाँ तक लोकोपयोगी है। प्रकाशन का केवल संख्या-बल ही साहित्य को शक्तिशाली नहीं बना सकता। हम भारतीयों का संख्या-बल तो भू-मण्डल में अद्वितीय है; पर हमारी शक्ति से संसार खूब परिचित है।

इन दिनों बहुत-सी रचनाएँ तो ऐसी देखने में आती हैं जिनके विषय में जीभ हिलाना भी बड़ा भयावह जान पड़ता है। उन्हें पढ़ने से मालूम होता है कि केवल अर्थ की क्लिष्टता पर ही विशेष ध्यान दिया गया है। कुछ लोग देखादेखी गूढार्थ-वादी बनने का स्वाँग रच रहे हैं। हमारे गौरवालंकार प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार, मिलिंद, दिनकर, प्रभात, बच्चन, सियारामशरण, उदय-शंकर आदि में भले ही कही-कहीं दार्शनिक पहेलियाँ मिल जाती हों; पर थोड़ी देर ठिठक कर जब हम उनके अभ्यन्तर में पैठने का प्रयत्न करते हैं तब देखते है कि नारिकेल-फल के स्फटिक-स्वच्छ जल के समान विमल-शीतल रस का प्याला छलक रहा है। अगर नयी पीढ़ी अपनी भावाभिव्यंजना की विकलता नहीं सँभाल सकती, तो कोई चिन्ता नहीं, खुल खेले साहित्य-प्राङ्गण में; मगर सहसा कबीर-

पथी न बने---उठती जवानी की उमगों का क्रीड़ा-कंदुक भी न बने। आरम्भ में तो भाषा की रमणीयता, भाव की बोधगम्यता और अभिव्यक्ति की प्रांञ्जलता पर ही विशेष ध्यान रहना चाहिए। इसके लिए हमारे भुवन-मन-मोहन सोहन-लाल जी एक उत्कृष्ट निदर्शन है। 'नवीन' और 'हितैषी', 'द्विज' और 'मनो-रंजन', 'नैपाली' और सुभद्राकुमारी भी इस क्षेत्र में अनुकरणीय आदर्श हैं। इनमे भाषा-शैली के तीनों 'गुण' सुलभ हैं। इनकी भावाभिव्यक्ति में जितनी सरलता है उतनी ही सरसता भी।

आजकल की गद्य-पद्य-रचनाओं में भावाभिव्यजना का जो विलक्षण ढग दीख पड़ता है उस पर कुछ कहने से कोई लाभ नहीं। हाँ, ऐसे अवसर पर पूज्य आचार्य द्विवेदी जी का स्मरण हो आता है, जो साहित्य की सर्वोपयोगिता के खयाल से निरंकुशों पर कशाघात करने मे कभी कुण्ठित न होते थे। सचमुच उनके न रहने से हिन्दी अनाथ हो गयी ! उसकी पूजा-विधि मे कोई नियमितता अथवा सुव्यवस्था नहीं रह गयी। आज ऐसा कोई प्रभुत्वशाली सम्पादक नहीं नजर आता जो भाषा को वेशभूषा और भाव की हृदयग्राहिता पर किसी प्रकार का नियंत्रण रख सके। यह काम तो 'सरस्वती' और 'सम्मेलन-पत्रिका' के अपनाने योग्य है। 'माधुरी' और 'सुधा' में भाषा-भाव सम्बन्धी उच्छृङ्खलता पर कुछ अधिकारी विद्वानों के लेख छपे थे; पर उतने से ही काम न सरकेगा, इस विषय में निरन्तर जागरूकता की जरूरत है। आदर्श समालोचक श्री गुलाबराय जी की देखरेख में 'साहित्य सन्देश' जिस प्रकार समालोचनाक्षेत्र को उर्बर बना रहा है, उसी प्रकार इस तरफ भी उसे आँख रखनी चाहिए। मासिक और साप्ताहिक पत्र ही सुचारु रूप से यह काम कर सकते हैं। श्री निर्मलजी का 'देशदूत' द्विवेदी जी का यह प्रिय कार्य अपने हाथ में ले ले और 'भारत' के सहयोग से 'सम्मेलन' के मुख्य गढ़ में ही इस आन्दोलन का सूत्रपात करे तो बहुत प्रभाव पड़ेगा। ठाकुर श्रीनाथ सिंह जी निर्द्वन्द्व मनचले यारों की धर पकड़ मजे से कर सकते हैं। पूरबी छोर पर 'विशाल-भारत', 'विश्वमित्र' और 'जागृति', देखभाल करें। पश्चिमी छोर का भार 'वेंकटेश्वर', 'लोकयुद्ध', दैनिक 'हिन्दुस्तान' और साप्ताहिक 'विक्रम' पर रह जाय। इस काम मे 'विक्रम' के उग्र पराक्रम का ज्यादा भरोसा है। मध्यप्रान्त और बरार के सजग प्रहरी 'कर्मवीर' की चौकसी पर भी कम भरोसा नहीं है। पंजाब में 'दीपक' का उजाला तो रहेगा ही, पंजाब-प्रान्तीय-साहित्य-सम्मेलन का भी सहयोग होना चाहिए। देशी राज्यों में 'जयाजी-प्रताप', 'प्रकाश' और मासिक 'वीणा' तथा 'विक्रम' सावधान रहें। मध्यभारत में 'मधुकर' सम्पादक चतुर्वेदी जी तो चिर-चैतन्य ही हैं। उनके हाथ में तो सब

की नक़ल रह सकती है। युक्तप्रान्त में काशी के मासिक 'हंस' और साप्ताहिक 'आज' तथा 'संसार' विशेष सफलता से यह काम कर सकते हैं। बिहार में प० हंसकुमार तिवारी की 'ऊषा' इस काम का बीड़ा उठा चुकी है। दक्षिण भारत का जिम्मा वहाँ की 'हिन्दी-प्रचार-सभा' ले लेगी और वहाँ की आवश्यकता के अनुसार 'हिन्दी-प्रचारक' काम सँभालेगा। इस प्रकार सुसंगठित प्रयत्न करने पर ही यह काम हो सकेगा। यदि यह काम लोगों को प्रहसन न प्रतीत हुआ तो इसका परिणाम निस्संशय हितकर होगा।

जिस भाषा को एक-से-एक सूक्ष्मदर्शी और मर्मतलस्पर्शी समीक्षक प्राप्त हैं, उसका सुधारात्मक आन्दोलन निश्चय ही सफल होगा। प्रोफ़ेसर नन्ददुलारे बाजपेयी, प्रोफ़ेसर सद्गुरुशरण अवस्थी, प्रोफ़ेसर प्रभाकर माचवे, प्रोफ़ेसर जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' प्रोफ़ेसर नगेन्द्र, डॉक्टर रामविलास शर्मा, डॉक्टर रामकुमार वर्मा, श्रीरामनाथ, सुमन', डॉक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा, डॉक्टर केसरीनारायण शुक्ल, पण्डित विनयमोहन शर्मा, पण्डित हंसकुमार तिवारी, ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु', पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाबू कृष्णानन्द गुप्त, पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', श्री सच्चिदानन्द-हीरानन्द वात्स्यायन, पण्डित भगीरथप्रसाद दीक्षित, पण्डित किशोरीदास वाजपेयी, श्री शिवदान सिंह चौहान, पण्डित गंगाप्रसाद पाण्डेय, प्रोफ़ेसर देवराज उपाध्याय, श्री कान्तिचन्द्र सौनरिक्सा, प्रोफ़ेसर दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी, प्रोफेसर राजेश्वर प्रसाद अर्गल, प्रोफ़ेसर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, श्री प्रभागचन्द्र, श्री प्रकाशचन्द्र तथा प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा और श्री शिवनाथ, एम० ए० के समान मननशील, साहित्य-मर्मज्ञ एवं सहृदय समालोचकों के रहते हुए भी यदि भाषा और साहित्य के दोषों का मार्जन न हुआ तो यह बड़े संताप की बात होगी। 'सम्मेलन' की इस साहित्य-परिषद् को एक समालोचक-मण्डल स्थापित कर भाषा और साहित्य का समुचित संस्कार कराना चाहिए। प्रत्येक प्रान्त में, प्रान्तीय सम्मेलनों अथवा वहाँ की प्रभावशाली साहित्यिक संस्थाओं के तत्त्वावधान में, पृथक्-पृथक् संघटनात्मक प्रयत्न भी हो सकता है।

मेरा यह व्यक्तिगत विचार है कि हिन्दी में समालोचना के आदर्श का निरूपण बहुत सोच-समझ कर किया जाना चाहिए। हमारे समालोचक के लिए विदेशी साहित्य के समालोचन-सिद्धान्तों की जानकारी के साथ-साथ स्वदेशी साहित्य की आलोचना पद्धति का भी परिज्ञान अत्यावश्यक है। आजकल यह बहुधा देखने में आता है कि हमारे साहित्य के इतिहास में, हमारी विचार-प्रणाली में, हमारी आलोचना-शैली में विदेशी रंग का चटकीलापन बढ़ता जा रहा है। हम विदेशों

के साहित्य की कसौटी पर ही अपने साहित्य को भी परखते है। विदेशी साहित्यिकों के बहुरूपिया सिद्धान्तों ने हमारे साहित्य को इस तरह ग्रस लिया है कि उसके सांस्कृतिक महत्त्व का लोप हो जाने की आशंका-सी होने लगी है। हमें विदेशी साहित्य की महत्ता का प्रशंसक अवश्य होना चाहिए; पर अपने घर के साहित्य का निरीक्षण करने के लिए अपनी आँखों पर विदेशी साहित्यिकों का चश्मा नहीं चढ़ाना चाहिए। यदि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के प्रभाव से विदेशी साहित्य में ही हमारी विशेष गति-मति है, तो हम उसके गुणों से लाभ अवश्य उठावें; किन्तु उसमें इतने प्रभावान्वित न हो जायँ कि उसके आगे अपने साहित्य की हीनता स्वीकृत कर लेने में हमें तनिक भी झिझक न हो। हमें दुराग्रह से दूर तो रहना चाहिए; पर स्वाभिमान से सर्वथा वंचित होना समीचीन नहीं।

हमारे साहित्य में प्रगतिशीलता की जो धारा आयी है, चारों ओर नवीन सुशिक्षित समाज मे उसके स्वागत की धूम है, यह सन्तोष का विषय है। कालचक्र की अबाध-गति और परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से सजीव साहित्य में नयी-नयी प्रवृत्तियों का पदार्पण स्वाभाविक है। परन्तु हमें इस बात पर ठंढे दिल-दिमाग से विचार करना चाहिए कि वास्तव मे यह धारा सर्वथा नवीन है, पाश्चात्य जगत् का प्रसाद है अथवा हमारे साहित्य हिमाद्रि में ही कहीं इसका उद्गमस्थल है। यदि हम इस धारा के लिए विदेश के ही विशेष उपकृत हैं और इसे अपने साहित्य के लिए बहुत गुणकारी भी मानते है, तो इसकी लोकप्रियता बढ़ाने के लिए हमें हिन्दी-भाषी जनता को इसका वास्तविक तत्त्व-महत्त्व स्पष्ट शब्दों मे समझाना चाहिए। अभी इसके सम्बन्ध में नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ फैल रही हैं। कहीं-कहीं तो खंडन-मंडनात्मक संघर्ष भी चल रहा है। पारस्परिक मतभेद से कई स्थानों की संगठित साहित्यिक शक्तियाँ बिखर गयी है। इसलिए हमे युक्तियुक्त ढंग से हिन्दी प्रेमी जनता को सुझाना चाहिए कि अमुक कारणों से 'कार्लमार्क्स' हमारे काम के हैं और 'कौटिल्य' निकम्मे है, तथा 'प्रेमचन्द' की अपेक्षा 'गोरकी' हमें अधिक अनुप्राणित करते हैं।

आजकल हम देखते हैं कि कुछ लोग इधर आवेशपूर्ण चित्त से प्रगतिशील भाइयों को कोसते नजर आते हैं और उधर हमारे कुछ प्रगतिवादी बन्धु भी अमर्यादित बाते अनियंत्रित रीति से कहकर लोगों का मन खट्टा कर रहे है। किसी नूतन सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन अमर्ष-आक्रोश के बल पर नहीं हो सकता और न हम रोष या असतोष व्यक्त करके किसी अभिनव प्रवृत्ति का तिरस्कार ही कर सकते हैं। साहित्य मे मधुर मतभेद की शोभा हो सकती है पर ईर्ष्या-द्वेष और पक्षपात-प्रपञ्च की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती—नहीं होनी चाहिए। हमारे

साहित्य की प्रतिष्ठा और पुष्टि तभी बनी रह सकती है जब उसकी रीढ़—भारतीय संस्कृति—पर आघात न पहुँचे। यदि हम ठीक-ठीक समझते हैं कि नाना प्रकार के 'वाद' उस पर आघात पहुँचा रहे हैं, तो हमें निस्संकोच उनके अनधिकार-प्रवेश पर रोक लगानी होगी और इस बात की आशा भी रखनी होगी कि उनके समझदार समर्थक और अनुयायी भी भारतीयता के नाम पर इस रोक-थाम के काम में सहायक होकर रहेंगे। मुझे विश्वास है कि हमारे साहित्यसेवी बन्धु यदि निष्कपट हृदय से भारतीय संस्कृति के प्रति श्रद्धालु बने रहेंगे, तो कोई 'वाद' हमारे साहित्य की लहलही खेती न चर सकेगा।

खेद है कि इस 'वाद' का हुलिया मैं नहीं जानता। जहाँ तक याद है, यह 'वाद' हिन्दी पर 'सुन्दरवन' की ओर से लपका था। पहले के साहित्य में किसी 'वाद' की कभी चर्चा तक नहीं सुन पड़ती थी। पर आज तो 'वाद' का दुन्दुभि-निनाद साहित्य-जगत् की हर एक दिशा मे गूँज रहा है। शायद इस 'वाद' के पनपने योग्य पहले कोई उर्वर मस्तिष्क ही नहीं था! अब तो इस 'वाद' की गृहस्थी खूब आबाद है। देखते-देखते यह रक्तबीज बन गया। हमारी भारतीयता की भावना ही इसके लिए दुर्गा-भवानी बन सकती है। कुछ लोग तो बड़े प्रसन्न हैं कि हमारे साहित्य की सरस भूमि 'वाद' की खाद से बहुत उपजाऊ हो गयी है। लेकिन ज़हरबाद से फूला हुआ गाल देखने मे भले ही लाल हो, चखने में खतरनाक ही होगा!

हमारे अनाड़ी किसानों ने गोबर को चूल्हे में झोंक दिया और बाजारू खाद से पैदावार बढ़ा ली। जब उस अन्न के दाने पेट में पहुँचकर करामात दिखाने लगे तब गांधी बाबा की गायी हुई गोबर-गुण-गाथा समझ में आयी। मगर होश होने ही से क्या हुआ जब 'चिड़ियाँ चुग गई खेत'। रग-रग में रमा हुआ रक्त दूषित होकर सन्तति-परम्परा को क्षीण करने लगा! मुझे भय है कि 'वाद' का स्वाद भी कहीं हमारी प्रकृति के प्रतिकूल न सिद्ध हो।

इस समय इसकी पैठ और पूछ हमारे यहाँ हर जगह है। इसने हमारे हृदय के प्रत्येक स्तर में घर कर लिया है। कविता, कहानी, उपन्यास, समालोचना, कोई इसके सर्वग्रासी चंगुल से बचा नहीं है। मेरा अपना विश्वास है कि विश्लेषण की प्रक्रिया से जानकारी भले ही बढ़ जाय, आनन्द नहीं उमड़ सकता। कविता या कहानी को आपने तो प्रगतिवाद का श्रेष्ठ नमूना कह दिया; पर हमने जब नमूने का नींबू निचोड़ा तो रस की एक बूँद भी न टपकी! क्षमा कीजिए, साहित्य की आत्मा तो रस ही है।

हम अपने प्राचीन साहित्य-मन्दिर में भी 'वाद' का घण्टानाद सुनते हैं; पर

वह हमें संस्कृति के वग्टापथ पर सचेत होकर चलने का संकेत देता है, भूलभुलैया मे नहीं डालता; और वह तो हमें ऐसा पाठ पढ़ाता है कि अपने यहाँ के दिग्गज साहित्य-स्रष्टाओं के बौद्धिक विकास पर हमारा विश्वास नहीं जम पाता।

कृपा करके मुझे 'वाद' का विरोधी न समझ लीजिए। मैं विरोधी उस मनोवृत्ति का हूँ जिससे आविष्ट होकर आप 'वाद' के सिर पर तो अभयवरद पाणिपल्लव पसारते है और हमारे साहित्यलोक के पुण्यश्लोक पूर्वजों को 'वाद'-विदग्धता के आतंक से त्रस्त करना चाहते है। विश्वास कीजिए, किसी 'वाद' से मेरा कोई विवाद नहीं है। वह चाहे कही से आया हो; पर जब वह हमारा अतिथि बन गया तब भारतीयता के नाते 'सर्वदेवमय' हो गया है। किन्तु जिस पत्तल में वह खायेगा उसी में छेद करने लगेगा तो उसका गुजर हरगिज न होगा।

विविध वादों के बादलों से साहित्याकाश को घिरा देखकर भी मैं उपलवृष्टि की आशंका कभी नहीं करता, बल्कि जी जुड़ानेवाली रिमझिम बूँदों का ही आसरा करता हूँ; क्योंकि हिन्दी-साहित्य के उज्ज्वल भविष्य मे मेरा उतना ही दृढ़ विश्वास है जितना उसके परमोज्ज्वल अतीत मे अविचल श्रद्धा तथा प्रगतिशील वर्त्तमान में स्वाभिमानयुक्त अनुराग।

ईश्वर की दया से उसके क्षेत्र का ऐसा निस्सीम विस्तार हो गया है कि उसकी पूरी परिक्रमा के लिए रविरथ की आवश्यकता प्रतीत होती है। उसपर जब हम दृष्टिनिक्षेप करते हैं, उसकी फुलवारी फूली-फली दिखायी देती है। उसके कुसुमित काव्यकानन में प्रवेश करने पर अनोखे दृश्य देख पड़ते हैं। बहुकालीन उत्तुङ्ग अश्वत्थ 'हरिऔध' से भी लिपटकर कविता-लता फूली नहीं समाती मंजु मौलिश्री मैथिलीशरण की सघन सुशीतल छाया में विश्राम-कामना से मानो स्वर्ग के तारे फूल बन कर चू पड़े हैं। कहीं रसाल गोपालशरण के किसलय-कुञ्ज कलकण्ठी कूज रही है। कहीं पक्वफलों की सलोनी लाली से हृदय-हारिणी हरीतिमा को रंजित-चित्रित करनेवाले विशाल वट 'सनेही' सुशोभित हैं। कहीं किसी स्वर्णवर्णाङ्गी की पुलकावली का भान करानेवाले मुरलीधर-प्रिय कदम्ब 'भारतीय आत्मा' विराजमान हैं। कहीं वीरों की कंटकित काया का स्मरण कराने वाले फलभारनम्र पनस 'अनूप' हैं। कहीं मिलनोत्सुक प्रेमपथिक के स्वप्न को साकार प्रदर्शित करनेवाले श्रीफल रामनरेश त्रिपाठी हैं। कहीं योद्धा के रक्ताक्त शरीर की कल्पना करानेवाले कुसुमित किंशुक हरदयाल सिंह हैं। कहीं रसीले जम्बु के रूप में प्रकृति-पुजारी गुरुभक्त सिंह अपने सुपक्वफलों से भ्रमरों को भ्रम करा रहे हैं। कहीं फहराती हुई विजय वैजयंती के समान कमनीय कदली सुभद्राकुमारी हैं।

इस प्रकार काव्य-कानन की छटा देखते हुए जब हम आगे की पुष्पवाटिका में पहुँचते हैं तब देखते हैं कि वह शोभासम्पत्ति तो आँखों में नहीं अँटती। बीच की पुष्करिणी के तट पर उधर किसलय-पुलकित अशोक 'प्रसाद' मंगल कलस लिये खड़े हैं, इधर जल-तल पर प्रफुल्ल नीलेन्दीवर 'निराला' नयनों की मकरन्द-मिलित भाषा में कुछ कह रहे हैं। इस सरसी की मराली होमवती देवी हैं। उधर दूसरे किनारे के रमणीय कुंजगृह को पल्लव-पुष्पजाल से अलंकृत कर नन्दन-निकेत बनानेवाली माधवी महादेवी है, इधर उसके सामने के तट पर मुकुलित बल्लरी-वितान ताने मालती लता सुमित्राकुमारी मोहती है। उधर अशोक के सामनेवाले तीर पर सौरभ-सम्पन्न शिरीष पन्त खड़े है, इधर प्रवेश-मार्ग के द्वार पर ही सुमन-लाज-विकीर्णकारी हरिचन्दन हरिवंश राय 'बच्चन' अपनी सुरभि की मादकता से द्राक्षासव पिला रहे हैं। उधर रसलम्पट षट्पद को फटकारने में तत्पर होकर भी किसी कंचन-काया की कल्पना कराने में कुशल चम्पा 'दिनकर' पन-पंछी पर कम्पा लगा रहा है, इधर वियोग-वह्नि के अंगारों का आभास देनेवाला अनार 'वियोगी' विराजता है। इसी प्रकार कहीं रजनीगन्धा रामकुमार वर्मा दूर ही से चित्ताकर्षण कर रहे हैं, कहीं वाटिका-वीथिका को आमोदित करनेवाली यूथिका की तरह उदयशंकर भट्ट गमक रहे है। कही तो 'अंचल' इसमें विहार करनेवाले के अंचल को अगूर-गुच्छ से भर देता है, कहीं भगवतीचरण वर्मा उसके गले में मल्लिका-माला पिन्हा देते हैं। 'मिलिन्द' तो बस मिलिन्द ही हैं, पर एक ही भौंरा देख न भड़किए। हरिकृष्ण 'प्रेमी', नरेन्द्र, सर्वदानंद आदि रस-लुब्ध मधु की टोली भी मँड़रा रही है। 'द्विज', 'नवीन' और 'प्रभात' इस उद्यान के ललितकण्ठ कोकिल हैं जो सप्तम-स्वर के शर-संधान से मर्म-वेधन-क्रिया में बड़े दक्ष हैं। लली और तारा पाण्डेय कपोती और शुक-सारिका हैं। शिवमंगल सिंह 'सुमन', 'श्यामनारायण पाण्डेय, सोहनलाल द्विवेदी, पद्मकान्त मालवीय, 'अज्ञेय', 'गिरीश', 'आरसी', 'केसरी' आदि इसमें थिरकने वाले और अपने पुच्छ-पुंज से इसकी भावभूमि को चित्रित करनेवाले मस्त मयूर हैं। 'चोंच', 'बेढब', 'बेधड़क', श्रीनारायण चतुर्वेदी आदि इसमें चहकने वाले विविध विहंग हैं।

सज्जनो, ऐसा है हिन्दी का 'परम रम्य आराम यह'! किन्तु ऐसे मनोरम बाग की रखवाली कोई निपुण माली ही कर सकता है। अब वह समय आ गया है जब 'सम्मेलन' को अपनी इस परिषद् के द्वारा इसका प्रबन्ध करना चाहिए। यों तो कथा-साहित्य की क्यारी में भी निर्ममता से कैंची चलानेवाले माली की जरूरत है। नाना जाति के अनावश्यक तृणगुल्मों से सारी क्यारी ढक गयी है।

कथा-साहित्य और नाट्य-साहित्य की वृद्धि जिस परिमाण से हो रही है

उसी परिमाण से उनके द्वारा भाषा-भाव की शक्तिवृद्धि नहीं हो रही है। लब्ध-कीर्ति और उदीयमान लेखकों को छाँट लेने के बाद जो कुछ बच रहता है, उसमें हम भविष्य के लिए सन्तोषवर्द्धक सामग्री नही पाते।

बरसों से जो शुभ नाम कथाक्षेत्र में श्रुतिमधुर बन गये हैं, उनकी श्रेणी में बिठाने योग्य कोई नया नाम उपयुक्त नहीं जँचता। प्रसिद्ध नामों की ही आवृत्ति हमें हर बार करनी पड़ती है। उनके अतिरिक्त अभी और भी ऐसे नाम गिनाये जा सकते हैं, जिनकी प्रसिद्धि अपनी प्रान्तीय सीमा लाँघने के लिए छटपटा रही है। और, तारीफ यह कि उसके बाद भी नामों की लड़ी टूटती नही। इतने ही से आप अनायास अनुमान कर सकते हैं कि कथासाहित्य का क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है। सम्भवतः यही अनर्गल विस्तार भाषा-भाव के पक्ष में हानिकर सिद्ध हो रहा है।

हर्ष की बात है कि हमारे कथाकारों में कुछ की कई रचनाएँ तो ऐसी हैं, जिन्हें लेकर हम अन्य उन्नत भाषाओं के समक्ष सगर्व खड़े हो सकते हैं। प्रेमचन्द, प्रसाद आदि को तो अभी रहने दीजिए, वर्माजी, निरालाजी, वाजपेयी जी, जैनेन्द्रजी, राजा साहब (सूर्यपुरा), राय कृष्णदासजी, व्यासजी, जोशीजी, यशपालजी, अज्ञेयजी, द्विजजी, उग्रजी, पहाड़ीजी, वियोगीजी, अंचलजी, बारसीजी, पंतजी, राधाकृष्णजी, सौनरिक्साजी, उषादेवी आदि के ही बल पर हम किसी भी भारतीय साहित्य के सामने सोत्साह डट सकते हैं। हमारी ये विभूतियाँ हमारे गर्व की जड़ को पाताल में ले गयी हैं। इनकी स्मितपूर्वाभि-भाषिणी भाषा, इनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, इनका स्वाभाविक चरित्र-चित्रण, मानव-प्रकृति और मानव-हृदय के रहस्योद्घाटन में इनका प्रकृत कौशल, इनकी घटनाचक्रसंचालन-सम्बन्धिनी क्षमता यदि हम हिये की आँखों से देखें तो हमें बरबस कहना पड़ेगा कि हमारा कथासाहित्य निकट भविष्य में ही विश्वसाहित्य में सम्मानभाजन होगा। यों तो 'दोषो कस्य कुले नास्ति'?

यदि अतिरंजना का आरोप न हो तो मैं कुछ एकांकी नाटकों के सम्बन्ध में भी इसी उक्ति को दुहराना चाहूँगा। सेठ गोविन्ददास, डॉक्टर रामकुमार वर्मा, पं० सद्गुरुशरण अवस्थी, पं० उदयशंकर भट्ट, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि की कई चीजें बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है, और वे ऐसी हैं जिन्हें हम साभिमान साहित्य की स्थायी सम्पत्ति समझकर सँजोते रहेंगे।

अब तक हम अपने साहित्य की जो स्थिति देख चुके, उससे निराश होने का कोई कारण नहीं सूझता। कविता, कहानी और नाटक के क्षेत्र तो अभिनव आशा की मधुर ज्योति से जगमगा रहे हैं। किन्तु निबंध, समालोचना, यात्रा, विज्ञान,

जीवनी, आत्मकथा, बालजगत्, नारीजगत्, हास्यरस आदि से सम्बन्ध रखनेवाले साहित्य की वृद्धि के लिए हमें अभी बड़ी लगन से प्रयत्न करना पड़ेगा। मैं साहित्य के इन या ऐसे ही और विभागों पर विचार करने के लिए आपके अधीर समब को अब अधिक चपेटना नहीं चाहता।

अन्त में, इतनी ही प्रार्थना है कि हम सब मिलकर ऐसे ही साहित्य की रचना पर ध्यान दें जिससे हमारी सांस्कृतिक चेतना में विकृति या विकलाङ्गता आने की आशंका न रह जाय।

नीरक्षीरविवेकी सज्जनो, कहना बहुत-कुछ है; पर आप इस षट्रस-नवरस-हीन एवं वाग्जालपूर्ण भाषण से ऊब गये होंगे। मेरी वाणी में न ध्वनि है, न स्वर में संगीत। फिर आपको रिझाऊँ किस प्रकार? तब भी आशा है कि मेरी अज्ञता महारानी आपको घर पहुँचाने तक हँसने का काफी मसाला देती चली जायँगी।

वन्दे हिन्दी मातरम्

अभिभाषण-८

डॉ० रामकुमार वर्मा

⊙ ⊙

देवियो और सज्जनो,

साहित्य-सम्मेलन का यह तैंतीसवाँ अधिवेशन राजस्थान की उस उर्वर भूमि में होने जा रहा है जहाँ के चारणों और महाकवियों ने हमारे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के सिंह-द्वार पर अपनी ओजस्विनी वाणी से प्रशस्तियाँ गायी हैं। राष्ट्रीय जीवन के लिए जिन भावनाओं को जगाने की आवश्यकता है, उन भावनाओं को वीर रस के क्रोड़ में पोषित कर यहाँ के कवियों ने जैसे हमें संकेत किया है कि साहित्य के मेरुदंड में वीर रस का ही बल होना चाहिए। जातीय जीवनमें काव्य के द्वारा ही जागरण हो सकता है, स्वतंत्रता की पुकार का आदि-स्थान कविता ही है और इसीलिए सेनापति के साथ चारण को भी रण-स्थल पर मौजूद रहना चाहिए। इसी सिद्धान्त को मानकर यहाँ के चारणों ने रक्त-बिन्दुओं के अक्षरों में अपने राष्ट्र-गौरव का इतिहास लिखा है। राजस्थान की विश्ववंद्य आत्मा ने इस काव्य के दर्पण में ही अपना प्रतिबिम्ब देखा है। इसकी रसवती काव्य-धारा ने न जाने कितने रक्त-स्नात वीरों की क्रांति की प्यास शान्त की है। डिंगल-साहित्य की इसी प्रेरणा ने हमारे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक इतिहास को सुरक्षित रखा है। इसलिए आज हम इस अधिवेशन के अवसर पर राष्ट्रीयता की जन्मभूमि राजस्थान में आना अपना सौभाग्य समझते हैं।

आज हम साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कहाँ हैं, इसका परिचय हम किस प्रकार दें ? वर्तमान युग कष्टों की एक श्रृंखला है। यद्यपि युद्ध समाप्त हो गया है तथापि हम एक साधारण मानव की सुविधाओं के अधिकारी भी नहीं हैं। वस्त्र के लिए हमने अपना व्यक्तित्व दे दिया है, अन्न के लिए हमने अपनी आत्मा बेंच दी है। पिछले वर्ष बंगाल ने अपने न जाने कितने लाख लालों को इसी भूख की ज्वाला में जला दिया। जहाँ आत्मा के ऊपर भूखा शरीर बैठ गया है, जहाँ क्रय-विक्रय के काँटों पर रूप और श्रृंगार तुल गया है, वहाँ ऐसी परिस्थिति में मानवता कराह रही है। दुर्भाग्य की बात है कि जनता में इसकी प्रतिक्रिया नहीं हुई। यदि जनता दासत्व की श्रृंखला में इतनी जकड़ी हुई है कि उसे अपने मानव जीवन का

अभिमान नहीं है तो कम-से-कम कवियों और लेखकों में तो इसकी प्रतिक्रिया होती, वे तो जनता के कष्टों से सिहर उठते; किन्तु हमने देखा कि हमारे लेखक और कवि अपने देश की इन परिस्थितियों से उदासीन बने रहे। उनके काल्पनिक संसार में इस कठोर सत्य का प्रवेश नहीं हो सका। आज हिन्दी में कितने उपन्यास हैं जो देश की इस भयानक परिस्थिति से प्रेरित होकर लिखे गये? कितने नाटक हैं जिनमें देश की इस अर्धमृत और अर्धनग्न जनता के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गयी, कितने खण्डकाव्य, महाकाव्य या मुक्तकाव्य हैं, जिनमें जनता का यह करुण आर्त्तनाद गूँज सका है? ऐसी रचनाएँ हिन्दी संसार की व्यापकता को देखते हुए नहीं के बराबर हुई हैं, इससे तो यही ज्ञात होता है कि हमारा वर्तमान साहित्य जनता का साहित्य नहीं है। उसकी पंक्तियों में जनता के प्राणों का स्पंदन नहीं है। वह न तो जनता से सहानुभूति रखता है और न जनता उसे अपना रही है। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि हमारे साहित्य में बड़ी सजधज के साथ प्रकाशित होनेवाली रचनाएँ लोकप्रिय नहीं हो सकीं। हमारे कवियों के कितने गीत हैं जो जनता की ज़बान पर चढ़ सके हैं? कितने नाटक हैं जो गाँव-गाँव खेले गये हैं, कितने उपन्यास हैं, जिनकी कथा-शैली में जनता के कंठ का द्रवित स्वर है? स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द को छोड़कर कोई दूसरा उपन्यासकार नहीं, जिसने तिल-तिलकर मरनेवाले होरी से भिन्न किसी दूसरे किसान को समझा हो, जिसने प्रेम और विग्रह की धूप-छाँह से बनी पति-परायणा धनिया का प्रतिरूप उपस्थित किया हो। अपने जीवन में घटित होने वाली, जीवन के चारों ओर अविराम गति से बहनेवाली घटनाओं के प्रति यह उपेक्षा कैसी? मुझे तो ज्ञात होता है कि अभी हमारे अधिकांश साहित्यकारों में जीवन के वस्तुवाद को कलात्मक रूप से आत्मसात् करने की क्षमता नहीं आयी। हमने वास्तविक जीवन की रुक्षता में निहित सौन्दर्य नहीं पहचाना। हम जीवन की भयानक सुन्दरता नहीं देख सके। विशिष्ट घटनाओं को उनके रूप में सजाने पर एक जीवनगत सत्य और सौन्दर्य दीख पड़ता है। जिस प्रकार ऊँट देखने में बड़ा बेडौल मालूम होता है—लम्बी-लम्बी टाँगें, टेढ़ी गर्दन और पीठ पर कूबड़, छोटी-सी पूँछ आदि। किन्तु जब यही ऊँट आपके प्रदेश की मरुभूमि में एक सीधी रेखा में क्रमबद्ध होकर अनेक ऊँटों के साथ चलता है और आप उसे प्रातःकाल या संध्याकाल के धुँधले-से हलके प्रकाश में देखते हैं तो आपको मालूम होता है जैसे क्षितिज पर जीवन की लम्बी लहर बल खाती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ रही है। ऊँट के बेडौल आकार की विषमता, समता का रूप लेकर आपके नेत्रों को सौन्दर्य का निमन्त्रण देती है। इसी प्रकार जीवन की विषमताओं को एक क्रम में अथवा उनकी गतिशीलता में सजाकर

हम जीवनगत सत्य का सौन्दर्य देख लेते हैं। यह हमारे अधिकांश कलाकारों द्वारा नहीं हो सका।

इन जीवनगत विषमताओं के चित्रण का--वास्तविक दारुण परिस्थितियों के चित्रण का--पूर्ण समर्थक होते हुए भी मैं आजकल के अधिकांश प्रगतिशील लेखकों या कवियों से सहमत नहीं हो सका। उन्होंने हमे जीवन के वास्तविक और सच्चे चित्र देने की चेष्टा की है किन्तु यह सत्य उन्होंने हमें तब दिया है जब उन्होंने साहित्य के समस्त सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है। चिरन्तन साहित्य की कुछ मान्यताएँ हैं। साहित्य केवल आज की सम्पत्ति नहीं है, वह परम्परागत सम्पत्ति है, लोककल्याण, सुरुचि और लालित्य उसकी नैसर्गिक विशेषताएँ हैं। बिना सुरुचि और लालित्य के लिखा गया साहित्य किसी अखबार का सवाद संग्रह-मात्र माना जा सकता है। अतः जब हम आगामी परंपरा के जीवन और कल्याण की भावना से ही, साहित्य का निर्माण करते हैं तो हमें सुरुचि और मानव-मन को आकर्षित करनेवाले सौन्दर्य को ध्यान में तो रखना ही पड़ेगा।

प्रगतिशील लेखकों की रचनाओं में इन दोनों ही का अभाव है। वे तो जैसे साहित्य के समस्त नियमों को नष्ट-भ्रष्ट करने में अपने उद्देश्य की पूर्ति देखते हैं। रूढ़ियाँ तोड़ना एक बात है और मान्यताएँ नष्ट करना बिलकुल दूसरी बात। हमारे इन लेखकों ने इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रखा। एक सिरे से उन्होंने 'एटम-बम' गिरा दिये हैं और उनके चारों ओर साहित्य की शोभा और श्री का संहार ही संहार दीख पड़ता है। मैं अपने इन मित्रों से कहूँगा कि वे एक क्षण रुकें। साहित्य-सृजन एक उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य है। वे सोचें और समझें कि वे क्या करने जा रहे हैं। पिछली शताब्दियों से आनेवाले साहित्य में दर्जनों क्रांतियाँ हुईं, किन्तु हमारे साहित्य की मान्यताएँ नष्ट नहीं हो सकीं। आज सोशलिज्म के उधार लिये हुए विचारों के प्रदर्शन में वे साहित्य में केवल आग की लपट ही देखना चाहते हैं। उसकी सारी मान्यताओं में उच्छृङ्खलता का नग्न ताण्डव ही देखना चाहते हैं। मुझे भय है कि जिस तरह आज कम्यूनिस्ट दल कांग्रेस से अलग हो रहा है, उसी प्रकार ये प्रगतिशील लेखक कहीं हिन्दी-साहित्य से निर्वासित न कर दिये जावें।

मेरा विचार तो यह है कि जनता के जागरण की वाणी लेकर हमारे कलाकार पूर्ण प्रगतिशील बने; किन्तु इस प्रगतिशीलता में साहित्यिक सुरुचि का ध्यान रहे। उनकी रचनाओं में भले ही रस-संचार और अलंकारप्रियता न रहे; किन्तु फिर भी साहित्य के स्वस्थ सौन्दर्य का ध्यान तो रहे। उनका साहित्य

जनता से दूर न जाने पावे। साहित्य के लिए जनता से दूर जाने का अर्थ मृत्यु है।

प्रेरणाओं से सजीव सम्पर्क रखना ही साहित्य के लिए संजीवनी है। और फिर वह साहित्य ही क्या जो समाज के क्रोड़ में पोषित होकर समाज का निर्माण न करे ? जिस प्रकार बीज से फूल उत्पन्न होता है और वही फूल बीज की सृष्टि करता है, उसी प्रकार समाज से साहित्य उत्पन्न होता है और फिर वही साहित्य समाज के निर्माण में सहायक होता है। समाज की प्रेरणाओं से रहित कलाकार अपनी कल्पना की रचनाएँ उसी प्रकार किया करता है, जिस प्रकार मेरे कमरे के एक कोने में बैठी हुई एक मकड़ी जाल बुनती रहती है। उसे क्या ध्यान कि आज इस कमरे में बैठने के लिए कितने कवि या भले आदमी आये। उसे तो अपने जाले से काम, और जिस तरह मेरा नौकर उस जाले को एक दिन झाड़ू से साफ़ कर देगा, उसी तरह समय अपने वर्षों की झाड़ू से समाज के जीवन से रहित उन उलझी हुई कल्पनाओं को झाड़कर साफ़ कर देगा। इसके पर्याय, जीवन के ओज से भरे हुए साहित्य की कांति प्रतिदिन उदय होनेवाले सूर्य की भाँति कभी पुरानी या धूमिल नहीं होगी, और तब ऐसा कलाकार या कवि जनता का प्रतिनिधि होगा। निराशा में वह आशा के गीत गायेगा और मरण में जीवन की आरती सजायेगा। उसकी वाणी में वायु की गतिशीलता और तरलता आयेगी जिसके स्पर्श मात्र से मुरझाये हुए मन एक बार फिर से चैतन्य हो जायँगे। वह भारती के मन्दिर में अपनी स्वर-लहरी से ऐसे गीत गायेगा कि जड़ भी चेतन हो जायँगे, पराजित भी विजयी बन सकेंगे। ऐसे ही स्वरों में राठौड़राज प्रिथीराज ने एक 'साखरा गीत' गाया था—

> नर तेथ निमाणा निलजी नारी, अकबर गाहक बट अबट
> चौहटे तिण जायर चीतोड़ो बेचे किम रजपूत बट

और इस गीत से राणाप्रताप महाराणा प्रताप बने। क्या आज हमारे देश की पराधीनता में ऐसे गीत नहीं गाये जा सकते ? रूस में जो क्रांतियाँ हुईं, उनके पीछे साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा। उपन्यासकारों ने ऐसे कथानकों की सृष्टि की जो देश के अन्तःकरण को झकझोर सकें। आज हिन्दी में भी वैसे उपन्यास क्यों नहीं लिखे जा सकते ? प्रणय के प्रथम पाठ से ही उपन्यास का प्रणयन क्यों होना है ? हमारे देश में तो रंगमंच निर्मित ही नहीं हो पाया किन्तु जो नाटक विद्यार्थियों या सभा-समितियों के द्वारा खेले जाते हैं, उनमें हमारी समस्याओं पर प्रकाश क्यों नहीं डाला जाता ? ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनका अभाव आज हमारे साहित्य में खटक रहा है।

यह तो ललित साहित्य की बात हुई। उपयोगी साहित्य का भी प्रश्न हमारे सामने है। वैज्ञानिक विषयों पर हमारे साहित्य में बहुत कम काम हुआ है। प्रयाग की विज्ञान-परिषद् का प्रयत्न इस दिशा में श्लाघ्य रहा है, किन्तु एक संस्था अपनी सीमित शक्तियों से कितना काम कर सकती है। जब हम हिन्दी को कालेजों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव रखते हैं तो उच्च कक्षाओं में पढ़ाये जाने वाले पाठ्य-ग्रन्थों का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। हम अभी तक एम० ए० और एम० एस-सी० में पढ़ाये जाने योग्य पाठ्य-ग्रंथों को तैयार नही कर सके हैं। कठिनाई वैज्ञानिक विषयों में विशिष्ट शब्दों (Technical Terms) के प्रयोग करने की है। निर्णय की बात यह है कि अंग्रेजी के विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हिन्दी साहित्य में हो या संस्कृत धातुओं के आधार पर, उन शब्दों का हिन्दी में पर्याय बनाया जाय। यद्यपि पहले दृष्टिकोण के पक्ष में कुछ विद्वान् अवश्य हैं, किन्तु मेरे विचार से भाषा और साहित्य की एकरूपता के लिए उन विशिष्ट शब्दों के हिन्दी-पर्याय आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय सुविधा के अंगरेज़ी विशिष्ट शब्दों का प्रयोग भी सुविधानुसार कर लें; किंतु हमारे साहित्य की समृद्धि के लिए और हमारी आवश्यकताओं को देखते हुए हमारे पास उच्चतम वैज्ञानिक शब्दावली का हिन्दी कोश भी मौजूद रहना चाहिए। यदि हम यह कोश तैयार कर ले तो उच्चतम कक्षाओं के पाठ्य-ग्रंथ भी हम हिन्दी में ही प्रस्तुत कर सकते हैं और विश्वविद्यालय की ऊँची कक्षाओं में हिन्दी को माध्यम बना सकते हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निरीक्षण में प्रयाग की भारतीय हिन्दी परिषद् ने इस दिशा में प्रयत्न किया है और वैज्ञानिक विषयों के पारिभाषिक शब्द-कोश तैयार करने की योजना को बहुत कुछ आगे बढ़ाया है। परिषद् का यह कार्य अगले वर्ष तक समाप्त हो जायगा और हिन्दी को प्रतिष्ठित विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तुत किया हुआ पारिभाषिक शब्द-कोश प्राप्त हो सकेगा जिससे पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण में विशेष सुविधा होगी। प्रान्तीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रश्न पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने विचार-विनिमय किया है। इस समय तक उसने प्रत्येक विषय में हिन्दी या उर्दू में निबंध का प्रश्नपत्र अनिवार्य कर दिया है। माध्यम की दिशा में इसे पहला कदम समझना चाहिए। आशा है, इसी प्रकार अन्य विश्वविद्यालय भी इस दिशा में प्रगतिशील होंगे। हम उपयोगी साहित्य के लिए केवल पाठ्य-पुस्तक ही नही चाहते हैं जिससे देश में विज्ञान के विषय पर हिन्दी भाषा-भाषियों द्वारा खोज का कार्य भी सरलता से चलाया जा सके और आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति में हिन्दी के अनेक विद्वानों का सक्रिय सहयोग रह सके।

साहित्य की समस्याओं के साथ भाषा का प्रश्न भी जटिल रूप धारण कर रहा है। हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू के रूपों को लेकर देश में जो अलग-अलग दल बन गये हैं, उनसे आप अपरिचित नहीं हैं। विश्ववंद्य महात्मा गांधी ने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से अपना सम्पर्क हटा लिया है, यह बड़ी क्लेशकर बात है, किन्तु संतोष केवल उनको इस बात पर है कि वे सम्मेलन से बाहर रहकर भी सम्मेलन की और अधिक सहायता कर सकेंगे। हिन्दी और हिन्दुस्तानी का नाम लेकर जो दल अपने-अपने तर्क उपस्थित कर रहे हैं, उनमें एक बात तो समान रूप से वर्तमान है कि वे सभी देश की राष्ट्रभाषा को अधिक व्यापक और सुविधाजनक रूप देना चाहते हैं। मैं भी राष्ट्रभाषा की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर इससे सहमत हूँ किन्तु किसी भी भाषा से द्वेष न रखते हुए मैं यह बात स्पष्ट रूप से घोषित करना चाहता हूँ कि राष्ट्रभाषा वही होनी चाहिए जिससे राष्ट्र के अन्तर्गत निवास करने-वाले विविध प्रांतीय भाषाओं के लोग भी अपनी भाषा-विषयक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, उड़िया और सिन्धी तथा द्रविड़ भाषाओं में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम प्रमुख हैं। हमें राष्ट्रभाषा के निर्माण में इन सभी भाषाओं का ध्यान रखना होगा। भारतीय भाषाएँ तो संस्कृत की परम्परा में हैं ही, द्रविड़ भाषाओं पर भी संस्कृत का प्रभाव है। अतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत के ऐसे शब्द-समूहों से अपना सम्बन्ध बनाये रखना होगा, जो इन विविध भाषाओं में समझे जाते हैं और व्यवहार में लाये जाते हैं। अतः राष्ट्रभाषा के मूलाधार में संस्कृत से निकली हुई भाषा-विषयक परम्परा ही होनी चाहिए। रही बात अरबी और फ़ारसी के शब्दों की जिनका प्रवेश कराना आजकल राष्ट्रभाषा में अनिवार्य समझा जाता है। अरबी, फ़ारसी या उर्दू (जो हिन्दी ही की एक शैली मात्र है), किसी प्रकार भी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखी जा सकती। मुसलमानों के सम्पर्क से ही इस देश में अरबी और फ़ारसी शब्दों को लेकर हिन्दी के क्रोड़ में उर्दू का जन्म हुआ और फलस्वरूप हमारी भाषा में भी अरबी और फ़ारसी के सैकड़ों शब्दों का प्रवेश हुआ। ये शब्द आज भी हमारी भाषा में मिलकर हमारे हो गये हैं। इन्हें भाषा से अलग करना भाषा की हानि ही करना है। किन्तु जब हिन्दुस्तानी के रूप में लगभग उर्दू ही राष्ट्रभाषा के लिए प्रस्तुत की जाती है तो विषय चिन्त्य हो जाता है। उर्दू, भाषा के रूप में कितनी व्यापक हो पायी है, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। व्यावहारिकता में केवल उत्तरी भारत में वह विशुद्ध रूप से बोली और समझी जाती है, वह भी नगरों में, गाँवों में नहीं। नगरों में भी शिक्षित जनता के द्वारा—प्रमुखतः मुसलमानों के द्वारा। नगर के

आशिक्षित मुसलमान भी स्थान-विशेष की बोली बोलते हैं। गाँवों में तो हिन्दुओं और मुसलमानों में भाषा-विषयक कोई भेद ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उत्तरी भारत के कुछ नगरों के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण रखनेवाले कुछ व्यक्तियों के आग्रह से महाद्वीप के समान इस विशाल देश की राष्ट्रभाषा प्रमुखतः अरबी और फ़ारसी शब्दों से लदी हो जो अधिकांश राष्ट्र के लिए दुर्बोध हो, न्याय के विपरीत बात होगी। यह बात दूसरी है कि राजनीतिक आवश्यकताओं ने उर्दू स्वरूपिणी हिन्दुस्तानी को बल दे दिया हो और देवनागरी लिपि के साथ-ही-साथ फ़ारसी लिपि का सीखना भी अनिवार्य बना दिया हो, किन्तु देश की भाषा-विषयक परिस्थिति इस राजनीतिक आवश्यकता से मेल नहीं खाती। हाँ, हिन्दी को अधिक-से-अधिक सरल, सुबोध और स्वाभाविक बनाने के लिए केवल संस्कृत के तत्सम शब्द ही काम नहीं दे सकेंगे, हमें तद्भव, देशज और सरल अरबी, फ़ारसी तथा अंग्रेजी शब्दों को भी स्वीकार करना होगा। विदेशी शब्दों को हम उसी स्थिति में स्वीकार करेंगे जब वे जनता के लिए सुबोध और सरल एवं भाषा के लिए अभिव्यंजनात्मक शक्ति के पूरक सिद्ध होंगे। अपरिचित, दुरूह और बेमेल शब्दों को राष्ट्र-भाषा में स्थान देना उसकी सुबोधता और प्रांतीय भाषाओं की स्वीकृति में बाधक सिद्ध होगा। मेरा प्रस्ताव तो यह है कि भारत में बोली जाने-वाली प्रत्येक प्रांतीय भाषा अपने व्यवहार में आनेवाले अरबी, फ़ारसी और अंग्रेज़ी शब्दों के अलग-अलग कोश तैयार करे। उन सब कोशों का मिलान करने से यह ज्ञात हो जायेगा कि कितने विदेशी शब्द समानरूप से देश की सभी भाषाओं में समझे जाते हैं। वे सब विदेशी शब्द तो राष्ट्रभाषा हिन्दी में रहेंगे ही, साथ ही साथ ऐसे शब्द जो किसी भाषा में विशेष रूप से प्रयुक्त होते हैं, विचार-विनिमय के बाद स्वीकृत किये जावेंगे। इस शैली से राष्ट्रभाषा का रूप सभी के लिए सुलभ और न्याय-संगत होगा। यों मैं भाषा के स्वाभाविक विकास में विश्वास रखता हूँ किन्तु जब राजनीतिक और अन्य कारणों से कोई भाषा हम पर लादी जा सकती है, तो हम राष्ट्रभाषा के निर्माण में भी तर्क और युक्ति से काम क्यों नहीं ले सकते? जहाँ तक लिपि से सम्बन्ध है, मैं निश्चित रूप से कहता हूँ कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी की एक लिपि होनी चाहिए—और वह लिपि देवनागरी है जो संसार की सबसे शुद्ध और सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है। यों अन्य लिपियों का सीखना बुरा नहीं है किन्तु यह वैकल्पिक हो, अनिवार्य न हो।

आल इण्डिया रेडियो, हिन्दुस्तानी के नाम से जिस उर्दू का प्रचार करना चाहता है, वह भाषा न तो हमारी संस्कृति की है, न हमारे संस्कारों की। आल इण्डिया रेडियो अपनी नीति में दृढ़ और अटल है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपने जयपुर

नहीं किये जावेंगे तब तक हम अपने प्रसिद्ध कवियों या लेखकों की रचनाओं के मूल्यांकन में कहाँ तक आश्वस्त हो सकते हैं? हमारे देश भर में प्राचीन हस्त-लिखित ग्रंथ बिखरे पड़े हैं। उन्हें एकत्रित करने के लिए कोई भी अखिल भारत-वर्षीय प्रयत्न नहीं हुआ। नागरीप्रचारिणी सभा ने इस क्षेत्र में अवश्य प्रशंसात्मक कार्य किया, किन्तु उसका क्षेत्र सीमित रहा और धन-बल न होने के कारण कार्य-कर्ताओं द्वारा संतोषजनक रूप से कार्य चल नहीं सका। प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी-विद्यापीठ उदयपुर ने राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का प्रथम भाग प्रकाशित किया है। श्री जनार्दनराय, प्रधान मंत्री, हिन्दी-विद्यापीठ, उदयपुर ने इस कार्य का संचालन बड़ी योग्यता से किया है। राजस्थान कवियों और चारणों की जन्मभूमि होने के कारण हस्तलिखित ग्रंथों का भाण्डार-सा है। वहाँ अनेक ग्रंथों की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ मिलेंगी। सम्पादन करनेवाले विद्वान् जानते हैं कि हस्तलिखित प्रतियों के वंश और कुल होते हैं, जिनकी शाखाएँ चलती हैं। कभी-कभी अति आधुनिक काल का हस्तलिखित ग्रंथ विश्वस्त और प्रामाणिक कुल का होने के कारण अधिक मान्य होता है और कभी-कभी प्राचीन काल का हस्तलिखित ग्रंथ किसी दूर की शाखा का होने के कारण विश्वस्त नहीं माना जाता। इसलिए एक ग्रंथ की अनेक हस्तलिखित प्रतियों को यों ही नहीं छोड़ देना चाहिए, किन्तु उनके पाठान्तर के दृष्टिकोण से उनके कुलों का निर्णय करना चाहिए और अत्यन्त विश्वस्त कुल का पाठ स्वीकार होना चाहिए। इस कार्य के लिए विद्यापीठ को सम्पादन-कला में दक्ष अनेक विद्वानों को आमंत्रित करना चाहिए। मुझे उस दिन अत्यन्त प्रसन्नता होगी जब विद्यापीठ सारे देश में हस्तलिखित ग्रंथों की खोजकर प्राचीन कवियों के प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करने में समर्थ होगा। विद्यापीठ के इस मंगल-कार्य में देश की सभी संस्थाओं को सहयोग देना चाहिए।

२—दूसरी आवश्यकता यह है कि हमें देश के समस्त प्रांतीय साहित्य से अपना सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। यह सम्पर्क दो प्रकार से स्थापित हो सकता है। एक तो इस तरह कि हम अपने विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में इन प्रांतीय भाषाओं को वैकल्पिक विषय बनावें (जैसा सम्मेलन के हिन्दी विश्वविद्यालय के 'रत्न' का पाठ्यक्रम है) और अपनी आगे आनेवाली परम्परा के हृदय में अन्य प्रांतीय साहित्यों के प्रति सहानुभूति का बीजारोपण करें और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि हम प्रत्येक प्रांतीय साहित्य के उत्कृष्ट ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद करना प्रारम्भ कर दें। इससे हम हिन्दी का भाव-क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत और व्यापक बनायेंगे, उतना ही अधिक उसे अन्य प्रांतीय भाषाओं की गति-विधि के

अनुकूल भी बना सकेंगे। यदि इसके लिए हम प्रान्तीय भाषाओं के उत्कृष्ट कलाकारों की एक समिति का संगठन करें तो यह एक अभूतपूर्व व्यवस्था होगी।

३. तीसरी आवश्यकता वैज्ञानिक साहित्य के प्रणयन की है। इसका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ। इस साहित्य के द्वारा हम कालेजों और विश्वविद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से ऊँची से ऊँची शिक्षा दे सकते हैं और राष्ट्र के सभी प्रकार के उपयोगी ज्ञान को अपने अध्ययन की परिधि में ला सकते हैं।

४. चौथी आवश्यकता अपने समालोचना-शास्त्र को व्यवस्थित करने की है। आज जिन दशाओं में और जिन प्रभावों में साहित्य-सृजन हो रहा है, उसका मूल्यांकन संस्कृत के प्राचीन समालोचना-शास्त्र से नहीं किया जा सकता। साथ ही हमारे भारतीय जीवन के क्रोड में लिखा हुआ और हमारे संस्कारों से संपन्न साहित्य केवल पश्चिमी भाषाओं के प्रभावों के कारण ही, एकमात्र पश्चिम के मापदंड से नहीं मापा जा सकता। इसलिए प्राचीन और आधुनिक समालोचना-शास्त्र के समन्वय से हमें अपने साहित्य के लिए एक नवीन समालोचना-शास्त्र का निर्माण करना चाहिए जिससे हम अपनी राजनीति, समाज और साहित्य की परिस्थितियों में लिखी हुई रचनाओं को पश्चिमी विचार-धारा के प्रभावों की दृष्टि से भी उचित ढंग से समझ सकें। यह कार्य किसी महत्त्वपूर्ण संस्था के द्वारा ही होना चाहिए जो प्राचीन और आधुनिक साहित्यों के विद्वानों की एक समिति की आयोजना करे और साहित्य पर प्रभावों का विश्लेषण करते हुए अपने साहित्यिक आदर्शों को स्थिर कर सके।

५. पाँचवीं आवश्यकता हमारे ग्राम-गीतों के संकलन की है। यद्यपि यह योजना बहुत वर्षों से चल रही है किन्तु इस कार्य को व्यवस्थित रूप से चलाने का प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ। हमारा देश कृषि-प्रधान होने के कारण ग्रामों से परिपूर्ण है। उन्हीं की उन्नति और विकास पर हमारे राष्ट्र का विकास अवलंबित है। ग्रामों की उन्नति उनकी भाषा और संस्कृति को ठीक ढग से समझने और उनकी व्यवस्था के सम्बन्ध में सक्रिय होने में है। हमारे ग्राम ही हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र हैं। उनके पास हमारे आदर्शों, व्यवहारों और मनोविज्ञान का ऐसा कोष है जिसकी अवहेलना कर हम अपना व्यक्तित्व खो देंगे। जीवन के सरल और गहरे मनोविज्ञान की पवित्र गंगा हमारे ग्रामगीतों में तरंगित हो रही है। वह पश्चिमी शिक्षा के वस्तुवाद की ऊष्मा से प्रतिदिन सूख रही है। हमारा कर्तव्य है कि हम युग-युग से चले आनेवाले उस सांस्कृतिक इतिहास की रक्षा करें। ग्रामगीतों की अत्यन्त हृदय-ग्राही अनुभूतियाँ हिन्दी-काव्य के लिए प्रेरणाएँ प्रदान कर सकती हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इस सम्बन्ध में कदम

उठाया था। उनके बाद इस क्षेत्र में कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। प्रान्तीय सम्मेलनों में ग्राम-गीत, लोकोक्तियाँ, कहावतें आदि एकत्रित करने के प्रस्ताव तो अवश्य स्वीकृत होते हैं, किन्तु उनके अनुसार कार्य नहीं किया जाता। ग्रामों के ऐसे सैकड़ों तद्भव शब्द हैं जो राष्ट्र-भाषा हिन्दी में स्वीकार किये जा सकते हैं और जिनसे हमारी भाषा की अभिव्यंजनात्मक शक्ति में वृद्धि हो सकती है किन्तु इस महान् भाषा और साहित्य-संपत्ति पर अभी तक हमारा ध्यान गया ही नहीं। इस सम्बन्ध में मैं श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से सहमत होते हुए जनपद साहित्य को प्रश्रय देने का समर्थन करता हूँ। यह जनपद साहित्य हमारी राष्ट्रभाषा के लिए अपरिमित बल का स्रोत होगा क्योंकि उसका सम्बन्ध देश के एक विशाल जन-समुदाय से होगा। ग्राम-गीतों, कहावतों और लोकोक्तियों का संकलन ऐसे साहित्य के निर्माण का पहला कार्यक्रम होना चाहिए।

६. हमारी छठी आवश्यकता भाषा और लिपि-सुधार की है। भाषा की सरलता, सुबोधता और भावव्यंजक शक्ति को हमें अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक बनाना है। इसी प्रकार लिपि में हमें ऐसे संशोधन मान लेना चाहिए जो अक्षर-विज्ञान के सिद्धान्तों के विरोध में न होते हुए आधुनिक मुद्रण-कला के गुणों को अपना सकें। इस सम्बन्ध में साहित्य-सम्मेलन ने अवश्य कुछ कार्य किया है किन्तु वह अभी तक सर्वमान्य नहीं हो सका। उस कार्य को गति देने की बड़ी आवश्यकता है। इसके साथ ही 'टाइप राइटर' के अक्षर-क्रम और अक्षर-सौन्दर्य पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसके बिना हमारी पांडुलिपियों की बड़ी दुर्दशा हो रही है।

७. सातवीं आवश्यकता अपने प्रकाशन-कार्य को संयोजित और नियंत्रित करना है। आजकल हमारा साहित्य अपनी आवश्यकताओं को न देखते हुए मनमाने ढंग पर प्रकाशित हो रहा है। कहानियों की बाढ़ ने तो हमें आक्रांत कर दिया है। केवल कहानी के ही अनेक मासिक पत्र हिन्दी में निकल रहे हैं। यदि इन मासिक पत्रों की कहानियाँ उच्च कोटि की होती तो हमें संतोष हो सकता है, किन्तु ये कहानियाँ वासना के चित्रों को अत्यन्त नग्न रूप से उपस्थित करती हैं जिनसे हमारी रुचि विकृत हो सकती है। हमारे साहित्य को ऐसी कहानियों की आवश्यकता नहीं है। देश के इस नव-जागरण में हमें साहित्य के अन्य अंगों के विकास की आवश्यकता है। हम उनके प्रकाशन की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं। हमारे साहित्यकार भी आर्थिक दुर्दशाओं में पड़कर जनता के मनोरंजन के लिए उन्हीं के मनोविज्ञान के अनुरूप साहित्य लिखते चले जा रहे हैं। उन्हें रुककर अपने उत्तरदायित्व की ओर देखना चाहिए। श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा

संस्थापित 'साहित्यकार संसद्' से हमें ऐसी आशा हो रही है कि वह हमारे लेखकों की आर्थिक दशा सुधारते हुए उनकी कृतियों के प्रकाशन का मार्ग-निर्देश भी करेगा।

इनके अतिरिक्त हमारी अनेक आवश्यकताएँ हैं। हिन्दी के केन्द्र में रेडियो स्टेशन की स्थापना, कवि-सम्मेलन का नियंत्रण और उसका उपयोग, हिन्दी में खोज कार्य की गति-शीलता और अपने साहित्यकारों के अभिनन्दन आदि अनेक कार्य हैं जिन्हें हम संगठित रूप से चला सकते हैं। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि हम अपने रंगमंच का विकास भी कर सकें। हमें एक नाट्य-संघ की स्थापना करनी चाहिए जिसमें हम रंगमंच की स्वाभाविकता, व्यावहारिकता और सौन्दर्य-सृष्टि के आदर्शों पर विचार करें। वंश-विन्यास की सांस्कृतिक और सामाजिक रूपरेखा, यवनिकाओं की उपयुक्तता, संगीत की उपादेयता आदि पर हम विशिष्ट विद्वानों के भाषण और विचार-विनिमय की आयोजना करें। साथ ही प्रतिष्ठित नाटककारों के नाटकों के अभिनय भी प्रस्तुत करें। नागरी-प्रचारिणी-सभा और प्रयाग विश्वविद्यालय ड्रामेटिक एसोसियेशन के द्वारा भी श्री जयशंकरप्रसाद के चंद्रगुप्त का सफलतापूर्वक अभिनय हमारे गौरव की बात है। हम तो चाहते हैं कि साहित्य सम्मेलन के प्रत्येक वार्षिक अधिवेशन पर हमारे किसी प्रतिष्ठित नाटककार के नाटक का एक सुन्दर अभिनय भी हो जाया करे। अभी तो हमें श्री जयशंकरप्रसाद के सभी नाटकों को रंगमंच पर लाने की चेष्टा करनी चाहिए।

हमें यह जानकर प्रसन्नता है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के सुप्रसिद्ध संरक्षक ओरछेन्द्र श्रीमान् महाराजा वीरसिंह जू देव ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक विशाल ग्रंथ के निर्माण का शुभ संकल्प और आयोजन किया है। इसके संयोजक प्रसिद्ध आलोचक श्री लोकनाथ द्विवेदी सिलहकारी, साहित्याचार्य हैं। आशा है, श्रीमान् ओरछेन्द्र इसी प्रकार अन्य कवियों के ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना हाथ में लेंगे। अभी हाल में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री यशपाल के प्रयत्नों से श्री नाथूराम प्रेमी को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने की योजना हमारे सुख और सन्तोष का विषय है।

साहित्य के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि आचार्य श्यामसुन्दरदास, डॉ० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, श्रीराय राजेश्वरबली और श्री शालिग्राम वर्मा जैसे साहित्य स्रष्टा और हितचिंतक उसके बीच में नहीं रहे। इन्होंने अपने जीवन में साहित्य की अनेक प्रकार की सेवाएँ कीं। हम उनकी आत्मा के लिए ईश्वर से शांति की कामना करते हैं। हमें संतोष है कि यह वर्ष महाकवि मैथिलीशरण गुप्त की स्वर्ण-

जयंती का वर्ष है। हम अपने देश के इस महाकवि के चरणों में अपनी श्रद्धा की पुष्पाञ्जलि समर्पित करते हुए उसके दीर्घ जीवन के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।

मैंने आपका अधिक समय लिया। एक वर्ष बाद ही आपने मेरी शक्ति और सेवाओं में विश्वास रखकर मुझे फिर साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से अपने विचारों को प्रकट करने का अवसर दिया, इसके लिए मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

अभिभाषण–९

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

⊙ ⊙

मित्रो,

भारतवर्ष शीघ्र ही पराधीनता के जाल से मुक्त होने जा रहा है। हमें इस पुराने राष्ट्र के अनेक पुर्जे दुरुस्त करने पड़ेंगे, अनेक जंजाल साफ करने होंगे, प्रत्येक क्षेत्र में नव निर्माण का व्रत लेना होगा। हम जो कुछ भी करने जायेंगे उसके लिए हमें साहित्य चाहिए। हमारे कई विश्वविद्यालयों ने हिन्दी को उच्चतर शिक्षा का माध्यम मान लिया है, बाकी विश्वविद्यालय बहुत शीघ्र ही मानेंगे, इनमें अध्ययन-अध्यापन करने वालों के लिए साहित्य चाहिए। हमारी राजनीति और अर्थनीति अब सिर्फ घरेलू झगड़ों तक सीमाबद्ध नहीं रहेंगी, उन्हें विदेशों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करना होगा, इसीलिए हमें अपने निकट और दूर के सहयोगी राष्ट्रों की भीतरी और बाहरी अवस्था की जानकारी आवश्यक होगी, इसके लिए भी हमें साहित्य चाहिए। बहुत शीघ्र ही इस देश के बड़े-बड़े न्यायालयों और व्यवस्थापिका-सभाओं की बहसें और उसके निर्णय देशी भाषा में होंगे, इसके लिए भी हमें साहित्य चाहिए। अगर हमें संसार में महान् राष्ट्र बनकर रहना है तो हमें अपनी समूची जनता को ज्ञान-विज्ञान के प्रति उत्सुक और मनुष्य के न्याय्य अधिकारों के प्रति जागरूक बना देना होगा। कल तक हम बातें बना कर काम चला सकते थे, आज नहीं चला सकते। हमें जीवन के हर क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए साहित्य चाहिए—साहित्य, जो मनुष्य मात्र की मंगलभावना से लिखा गया हो और जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि पर आधारित हो।

राजनीतिक पराधीनता बड़ी बुरी वस्तु है। वह मनुष्य को जीवन यात्रा में अग्रसर होने वाली सुविधाओं से वंचित कर देती है। हमने उस पराधीनता की जंजीरें बहुत कुछ तोड़ दी हैं। लेकिन सुविधाओं को पा लेना ही बड़ी बात नहीं है, प्राप्त सुविधाओं को मनुष्य मात्र के मंगल के लिए नियोजित कर सकना ही बड़ी बात है। हमारी राजनीति, हमारी अर्थनीति और हमारी नवनिर्माण योजनाएँ

तभी सर्वमंगल-विधायिनी बन सकेंगी जब कि हमारा हृदय उदार और संवेदनशील होगा, बुद्धि सूक्ष्म और सारग्राहिणी होगी और संकल्प महान् और शुभ होगा। यह काम केवल उपयोग और व्यावहारिक साहित्य के निर्माण से ही नहीं हो सकेगा। इसके लिए साहित्य के उन सुकुमार अगों के व्यापक प्रचार की आवश्यकता होगी जो मनुष्य को मनुष्य के सुख-दुःख के प्रति संवेदनशील बनाते हैं। हमारा काव्य-साहित्य, कथा, आख्यायिका और नाटक-साहित्य ही हमें ऐसी सहृदयता दे सकते हैं। साहित्य का यह अंग केवल वाग्विलास का साधन नही होना चाहिए, उसे मनुष्यता का उन्नायक होना चाहिए। जब तक मानवमात्र के मंगल के लिए इन्हें नहीं लिखा जाता तब तक ये अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकेंगे। इस बात के लिए यह भी आवश्यक है कि जीवन के प्रति हमारी जो परम्परालब्ध दृष्टि है वह स्पष्ट और सतेज हो। हमारे पास प्राचीन आचार्यों का छोड़ा हुआ और दीर्घकाल का आजमाया हुआ ज्ञान भण्डार है। दुर्भाग्यवश अभी तक वह साहित्य हमारी भाषा में नहीं आ सका है। परिणाम यह हुआ है कि अभी तक हम अपनी ही जीवन-दृष्टि के बारे में अस्पष्ट भाव से सोचने के अभ्यस्त हो गए हैं। आये दिन तरह-तरह की बातें 'हमारे यहाँ' की लिखी हुई बतायी जाती हैं। आज जब हम नये सिरे से इस पुराने देश को गढ़ने का प्रयत्न करने जा रहे हैं तो दीर्घकाल की साधना के फल इस विशाल ज्ञानभण्डार की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। जो लोग साहित्य-निर्माण के कार्य में लगे हुए हैं, उन्हें आलस्य और विचिकित्सा का भाव त्याग कर इस नये और पुराने ज्ञानभण्डार को अपनी भाषा में ले आने के महान् कार्य का आरम्भ जल्दी ही कर देना होगा। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम देश की अग्रगति में सहायता तो नहीं ही पहुँचायेंगे, अपने प्रति देशवासियों की उपेक्षा और अवज्ञा के भाव को दृढ़ बना देंगे। इस प्रकार साहित्यसेवियों के सामने इस समय बहुत विशाल कार्य है। ऐसे ही समय में मुझे साहित्य परिषद् का सभापति बना कर आपने मेरे ऊपर गुरु भार डाल दिया है। मुझमें ऐसी योग्यता नहीं है कि इस निर्माण-काल में कोई बढ़िया योजना बना सकूँ और उसे कार्यान्वित कर सकूँ। परन्तु आपके स्नेह का मुझे अवश्य भरोसा है। अपना भरोसा तो कैसे कहूँ।

जिस भूमि पर खड़ा होने का सौभाग्य आज पा सका हूँ, उसके नाम मात्र से भारतवर्ष की जनता में अपूर्व आत्मगौरव का संचार हो जाता है। इस सिन्धु देश में न जाने कब से इतिहास-विधाता की मानव-प्रयोगशाला काम कर रही है। यह नाना जातियों और नाना धर्मों की मिलन भूमि है, मनुष्य के विजयाभिमान की उत्तुंग पताका है, भारतवर्ष के इतिहास का उदयगिरि है। यहाँ के निवासियों में वही पूर्व गौरव आज भी तरंगित हो रहा है। यहाँ आकर मैं अपने को अभिभूत पा

रहा हूँ। मेरे पास क्या है जो इस पावन-भूमि के निवासियों की सेवा में भेंट कर सकूँ। मुझे केवल एक ही भरोसा है। बड़ों की संगति में अदना आदमी भी बड़ा हो जाता है। सत्संग की महिमा अपरंपार है। पुराने कवि ने विश्वास के साथ घोषणा की थी कि सज्जनों के संसर्ग में आने पर मामूली आदमियों में भी लोकोत्तर गुणों का संचार होता है, उनकी भी कीर्ति भुवनमण्डल में नर्तकी की तरह थिरकने लगती है, साधुता चाँदनी की तरह चमक उठती है, प्रतिभा निर्मल गंगा की धारा के समान प्रवाहित हो उठती है, संपद् प्रिया की भाँति चित्तरंजन करने लगती है—सब कुछ अलौकिक, सब कुछ महान्—

> कीर्तिर्नृत्यति नर्तकीव भुवने विद्योतते साधुता,
> ज्योत्स्नेव प्रतिभा सभासु सरसा गंगेव सम्मीलति।
> चित्तं रंजयति प्रियेव सततं संपद् प्रसादोचिता,
> संगत्या न भवेत् सतां किल भवेत् किं किं न लोकोत्तरम्॥

सो, मुझे आपके सद्गुणों का ही भरोसा है। उसी से मुझे कुछ प्रकाश मिल सकेगा।

मैं पिछले बीस वर्षों से इस साहित्य सम्मेलन और उसकी साहित्य-परिषद् सभापतियों के भाषण नियमित रूप से पढ़ता आया हूँ। मुझमें उस प्रकार के सुचिन्तित और मार्गदर्शक व्याख्यान दे सकने की योग्यता एकदम नहीं है। मैं साहित्य के साधारण विद्यार्थी की हैसियत से ही आपसे कुछ निवेदन करूँगा। पूर्ववर्ती सभापतियों के भाषणों में अनेक सुन्दर योजनायें मिलेंगी, परन्तु उनको अभी तक कार्यान्वित नहीं किया जा सका है। मैं समझता हूँ, मेरे ही समान साहित्य के प्रत्येक साधारण विद्यार्थी को इस बात से मानसिक क्षोभ अवश्य हुआ है। परन्तु मैं सोच कर देखता हूँ तो इसके लिए जिम्मेदारी केवल साहित्यिकों की नहीं है। अच्छी बात कह सकना भी कुछ कम महत्व की बात नहीं है, पर अच्छी बात को कार्यान्वित करना ही अधिक महत्त्व की बात है। मुझे बराबर ऐसा लगता है कि अच्छी बातों को कार्यान्वित करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं। ये बाधाएँ कभी-कभी हमारे शुभ संकल्पों से कहीं अधिक शक्तिशाली होती हैं। पिछले वर्षों में हमने अनेक शुभ संकल्प किये हैं, यह तो हमारे सभापतियों के व्याख्यानों और सम्मेलन के प्रस्तावों को देखने से ही स्पष्ट है परन्तु, परिणाम देख कर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हमारे शुभ-संकल्पों की अपेक्षा उनके कार्यान्वित होने में बाधा पहुँचाने वाली शक्तियाँ ही प्रबल रही हैं। भारतवर्ष कोई नौसिखुआ देश नहीं है। उसकी परम्परा बहुत पुरानी है,

उसका साहित्य विशाल है और उसके प्रयत्न विपुल हैं। इस दीर्घ काल में शुभ-संकल्पों की कमी नहीं रही है, उसके बाधक तत्वों का भी अभाव नहीं रहा है। कहते हैं, जीवन भर धर्माचार का उपदेश दे लेने के बाद दर्शन और पुराणों का निर्माण कर लेने के बाद भी हमारे सबसे बड़े साहित्यिक—मेरा मतलब वेद व्यास से है—को भुजा उठा कर अपनी असफलता की घोषणा करनी पड़ी थी—

ऊर्ध्व बाहु विरौम्येष नैव कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यताम्।।

इसलिए हमारे शुभ-संकल्पों में बाधा पड़ी है तो न तो यह नयी बात है न उद्वेगजनक है। हमें बाधाओं के अस्तित्व के बारे में कोई संदेह नहीं है। परन्तु मनुष्य की सब से बड़ी विजय यह है कि उसने बाधाओं के सामने सिर नहीं झुका दिया। सिर झुका देना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। अगर मनुष्य ने बाधाओं से हार मान ली होती तो दुनिया इतना अग्रसर नहीं हो पाती। ऐसा बहुत बार हुआ कि मनुष्य इस भाव से अपने रास्ते चलता चला गया है और अन्त तक बाधाओं के मुख-गह्वर में विलीन हो गया है परन्तु उसने हार नहीं मानी है। हमने भी जो हार नहीं मानी है, इसका प्रमाण यह सम्मेलन है। हम फिर अपने संकल्पों को दुहराने के लिए और उनके मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं को चुनौती देने के लिए इकट्ठे हुए हैं। मैं मानसिक क्षोभ के साथ यह उत्साहवर्धक समाचार भी आपको सुना देना चाहता हूँ।

यदि आप ध्यान से मनुष्य की अग्रगति का अध्ययन करें तो आपको मालूम होगा कि बहुत काल तक मनुष्य के हाथ में बाधाओं पर विजय पाने वाले साधन संयोगवश मिलते गये हैं। केवल पदार्थविद्या, रसायनशास्त्र और प्राणितत्व के क्षेत्र में ही संयोग और दैव ने मनुष्य की सहायता नहीं की है, गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में भी उसने सहायता पहुँचायी है। संयोगलभ्य ज्ञान को लेकर मनुष्य ने अँधेरे में और टटोला है और थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ता गया है। यह अवस्था अब कट गयी है। अब मनुष्य सुचिन्तित योजनाओं के आधार पर आगे बढ़ रहा है। परन्तु सुचिन्तित योजनाओं के भीतर भी इतिहास विधाता का वरद हस्त उसे प्राप्त है। वह अधिक विश्वास और अधिक दृढ़ता के साथ आगे बढ़ने का अवसर पा रहा है। नये-नये ज्ञान विज्ञान ने मानवचित्त को अधिक उदार, अधिक संयत और अधिक शिष्ट होने को मजबूर किया है। यह और बात है कि वह उतना शिष्ट और उदार नहीं हो सका है जितना होना चाहिए। क्यों नहीं हुआ है, यह विचारणीय

प्रश्न है। विज्ञान बहुत बड़ी शक्ति है। शक्तिशाली के पास उदार हृदय और शुभानुध्यायी बुद्धि होनी चाहिए। नहीं तो शक्ति सत्यानाश की ओर घसीट ले जायगी। ज्यों-ज्यों मनुष्य वैज्ञानिक साधनों को हथियाता गया है त्यों-त्यों वह बड़े-बड़े राज्यों का और विशाल उत्पादक यंत्रों का संघटन करता गया है और संसार के सुदूर प्रान्त में स्थित देशों को सहज गम्य बनाता गया है। आज इन सब की सम्मिलित शक्ति इतनी विकट दानवाकार बन गयी है कि आश्चर्य होता है। इन बड़े-बड़े राष्ट्रों के पास नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए सुचिन्तित योजनाएँ हैं। उनके पोषक और विरोधी शक्तियों का पूरा व्यौरा जान कर ये काम किये जा रहे हैं। इन प्रयत्नों का प्रभाव हमारे ऊपर नाना भाव से पड़ता है। हमारी राजनीति, अर्थनीति यहाँ तक कि शिक्षणनीति भी इनसे प्रभावित होती है। परन्तु परिणाम देख कर निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इन महान् साधनों के मालिकों में उदार हृदय नहीं है, चरित्रबल नहीं है और शुभानुध्यायी बुद्धि नहीं है। अत्यन्त घिनौने युद्ध, बुद्धिमत्तापूर्ण मिथ्या प्रचार और राग द्वेष से विषायित प्रतिस्पर्द्धा यही सिद्ध कर रही है। मैं जितनी दूर तक देखने की दृष्टि पा सका हूँ उतनी दूर तक मुझे स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि नियमित प्रयत्नों और सुचिन्तित योजनाओं के बल पर विज्ञान की सर्वग्रासिनी शक्ति और भी शक्तिशाली होती जायगी, उसे रोकना अब सम्भव नहीं है। नदी की धारा को मोड़ना दुष्कर है। इसीलिए मैं बराबर सोचता हूँ कि यह क्या ऐसे ही छोड़ दिया जाना चाहिए। क्या ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे शक्तिशाली को सहृदय और सच्चरित्र बनाया जा सके। मेरे पास इसका एक ही उत्तर है—यह उपाय है उदार और सरस साहित्य। मेरा मन बार-बार ग्लानि और क्षोभ के साथ जानना चाहता है कि साहित्यिक कहे जाने वाले लोग जिनका काम ही विश्व को सरस-स्निग्ध और उदार बनाना है, जो सवेदनशीलता को इतना बहुमान देते है, विज्ञान की इस बढ़ती हुई शक्ति के साथ क्या ताल मिला कर चल सके हैं? बाधाएँ है, मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि संसार के अनेक साहित्यकार बार-बार सचेत करते आये है कि विज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ति के साथ मनुष्य की भीतरी शक्तियों के उद्बोधन का सामंजस्य होना चाहिए। संकीर्ण राष्ट्रीयता, मोहग्रस्त जाति प्रेम और पथभ्रान्त व्यापार वाणिज्य के साथ विज्ञान के सार्वभौम सत्यों का कोई मेल नहीं है, अधाधुन्ध बढ़ने वाली अनियंत्रित उत्पादन व्यवस्था के साथ मनुष्य के सर्वजनीन रागात्मक सम्बन्धों का विरोध अवश्यम्भावी है परन्तु मुझे यह भी मालूम है कि ऊँचे सिंहासनों तक इन साहित्यिकों की वाणी नही पहुँची है। शक्ति-मद से मत्त लोगों ने इन चेतावनियों का उपहास किया है। हमारे देश के श्रेष्ठ

साहित्यकार कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नानाभाव से यह संदेश मदगर्वित राष्ट्रनायकों तक पहुँचाना चाहा है परन्तु संदेश या तो सुना ही नहीं गया है या सुनकर भी उपेक्षित हुआ है। मुझे स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि झूठी, विद्वेष प्रचारिणी और विषैली बातों का जितनी तेजी से प्रचार किया गया है उतनी ही निर्दयतापूर्वक इन शुभविधायी वाणियों की अवहेलना की गयी है। साहित्यिकों के विचारने के लिए यह एक बड़ा भारी प्रश्न है। हार तो माननी ही नहीं है। हमें आज सावधानी से बाधक तत्त्वों का अध्ययन करना है और देखना है कि हमारे मंगल प्रयत्न अरण्य-रोदन सिद्ध न हो। अगर ससार को महानाश से बचाना है तो साहित्यिकों को विराट् प्रयत्न करने होंगे। इन बाधक तत्त्वों से जूझना होगा। यह मत सोचिए कि हम दुनिया के एक कोने में पड़े हुए ऐसी भाषा के साहित्यिक हैं जो भारतवर्ष की चहारदीवारी के बाहर समझी ही नहीं जाती, इसलिए हमारे प्रयत्न से दुनिया को मदगर्वित राष्ट्रनीति में कोई अन्तर नही पड़ेगा। मेरे भीतर जितनी भी शक्ति है उसका जोर लगा कर में कहना चाहता हूँ कि आज आप यह भूल जाइए कि हिन्दी दुर्बलों की दुर्बल भाषा है। वह संसार की अत्यन्त शक्तिशाली भाषाओं में एक है।

यह इतनी बड़ी बात जो मैंने आप से कही है वह इसलिए नहीं कि मैं लम्बी-चौड़ी हाँकने में रस पाता हूँ। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि चीन, थाईलैण्ड, जावा, सुमात्रा आदि एशियाई देशों में हिन्दी सीखने की उत्सुकता बहुत बढ़ गयी है। यह निश्चित मानिए कि इन देशों के लोग केवल अक्षर बोध पढ़ने के लिए हिन्दी सीखना नहीं चाहते। वह बड़ी चीजों के पाने की आशा से इधर झुके है और अगर आपने बड़ी बातें देने और लेने का प्रयत्न किया तो आपके प्रयत्न उपेक्षित नही होंगे। मनुष्य जाति का अधिकांश इन्हीं देशों में बसा है। इन देशों के मनुष्यों की चिन्ता धारा अगर मंगलविधायिनी होगी तो समूची मनुष्यता के लिए वह हितकर होगी। साहित्य सेवा का अवसर पाना बड़े सौभाग्य की बात है और हिन्दी साहित्य की सेवा पाना किसी प्रकार कम सौभाग्य नहीं है। यदि हममें दृढ़ निश्चय होगा तो हम निश्चय ही संसार को उदार और चरित्रवान् बना सकेंगे और संसार को महानाश के गर्त में गिरने से उबार सकेंगे। इस समय हमें धीर भाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना है।

यह लक्ष्य क्या है ? मैंने शुरू में ही आपसे निवेदन किया है कि हमारा राष्ट्र विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने को कृत-संकल्प है, कोई भी शक्ति अब ऐसी नहीं है जो इस जुए को उसकी गर्दन पर लदी रहने दे। हमें राष्ट्र-निर्माण के लिए अनेक प्रयत्न करने होंगे। हमारे साहित्यिक नेताओं ने इस मंच से अनेक उपाय सुझा

रखे हैं। इस प्रकार हमारे पास न तो काम की कमी है, न उपाय की। परन्तु ये काम और ये उपाय हमारे अन्तिम लक्ष्य नही हैं। मैंने शुरू में ही कहा है कि हमारे नेताओं की सुझाई हुई योजनाओं के कार्यान्वित होने मे कई बाधाएँ है। बड़ी भारी बाधा हमारी सामाजिक व्यवस्था ही है। मनुष्य की आदिम वृत्तियों को प्रलुब्ध करने से वह लाभ-हानि की चिन्ता छोड़ देता है। यदि इन वृत्तियों को ही प्रधान उपजीव्य बना कर आदमी कारबार शुरू करने की छूट पा जाय तो वह निश्चय ही सफलता पा जाएगा। फिर वह यह नहीं परवा करता कि इससे उसकी दीर्घकाल की प्राप्त की हुई साधना म्लान हो जाती है या नहीं, त्याग और बलिदान से प्राप्त की हुई मनुष्यता म्लान होती है या नही। दुर्भाग्यवश इस समय जो व्यवस्था हमारे सिर पर है, उसमें इस बात की छूट है। मनुष्य के पशुसामान्य मनो-भावों को सहला कर रुपया कमाना इस व्यवस्था में एक हद तक निहित है। साहित्य के द्वारा रंगमंच के द्वारा और सवाक्पट के द्वारा बहुत से व्यवसायी उस ओर लग गये हैं। जिन विषयों के गंभीर अध्ययन से मनुष्य का मस्तिष्क परिष्कृत और हृदय सुसंस्कृत होता है, उसमें श्रम लगता है और उसके लिए बाजार आसानी से नहीं मिलता। इसीलिए जितनी भी अच्छी योजना बनाइए और जितना सुन्दर भी उपदेश सुना जाइए, सात्त्विक साहित्य की ओर प्रवृत्ति नही जाती और हल्के ढंग का साहित्य बाजी मार ले जाता है। यह सचाई है। फिर भी इस समूची विरोधिता के होते हुए भी हिन्दी में गंभीर और अध्ययनशील साहित्य का सर्जन हुआ है, क्योंकि मनुष्य का इतिहास ही सद्वृत्तियों के विजय का इतिहास है। असामाजिक मनोवृत्तियों को दबाकर समागम की मंगलविधायिनी प्रचेष्टाओं के उत्कर्ष का इतिहास है। आज मैं आपको एक और सुखद समाचार सुना देता हूँ। इस देश के विश्वविद्यालय हिन्दी को शिक्षा का माध्यम अवश्य स्वीकार करेंगे, उनके लिए पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता भी जरूर होगी। इनके लिए बाजार भी मिलेगा और इनसे रुपया भी कमाया जा सकेगा। गम्भीर साहित्य भी इस बहाने कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा जायगा। इस कार्य में आप हाथ पर हाथ धरे बैठ नहीं सकते और क नही तो ख इस काम को कर ही लेगा। जिसके लिए बाजार में माँग होगी, उसका उत्पादन होकर ही रहेगा। उसके लिए आपको संघटन और सुनिश्चित योजना बनाने की चिन्ता नहीं करनी होगी। मुझे इस सुखद समाचार को सुनाते समय जितना हर्ष होना चाहिए उतना नही हो रहा है। थोड़ा तो हो ही रहा है। पूरा हर्ष न होने का कारण यह है कि पोथियों की संख्या बढ़ाना या ज्ञान की दूकान चलाना साहित्य का लक्ष्य मैं नही जानता। मेरे मन में हिन्दी भाषा और साहित्य का एक विशिष्ट रूप है। हमारे देश में जो स्थान कभी संस्कृत का था, और जो

स्थान आज अंग्रेजी ने ले लिया है उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण पर्द पर हिन्दी को बैठना है। मैंने यह बात पहले भी कही है और फिर भी दुहरा रहा हूँ। हिन्दी को संसार के समूचे ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनाना है। उसका कर्तव्य बहुत विशाल है। उसे अपने को अपने महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध करना है। मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नही लगती। इस महान् उद्देश्य की यदि हिन्दी पूर्ति कर सके तभी वह उस महान् उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध होगी जो इतिहास-विधाता की ओर से उसे मिला है। मेरे लिए हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य कोई देवप्रतिमा नहीं है जिसका नाम जप कर और आरती उतारकर हम संतुष्ट हो जायँगे। हिन्दी भारतवर्ष के हृदय-देश में स्थित करोड़ों नरनारियों के हृदय और मस्तिष्क को खूराक देने वाली भाषा है। यदि यह काम वह नही कर सकती तो वह श्रद्धा और भक्ति का विषय भी नहीं बनी रह सकती। हिन्दी के ऊपर महान् उत्तरदायित्व की बात जब मैं कहता हूँ तो मेरा मतलब यही होता है। भारतवर्ष की राजभाषा चाहे जो हो और जैसी भी हो पर इतना निश्चित है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय भाषा हिन्दी है। लगभग आधा भारतवर्ष उसे अपनी साहित्यिक भाषा मानता है, साहित्यिक भाषा अर्थात् उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने वाली भाषा, करोड़ों की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग, रुदन-हास्य की भाषा। उसमें साहित्य लिखने का अर्थ है करोड़ों के मानसिक स्तर को ऊँचा करना, करोड़ों मनुष्यों को मनुष्य के सुख-दुःख के प्रति संवेदनशील बनाना, करोड़ों को अज्ञान, मोह और कुसंस्कार से मुक्त करना। केवल शिक्षित और पडित बना देने से यह काम नहीं हो सकता। वह शिक्षा किस काम की जो दूसरों के शोषण में और अपने स्वार्थ साधन में ही अपनी चरम सार्थकता समझती हो। इसीलिए आज जब हमारे सामने गंभीर साहित्य लिखने का बहाना आ उपस्थित हुआ है, मैं अपने सहकर्मियों से विनयपूर्वक अनुरोध कर रहा हूँ कि जो कुछ भी लिखो, उसे अपने महान् उद्देश्य के अनुकूल बनाकर लिखो। संसार के अन्यान्य राष्ट्रों ने अपने साहित्य को जिस दृष्टि से लिखा है उसकी प्रतिक्रिया और अनुकरण नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य ने संयोग का सहारा लिया है उसी प्रकार साहित्य और शिक्षण के क्षेत्र में भी अटकल का सहारा लिया है। उसका फल अच्छा नहीं हुआ है। हमें सौभाग्यवश नये सिरे से सब कुछ करना है। इसीलिए हमारे पाठ्यग्रंथों तथा रसात्मक साहित्य की रचना भी किसी खण्ड सत्य के लिए नहीं होनी चाहिए। समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक

समूह दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो—इस महान् उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए। संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल मस्तिष्क वाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है। उसका परिणाम संसार को भोगना पड़ा है। घृणा और द्वेष से कोई बढ़ नहीं सकता। घृणा और द्वेष से जो बढ़ता है वह शीघ्र ही पतन के गह्वर में गिर पड़ता है। यही प्रकृति का विधान है। लोभ वश, मोह वश और क्रोध वश जो कर्तव्य निश्चित किया जायगा, वह हानिकारक होगा। बड़ी साधना और तपस्या के बाद मनुष्य ने इन आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पायी है। वे वृत्तियाँ दबी हैं किन्तु वर्तमान हैं। उन पर आधारित प्रयत्न मनुष्यता के विरोधी हैं। प्रेम बड़ी वस्तु है, त्याग बड़ी वस्तु है। और मनुष्य मात्र को वास्तविक 'मनुष्य' बनाने वाला ज्ञान भी बड़ी वस्तु है। यदि हमारा साहित्य इन बातों पर आधारित होगा तभी वह संसार को नया प्रकाश दे सकेगा।

मैं यह भूल नहीं रहा हूँ कि हमारे देश मे बहुत शुरू से ही काम करना है। यहृ की समूची जनता अभी साक्षर भी नहीं हो सकी है। अनेक जातियाँ अभी अत्यन्त आदिम काल की जिंदगी बिता रही है, रोग और दारिद्र्य के अभिशाप से समूची जनता जर्जर है। इस निरक्षर देश के साहित्यकार की जिम्मेदारी भी बहुत है। दूसरे देशों ने जो कुछ किया है या जो कुछ कर रहे है वही उपाय हमारे यहाँ सब समय नहीं चल सकते। हमें सब कुछ नये सिरे से गढ़ना है। हमारे साहित्य में अभी तक कविता, कहानियों और अन्यान्य रसात्मक साहित्य की ही धूम है। परन्तु रसात्मक साहित्य के पोषण के लिए जिस प्रकार के शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता है वह हमारे पास नहीं है। इसीलिए साहित्य को अशिक्षित जनता का चित्र जागरूक करने के लिए जितना कुछ करना चाहिए था, उतना वह नहीं कर सका है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था कि—"कहानी, कविता और नाटक इन्ही से हमारे साहित्य की पंद्रह आने तैयारियाँ हो रही हैं। अर्थात् दावत का आयोजन हो रहा है, शक्ति का आयोजन बिल्कुल नहीं। यह सब कुछ हो रहा है पाश्चात्य देश की चिंताकर्षक विचित्र चित्तशक्ति के प्रबल सहयोग से। वहाँ मनुष्यत्व देह, मन, प्राण, सभी दिशाओं में व्याप्त है, इसीलिए वहाँ अगर त्रुटियाँ भी हैं तो साथ ही साथ उनकी पूर्ति भी है। मान लो, वटवृक्ष की कोई डाली आँधी से टूट रही है, कहीं पर कीड़े खा-खाकर उसे खोखला कर रहे हैं, किसी साल वर्षा ही कम हुई है; परन्तु फिर भी सब मिलाकर वनस्पति ने अपने स्वास्थ्य और शक्ति को बनाये रखा है, उसी तरह पाश्चात्य देशों के मन

और प्राणों को क्रियाशील बना रखा है वहाँ की अपनी विद्या ने, अपनी शिक्षा ने, अपने साहित्य ने। इन सबने मिलकर वाक्शक्ति की अथक उन्नति की। इन सबके उत्कर्ष से ही वहाँ का उत्कर्ष है।" हमें भी अपने रसात्मक साहित्य को अगर स्वस्थ और सबल बनाना है तो हमें अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल अपने ढंग की शिक्षा और विद्या की आवश्यकता पड़ेगी। दूसरों की नकल कर के हम अपना हित नहीं कर सकते। हमारी समस्याएँ अनेक हैं, परिस्थिति जटिल है। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर हमारी जनता के नाना समूह खड़े हैं। सब का मुँह भी एक ही तरफ नहीं है। सब को उन्नति की ओर ले जाने के लिए हमें नाना प्रकार के प्रयोग करने पड़ेंगे। उद्देश्य की एकता के सिवा इन प्रयोगों में और किसी एकता का आरोप करना भूल होगी। परन्तु कठिनाइयाँ चाहे कितनी भी क्यों न हों, हमें रास्ता निकालना ही पड़ेगा। हम अपने प्राचीन और महान् देश को अंधकार मे भटकने के लिए नहीं छोड़ सकते और काम चाहे हमें जितना भी आरंभिक अवस्था से क्यों न शुरू करना हो, हम अपने लक्ष्य को छोटा नहीं होने दे सकते।

शायद आप साहित्य परिषद् के सभापति से यह जानना चाहें कि पिछले वर्ष हमारे साहित्य में कौन-सी उल्लेखनीय योग्य बात हुई है? इसका उत्तर मैं बिना किसी हिचकिचाहट के दे सकता हूँ। परन्तु मैं आपको अपने काव्य, नाटक, उपन्यास, दर्शन और अध्यात्म तथा राजनीति की पुस्तकों और उनके रचयिताओं की सूची नहीं सुनाने लगूँगा। इस बात का आप विश्वास मानें। कई बहुत उत्तम पुस्तकें मुझे देखने को मिली हैं, चाहूँ तो एक बड़ी सूची बना सकता हूँ। परन्तु मैं ऐसा उत्तर आपको नही दूँगा। मुझे सबसे उल्लेख योग्य बात लगी है अनेक महत्त्वाकांक्षी प्रकाशन संस्थाओं की योजनाएँ। बम्बई से, दिल्ली से, इलाहाबाद से, लखनऊ से, बनारस से, जबलपुर से, पटने से, भागलपुर से, बोलपुर से और कलकत्ते से कई प्रकाशन-संस्थाओं की स्थापना का समाचार मुझे मिला है। ये सब कुछ बड़ा काम करना चाहती हैं। कई संस्थाओं ने कृपापूर्वक मुझसे सलाह माँगी है, और कई ने तो अपने स्थायी सलाहकारी मंडल में सदा मेरा नाम रख देना चाहा है।

स्पष्ट ही ये संस्थाएँ समझ-बूझ कर कदम उठाना चाहती हैं। इनमें कुछ का उद्देश्य रुपया कमाना भी हो सकता है परन्तु जब तक रुपया है और वह कमाया जा सकता है तब तक रुपया कमाने को आप निषिद्ध कर्म नहीं कह सकते। आप केवल इतनी ही आशा कर सकते हैं कि साहित्य जैसी पवित्र वस्तु को निर्माण करने का संकल्प रखनेवाली ये संस्थायें रुपया कमाने को समाज-निर्माण के कार्य से बड़ा न समझें; इनमें कुछ संस्थाएँ तो अपना निश्चित उद्देश्य लेकर काम करने लगी

हैं। उदाहरणार्थ, कुछ समाज-विज्ञान और समाजवादी व्यवस्था के अध्ययन और प्रचार का प्रयत्न कर रही हैं, कुछ हिन्दी साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन अंगों का अध्ययन और प्रचार कर रही हैं और कुछ हिन्दू धर्म के नये और पुराने रूपों का ही प्रचार कर रही हैं। मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी में जो सैकड़ों पत्रिकाएँ और पुस्तकें निकल रही है, उनको एक निश्चित योजना के अनुसार क्या नही निकाला जा सकता ? कभी-कभी एक ही विषय की बार-बार पुनरावृत्ति हो जाती है। मैं इन सभी संस्थाओं के संचालकों से प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे एकत्र होकर अपना अपना कार्यक्षेत्र बाँट ले। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के बल पर कह सकता हूँ कि हमारे यहाँ उच्चकोटि के लेखकों की कमी है और यदि प्रत्येक संस्था कुछ गिने-चुने व्यक्तियों से अपना काम चलाना चाहे तो न तो साहित्य ही उत्तम कोटि का बन पायेगा न उक्त संस्थाएं ही लाभान्वित होगी। विद्वानों की हमारे यहाँ कमी नही है। यह साहित्यिक संस्थाओं का कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे विद्वानों को लिखने की ओर प्रवृत्त करावे। हिन्दी में न जाने कितनी बे-मतलब की पुस्तकें और पत्रिकाएँ छप रही है। सभी प्रकाशकों से मेरा नम्र अनुरोध है कि वे इस प्रकार राष्ट्र के धन का अपव्यय न कर के सुचिंतित योजना के अनुसार पुस्तकें प्रकाशित करे। एक बार सोच कर देखिए कि कितना कागज, कितनी स्याही और कितना श्रम हम ऊलजलूल कामों मे खर्च कर रहे है।

सलाह देने की योग्यता मुझमें नही है। अपने सीमित बुद्धि-वैभव से अच्छी तरह परिचित हूँ। परन्तु कुछ मित्रों और प्रकाशन-संस्थाओं ने जब सलाहकार बनाने की उदारता प्रकट की है तो अपनी सूझ-बूझ के अनुसार कुछ कह देना नितान्त अनुचित नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः हिन्दी में अभी किसी भी साहित्यांग पर संतोषजनक कार्य नहीं हुआ। मेरे नौजवान मित्र जब कभी पूछ बैठते हैं कि क्या लिखें तो मुझे झुझलाहट होती है। हमारे पास है ही क्या ? हमारा इतिहास विदेशी लोगों ने विदेशी भाषा में थोड़ा बहुत लिखा है। हमारी जनता के आचार-विचार, रीति-नीति, भाषा-भाव, नवीन-प्राचीन, धर्म-ईमान के बारे में विदेशियों ने भी थोड़ा बहुत लिखा है। उनका उद्देश्य सब समय अच्छा ही नहीं होता। कम-से-कम उनकी दृष्टि से अच्छा है। वह हमारी दृष्टि से भी अच्छा ही होगा, ऐसा जोर देकर न हीं कहा जा सकता। हमारे कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, जंगल-झाड़, मरु-मालव के बारे में भी हमें विदेशी भाषा में ही थोड़ा-बहुत मिल जाता है। विदेशों के लोग-बाग, जीव-जन्तु, नदी-पर्वत और व्यवसाय-वाणिज्य आदि का तो कहना ही क्या है। जिन विदेशी पंडितों ने हमारे देश के जड़-चेतन के बारे मे परिश्रमपूर्वक और ईमानदारी के साथ बहुत कुछ लिख रखा है

उनके हम अवश्य कृतज्ञ होंगे, पर उतने से ही हमे सन्तुष्ट नही होना है। हमे अपने देश को अपनी आँखों से देखना है। जब तक हम इस विशाल और महान् देश, को उसकी समूची खूबियों के साथ नहीं पहचानते तब तक इसके प्रति हमारा प्रेम मौखिक और क्षणस्थायी होगा। फिर जिस भाषा से करोड़ों जनता अपनी मानसिक भूख मिटाने को आशा करती हो उसमें इतना भी न हो तो कोई कैसे समझे कि सचमुच ही हम इस भाषा से प्रेम करते हैं। इसीलिए मैं अत्यन्त आग्रहपूर्वक प्रस्ताव करता हूँ कि प्रकाशक लोग और साहित्यिक सस्थाएँ मिल कर एक योजना बनाकर काम करें। जितना कागज और स्याही हम प्रति वर्ष खर्च करते है, उतने से, अगर निश्चित योजना के अनुसार कार्य किया जाय तो अच्छा और उपयोगी साहित्य बन सकता है।

हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए कई संस्थाएँ काम कर रही हैं और अच्छा काम कर रही हैं। परन्तु अब आवश्यकता है कि हम इसके मूल तत्वों तक पहुचे केवल सुयोग और सौभाग्य वश पायी हुई पुस्तकों के आधार पर हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसका स्वरूप नहीं समझा जा सकता। हिन्दी साहित्य, लोक-साहित्य था। आज भारतीय जन-समाज की जो अवस्था है वह सदा से नहीं रही है। नये-नये जनसमूह इस देश में आते रहे है और पुराने विचारों को बदलते रहे हैं। लोककथाओं, लोकोक्तियों और जनता के प्रचलित आचार-विचारों से ऐसी अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता लग सकता है जो पुस्तकों से प्राप्त नहीं हो सकता। साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्‌भव और विकास की कहानी नहीं है, वह वस्तुत: अनादिकाल के प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवन्त मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार तो उस धारा की ओर अंगुलि-निर्देश करते हैं, हमारे विश्वविद्यालयों के स्नातक आजकल आचार्यत्व (डॉक्टरेट) प्राप्त करने के लिए उग्रीव दिखते हैं। विश्वविद्यालयों के अधिकारी इन स्नातकों को यदि लोकसाहित्य की ओर मोड़ सकें तो वे अनेकों महार्घ रत्नों को जुटा ले आयेंगे। पुस्तक-साहित्य का अध्ययन भी तब तक अपूर्ण ही रहेगा, जब तक नाथमत, शाक्त-संप्रदाय, वैष्णवसंहिताओं और बौद्ध तथा जैन अपभ्रंश-साहित्य का अच्छा अध्ययन प्रस्तुत न किया जाय। इन विषयों का अध्ययन अभी तक उपेक्षित है। हिन्दी के साहित्य-शोधक इनका भी अध्ययन आरम्भ करें तो बहुत कुछ दे सकते हैं। हमारे प्राचीनतर साहित्य का जो कुछ भी अध्ययन हिन्दी में नहीं हुआ। बहुत थोड़ी सी धार्मिक पुस्तकें जैसे-तैसे अनुवाद कर ली गयी हैं। हमें नाना शास्त्रों की पुस्तकों के सम्पादन और अनुवाद की ओर यथाशीघ्र ध्यान देना चाहिए। राहुल जी और उनके मित्रों ने पालि-साहित्य का अच्छा अंश हिन्दी

में अनुवादित कर लिया है परन्तु महायान के विपुल-साहित्य को अभी छुआ भी नहीं गया है। यद्यपि देश में जैन विद्वानों और जैन संस्थाओं का अभाव नहीं है परन्तु अभी तक जैन ग्रन्थ सर्वजन आस्वाद्य बना कर नही लिखे गये। श्री नाथूराम जी प्रेमी, मुनि जिनविजय जी और पं० सुखलाल जी आदि विद्वानों ने इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है परन्तु विशाल जैन-साहित्य को देखते हुए यह कार्य बहुत मामूली जान पड़ता है। और ब्राह्मण साहित्य को तो हिन्दी मे पूरा-का-पूरा आ जाना चाहिए था पर सच पूछिए तो यह साहित्य बिल्कुल ही अस्पृष्ट रह गया। वेद-ब्राह्मण आरण्यकों और उपनिषदों का ही आधुनिक ढंग से सम्पादन और विवेचन नहीं हुआ तो औरों की तो बात ही मत पूछिए। विदेशी विद्वानों ने इस क्षेत्र में भी हमें पराजित किया है। हार क्या हमारी राजनीतिक ही हुई थी, जीवन के हर क्षेत्र में हम पछाड़े गये थे। आज जब हम धूल झाड़ कर उठ खड़े हुए हैं तो किसी क्षेत्र में अब पिटने को तैयार नहीं हैं। हमें अपने समूचे साहित्य को, विविध भाषाओं को, विविध रीति-नीतियों को और सम्पूर्ण जनता को अनासक्त और अनाविल दृष्टि से देखने का व्रत लेना है।

बालकों के योग्य पुस्तकों का तो हमारे साहित्य में नितान्त अभाव ही है। यह काम जल्दी ही हो जाना चाहिए। हमें साहित्य के प्रत्येक अंग पर बालकों के लिए साहित्य लिखना ही होगा। हमारे पड़ोसी बँगला-साहित्य मे इस विषय मे उल्लेख योग्य कार्य हुआ है। मेरे बच्चे बंगला माध्यम से स्कूल की पढ़ाई पढ़ते है। आये दिन वे जो पुस्तकें पढ़ने को ले आते हैं, उन्हें देखकर मुझे आश्चर्य और आनन्द होता है। ऐसे उल्लेख योग्य स्वदेशी-विदेशी, नाटक, काव्य और उपन्यास नहीं हैं जिनका सार नमवच्चों की भाषा में बंगाली लेखकों ने न लिख दिया हो। नाना विषयों पर उन्होंने लेखनी चलायी है। सभ्य जाति अपने बच्चों और स्त्रियों का ज्यादा ध्यान रखती है। हमने इन दोनों ही क्षेत्रों मे लापरवाही का परिचय दिया है। बहुत-से प्रकाशक बालकों का साहित्य छापने का कारबार करते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश बहुतों की शक्ति रीडरबाजी में बर्बाद हो जाती है। बालकों और स्त्रियों के लिए साहित्य की हमें विशेष रूप से आवश्यकता है। शान्ति निकेतन के हिन्दी भवन के लिए जब हम योजना बना रहे थे तो महामना भारत भक्त दीनबन्धु एण्ड्रयूज ने बालकों के साहित्य को उस योजना का अंग बनाना चाहा था। हम लोगों ने जब आना-कानी की तो उन्होंने जोर देकर कहा—और कुछ करो या न करो बालकों के लिए साहित्य लिखने का काम अवश्य करो। नाना कारणों से हम वैसा नहीं कर सके पर एण्ड्रयूज की वह गम्भीर मुद्रा और अत्यन्त जोर के साथ

कही हुई बात मुझको कभी नहीं भूलती। उस महापुरुष ने साहित्य की नींव को ही मजबूत करना चाहा था।

हमारे इस निरक्षर देश में प्रौढ शिक्षा का काम भी शुरू करना पड़ेगा। बालकों के लिए यदि कुछ पुस्तके मिल भी जायेंगी तो प्रौढ़ों के लिए नहीं मिलेगी। उत्साही और साहसी साहित्यिकों को इस दिशा में दृढ़ता के साथ बढ़ना चाहिए। वैसे तो प्रौढ़ शिक्षा स्वयमेव बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु है पर हमारे देश में एक और महत्त्व का कार्य इसके साथ जुटा हुआ है। इस देश में आदिम जातियाँ हैं जिनको कहा जाता है कि अपनी कोई लिपि नही है। अर्थात् वे अब तक लिखने पढ़ने से वंचित थीं। चूँकि ये जाति लिखना पढ़ना नहीं जानतो थी इसलिए मतलबी प्रचारकों ने कहना शुरू किया कि इनकी कोई लिपि नही है। इनकी लिपि वही लिपि है जो हजारों वर्षो से इस देश की लिपि बनी हुई है। स्थान और काल के हिसाब से यह बदलती रही है फिर भी वही लिपि सारे भारतवर्ष की अपनी जातीय लिपि है। प्रौढ़ शिक्षा के लिए हमें अनेक आदिमभाषी मित्रों की भाषाओं का अध्ययन करना होगा और उनके लिए उपयोगी और स्वस्थ साहित्य देवनागरी लिपि के द्वारा देना होगा। इस कार्य मे विलम्ब एकदम नहीं होना चाहिए।

फिर विज्ञान है, दर्शन है, ललितकला है, इनके परिचायक शास्त्र हैं। इनकी पुरानी परम्परा और नई परिणतियों का हमें अध्ययन करना है। हमारे अपने देश का एतद्विषयक साहित्य गंभीर और महत्वपूर्ण है। उन ग्रंथों का संपादन शोधन और अनुवाद हमें करना है। सूची बनाने से कोई फायदा नहीं है। विद्वानों को ये बातें मालूम हैं। विदेशी साहित्य और दर्शन, तथा अन्य विषयों की पुस्तकें और उनका सारमर्म बताने वाली पुस्तके भी आवश्यक है। पूर्व और पश्चिम का सम्पूर्ण रस निचोड़ कर ही हिन्दी साहित्य अपने को पुष्ट और सबल बना सकता है।

मित्रो, दुनिया बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही है। हमें सावधानी से इस गति के साथ अपनी गति का सामञ्जस्य करना है। नहीं तो परिवर्तन की गाड़ी हमारे रंगीन स्वप्नों और जड़ कल्पनाओं के ऊपर से निकल जायगी और उनका धुर्रा उड़ जायगा। मैंने ऊपर जो अनेक अभावों की चर्चा की है उतना ही भर हमारा अभाव नहीं है। हमें सब कुछ गढ़ना है। कार्य का आधिक्य देख कर हमें दहल नहीं जाना चाहिए। शास्त्रों में वीर उसी को कहा है जो बाधाओं को देख-कर सौगुना उत्साहित हो जाता है, जिसे जूझने के ललकार से उमंग उफन पड़ता है। हमें अपनी वास्तविक शक्ति का ज्ञान होना चाहिए और अपनी कमजोरियों का भी पता होना चाहिए। परिवर्तन आयेंगे, उन्हें कोई रोक नहीं सकता। हमारी प्यारी मातृभाषा में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह परिवर्तनों को अम्लान वदन

से स्वीकार कर सके। हिन्दी के बारे में यदि आप चिन्तित हों, उसके प्रति किये गये अन्यायों को देखकर यदि आप क्षुब्ध हों तो मैं आपको आश्वस्त होने की सलाह दूँगा। हिन्दी को बाहर से कहीं से भी भय नहीं है। विरोधों और संघर्षों के भीतर से ही वह बढ़ी है। उसे जनमते ही मार डालने की कोशिश की गयी थी, पर वह मरी नहीं है।जो लोग रेडियो स्टेशनों पर या इधर-उधर की सरकारी कुर्सियों पर इसकी उपेक्षा करते हैं वे केवल कृपा के पात्र हैं—'इहां कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं, जो तर्जनी देखि मरि जाहीं!' हिन्दी की आँख रहते भी नही देखने की प्रतिज्ञा करने वाले बुद्धिमानों से डर नहीं है। डर उसको अपने ही भीतर से है। अगर हम हिन्दी की एक ऐसी भाषा बना दे जो सर्वसाधारण के निकट अंग्रेजी ही की भाँति दुर्बोध्य बनी रहे या संस्कृत की ही भाँति कुछ चुने हुए लोगों के शास्त्रार्थ विचार की भाषा बन जाय तो हम निश्चित रूप से हिन्दी का अहित करेंगे। हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो मामूली-से-मामूली जनचित्त को ऊपर उठा सके। अगर हमने अपनी भाषा को ऐसी बना दी जो कुछ थोड़े से लोगों के वाग्विलास का साधन बनी रह जाय तो, इसके नसीब अच्छे नहीं हैं। हमें तो इस भाषा को इस योग्य बना देना है कि वह साधारण-से-साधारण मजदूर से ले कर अत्यन्त विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजीवी के दिमाग में समान भाव से विहार कर सके। डर हमें और कहीं से नहीं है।

साहित्य-सेवा या हिन्दी-सेवा लाक्षणिक प्रयोग हैं। इनका अर्थ उस कोटि-कोटि जनता की सेवा है जो इस भाषा को बोलती और समझती है। हमने साहित्य का साधन अपनाया है परन्तु लक्ष्य हमारी यही जनता है। इसी को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना साहित्य-सेवा का असली अर्थ है। हमें अपने देश को बाहर और भीतर से सँवारना है। यदि यहाँ के करोड़ों मनुष्यों को पशु सुलभ मनोवृत्तियों से ऊपर उठा कर मनुष्यता के आसन पर बैठा सके तो हम समूचे विश्व को नवीन आलोक देंगे। यह कार्य हमे करना ही है। मैंने बहुत बार जो बात कही है, उसे ही यहाँ फिर से दुहरा रहा हूँ। सब समय दुहराना अनुचित ही नहीं होता।

आज हम लोग उस पवित्र सिन्धु देश में एकत्र हुए हैं, जो सभ्यता के आदि काल का साक्षी है। न जाने कितनी बार मानव सभ्यता ने इस पवित्र भूमि पर नया-नया अवतार धारण किया है। हमारा इतिहास हमें जितना भी पीछे ले जा सका है, उतने दूर तक सिंधु देश के सिवा हमें और कुछ नहीं दिखायी देता। इस पवित्र भूमि पर हम लोग अपने साहित्य और आदर्शों के प्रति फिर से अपनी श्रद्धा और निष्ठा प्रकट करने के लिए एकत्र हुए हैं। पिछले अवसरों पर हमने जो बात

बार-बार कही हैं, उन्हें फिर से दुहराना केवल हमारे प्रेम को ही सूचित करता है। प्रेम की दुनिया में प्रिय के सुमिरन का लेखा-जोखा नही रखा जा सकता। सिन्धु के महान् प्रेमी कवि शाह अब्दुल लतीफ के बारे में कहा जाता है कि वे एक बार माला फेरते-फेरते किसी गाँव मे चले गये। वहाँ कुछ पनिहारिनें पानी भर रही थी। उनमें से एक ने पूछा कि तू अपने प्रिय से कितनी बार मिल चुकी है। उसने बताया कि वह बारह बार इस अलौकिक सुख का अनुभव कर चुकी है। परन्तु एक दूसरी पनिहारिन ने सरलता पूर्वक उत्तर दिया कि बहन, प्रिय मिलन का हिसाब नहीं रखा जाता। वह भी कैसा प्रेम कि प्रिय के बारे में हिसाब रखे ! शाह अब्दुल लतीफ ने यह बात सुन ली। उन्होंने उसी समय अपनी माला फेंक दी। माला फेरना भी तो एक तरह का हिसाब ही रखना है ! इस शाह अब्दुल लतीफ के देश में हमें अपने आदर्शो को बार-बार रटने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। इसीलिए मैं फिर से अपने वक्तव्य को संक्षिप्त रूप से कह कर चुप हो जाना चाहता हूँ। हिन्दी भाषा और साहित्य तथा देवनागरी लिपि से हमारा प्रेम है, हम इनका प्रचार चाहते हैं। क्योंकि हमारा विश्वास है कि हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य और देवनागरी लिपि की सेवा का अर्थ है करोड़-करोड़ जनता को मोह, अज्ञान और कुसंस्कार से मुक्त करना, उसे मनुष्यता के महान् आसन पर बैठाना। यही हमारा लक्ष्य है, यही हमारा आदर्श है और इसी को यथाशीघ्र कर देने का संकल्प लेकर हम यहाँ एकत्र हुए हैं। प्रेम हमारा मंत्र है, जनता हमारी सेवा है। हमारा किसी से कोई झगड़ा नही है, किसी से कोई भय नहीं है। हम सब के मंगल का संकल्प ले कर एकत्र हुए हैं और अपने उसी निश्चय को यहाँ दुहरा रहे हैं।

मैंने आपका बहुत समय लिया है। आपने जिस प्रेम और आग्रह के साथ मुझे इस आसन पर बैठाया है और यह वक्तव्य सुना है, उसके लिए कृतज्ञ हूँ। मैं प्रेम-पूर्वक आपको अपना प्रणाम निवेदन करता हूँ।

⊙

अभिभाषण-१०

आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय

⊙ ⊙

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

देवियो और सज्जनो !

वागर्थ की प्रतिपत्ति से भारत की भारती ने जो रूप पकड़ा, उसका उत्तमांग करुणा और शोक का प्रतिफल बना। आज की विषम परिस्थिति और देश की विकट स्थिति में शोक सन्तप्त हृदयों में उसी के द्वारा सच्चा रस सञ्चार होगा, इसमें सन्देह नहीं। कहने को कोई कुछ भी कहता रहे परन्तु सत्य और पते की बात तो यह है कि आदि कवि की आदि वाणी के विश्लेषण के बिना काव्य का यथार्थ खुल नहीं सकता और साहित्य का मर्म हमारी आँखों से ओझल ही रह सकता है। आज साहित्य जिस प्रपञ्च में पड़ कर वादों का पचड़ा गा रहा और प्रवञ्चना का पुरोहित बन रहा है, उसका उद्‌घाटन भी तभी सम्भव है जब हम काव्य के मर्म को समझ लें और साहित्य के शील को परख लें। पहिचान के बिना संग्रह और त्याग कैसा ? अभिज्ञान के बिना बोध कैसा ?

काव्य का उदय

कुछ भी हो, कहना हमें यह है कि हमारे काव्य का उदय हुआ है इस पूत वाणी से—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

काममोहित क्रौंच पक्षी के बध पर जिस मुनि को इतना कोप हुआ कि उसने झट बधिक को इतना घोर शाप दे दिया, उसका शील भी कोई सामान्य न था। वह दुर्वासा नहीं, वाल्मीकि था। वाल्मीकि का आश्रम अशरणशरण था। उसमें इस प्रकार का अत्याचार चल नहीं सकता था। स्वयं वाल्मीकि मुनि पर इस

शाप का प्रभाव क्या पड़ा, इसको भी जान ले और तब कहे कि सहृदय का शील किस सत्य का साथ देता है। कहते हैं—

> तस्यैवं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः।
> शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृत मया।।
> चिन्तयन्स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान्मतिम्।
> शिष्यं चैवाब्रवीद्वाक्यमिद म मुनिपुंगवः।।
> पादबद्धोक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।
> शोकार्तस्य प्रवृत्तौ मे श्लोको भवतु नान्यथा।।

श्लोक की सृष्टि कैसे हो गयी और वाणी को पद्य का रूप क्यों मिला; यह भी यहाँ स्पष्ट ही है। 'पादबद्ध', 'अक्षरसम' और 'तन्त्रीलय' के लिये मुनि को किसी प्रकार का उद्योग नहीं करना पड़ा। शोकार्त हृदय से जो शोक उमड़ा, वह आप ही श्लोक बना। भावावेश का सहज प्रवाह होता ही ऐसा है। कवि जोड़ता नहीं, उसकी वाणी स्वयं जुड़ी हुई फूटती है। व्यवस्थित हृदय के उल्लास में व्यवस्था आप ही बसती है; ऊपर से उसका विधान नहीं होता है। जो हो, महामुनि ने श्राप तो दे दिया पर इससे उनको शान्ति न मिली। मिलती भी कैसे? शाप के कारण तप का भंग जो हुआ था। निदान उनका चित्त सदा इस घटना से व्यग्र रहता था। यहाँ तक कि जब 'लोकपितामह' ब्रह्मा का आगमन हुआ तब भी उनकी यह चिन्ता बनी रही और अतिथि-सत्कार के उपरान्त फिर उसी में मग्न हुए—

> उपविष्टे तदा तस्मिन्साक्षाल्लोकपितामहे।
> तद्गतेनैव मनसा वाल्मीकिर्ध्यानमास्थितः।।
> पापात्मा कृतं कष्टं वैरग्रहणबुद्धिना।
> यस्तादृशं चारुरवं क्रौञ्चं हन्यादकारणात्।।
> शोचन्नेव मुहुः क्रौञ्चीमुपश्लोकमिमं पुनः।
> जगावन्तर्गतमना भूत्वा शोकपरायणः।।

वाल्मीकि मुनि की इस दशा को देख ब्रह्मा ने हँसते हुए कहा—

> "श्लोक एव त्वया बद्धो नात्र कार्या विचारणा।"

मुनि का शाप, शाप न रहा—वह श्लोक ही ठहरा, इसका कारण क्या है। ब्रह्मा ने मुनि से इतना ही तो कहा—

> मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन्प्रवृत्तेयं सरस्वती।
> रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम।।

'मच्छन्दादेव' में जो 'छन्द' है, उसको ध्यान में रख कर 'श्लोक' की मीमांसा करें और इतना और भी जान लें कि इसका लक्ष्य है राम-चरित की रचना। तभी तो स्वयं ब्रह्मा जी कहते हैं—

> धर्मात्मनो गुणवतो लोके रामस्य धीमतः।
> वृत्तं कथय धीरस्य यथा नारदाच्छ्रुतम्॥
> रहस्यं च प्रकाशं च यद्वृत्तं तस्य धीमतः।
> रामस्य सहसौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः॥
> वेदैत्याश्चैव यद्वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः।
> तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति॥
> न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति।
> कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्॥

यह तो रही ब्रह्मा और राम की वार्ता। इधर शिष्यों की स्थिति यह हुई कि—

> तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः श्लोकमिमं पुनः।
> मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः॥

जो कुछ वाल्मीकि मुनि के प्रसग में कहा गया है, वही काव्य का सच्चा स्वरूप है। वाल्मीकि की इस आदि कविता का सच्चा आनन्द मिला शिष्यों को, स्वयं वाल्मीकि को नहीं। काव्य का सच्चा आनन्द सामाजिक को ही मिलता है न? तो फिर काव्य के इस प्रकरण पर पूरा ध्यान क्यों नहीं दिया जाता और क्यों नहीं इसी की व्याख्या को साहित्य-शास्त्र का सर्वस्व समझा जाता? इसमें क्या नहीं है जो इसकी उपेक्षा की जाती है? और अपना कहना तो यह है कि यदि हम इसके भेद को समझ लें तो हमारी सारी बाधा दूर हो और हम आज की परिस्थिति में भी अपनी बात को सरलता के साथ रख सकें। आज विश्व और विशेषतः अपने देश में 'अहिंसा', 'अर्थ' और 'काम' की मीमांसा चल रही है और फलतः साहित्य में भी इन्हीं का बोलबाला है। सो 'अहिंसा' के विषय में तो इतना कह देना पर्याप्त होगा कि वाल्मीकि मुनि को इसी का क्षोभ था कि उनके द्वारा वह हिंसा का कार्य हो गया। व्याध को शाप देना हिंसा का ही कार्य तो था? पर वह हिंसा नहीं 'श्लोक' ही हुआ। सब ने उसे 'पुण्य' ही समझा। कारण, उसकी प्रेरणा लोक पितामह की ओर से लोकमंगल के हेतु हुई थी। व्याध ने क्रौञ्च का बध किया, पर कैसे क्रौञ्च का? मिथुनादेक काममोहित का। प्रजनन में घातक हुआ न? फिर प्रजापति उसको दंड क्यों न दिलावे?

काम-वासना

'मिथुन' और 'काम' की आज बड़ी चर्चा है। फ्रॉयड (सन् १८५६-१९४० ई०) और मार्क्स (१८१८-१८८३) की कृपा से इनको स्थान भी अच्छा मिल गया है, अतएव थोड़ा इसे भी देख लेना चाहिए कि वास्तव मे मानव काव्य-क्षेत्र में इनका महत्त्व क्या है? फ्रॉयड के शोध के विषय मे हमारा इतना ही कहना है कि वस्तुतः वह निदान के रूप में है, कुछ विधान के रूप में नहीं, जो उसका इतना ज्ञापन हो रहा है। यूरोप के लिये भले ही उसका शोध नवीन चमत्कार हो, पर भारत के लिये तो वह अति पुरानी बात है। भर्तृहरि के इस कथन पर ध्यान तो दीजिए—

न गम्यो मंत्राणां न च भवति भैषज्यविषयो,
न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शांतिकशतैः।
भ्रमावेशादङ्गे किमपि विदधद्भङ्गमसमं स्म-
रापस्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च॥८७॥

—शृङ्गारशतक

"कामदेवरूपी अपस्मार नाम रोग से पीड़ित हुए मनुष्य की व्यथा न तो मन्त्र-तन्त्र से दूर होती है, न औषधियों के प्रयोग से जाती है और न शान्ति पाठ आदि के कराने से ही शान्त होती है, किन्तु जब-जब इसका दौरा होता है तब-तब रोगी के अंग में न्यूनाधिक भाव से एक प्रकार की असह्य वेदना उत्पन्न हो जाती है जिससे उसका शरीर टूटने लगता है, मन फिरने लगता है और दृष्टि घूमने लगती है।"

दूसरी ओर भर्तृहरि की यह भी घोषणा है कि—

स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य परमां सर्वार्थसम्पत्करीं,
ते मूढ़ाःप्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुंडिताः
केचित्पञ्चशिरषीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे॥६४॥

—शृंगारशतक

"जो मूढ़ जन कामदेव की परमोत्तम और सर्वप्रकार की सम्पदा को देने वाली स्त्रीमुद्रा का परित्याग करके बुद्धिभ्रष्ट हो मिथ्या फल ढूँढते-फिरते हैं उनको मीन, केतन नेभी बहुत कठोर दंड दिये हैं। कितने ही तो नग्न हुए, कितने ही रुंडमुंड, कितने ही पंचकेशी धारण किये, कितने ही जटाधारी बने हुए और कितने ही कपाल हाथ में लिए हुए, भिक्षाटन करते घर-घर मारे-मारे फिरते हैं।"

महाराज कामदेव का दंड-विधान कहिए अथवा महामति फ्रॉयड की अतृप्त

वासना है तो दोनों दशाओं में भी इन तपस्वियों की वही स्थिति? तो फिर हमारा मंगल कहाँ है? भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं—

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो,
नीरागेष्वपि यो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात् परः।
दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषज्वालावलीढो जनः,
शेषःकामविडम्बितो हि विषयान् मोक्तुं न भोक्तुं क्षमः॥९७॥

—शृंगारशतक

"जैसे अनुरागियों में पार्वती को अर्धाङ्ग में धारण करने वाले शिव जी ही सबके शिरोमणि हैं, वैसे ही विरागियों में भी संसार के भोग-विलास का सर्वथा त्याग करने वाले महादेव जी ही सब में अग्रगण्य हैं, क्योंकि कामदेव के बाणरूप सर्पों की असह्य विषाग्नि से संतप्त हुए अन्य जन तो मदन की चेष्टा से विडम्बित होकर न तो विषयादिकों का यथेच्छ भोग ही कर सकते हैं और न उनका त्याग ही कर सकते हैं।"

सामरस्य

शिव की इसी महिमा का प्रताप है कि शिवागमों में 'सामरस्य' का विधान है और उनमें खुल कर इसका प्रतिपादन भी किया गया है। देखिये, 'ज्ञानार्णवतन्त्र' में स्पष्ट कहा गया है—

अक्षुब्धः सत्वरारोहे यावद्रेतः प्रवर्तते।
रजोमयं रजः साक्षात्संविदेव न संशयः॥५५॥
प्रकृतिः परमेशानि वीर्यं पुरुष उच्यते।
सर्वं साक्षात्सामारस्यं शिवशक्तिमयं ततः॥६७॥
तयोर्योगो महेशानि योग एव न संशयः।
सीत्कारो मन्त्ररूपस्तु चुम्बनं स्तवनं भवेत्॥६८॥
नखदन्तक्षतान्यत्र पुष्पाणि विविधानि च।
कूजनं गायनं स्तुत्या ताडनं हवनं भवेत्॥६९॥
आलिङ्गनं तु कस्तूरीघुसृणादिकमद्रिजे।
मर्दनं तर्पणं विद्धि वीर्यपातो विसर्जनम्॥७०॥

—द्वाविंशति पटल

और यह 'छान्दोग्योपनिषद्' के 'योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो' के सर्वथा मेल में है। अतः यह कहने में कोई भ्रम नहीं

दिखायी देता कि यहाँ के ऋषियों ने इस तत्त्व को भलीभाँति समझ लिया था और किसी प्रगतिवादी की मनमानी के लिये इसे छोड़ नहीं दिया था। कारण 'श्रीहंस-विलास' से सुनिये—

शिवशक्तयोः समायोगादानन्दो योऽनुभूयते।
स एव मोक्षो विदुषामबुद्धानां तु पातकम्॥५७।३१॥

किन्तु यह 'सामरस्य' सब की खेती नहीं। यहाँ तो स्पष्ट निर्देश है—

शुद्धचित्तस्य शान्तस्य धर्मिणो गुरुसेविनः।
अतिगुह्यस्य भक्तस्य सामरस्य प्रकाशते॥३३।३१॥

प्रसाद जी ने अपनी 'कामायनी' में इस 'सामरस्य' का विधान किया है और—

सामरस्य प्रवहणं समारुह्य नरोत्तमः।
स्वर्गद्वीपान्तरं गत्वा मोक्षरत्नं समश्नुते॥२०।२६॥

को चरितार्थ कर दिखाया है। उनका 'आनन्द' सर्ग तो इस 'सामरस्यी रास' का विवरण वा प्रसादन-सा है। प्रसाद जी कहते हैं—

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक बिलसती, आनन्द अखंड घना था॥

और रासार्थ—

राजमानचिदानन्दाखण्डसत्सामरस्यतः
सचराचरसेव्यत्वाद्रास इत्यभिधीयते॥१।६५॥—वही

किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रहे कि—

बहवः सामरस्यं तु मिथ्याज्ञानविडम्बकाः।
स्वबुद्धया कल्पयिष्यन्ति पारम्पर्यविवर्जिताः॥५२।२७॥

काम की परम्परा

अस्तु, हमें 'मिथ्याज्ञानविडम्बरों' से सदा सतर्क रहना चाहिये और जैसे-तैसे परम्परा के मेल में उन्हें लाना चाहिये। काम की परम्परा अपने यहाँ क्या है, इसको स्पष्ट कर लेना चाहिये। कबीरदास का कहना है—

काम मिलावे राम को, जो कोइ जानै भेव।
कबीर विचारा क्या करै, यों कहि गये सुकदेव॥

श्रीशुकदेव जी ने श्रीमद्भागवत में गोपियों की जारबुद्धि से कांत उपासना का जो कीर्तन किया है और उसका जो साहित्य हिन्दी में बना है, उसकी जानकारी किसको नहीं है? 'काम' से 'राम' की प्राप्ति कैसे होती है, इसे कोई 'सूर' से सीख ले। 'सूरसागर' में इसी का तो लीला-गान है? परन्तु

गोस्वामी तुलसीदास जैसे मर्यादावादी पुरुष का भी यहाँ कुछ कहना है। और सो यही कि—

कामगोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह।
जगतपिता विरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह॥२१४॥

—विनयपत्रिका

तात्पर्य यह कि 'काम' का जैसा विचार भारतीय वाङमय में हुआ है वैसा अभी यूरोप में नहीं। फ्रॉयड को चिकित्सा में निदान की सूझी तो अपस्मार को अतृप्त वासना का परिणाम कहा और उसकी पूर्ति को ही साधु समझा। फिर तो इस वासना पर उसकी ऐसी दृष्टि जमी कि फिर कभी इससे दूर न हुई और 'स्वप्न' तक जा पहुँची। जायसी के 'सपने मूझ सो धन्य' को फ्रॉयड ने विज्ञान का पद दिया और 'अन्तः संज्ञा' को वासना का अन्तःपुर बताया। वहाँ से उसकी झाँकी लोगों को भरमाती रही; परन्तु उसकी दृष्टि इससे आगे न बढ़ी। परिणाम यह हुआ कि 'परिभोग' और 'परिवाह' के अतिरिक्त उसे कुछ और सूझा भी नहीं और सूझा भी तो थोड़ा परिष्कार। हाँ, 'परिष्कार' की ओर उसका साथी एडलर (१८७०-१९३७) अवश्य बढ़ा और साधना वा कविता के क्षेत्र में ही इसकी झलक सीमित न रही। उसने इसमें आत्मा का विलास और हेठी की भावना का पता लगाया, उधर जुङ्ग (१८७५-१९९४) ने अनुसन्धान किया और इस निदान में अतीत की अपेक्षा वर्तमान को महत्त्व दे कामवासना की अतिव्याप्ति को दूर किया। फ्रॉयड, एडलर और जुङ्गत्रयी ने इस क्षेत्र में जो कुछ किया, उसका सहसा प्रचार हो जाने के कारण यहाँ भी उसकी बयार बही और कविता में कुछ उसकी भी फूँक लगी। कथा-वार्ता में भी उसका प्रभाव गोचर हुआ परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत-भारती में इसकी भी एक स्वतन्त्र परम्परा है और है इसका भी एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय।

करुण कवि भवभूति का अभिमत है—

पूरोत्पीडे तडागस्य परिवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते॥

और एक उर्दू कवि का कथन—

रुकाव खूब नहीं तबा की रवानी में।
बू फसाद की आती है बन्द पानी में॥

इस परम्परा और इस सम्प्रदाय को लेकर जो रचना बनी है, वह 'कामायनी' कही जा सकती है। 'काम' के प्रसङ्ग मे 'प्रसाद' जी का कहना है—

जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के;
आने दो कितनी आती हैं
बाधाएँ दम संयम बन के।।

——कामायनी

शिव-मत

दम और संयम के प्रति जो उपेक्षा समाज में फैल रही है, उसकी हवा किधर से आ रही है, इसका इतना निर्देश करने के उपरान्त देखना यह चाहिये कि अपना प्रकृत मार्ग क्या है। गोस्वामी तुलसीदास का स्पष्ट आदेश है—

जौं मन भज्यो चहै हरि सुरतरु।
तौ तजि विषय विकार सार भजु,
अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु।
सम, सन्तोष, विचार विमल, अति,
सतसंगति, ए चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद,
राग द्वेष निसेष करि परिहरु।
स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि,
सिर प्रनाम, सेवा कर अनुहरु।
नयनन निरखि कृपा-समुद्र हरि,
अगजग रूप भूप सीताबरु।
इहै भगति वैराग्य ज्ञान यह,
हरि-तोषन यह सुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास सिवमत मारग यहि,
चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु।।२०५।।

—विनयपत्रिका

तुलसीदास का निर्भय शिवमत शम और सन्तोष पर टिका है और सत्संगति का आश्रय चाहता है। यही नहीं, उनका यह भी कहना है—

काज कहा नरतनु धरि सारयो?
पर-उपकार सार श्रुति को जो सो धोखेहु न बिचारयो।
द्वैत फूल, भय मूल, सोग फल, भवतरु टरै न टारयो।
राम-भजन तीछन कुठार लै सो नहिं काटि निवारयो।

संसय-सिंधु नाम-बोहित भजि निज आतमा न तार्‌यो।
जनम अनेक विवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्‌यो।
देखि आन की सहज संपदा द्वेष-अनल मन जार्‌यो।
सम, दम, दया दीन-पालन सीतल हिय हरि न सँभार्‌यो।
प्रभु, गुरु, पिता, सखा, रघुपति तैं मन क्रम बचन बिचार्‌यो।
तुलसिदास एहि त्रास सरन राखिहि जेहि गीध उधार्‌यो।।२०२

—विनय पत्रिका

भाव यह कि भारत भूमि की यह विशेषता रही है कि यहाँ के लोग 'नरतनु' को कुछ विशेष दृष्टि से देखते रहे हैं और उसे साधन-धाम समझ कर उसके द्वारा परमार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, उनका पुरुषार्थ 'अर्थ' और 'काम' तक ही नहीं है, उन्हें 'धर्म' और 'मोक्ष' भी भाता है। तभी तो उनका विषाद है—

भय, निद्रा, मैथुन, अहार सब के समान जग जाए।
सुर-दुरलभ तनु धरि न भजे हरि, मद अभिमान गँवाए।।२०१।।

—वही

'हरि' की चिन्ता न तो 'फ्रॉयड' को हुई और न 'मार्क्स' को। फ्रॉयड ने 'मैथुन' को अपना विषय बनाया और मार्क्स ने 'अहार' को। फिर यहाँ की गति-विधि या संस्कृति से उनका मेल कैसे हो? फ्रॉयड और मार्क्स कुछ भी कहते रहें, पर सबकी अनुभूत बात यह है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।—मनुस्मृति

किं वा तुलसी की वाणी में—

अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी तें।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय-भोग बहु घी तें।।१९८।।

—विनयपत्रिका

मिथुन-भाव

कामाग्नि के उपशमन के लिये जो 'चित्तवृत्तिनिरोध' का मार्ग है, उसके अन्तराय प्रसिद्ध हैं। इसी से उसका 'उपायप्रत्यय' सबको सुलभ नहीं हो सकता। निदान उसका 'भव-प्रत्यय' अपनाना पड़ता है। फ्रॉयड को इन 'प्रत्ययों' का पता होता तो क्या करता, यह हम नहीं जानते, पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि इससे उसकी धारणा में कुछ विशेषता अवश्य आती और उससे लोकहित भी कुछ

अधिक ही होता। यही क्यों ? यदि उसे इसका भी बोध होता कि यहाँ 'मिथुन' की भावना और रति की व्याप्ति क्या है तो, वह कुछ और ही करतब दिखाता। जो हो, हमारा कहना यह है कि साहित्य में जो 'सहित' और 'हित' है, उसकी सच्ची परख भी तभी हो सकती है जब हम उसके मर्म को जान लें। सो सृष्टि के सम्बन्ध मे समझ रखना चाहिए कि—

ब्रह्माऽपि मानसीं मत्वा शून्यां सृष्टिं तु मैथुनीम्।
कृतवांस्तात्त्विकीमग्र समर्थोऽपि शिवेच्छया।।७४।।

—हंसविलास, ३२

और इसी को 'बृहदारण्यक' की भाषा में इस प्रकार समझ लें कि—

"सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स,
मनसा वाचं मिथनं समभवत्"।।४।।

—द्वि० ब्राह्मण

अथवा—

"स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वैधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धवृग्रलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्माद-यमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव, तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त।।३।।—चतुर्थ ब्राह्मण।

तात्पर्य यह कि 'रमण' की कामना से द्वितीय का आविर्भाव हुआ और दोनों की संज्ञा 'मिथुन' हुई। यह मिथुन जहाँ दम्पत्ति अथवा पति-पत्नी के रूप में सम्पृक्त हुआ वहाँ 'रमण' के साथ 'जनन' भी हुआ, अन्यथा नहीं। हमारी समझ में इस 'रमण' और इस 'जनन' को अलग-अलग देखना चाहिए। कारण कि साहित्य वा काव्य 'रमण' को लेकर चलता है, कुछ जनन को नहीं। रमण की पराकाष्ठा यद्यपि रमणी के साथ ही है तथापि उसके अतिरिक्त भी उसकी सत्ता है। रति की व्याप्ति बहुत है। उसका परिपाक शृंगार रस में ही होता हो तो हो, पर शृंगार के परे भी उसकी स्थिति है, इसमें सन्देह नहीं। देवरति भक्ति का रूप धारण करती है तो वत्स-रति वात्सल्य का। इसी प्रकार की थोड़ी बहुत रति सभी पदार्थों में पायी जाती है। हमारी समझ में 'द्वितीय' के द्वारा ही इस रति का उदय होता है। वह द्वितीय स्त्री के लिये पुरुष और पुरुष के लिए स्त्री ही हो, यह अनिवार्य नहीं।

'मिथुन' की भाँति ही 'उपस्थ' शब्द भी विचारणीय है। उपनिषदों में बार-बार कहा गया है कि उपस्थ ही आनन्द का एकायन है। 'कौषीतकि' में प्रश्न होता है—

'केन सुखदु:खे इति'? उत्तर मिलता है—'शरीरेणेति।' प्रश्न होता है—'केनानन्द रति प्रजातिम्?' उत्तर मिलता है—'उपस्थेनेति'। और आगे चल कर इसे और भी स्पष्ट किया जाता है—

'प्रज्ञया शरीरं समारूह्य शरीरेण सुखदु:खे आप्नोति प्रज्ञयोपस्थंसमारुह्यो पस्थेनानन्दं रतिं प्रजातिमाप्नोति॥६॥

—द्वितीय अध्याय

'बृहदारण्यक' में भी 'सर्वेषामानन्दानापस्थ एकायनम्' कहा गया है। तो क्या इस 'उपस्थ' को केवल दम्पति तक ही सीमित रखना साधु होगा? यदि केवल 'सहजानन्द' की बात होती तो इसे मानने में कोई अड़चन न थी। पर यहाँ तो सभी आनन्दों का उल्लेख है। फलत: कहना पड़ता है कि आनन्द का निवास उप+स्थ में ही है तट+स्थ में नहीं। उपस्थ और तटस्थ को लेकर जो प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्तिमार्ग चले, उनका साहित्य भी बनता रहा और हिन्दी साहित्य भी उनसे भरापुरा है। परन्तु साहित्य में प्रवृत्ति का जो स्थान है, वह निवृत्ति का नहीं। संसार से निवृत्ति हो तो ठीक ही है पर काव्य तो प्रवृत्ति चाहता है न? यदि ईश्वर में वृत्ति न रमी तो भक्ति कैसी? अस्तु, तुलसीदास का यह कथन भक्त के लिये कितना सटीक है—

नाहिं न आवत आन भरोसे।
यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम-फलनि फरो सो।
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख, जेहि जो रुचै करौ सो।
पाएहि पै जानिबो करम फल, भरि भरि वेद परोसो।
आगम-विधि, जप, जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन, रोग वियोग धरो सो।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ज्ञान-विराग हरो सो।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो।
बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो।
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै भरोसो।
रामनाम बोहित भवसागर, चाहै तरन तरो सो॥१७३॥

—विनयपत्रिका

कला और रस

मन संन्यास नहीं ले पाता और काम, क्रोधादि रिपुओं से जीव की मुक्ति नहीं हो पाती तो उद्धार का कोई उपाय तो होना ही चाहिए ! तुलसी 'रामभजन' को ही एकमात्र साधन ठहराते हैं। पर किस रूप में ? काव्य के रूप मे ही न ? और क्यों ? सीधी-सी बात तो यह है कि साहित्य ही वह क्षेत्र है जहाँ काम, क्रोध, लोभ, मद आदि भी सुखदायी बन जाते है। यहाँ तक कि 'शोक' भी 'श्लोक' बन जाता है। सो कैसे ? कहा जा सकता है कि 'कला' के प्रसाद और 'रस' के उद्रेक से ठीक है, पर कला और रस है क्या जो उनसे इतना बड़ा चमत्कार हो जाता है और जो किसी से नहीं हो पाता ?

सो 'अग्निपुराण' में कहा गया है—

> अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमज विभुम्।
> वेदान्ततेषु वदन्त्येक चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥१॥
> आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
> व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥३३८॥

इस प्रकार आस्तिक लोग तो रस का सम्बन्ध ब्रह्म से जोड़ते हैं परन्तु नास्तिक के लिये तो इसका कोई महत्त्व नहीं। परन्तु नहीं, 'आनन्द' को तो वह भी मानता ही है और मानता है 'चैतन्यचमत्कार' को भी। 'रस' की एक दूसरी व्याख्या भी है। 'मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक' में 'बुद्धिवाद' के प्रकरण में कहा गया है— "बुद्धेश्चित्तस्वरूपत्वे सत्वोद्रेको रसोभवेत्।" सत्त्वोद्रेक को ही रस कहा गया है रस को काम कहा गया है—

> "विभावानुभावव्यभिचारिभावैर्मनोविश्रामः क्रियते स रसः।"

'हंसविलास' में साथ ही एक दूसरी परिभाषा भी है—

> विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारैरुपचीयमानः
> स्थायिभावः परिपूर्णो रस्यमानो रसः ॥—उल्लास ४४

रस की निष्पत्ति

'रस' के प्रकरण में जिन भावों का उल्लेख किया जाता है सबका नाम यहाँ आ गया है परन्तु सामान्यतः रस की निष्पत्ति में 'विभावानुभावसंचारी' का ही निर्देश किया जाता है और इन्हीं के संयोग से स्थायीभाव रस को प्राप्त होता है। रस की निष्पत्ति के विषय में बराबर विवाद रहा है। भारतीय साहित्यशास्त्र में 'रस' और यूरोपीय साहित्यशास्त्र में 'कला' की धूम रही है। आज दोनों को

लेकर हिन्दी समालोचना असमंजस में पड़ गयी है। उधर से मार्क्सवाद की चढ़ायी भी हो गयी है। उसे यहाँ भी क्रान्ति की ही सूझ रही है, अतः कुछ इधर भी ध्यान देना चाहिए। विचार के लिए उसी 'मा निषाद' को लीजिए। इस 'श्लोक' से कवि वाल्मीकि को शान्ति नहीं मिली। उनको तो ग्लानि-सी हो गयी। किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनके शिष्य ने उसे ग्रहण कर लिया, तब संतुष्ट हो गये। इससे इतना तो प्रकट हो गया कि काव्य का सच्चा आनन्द कवि को नहीं, सामाजिक को प्राप्त होता है, और कवि को उस आनन्द का आनन्द सामाजिक के रूप में प्राप्त होता है। परन्तु इतना भी प्रत्यक्ष ही है कि यदि शिष्य वाल्मीकि के पक्ष का न होकर 'निषाद' के पक्ष का कोई सगा होता तो इस शाप को इस रूप में ग्रहण नहीं कर पाता। कारण यह कि मुनि के साथ उसका तादात्म्य नहीं हो पाता। अर्थात् सामाजिक का भाव आश्रय के भाव से भिन्न रहता और रहता की बात बिगड़ जाती।

यह तो रही स्थायीभाव की स्थिति जो शिष्य को संहृष्ट और मुनि को तुष्ट कर सकी। इसके अतिरिक्त विभाव को लीजिए। यहाँ भी दोहरा विधान है। 'मा निषाद' में 'निषाद' ही आलम्बन है और क्रोध ही स्थायी। किन्तु साथ ही क्रौञ्ची का रुदन भी है जो मुनि के हृदय में करुणा को जगाता और क्रौञ्च के प्रति शोक उत्पन्न कर देता है। इससे पूरा प्रसंग रौद्र का उद्रेक न कर करुण रस का ही आस्वाद कराता है। प्रश्न उठता है कि 'शाप' के समय यह 'शोक' कहाँ रहा? निवेदन है उसी अन्तस्तल वा अंतःसंज्ञा में जिसका प्रतिपादन फ्रॉयड ने किया है, यदि मुनि स्वयं निषाद होते तो क्या निषाद को ऐसा शाप दे पाते? और स्वयं उनका शिष्य भी ऐसा कर पाता? कदापि नहीं—समानशीलव्यसनेषु सख्यम्। हाँ, एक बात और! यहाँ मुनि को अधर्म दिखायी दिया, कुछ अनर्थ नहीं। निषाद ने अर्थदृष्टि से ही यह कार्य किया हो तो? कौन जाने भूख की ताड़ना से ही उसने ऐसा किया हो। नहीं तो रति क्रीड़ा से उसे इतना द्वेष क्या था जो काममोहित क्रौञ्च को बध दिया। है न अर्थ की दृष्टि से विचार करने के लिए अच्छी सामग्री? और क्रौंच भी सामान्य क्रौञ्च नहीं है। यदि सामान्य ही होता तो क्या होता, इसे कौन कहे? पर समझ में नहीं आता है कि ऐसा 'शाप' और ऐसा 'श्लोक' कदापि न बनता। ध्यान देने की बात है कि 'मिथुनं', 'चरन्तं' 'अनतायिनं', 'चारु-नित्स्वनं,' 'शोणितपरीतांगं' 'वेष्टमानं' आदि का प्रयोग भी कुछ दिखाने के हेतु ही किया गया है। सभी 'विशेष' ही के द्योतक हैं न? फिर सामान्य की इतनी पुकार क्यों?

सामाजिक

रस की स्थिति को ठीक-ठीक समझने के लिए 'सामाजिक' को समझ लेना परमावश्यक, क्या अनिवार्य है। कारण कि उसमें वासना ही नहीं, भावना ही नहीं, संस्कार भी होता है। और वासना के अतिरिक्त और कुछ मानव में सार्वभौम नहीं। भावना अपनी होती है, संस्कार अपना होता है, वासना सबकी होती है—'सहृदय' की भी और 'समाज' की भी। इसी प्रकार 'वेदना' सभी में होती है, पर 'कल्पना' और 'अनुभूति' अलग-अलग रहती हैं। मानव उनको कमाता है, कुछ प्रकृति से पाता नहीं। अस्तु, इन सभी के समाहार, समन्वय और सामञ्जस्य से जो व्यवस्था बन जाती है वही धर्म कहलाती है, जो मनुष्य को मनमाना करने को नहीं देती। वाल्मीकि मुनि इसी से धर्माधर्म की चिन्ता में पड़ गये थे और रह-रह कर सोचते जाते थे—किमिदं व्याहृतं मया ? क्या यह वाणी कभी अर्थ भावना से फूट सकती है ? मुनि को सन्तोष हुआ तब जब ब्रह्मा ने, ब्रह्मा न सही, 'लोक पितामह' ने उसे साधु ठहराया, और शिष्यों ने भी बार-बार चकित चित्त से प्रसन्न हो उसे दोहराया। अर्थात् परलोक और लोक की सही पड़ गयी। बाहर-भीतर चारों ओर से उन्होंने जान लिया कि शाप देकर पुण्य ही किया, कुछ पाप नहीं।

विभावन

रस की दृष्टि से देखने से यह भी प्रकट हो जाता है कि काव्य में विभावन ही मुख्य है और है यही कवि या कलाकार की सच्ची कसौटी भी। स्थायी, संचारी, अनुभाव आदि तो मानवमात्र में समान होते हैं। उनमें कुछ विशेष अन्तर नहीं पड़ता। उन्हें चाहे प्रकृति की देन समझें चाहे पुरुष की छाया, हैं सर्वत्र एक ही और सर्वकाल में भी। चाहें तो उन्हें देश-काल से मुक्त भी कह लें; परन्तु विभाव में यह बात नहीं होती। आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही मानव की वासना ही नहीं, भावना और संस्कार के साथ चलते हैं और फलतः देश, काल तथा समाज से बद्ध हो जाते हैं। विभावन व्यापार की इसी से इतनी महत्ता है। और हमारा कहना तो यह है कि यह विभावन ही कला है। इसी में कवि, कलाकार या साहित्यकार परखा जाता है। रस का सम्बन्ध सहृदय सामाजिक से है। सामाजिक के हृदय में भी वही भावद्वन्द्व है जो कवि के हृदय में, परन्तु यदि दोनों की रीति-नीति, आचार-विचार, रीझ-खीझ एक न हुई तो दोनों की निभ नहीं सकती और कवि की करनी उसे भी नहीं भा सकती। कवि अपने काव्य में सदा आश्रय के रूप में रहता है और आश्रय में ही वह भाव रहता है जो विभावन-व्यापार के द्वारा

सामाजिक में उत्पन्न होकर अनुभावन और संचारण से रस दशा को प्राप्त होता है। इसी से तो सब से प्रमुख काव्य में होता है आलम्बन। आलम्बन की सच्ची परख जिस कलाकार को हो गयी उसने आधा मैदान मार लिया। गोस्वामी तुलसीदास का तो यहाँ तक कहना है कि—

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ,
राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
विधुबदनी सब भाँति सँवारी,
सोह न बसन बिना बर नारी।

जो लोग नारी के नग्न रूप के ही रसिक हैं, उनको भी कदाचित् ऐसी नारी न रुचेगी जो भाँति-भाँति के अलंकरणों और प्रसाधनों से सुसज्जित तो हो पर हो वस्त्रहीन। वस्त्र पर ही जैसे प्रथम दृष्टि पड़ती है वैसे ही वस्तु, विषय अथवा आलम्बन पर भी। इसके आगे का कथन और भी महत्त्व का है। कहते हैं—

मनि-मानिक-मुकता-छवि जैसी,
अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई,
लहहिं सकल शोभा अधिकाई।
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं,
उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं।

'नृपकिरीट' और 'तरुनी तनु' का उल्लेख यों ही नहीं किया गया है। नहीं, इसके द्वारा आश्रय के गौरव का भी ध्यान दिलाया गया है। शोभन और शालीन के द्वारा ही किसी की शोभा बढ़ती और छवि उतरती है। अन्यथा सूरदास की वाणी में वह 'नकटी की नकबेसरि' हो जाती है, फूहड़ बन जाती है। यही नहीं, तुलसी की दृष्टि में तो—

मगति हेतु बिधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई।
रामचरित सर बिनु अन्हवाये, सो स्रमु जाइ न कोटि उपाये।
कवि कोविद अस हृदय विचारी, गावहिं हरिजस कलि मल हारी।
कीन्हें प्राकृत-जन-गुन-गाना, जिर धुनि गिरा लगति पछिताना।
हृदय सिन्धु मति सीप समाना, स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जौ बरखै बर बारि बिचारू, होहिं कवित मुकता मनि चारू।
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि, राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग।

इसमें 'हृदय', 'मति', 'विचार' और 'युक्ति' का जो विधान किया गया है,

वह काव्य के लिए कितने महत्त्व का है, इसे कोई भी देख सकता है। किन्तु इसमें खटकने की बात आज है 'प्राकृत जन', 'सारद', और 'राम चरित'। सबसे अधिक सम्भवतः 'प्राकृत जन' ही है। अतएव यहाँ यह भी स्मरण रहे कि उसी कवि तुलसी का यह भी निवेदन है—

भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम, प्राकृत-नर-अनुरूप।।

अर्थात् राम ने भगवान् और भूप का रूप भुला कर प्राकृत जन के अनुरूप ही चरित किया जिससे प्राकृत जन भी उसको अपना लें। तुलसी के राम इसी से सबके राम बने, इसमें सन्देह क्या?

और सुनिए, हिन्दी के 'सामन्तयुग' का 'भूषण' भी इस विषय में कुछ कहता है—

ब्रह्म के आनन तें निकसे तें अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम युधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु व्यास के अंग सुहानी।।
भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजै सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।।

—शिवराज भूषण

आलम्बन के पुण्य चरित्र की प्रतिष्ठा काव्य में सदा से चली आयी है; परन्तु इधर कुछ दिनों से कुछ उलटी हवा चली है जो क्रम को उलट देना चाहती है। 'मेघनाद' की रचना इसी पुण्य-प्रेरणा से बंगला में माइकेल मधुसूदन जी द्वारा हुई। उनकी वृत्ति बदली तो नायक भी बदल गया। प्रतिनायक, नायक बना। परन्तु मेघनाद भी तो अपने समाज में पुण्य चरित्र ही था, फिर आलम्बन की पुण्य चरित्रता में व्याघात क्या? किन्तु इधर 'उपेक्षित' की आँधी आ गयी है और लोग समझने लगे हैं कि जिस पर कविता न बनी वह उपेक्षित हो सकता है। पर ध्यान दीजिए तो पता चले कि सभी अपने क्षेत्र के, पुण्यचरित्र को न सही, प्रतीक या महान् को ही ले रहे हैं। चाहे वह घसियारिन हो चाहे पत्थर तोड़िन, पर है वह अपने वर्ग में विशिष्ट ही। आज की अपेक्षा कल की बात समझ में अच्छी आती है और बहुत कुछ आँख खोलने में भी समर्थ होती है। अस्तु, बिहारीलाल के कुछ दोहे यहाँ दिये जाते हैं जो कदाचित् आज की प्रगति की पगडंडी पर कुछ दूर तक चल सकें—

पहुला-हारु हियैं लसैं, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरे खरे, खरे-उरोजनु बाल।।२४८।।
गोरी गदकारी परैं, हँसत कपोलनु गाड़।
कैसी लसति गवाँरि यह, सुन किरवाकी आड़।।७०८

नागरि, विविध विलास तजि, बसी गवेंलिनु माहिं।
मूढ़नि मैं गनबी कि तूँ, हूठ्यौ दै इठलाहिं।।५०६।।
ज्यौं कर, त्यौं चिकुटी चलति, ज्यौं चिकुटी, त्यौं नारि।
छबि सौं गति सी लै चलति, चातुर कातनिहार।।६४७।।
ओठु उँचै, हाँसी-भरी, दृग भौंहनु की चाल।
मो मन कहा न पी लियौ, पियत तमाकू, लाल।।६१४।।

इन दोहों की नायिकाओं की रूप-रेखा, सज-धज, प्रसाधन और हाव-भाव आदि पर ध्यान दीजिए तो विदित होगा कि सभी अपने क्षेत्र में प्रतीक हैं। इसी से तो हमारा कहना है कि शोभन और शालीन को छोड़ कर काव्य चल नहीं सकता। हाँ, यह बात और है कि रुचि के साथ शोभन और शालीन भी बदलता रहता है। उसकी मर्यादा प्रगति के हाथ में है, नियति के हाथ में नहीं। किन्तु इन दोहों में रोटी और पैसे की बात, खुलकर नहीं आयी। खेत रखाना और काटना किसानी और मजदूरी ही तो है? फिर भी पैसे और रोटी की बात भी देख लीजिए। नजीर अकबराबादी से यह गुण सीखना चाहिए। कहते हैं—

आटा है जिसका नाम वही खास नूँर है,
और दाल भी परी है कोई या कि हूर है।
इसका भी खेल खेलना सब को जरूर है,
समझे जो इस सखुन को वह साहिब शऊर है।
सब छोड़ो बात तूती व पिदड़ी व लाल की।
यारो कुछ अपनी फिक्र करो आटे दाल की।।
छ पैसों के जो इश्क़ में दिल को लगाओगे,
तो पेट भर के खाओगे कपड़े बनाओगे।
तूती को पाल करके हक़ अल्लाह पढ़ाओगे,
नाहक को सर खपाओगे कौड़ी न पाओगे।।
सब छोड़ो बात तूती व पिदड़ी व लाल की।
यारो कुछ अपनी फिक्र करो आटे दाल की।।

आज की विडम्बना

'आटे दाल के बयान' में जो कुछ कहा गया है, वह आज भी लागू है, किन्तु कुछ परिवर्तन के साथ। आज का खेल तूती और पिदड़ी का तो वैसा नहीं रहा, फिर आपको वैसा भी कैसे लग सकता है? पर हमें जो विशेष रूप से कहना है, व ह है 'नूर', 'परी', 'हूर', 'अल्लाह' और 'पेट भर खाना', 'कपड़ा बनाना' और

'कौड़ी न पाना'। ध्यान से देखें, सभी अपने-अपने क्षेत्र के प्रतीक हैं न? बात यह है कि जो कुछ हमारे दृष्टिपथ में आता या स्मृति में घर बना लेता है, उसका उत्तम-से-उत्तम या अधम से-अधम, जैसा चाहें कह लें, संस्कार ही विभावन व्यापार का प्राण होता है और इसी से साहित्य में आकर वह शोभन तथा शालीन बन जाता है। जो लोग इस तथ्य की अवहेलना कर मनमानी हाँकते हैं, वह साहित्य के क्षेत्र में घोर उपद्रव खड़ा करते हैं और रस को विरस बना अपने विकृत मन का परिचय देते हैं। आज दीन-दुखियों के नाम पर जो दरिद्रता का अभिनय किया जा रहा है, उसकी रोक-थाम होनी चाहिए और विभावन व्यापार के महत्त्व को समझ कर ही इस क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहिए। देखिए न, इसकी अवहेलना कर हमारे देश के एक प्राध्यापक 'काल' की ओट में कैसा उत्पात कर रहे हैं। किस उमंग में आप क्या कहते हैं, टुक ध्यान से सुनें—

'निर्बल के बल राम!'
(हाय, किसी ने क्यों न सुझाया
निर्बल के बल राम नहीं हैं,
निर्बल के बल हैं दो घूँसे!)
जब न राम टस से मस होते,
नहीं बरसते तुम पर रोटी,
सुरुआ-बोटी,
तुम हो अपना भाग्य कोसते,
मन मसोसते,
यही बदा था,
यही लिखा था,
"ह्वै हैं वही जो राम रचि राखा,
को करि तर्क बढ़ावै साखा"—
अंतिम साँसों से रट-रट कर,
तुम जाते मर,
लेकिन जीवित भी रहने पर,
कब तुम थे मुर्दों से बेहतर!
पच्छिम की है एक कहावत,
इसको सीखो,
इसको घोखो,
गॉड हेल्प्स दोज

हू हेल्प देमसेल्व्ज़
राम सहायक उनके होते
जो अपने हैं स्वयं सहायक।

यह है 'बंगाल का काल' जो हिन्दी के एक प्रगतिवादी कवि की वाणी में बोलता है। कारण यह है—

मेरे पैसे या दो पैसे
किस मसरफ के तुमको होते,
इसीलिए यह अपनी वाणी
तुम्हें भेजता हूँ चन्दे में,
संभव है तुमको कुछ बल दे,
और कालिका करे प्रेरणा,
निकल पड़ो तुम सहसा कह कर—
अपनी रोटी अपना राज,
इन्क़लाब जिन्दाबाद?

किसी बोतल-भक्त के लिए पैसे दो पैसे का भले ही कोई महत्त्व न हो, पर 'बूँद-बूँद से घट भरे' की कहावत तो यहाँ भी है ही। सुनें! किसी को जगाना हो तो उसकी वाणी में जगाना सीखें और सीखें उसमें जाकर। चन्दे का काम वाणी तो कर सकती है पर चन्दे की जगह किसी के काम नहीं आ सकती। तीन पंक्ति को तेरह में फैला कर अपना बनिज बढ़ाना चाहते हैं, कला दिखाना चाहते हैं, या भूखे बंगाल का पेट भरना? भूखा बंगाली भात चाहता है, आपकी वाणी नहीं। आपकी वाणी के प्रति उसकी भावना क्या है? कुछ पता है? बड़ी कृपा की 'अपनी रोटी अपना राज' की सीख दी और 'इन्क़लाब जिन्दाबाद' की दुम भी मरोड़ दी; पर अपनी भाषा, अपनी बात पर भी कभी ध्यान गया? पच्छिम की कहावत किसे सुनाते हो? बंगाल को या अपने जंजाल को? सुनें, पच्छिम न सही, रोटी का आचार्य मार्क्स 'गाड' को विदा कर चुका है। फिर उसकी शिष्यता में क्या कर रहे हैं? प्रगतिवाद में बट्टा क्या लगा रहे हैं? बंगाल की अपनी वाणी में पहले से ही अपना राष्ट्रगीत है।

'के बोले मा, तुमि अबले?' अधिक कहने का समय नहीं। तनिक ध्यान से सुनिए। कहीं कोई कुछ कह रहा है, और यही—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५।६॥

—गीता

अथवा—

"कादर मन कर एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा।"

परन्तु उदरभरी शिक्षा तो पश्चिम की मिली, कविता भी वहीं से सीखी, साहित्य भी वहीं का पढ़ा और सिद्धान्त भी वहीं का लिया, हाँ, रोटी के लिए यहाँ रह गये और रह गये 'सुरुआ-बोटी' के लिए। फिर 'निर्बल के बल राम' महत्त्व क्या समझें! पता है? यह वही राम है जो राजकुमार था पर रंक बना, कोल-किरातों से मिला, नरवानरों क्या, भालुओं को सहेजा और गढ़ तोड़ दिया उस राव का जिसकी नगरी सुवर्ण की बनी थी, जिसके पास पुष्पक विमान था, जिसकी माया अपार थी और जो टापू में समुद्र की खाईं में रहता था। आप ही का तो यह भी कहना है—

एक नबी की आवश्यकता
आशा वाले,
जादू वाली भाषा वाले,
जो आए औ' तुम्हें बताए,
दृढ़ता से दिल में बैठाए
तुम मनुष्य हो
औ मनुष्य की तुम में सत्ता,
जो मनुष्य ने किया,
मनुष्य उसे कर सकता।

क्या कहा? 'जो मनुष्य ने किया उसे कर सकता' मारिष! अरे! मनुष्य तो वह कर सकता है जो मनुष्य ने अभी तक नहीं किया और करता जा रहा है। कुछ आँख खोल कर देखो भी तो। नबी आकर क्या करेगा? जनता को क्या पाठ पढ़ायेगा, कुछ इसका भी पता है? 'तुम मनुष्य हो' बस! यहीं तक पहुँच है? स्मरण रहे, यहाँ के मनुष्य ने ही यहाँ के मनुष्य को बताया और आज से बहुत पहले ही कि मनुष्य वह कर सकता है जो देवता भी नहीं कर पाता। कभी बताने और दिल में जमाने की नहीं, हाथ बढ़ा कर अपनाने और दृष्टि फैला कर उस पर आचरण करने की है। सन् '४२ की क्रान्ति में 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी' ने अत्याचारियों में जो सनसनी पैदा की वह प्रगतिवाद की पोथियों ने नहीं। जिसे 'सुरुआ-बोटी' की चाट लगी है, उसे अवश्य ही दूसरा घर देखना चाहिए। यहाँ का राम 'सुरुआ-बोटी' का राम नहीं, दूध-भात या माखन-रोटी का राम है। इस राम को जाने बिना इस देश में कुछ

करतब दिखाना भड़ौआ हो सकता है, काव्य नहीं। यहाँ की कविता की कसौटी तो सर्वहित ही है। तुलसी ने कितना ठीक कहा है—

"कीरति भणिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई।"

एक दूसरी रचना लें। इसमें मार्क्स नहीं, फ्रॉयड की प्रेरणा है, और इसी कारण कुछ-से-कुछ और ही बन गयी है। लीजिए—

'रवि गए' जान जब निशि ने
घूँघट से बाहर देखा,
शशि के मुरझाये मुख पर
पायी विषाद की रेखा।
प्रियतम से मिलने सत्वर
सम्भ्रान्त चली वह आई
उसको निज अंक लगा कर
शशि ने जीवन गति पायी।

यहाँ तक तो कोई बात नहीं। अब इसके आगे की सुनिए—

'रविरोष अभी बाकी है'
'मिलनोचित समय नहीं है'
'नीलाम्बर व्यस्त हुआ है'
'भूषण-लड़ियाँ बिखरी हैं'
कब सोचा यह सब निशि ने?
जब उसकी स्त्री-आत्मा का
आह्वान किया प्रकृति ने?

अन्तिम चरण ही कवि का इष्ट है और है वही सबसे निकृष्ट। कारण, प्रकृति-पुकार का पक्षपात है। कामातुर में लज्जा नहीं होती, काम से प्राणी अन्धा हो जाता है, प्रकृति बरबस अपना काम करा लेती है, आदि अत्यन्त प्रचलित, परिचित और प्रसिद्ध है, परन्तु उसकी 'स्त्री आत्मा का आह्वान' क्या है? आत्मा को कवि ने क्या समझ लिया है? इससे कहीं अच्छा होता—

"जब उसकी स्त्री-प्रकृति का आह्वान किया पुरुष ने"

प्रकृति और पुरुष, नर और नारी का खिंचाव अपने आप ही होता रहता है और कभी-कभी ऐसा अवसर आ जाता है कि किसी बिहारी को 'धरक नरकहू की न' कहना पड़ता है और किसी तुलसी को 'नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा।' किन्तु जिसे 'आत्मा' का पता है वह तो इस 'स्त्री-आत्मा' को देख कर मुँह फेर लेगा और कहेगा—स्त्री-आत्मा! इसका अर्थ?

समीक्षा की बहक

काव्य तक ही यह बात रह जाती तो कोई बात भी थी। समीक्षा के क्षेत्र में भी ऐसी ही हाँकी जा रही है। कहते है—

"काव्य-कला के बारे में आपने वाल्मीकि की कथा सुनी है—क्रौञ्च-वध से फूटे हुए कविता के अजस्र निर्झर की बात अवश्य जानते हैं। वह कहानी सुन्दर है और उसके द्वारा कविता के स्वभाव की ओर जो संकेत होता है कि कविता मानव की आत्मा के आर्त्त-चीत्कार का सार्थक रूप है—उसकी कई व्याख्याएँ की जा सकतीं और की गयी हैं। लेकिन हम उसे सुन्दर कल्पना से अधिक कुछ नहीं मानते। बल्कि हम कहेंगे कि हम इससे अधिक कुछ मानना चाहते ही नहीं। क्योंकि हम यह नहीं मानते कि कविता ने प्रकट होने के लिए इतनी देर लगा प्रतीक्षा की ? वाल्मीकि का रामचन्द्र काल और अयोध्या जैसी नगरी का काल, भारतीय संस्कृति के चरमोत्कर्ष का काल चाहे न भी रहा हो, यह स्पष्ट है कि संस्कृति की एक पर्याप्त विकसित अवस्था का काल था, और हम यह नहीं मान सकते—नही मानना चाहते—कि मौलिक ललित कलाओं में से कोई एक भी ऐसी थी जो इतने समय तक प्रकट हुए बिना ही रह गयी थी।

"अतएव हम जिस अवस्था की कल्पना करना चाहते है, वह वाल्मीकि से बहुत पहले की अवस्था है। वैज्ञानिक मुहावरे की शरण लेकर कहें कि वह नागरिक सभ्यता से पहले की अवस्था होनी चाहिए, वह खेतिहर सभ्यता से और चरवाहा (Nomadic) सभ्यता से भी पहले की अवस्था होनी चाहिए—वह अवस्था जब मानव करारों में कन्दराएँ खोद कर रहता था, और घास-पात या कभी पत्थर या ताँबे के फरसों से आखेट करके मांस खाता था।"—(त्रिशंकु, पृ० २३-२४)

निबन्ध का शीर्षक है—'कला का स्वभाव और उद्देश्य' और उसका ध्येय है—

"कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"

'कला प्रयत्न है', 'कला विद्रोह है', पर वाल्मीकि के विषय में इतना कहने की आवश्यकता क्या ? किससे और क्या कहा जा रहा है और क्यों ? आदि क्रिया वाल्मीकि रामायण ही क्यों कहा जाता है, जानना यह है और हो सके तो बताना यह कि इसके पहले अमुक काव्य था। कोरी कविता नहीं काव्य—पूरा काव्य—श्लोकबद्ध। क्योंकि 'शोक' 'श्लोक' बना न ? और इससे पहले भी दिखाना यह था कि जो लोग काव्य का उदय वाल्मीकि से समझते हैं वे काव्य को 'कला' समझते

हैं और उनकी दृष्टि में काव्य और कला में कोई भेद नहीं। समझने की बात तो यह थी कि इसमें काव्य स्वरूप का साक्षात्कार किया जाता और उसकी प्रकृत तथा व्याप्ति पर विचार किया जाता। पर नहीं, यह सब विचार और विवेक होता और होता विश्लेषण भी। और काम था यहाँ प्रचार का—आर्थिक दृष्टि से इतिहास में मूड मारने का—वही मार्क्स का फतवा। इतिहास के मूल में युग की प्रेरणा है और है रोटी की पुकार। बस, कला भी रोटी की बेटी है और है कविता भी। रोटी के अतिरिक्त पेट में मानो कुछ रहा ही नहीं। ले-दे-के मानव में रही बस एक वासना-क्षुधा। तो भी इतना तो बताना ही चाहिए कि इस कल्पना के इतिहास में 'करारों में कन्दरा खोदने' और ताँबे के फरसों से आखेट करने में कोई कला है या नहीं? यदि है तो उसका उदय और कुछ पहले हुआ न? फिर यह ताबड़तोड़ इतिहास कैसा? सुनें. इतिहास नहीं तो प्रवाद तो अवश्य ऐसा है कि आदमी के आदि बाबा आदम के एक पुत्र ने दूसरे को मार डाला और इस चिन्ता में पड़ा कि इसे पचावे कैसे? चिन्ता में मग्न था कि देखता क्या है कि एक पक्षी ने दूसरे पक्षी को मार कर रेत में गाड़ दिया। फिर क्या था, उसे भी वही मन्त्र सूझा और उसने भी वही किया। जब बाबा आदम को पुत्र-वियोग की सूचना मिली तब कलप उठे, रो पड़े। उनकी वाणी भी कविता बन गयी। कविता का उदय यहाँ भी शोक से ही हुआ। क्रौञ्च के शोक से नहीं, पुत्र के वियोग से। हत्या-काण्ड यहाँ भी है, पर भाई का भाई से, निषाद से क्रौञ्च का नहीं। कथा सत्य है, घटना घटी ही, इसका आग्रह क्यों? मूल में जो बात है उसे पकड़ने से पार मिलेगा कुछ ताल ठोकने से नहीं।

दुःख की अनुभूति

कला के विषय में कहा गया है कि वह विभावन व्यापार में है। उसके बारे में विपक्षी की जो सूझ-बूझ रही है, उसका निदर्शन भी कर दिया गया। हमारी समझ में तो कला 'प्रयत्न' और 'विद्रोह' नहीं, व्यंजन और शोभन है। व्यंजन को रोटी से लगाव है तो शोभन का नारी से। अतएव आशा की जाती है कि यह बात मार्क्सपंथी को भी प्रिय होगी और उसको इसमें अपने मन का भाव दिखायी देगा। रही कला के जन्म की बात। सो हमारी दृष्टि में तो यह आता है कि कला का उदय उसी क्षण हो गया जिस क्षण माता ने धूलधूसरित सिसके शिशु को अंक में लिया और उसके मुखमंडल को पोंछ कर उसके केशों को सँवार दिया और फिर उसको चूम लिया। और यदि माता का प्रसंग न रुचे तो नर-नारी को ही ले लें और उन्हीं के ऐसे व्यापार में कला का साक्षात्कार करें। प्रसंगवश कला के जन्म

के सम्बन्ध में इतना कह दिया गया, अब आगे के प्रसंग पर ध्यान दें और दुःख की अनुभूति को समझें। गौतम अपने पथ पर चले जा रहे हैं, देखते क्या हैं कि—

झुंड भारी भेड़ छेरिन को रह्यो है आय,
ठमकि पाछे दूब पै कोउ देति मुखै चलाय।
जितै झलकंत नीर, गूलर लसी लटकति डार,
लपकि ताकी ओर धावै छाँड़ि पथ द्वै चार।
जिन्हें बहकत लखि गड़रियो उठत है चिल्लाय,
लकुट सों निज हाँकि पथ पै फेरि लावत जाय।
लखी प्रभु इक भेड़ आवति युगल बच्चन संग,
एक जिनमें ह्वै रह्यो है चोट सो अति पंग।
छूटि पीछे जात, रहि रहि चलत है लँगरात,
थके नन्हें पाँव सों है रक्त बहुत चुचात।
ठमकि हेरति ताहि फिरि फिरि तासु जननि अधीर,
बढ़त आगे बनत हैं नहिं देखि शिशु की पीर।
देखि यह प्रभु लियो बढ़ि लँगरात पसुहि उठाय,
लादि लीनों कंध पै निज करन सों सहराय।
कहत यों हे उर्णदायिनि जननि! जनि घबराय,
देत हौं पहुँचाय याको जहाँ लौं तू जाय।
पशुहु को इक पीर हरिबो गुनत हौं मैं आज,
योग औ तपसाधना सों अधिक शुभ को काज।।

—बुद्धचरित

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इस रचना में 'हे उर्णदायिनि जननि' भी आया है तो क्या इसी 'उर्णदान' के कारण गौतम ने ऐसा किया? नहीं जी, यह तो कृतज्ञता का ज्ञापक और अपनी परिवार भावना का द्योतक है। करुणा का कार्य तो लेखा से नहीं होता। वह तो आप ही अपना मोल चुका देती है। वेदना से मुक्ति भी तो रस ही है? रेचन से शान्ति मिलती है। यही काव्य की महिमा और कला की देन है। उर्णदान का प्रसंग आ ही गया तो कुछ मार्क्स की भी सुन लें। गौतम बुद्ध की भी सुन लें। गौतम बुद्ध की भाँति आप भी ईश्वर को नहीं मानते; परन्तु एक बात में हैं सर्वथा उनके प्रतिकूल। उनका पक्ष था—'दुःखाभावात्सुखामिति।' इनका पक्ष है—'सुखाभावो दुःखमिति'। उनको संसार में चारों ओर दुःख दिखायी देता था, इसलिए बेचारे गड़ेरिये पर टूट नहीं पड़े और उसके प्रतिकूल भेड़ों का आन्दोलन खड़ा नहीं किया। प्रत्युत किया यह कि पीड़ित बच्चे को

उठा कर उसके घर तक पहुँचा दिया। एक बात और, भेड़ों में संघबुद्धि बहुत प्रबल है। मानव ने उसे भेंड़ियाधँसान के रूप में सुरक्षित रख छोड़ा है। परन्तु उनमें भी कुछ हरियाली की ओर लपकने वाली होती हैं, और लपकती हैं समाज को छोड़ कर। उनका बहक जाना अद्भुत नहीं। पशु में भी प्रकृति की भिन्नता होती ही है। बहके हुए जीवों को जिस लाठी से हाँकना पड़ता है वह है सबके लिए, पर सभी उससे हाँके नहीं जाते। प्रवाह-पतित मानव की भी यही दशा है। उसमें जो पीड़ित है, उसका उद्धार करुणा के हाथ है, द्वेष के हाथ नहीं। परन्तु दुःख की बात यह है कि आज पीड़ितों की संख्या इतनी बढ़ गयी है कि अब निरी करुणा से काम नहीं चल सकता। अब तो फिर उसी वानर के चरवाहे की बात होनी चाहिए जिसने वानर और भालू की सेना से धन कुबेर के लूटने वाले को ध्वस्त किया था और लंका में वहाँ के वासी का राज्य रहने दिया था। रामराज्य की स्थापना राम के राज्य में होनी ही चाहिए, रावण के राज्य में न सही। पर यह शासन की बात ठहरी। इसकी आवश्यकता भी थी, इसलिए इतना कह दिया।

उर्दू का देशकाल

अस्तु, देखिए अब यह कि इसी विभाजन के कारण हिन्दी के उस अंग की दशा क्या है जिसे उर्दू कहते हैं। देशकाल के प्रभाव से वहाँ कला का क्या स्वरूप हुआ और वहाँ का आलम्बन किस प्रकार 'अमरद' बना, इसकी चर्चा फिर कभी होगी। यहाँ कहना है कि फ़ारसी कविता में लैला-मजनू ही नहीं, अयाज़-महमूद की भी जोड़ी है। उर्दू को अपनी संस्कृति के कारण इसमें कोई दोष नहीं दिखायी देता, यहाँ तक कि उर्दू के एक अल्लामा पंडित उर्दू को हिन्दी सिद्ध करने के लिए इसका एक अजीब उदाहरण भी धर देते हैं—

> ख़त निकले प बोसये रुखे पुरनूर का पाया।
> खैरात बरहमन को मिली चाँद गहन से।।

शेर शेख हातिम का है। आप 'उर्दू की ज़बान' के आदि उस्ताद और हिन्दी भाषा को त्यागने वाले प्रथम वीर हैं। आप किसी दाढ़ी निकलते हुए माशूक़ का चुम्बन क्या करते हैं चन्द्रग्रहण में ब्राह्मण का दान पा जाते हैं। परन्तु ब्राह्मण की स्थिति यह है कि न तो उसका यार कोई दढ़ियल 'अमरद' होता है और न वह चन्द्रग्रहण का दान ही लेता है। हो सकता है, शाह हातिम ने हिन्दू-हित से ऐसा किया हो, पर क्या आप इसका प्रचार करेंगे? और आप की नारी इसको सह सकेगी? फ्रॉयड तो इसको भी कहीं दिखा देगा; पर क्या आप का समाज इसका

हो रहेगा? उर्दू के लोग तो इसे 'एशियाई शाइरी' का गुण बताते हैं पर है यह वास्तव में फ़ारसी और उर्दू की थाती। उर्दू की दृष्टि में यही 'एशिया' है तो रहे। संसार की दृष्टि में तो एशिया के अपार जन-समूह में ऐसे गुणी बहुत थोड़े है और फ़ारसी बोलने वाले भी कितने! रही उर्दू की बात। सो उसकी दशा निराली है। मुँह से वह सबकी है पर दिल से इस्लाम की, और धन्धे से ईरान की। तभी तो उसके दूसरे उस्ताद 'सौदा' कहते हैं—

गर हो कशिशे शाहे ख़ुरासान तो 'सौदा'।
सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक ज़मीं पर।।

अर्थात् यदि ख़ुरासान का बादशाह चाहे तो मैं हिन्द की अपवित्र भूमि पर नमाज भी न पढ़ूँ। पर चाहा, ख़ुरासान के बादशाह ने नहीं, हिन्द के बादशाह ने और फलतः बन गया सिजदा के लिए यहीं 'पाकिस्तान' भी। कैसे बन गया, इसे उर्दू के अदब से पूछ देखें और शब्द-ब्रह्म की शक्ति को पहिचानें। पाकिस्तान के पितामह स्वर्गीय 'इकबाल' का शब्द 'क़ौमी तराना' है जिसे लोग 'राष्ट्रीय गीत' या 'राष्ट्रीय गान' भी कहते हैं। उसके आरम्भ में ही कहा गया है—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं उसकी वह गुलशिताँ हमारा।।

आप कहेंगे, इसमें भी कोई कीट है क्या? निवेदन है—हाँ, विषकीड़ा। वही विषकीड़ा जिसने पाकिस्तान पैदा किया। टुक ध्यान तो दीजिये। हिन्दुस्तान में है कोई पदार्थ जो 'सारे जहाँ से अच्छा' है। यदि हाँ, तो उसका उल्लेख क्यों नहीं? स्मरण रहे, अमीर ख़ुसरो का इसी प्रसंग में कहना है कि मैं हिन्दुस्तान को स्वर्ग मानता हूँ, क्योंकि यह स्वर्ग न होता तो बाबा आदम स्वर्ग से निकाले जाने पर यहीं क्यों आते और क्यों स्वर्ग का पक्षी मोर यहीं पाया जाता। उनका मूल कथन है—

बहिश्ते फ़र्ज़ कुन हिन्दुस्ताँ रा,
कज़ आँ जा निस्बत अस्त ई बोस्ताँ रा।
वगरना आदम व ताऊस जाँ जाय,
कुजा ई जा शुदन्दे मंजिले आराय।।

आज भारत के स्वर्ग कश्मीर में जो कुछ हो रहा है, वह उसके सपूत 'इक़बाल' की ही तो सूझ है। इसी कश्मीरी अल्लामा ने तो 'लीग' को 'पाकिस्तान' का पाठ पढ़ाया था और 'क' को कश्मीर का प्रतीक कहा था। यदि देश का होनहार अच्छा होता और देश को अपनी आँख से देखने का अभ्यास, तो हिन्द के इस होनहार कवि को उसी समय बताया जाता कि देखो, फारस के गुल को फारस की बुलबुल पहि-

चानती है किन्तु भारत की बुलबुल आपस में लड़ती है और 'गुल' के लिए मरना नहीं जानती। फिर ऐसा अप्रस्तुत लाकर अपने देश को बरबाद क्यों कर रहे हो? परन्तु प्रमाद और प्रलोभवश किसी ने ऐसा नहीं किया, उलटे इसका गुणगान हुआ। दुष्परिणाम सामने है। एक और उदाहरण लीजिए। आप ही का कहना है—

मुसलिम ने भी तामीर किया अपना हरम और,
तहजीब के आजर ने तरशवाये सनम और।
इन ताज़ा खुदाओं में बड़ा सब से वतन है,
जो पैरहन इसका है वह मज़हब का कफ़न है॥

देश की मूर्ति बनी तो उसका परिधान इस्लाम के लिए 'कफ़न' बन गया, और फलतः 'इक़बाल' को घोषणा करनी पड़ी—

"ऐ मुस्तफ़वी खाक़ में इस बुत को मिला दे।"

क्यों? इसे भी उन्हीं के मुँह से सुन लीजिए। किस भाव से कहते हैं—

है तर्के वतन सुन्नते महबूब इलाही लाही,
दे तू भी नबूव्बत की सदाक़त प गवाही।
गुफ़्तारे सियासत में वतन और ही कुछ है,
इरशादे नबूव्वत में वतन और ही कुछ है॥

भाव यह कि किसी हिन्दी का देशप्रेम इस्लाम के लिए घातक है, अतएव प्रत्येक मुसलमान को उसका परित्याग कर देना चाहिए और नबी के सच्चे मार्ग पर आ जाना चाहिए। राजनीति में 'देश' का अर्थ और होता है और नबी के प्यारों की बोली में और, फिर दोनों को एक क्यों किया जाय। आप जानते हैं कि इसका परिणाम हुआ मातृभूमि का भंजन; पर आप मानते नहीं कि उर्दू का सदा से यही लक्ष्य रहा है। पाकिस्तान उसकी गोद में पला है। देशद्रोह उसकी घुट्टी में पड़ा है। फिर भी उससे देशप्रेम और एकता की आशा! महात्मा जी की करामात! रहे मौलाना अबुलकलाम 'आज़ाद', सो उनकी धारणा यह है—

"आजकल हिन्दुओं के दो पोलिटिकल गिरोह मौजूद हैं। आप उनमें से किनके साथ हैं? गुजारिश है कि हम किसी के साथ नहीं, बल्कि सिर्फ खुदा के साथ हैं। इस्लाम इससे बहुत अरफा व आला है कि उसके पैरोवों को अपनी पोलिटिकल पालिसी कायम करने के लिए हिन्दुओं की पैरवी करनी पड़े। मुसलमानों के लिए इससे बढ़ कर कोई शरम अंगेज़ सवाल नहीं हो सकता कि दूसरों की पोलिटिकल तालीमों के आगे झुक कर अपना रास्ता पैदा करें। उनको किसी जमाअत में शामिल होने की ज़रूरत नहीं। वह खुद दुनिया को अपनी

जमाअत में शामिल करने वाले और अपनी राह पर चलाने वाले हैं, और सदियों चला चुके हैं। वह खुदा के सामने खड़े हो जाएँ तो सारी दुनिया उनके आगे खड़ी हो जायेगी। उनका खुद अपना रास्ता मौजूद है। राह की तलाश में क्यों औरों के दरवाजों पर भटकते फिरें?"—(मजामीन आजाद, क़ौमी कुतुब-खाना, लाहौर, सन् १९४४ ई०, पृष्ठ २०)। और हिन्दू? उसकी कुछ न पूछिए। 'चकवस्त' जैसा दबंग कवि उर्दू में जाकर राम के विषय में लिखता है—

"रुखसत हुआ वह बाप से ले कर खुदा का नाम।"

कारण, यही उर्दू की मर्यादा और यही उर्दू का संस्कार है। वह सर्वथा अहिन्दू है, अहिन्दी है और है बिल्कुल ईरानी। ईरानी काव्यधारा से उसका मेल है और उसी ढंग का विभावन उसे भाता है। अतएव हम उसे हिन्दी कहने में संकोच करते हैं और कहते हैं उसे हिन्दी का विकृत और विद्वेषी, देशद्रोही रूप ही। अपने देश में वह महान् है, पर हमारे देश में अभिशाप। हम उसका स्वागत भला कैसे कर सकते हैं और करें भी तो वह राष्ट्रीयता के उदय के साथ भी कहाँ तक हो सकता है। उसका स्वागत शून्य भीति पर चित्र बनाना नहीं, बने-बनाये चित्र पर रंग फेरना है। अतः समझ-बूझ कर ही किसी हिन्दुस्तानी की चर्चा होनी चाहिएऔर समझ रखना चाहिए कि कभी अलाउद्दीन जैसे कट्टर मुसलमानी शासन में उसके दरबारी कवि अमीर खुसरो ने मुक्त कंठ से खुली घोषणा की थी और स्पष्ट कह दिया था कि मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ, हिन्दी में बातचीत करूँगा। मिस्र की शक्कर का मुझे क्या पता कि अरबी झाँड़ूँ—

तुर्क हिन्दोस्तानियम मन हिन्दुई गोयम जवाब,
शक्करे मिस्री न दारम कज अरब गोयम सखुन।

मानवता

तो फिर, आज का हिन्दुस्तानी हिन्दी (मुसलमान) यही क्यों नहीं कह सकता और यदि नहीं कह सकता तो पाक-स्थान को प्रस्थान कर दे—'बाँटा पूत पड़ोस बराबर।' तो वह तो विद्वेषी और प्रतिद्वन्द्वी है न? किन्तु एक बात, और इस दृष्टि से बहुत ही अच्छी। और वह यह कि वहाँ भी फ्रॉयड और मार्क्स का प्रभुत्व है और वही रति-रोटी लीला वहाँ भी अपना पाँव पसार रही है। कौन जाने इसी प्रकार कुछ हो ले। किन्तु डॉक्टर सैयद मुहम्मद अब्दुल्लाह का कुछ और ही अनुमान है—

'लेकिन प्रोफेसर राउथ के कौल के मुताबिक ज़िन्दगी में रूहानियत के बगैर हमआहंगी नहीं पैदा हो सकती, मौजूदा दौर में रूहानियत का गला घुट रहा है और

रूहानी शोरिश और बे-इतमिनानी का किसी तरीके पर इलाज मुनकिन नहीं। इसकी वजह यह है कि अब लोग यह महसूस करते हैं कि हमारी दो ही बुनियादी जरूरतें हैं--रोटी और हविसे जिस। इस तखैय्युल ने उनको हैवान महज बना दिया है। लिटरेचर या अदब उनको किसी और ताकत का यकीन नहीं दिला सकता जो इन दोनों हैवानी जरूरतों के अलावा इन्सानी जिन्दगी पर असर अन्दाज है।" (ओरियण्टल कालेज मैगजीन (उर्दू), मई, सन् १९४१ ई०, पृष्ठ ३०)।

आप हताश होकर कहते हैं कि रोटी और कामवासना के भक्तों को किसी अध्यात्म से तृप्ति नहीं हो सकती। और, निदान उनके पशु बनने में अड़चन ही क्या ? निवेदन है--ऐसा हो नहीं सकता। मानव, पशु रह न सका तो बन भी नहीं सकता। और यदि उसी ने ईश्वर को बनाया तो ईश्वर और भी प्रबल है। उसके विनाश की कोई आशंका नहीं। कारण से कार्य प्रबल होता है। और कदाचित् इसी से किसी उर्दू कवि ने पूरे विश्वास के साथ कह भी दिया है—

सदियें फ़िलासफ़ी की यहाँ चूँ चुनाँ रही,
लेकिन खुदा की बात जहाँ की तहाँ रही।

और हिन्दी का कवि आज भी 'भगवान् भरोसा भारी' कर विनय करता है—

मानव को कर दो महान् प्रभु!
तेरे पद का पद्मफूल यह आज गिरा धूलों में,
इसके मधु मकरन्द बिखर कर सिहर रहे हैं शूलों में;
बिगलित इसकी सरल सुभूषा तेरी ऊषा की पाली,
करुणा की कन्या में कँप कर आह भर रही कंकाली;
अब कैसे चढ़ तेरे नभ में देखे यह तेरा विहान प्रभु?
मानव को कर दो महान् प्रभु!
नियति-नटी का नरक-नियंत्रण तन पर मन पर छाया है,
कुम्हलाया निरुपाय नाथ यह झोंके कितने खाया है?
तेरी पूजा क्या हो सकती इन्हीं सूखती सासों से?
सिसक रही जिनकी मृदु तंत्री मसले मिलन हुलासों से?
कैसे कुचले गान उड़ेंगे बन सुरभित पवमान तान प्रभु?
मानव को कर दो महान् प्रभु!

३१--'आराधना'

'मसले मिलन-हुलासों से' ग्रस्त 'कंकाली' भी मानवता को छोड़ नहीं सकती। हिन्दी का एक कवि इधर प्रभु से मानव को महान् बनाने की प्रार्थना करता है तो दूसरा उधर विश्वास दिलाता है कि—

जब तक है नर की आँखों में शेष व्यथा का पानी।
जब तक है करती विदग्ध मानव की मलिन कहानी ।।
जब तक है अवशिष्ट पुण्य बल की नर में अभिलाषा।
तब तक है अक्षुण्ण मनुज में मानवता की आशा।।

—'कुरुक्षेत्र' सप्तम सर्ग

हम इसी 'मानवता की आशा' से संक्षेप में अति स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहते हैं कि हमारी दृष्टि में 'युक्ताहारविहार' से ही मानवता का विकास और मानव का कल्याण होगा, कुछ 'मुक्ताहारविहार' से नहीं। परन्तु दुर्दैव की बात तो यह है कि यन्त्र के प्रकोप के कारण विश्व और विशेषकर इस देश में भी मग्न लोग बहुत थोड़े हो गये हैं ओर लक्ष्मी के प्रसाद से उनकी मग्नता प्रतिक्षण बढ़ती जा रही है। उधर भग्न लोगों की संख्या बरसाती नदी की बाढ़ हो रही है। देश की नग्न जनता भी अब चैतन्य हो उठी है। ऐसी स्थिति में समाज में क्रान्ति का उत्पन्न होना अनिवार्य है। यदि लक्ष्मी के सपूत समय पर न चेते और शासन का ध्यान इस बढ़ती हुई विषमता पर यथेष्ट न गया तो अन्नब्रह्म का प्रकोप अवश्य होगा। अन्नब्रह्म सभी ब्रह्म से प्रबल, प्रकट और प्रत्यक्ष है। उसके उपासक जब उठते हैं तब बिना कुछ किये नहीं बैठते। लक्षण गोचर हो रहे हैं। कवि और लेखक उनके भक्त हो रहे हैं। जायसी की वाणी कुछ काम करती नहीं दिखायीं देती। कभी उनका कहना था—

चहै लच्छि बाउर कबि सोई,
जहँ सुरसती, लच्छि कित होई।
कबिता सँग दारिद मतिभंगी,
काँटै कूँटै पुहुप कै संगी।।
कबि तौ चेला, बिधि गुरु, सीप सेवाती बुन्द।
तेहि मानुष कै आस का, जो मरजिया समुन्द।।४।।

—पद्मावत, राघवचेतन खण्ड

बात है तो यथार्थ, पर आज घटती नहीं दिखायी देती। 'आग बड़वागि से बड़ी है आग पेट की।' कवि को लक्ष्मी नहीं चाहिए, पर भोजन-छाजन के बिना कविता कब तक हो सकेगी ? निदान उसको इतना तो मिलना ही चाहिए कि उसको पेट की चिन्ता न रहे और पेट से निश्चिन्त हो शोभन और शालीन की छवि उतार मानव को शिष्ट सुशील और दिव्य बनाये। किन्तु जब प्राण ही संकट में है तब प्राणी क्या करेगा ? तिस पर भी यदि लक्ष्मी का कहीं से दबाव हो और अपनी कृति पेट के लिए बेचैनी ही नहीं, दूसरे के नाम कर भी देनी हो। हम

जानते हैं, आज लक्ष्मी के लाल क्या कर रहे हैं और किस प्रकार अपने धन-मद में आकर दम्भवश विद्या का हनन और सरस्वती का उपहास कर रहे हैं। कोई भी कलम का धनी उनका यह परिहास नहीं सह सकता। निदान उनको सचेत किया जाता है कि यदि आप सचमुच आस्तिक और भगवान् के भक्त हैं और समय-समय पर लक्ष्मी माता की पूजा भी कर लेते हैं, तो अवश्य माता से माता का काम लें। लक्ष्मी को भरण-पोषण की दृष्टि से देखें, कुछ काम-क्रीड़ा और भोग-विलास की आँख से नहीं। नहीं तो समझ लें रावण की लंका, स्वर्ण की लंका, अधिक दिनों तक चमक नहीं सकती। वह किसी राम के संकेत पर वानर-भालुओं द्वारा लूट ली जायगी, ध्वस्त हो जायगी—एक ही झटके में। 'सम्भवामि युगे-युगे' की युगवाणी चरितार्थ होगी, और होगी मानव के द्वारा। युग पलटा खा रहा है, कृपा कर आप भी पलट जायँ, और नहीं तो उलट जाने के लिए तैयार रहें। है न यही बात ? 'राम नाम जपना, पराया माल अपना' से अब काम नहीं चलेगा। बहुत-से राम भूखों मर रहे हैं, फिर एक राम विहार क्यों करेंगे ? लड़खड़ाते पत्रों को हथियाने अथवा नये-नये पत्र चलाने से काम नहीं चलेगा। प्रवाह धक्का देकर आगे बढ़ता है, कागज बाँच कर नहीं। जब मानव-हृदय भीतर-ही-भीतर पक रहा है तो उसका विस्फोट अवश्य होगा। कवि, लेखक और साहित्यकार तो वाणी द्वारा 'परीवाहः प्रतिक्रिया' को चरितार्थ कर रहे हैं, अतः उनसे भय नहीं। पर समाज का भूकम्प आना ही चाहता है, फिर तो जो जितना ही बड़ा है उतना डावाँडोल भी। निदान 'दोनों हाथ उलीचिए'। उलीचिए—यही सयाना काम है। 'योग' अच्छा है पर 'क्षेम' के बिना व्यर्थ ही नहीं, भार भी है। अतः क्षेम पर ध्यान रखें और भूल न जायँ कि भोग पतन का पैंड़ा है। मार्क्स को समय ने पैदा किया, काल ने अपनाया और युग उधर जा रहा है। पूजने नहीं पेट भरने के लिए। हिन्दी में 'मोटा' शब्द आपके कारण बदनाम हुआ, नहीं तो अन्यत्र है वह अपने मूल शब्द में बड़ा ही। किन्तु कवियों, कलाकारों और लेखकों को फिर एक बार जायसी, तुलसी और भूषण की वाणी पर विचार कर लेना चाहिए और अपनी भूत वाणी को पवित्र, पावन और मंगलप्रद बनाना चाहिए। प्रकृति अपना काम कर लेगी, आप अपना करें।

कर्तव्य

साहित्य के सभी क्षेत्रों का लेखा लेना अपना काम नहीं। साहित्य समृद्ध हो और शीघ्र ही हिन्दी साहित्य सभी प्रकार से राष्ट्र-साहित्य बने, इसी की लालसा है और इसी से यहाँ ऐसी मीमांसा भी की गयी। अब अति संक्षेप में कह यह देना

है कि वास्तव में हम चाहते क्या हैं। हमारी शक्ति क्या है, इसका हमें पता नहीं, और यदि हो भी तो हम बताना नहीं चाहते। हम तो काम करना चाहते हैं। कालचक्र के प्रभाव से देश में जो परिवर्तन हुए और हो रहे हैं उनसे हमारा दायित्व बढ़ गया है। हम रंक ही सही, पर हमारे साहित्य को कामधेनु बनाना है। कल्पतरु भले ही न हो और न हो चिन्तामणि भी, पर हमारे साहित्य को कल्पतरु बनाना है और बनाना है चिन्तामणि भी। इसके दो रूप हैं—शास्त्र और साहित्य। शास्त्र का कार्य तो सभी देश भाषाओं के योग से होगा। 'साहित्य संगम' की स्थापना हो भी गयी। विश्वास है कि अब उसमें किसी उर्दू-हिन्दुस्तानी या हिन्दी-हिन्दुस्तानी का कोई खटराग न होगा और नागपुर का पलड़ा फिर न पलटा जायगा और आशा है कि उसके द्वारा सांकेतिक कोशों और सभी प्रकार के शास्त्रीय उच्च ग्रन्थों का प्रणयन शीघ्र होगा। रही हिन्दी साहित्य की चिन्ता, सो उसके विषय में अपना मत है एक 'साहित्य-संसद्' को फलता-फूलता देखना। शीघ्र ही कोई ऐसी संस्था, नाम जो कुछ उसमें रख लें, व्यवहार में आनी चाहिए जिसका प्रति-वर्ष जहाँ-तहाँ अपने क्षेत्र में अधिवेशन हो और जो शुद्ध साहित्य के अंगों पर विचार करे और देशकाल के अनुसार साहित्य और भाषा को देखती रहे। उसको इसी की चिन्ता रहे। हिन्दी के अपने घर के प्रश्न थोड़े नहीं हैं। उन्हें अपने घर ही ठीक कर लेना चाहिए। समूचे देश के सामने तो उसका सच्चा और समुज्ज्वल रूप ही आना चाहिए। हिन्दी में अनुशीलन, परिशीलन और प्रणयन, अनुवाद तथा सम्पादन का काम वैसा चाहिए हो नहीं रहा है, जो कुछ हो भी रहा है उसका महत्त्व वैसा नहीं जैसा चाहिए। विश्वविद्यालयों में प्रयाग और अध्यापकों में श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का नाम लिया जा सकता है जिनका ध्यान सम्पादन में लगा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में एक अनुशीलन-विभाग भी खुल गया है, पर है यह सब दाल में नमक के बराबर। जहाँ जो कुछ हो रहा है, अपने आप मेल-मिलाप के द्वारा नहीं। यहाँ इसी मेल-मिलाप का प्रस्ताव है। 'सम्मेलन' के द्वारा यह कार्य हो नहीं सकता। 'सम्मेलन' की उपयोगिता उसके इसी रूप में है। राज्य की नीति बदली तो 'राष्ट्रभाषा-परिषद्', 'राष्ट्रसाहित्य-परिषद्' का रूप धारण कर लेगी।

राष्ट्र-दृष्टि से इस समय आवश्यकता है ऐसे रूपक की जो संस्कृत की परम्परा पर बना हो और जिसमें बँगला, मराठी और गुजराती भाषा का उचित विधान हो। और हो सके तो पंजाबी, मारवाड़ी और मैथिली का भी, नहीं तो उनकी कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं। रूपक इसलिए कि उसके द्वारा भाषा सरलता से समझ में आ जाती है। उपन्यास भी हो तो क्षति नहीं, पर अब कुछ

होना अवश्य चाहिए। इससे परस्पर की सूझ-बूझ बढ़ेगी और अपने ही पराये न दिखायी देंगे।

एक कार्य जिसकी अवहेलना हो नहीं सकती, हिन्दी पाठ्य-क्रम का आमूल परिवर्तन है। परिस्थिति के बदलने के ही कारण नहीं, वैसे भी। इने-गिने कवियों के इने-गिने पद्यों से अब काम न चलेगा। पाठ्य का संकलन वय और मेधा की दृष्टि से होना चाहिए और यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पाठ्य के द्वारा विद्यार्थी को रसिक नहीं सामाजिक, सुशील, शिष्ट तथा समर्थ बनाना है, कुछ 'हरहिं शिष्य धन शोक न हरही' को चरितार्थ करना नहीं। एक प्रकार का शोषण पाठ्य-विधाता भी कर रहे हैं जिस पर लोगों का ध्यान अभी कम गया है। हम इस नीति को अच्छी और उपयोगी नही समझते कि जिसका सग्रह, वही पाठ्क और वही प्रश्नकर्ता और वही परीक्षक भी। अर्थात् सब कुछ उसी के हाथ में। इस नीति-रीति या मोह का दुष्परिणाम प्रकट है। विद्यार्थी के पल्ले बहुत थोड़ा पड़ता है और वह हिन्दी को कोई बहुत आदर की दृष्टि से नही देखता। बस करने को इतना ही बहुत है, कहने की इति कहाँ ? एक बात और! उर्दू के विषय में पहले जो कुछ कहा गया है, उसका यह अर्थ नहीं कि उसमें हिंदी का कुछ है ही नहीं। उसमें जो कुछ हिंदी है, उसको नागरी रूप में शीघ्र अपना लेना चाहिए। 'नजीर' और 'अनीस' का उल्लेख ही पर्याप्त है।

अन्त में, कहना यही है कि छोटे मुंह बड़ी बात अथवा बड़े मुँह छोटी बात का अभिनय हो चुका। अब केवल एक कामना शेष रही। और वह यह—

"टूटियो बाँह गरे परै, फूटेहूँ बिलोचन पीर होति, हित करिये।"—तुलसी
हित करिये, हित।

और भारत वाक्य के रूप में यह 'विनय'—

मनुजों की लघु चेतना मिटे, लघु अहङ्कार,
नवयुग के गुण से विगत गुणों का अन्धकार।
हों शान्त जाति विद्वेष, वर्गगत रक्त समर,
हों शान्त युगों के प्रेत, मुक्त मानव अंतर।
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों, सहृदय सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर हो, संयुक्त विश्व निर्भर।
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव—हो जीवन निर्माण काज।—ग्राम्या

अभिभाषण—११

पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

⊙ ⊙

देवियो और सज्जनों,

साहित्य-परिषद् के नेतृत्व का भार इस वर्ष मेरे दुर्बल कंधों पर डाल कर आपने जिस गुरु-जन-सुलभ उदारता का परिचय दिया है, उसके लिये आपके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ; एक एकान्तनिष्ठ साहित्य-सेवी के प्रति, जिसने अपने जीवन के पिछले बीस वर्ष जेल के बाहर रह कर भी कैदियों की ही तरह व्यतीत किये हैं, आपका यह अकारण स्नेह कम मूल्यवान् नहीं है। मेरी अयोग्यता, असमर्थता आपके सामने स्पष्ट है; उसका निराकरण आपके धैर्य और आपकी शालीनता के द्वारा ही हो सकेगा। इसी आशा और विश्वसा को हृदय में स्थान देकर मैं अपने कर्तव्य-पालन की ओर अग्रसर होता हूँ।

साहित्य-परिषद् ने सदैव इस बात के लिए प्रयत्न किया है कि हिन्दी-विवेचकों और रचनाकारों की विभिन्न विचार-धाराओं एवं शैलियों की विभिन्नता के लिए पूर्ण अवसर और अवकाश देकर भी, उनमें समानरूप से व्याप्त, किसी ऐसी समता का अनुसंधान हो जिसके द्वारा वे सार्वभौम और सर्वकालीन सत्य की संगति में आवें तथा उसके अंगीकृत युग-सत्य का स्थान ग्रहण करें। यह अनुसंधान कल यदि आवश्यक था तो आज अनिवार्यत: आवश्यक हो गया है, क्योंकि यदि हमारी समस्त साहित्य-रचनात्मक शक्तियों को चिरन्तन सत्य-सम्मत युगसत्य की आराधना में लगना है तो हमारा यह प्रयास तभी सफलता से सम्पन्न हो सकेगा, जब हम सबसे पहले साहित्य-विवेचनागत समता की स्थापना कर लेंगे और, निराकरण के उद्देश्य से, विषम तत्वों का लेखा-जोखा लगा सकेंगे।

हिन्दी के अधिकार और गौरव में उत्तरोत्तर वृद्धि होने के परिणाम स्वरूप हिन्दी-साहित्य के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है; उसे सम्पूर्ण भारतीय समाज के रचनात्मक जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करनी है, उसके कंटकाकीर्ण

विकास-पथ को परिष्कृत बनाना है, उसके उस निर्णायक युग-सत्य की प्रतिष्ठापना करनी है जिसे चिरंतन सत्य-द्वारा स्वीकृत रखना ही भारतीय परिपाटी, भारतीय संस्कृति रही है। स्वभावतः यह प्रश्न खड़ा होता है कि इस उत्तरदायित्व का उचित निर्वाह कैसे हो? मेरी अल्पमति के अनुसार यदि हमारे समाज में कार्य-कर्ताओं की तीन श्रेणियाँ अपनी प्रकृत अवस्था में आ जायँ तो हमारी अभीष्ट-सिद्धि सरलता के साथ हो सकती हैं। ये श्रेणियाँ हैं—१—साहित्य के विवेचक; २—सरकारी शिक्षा विभाग के सचालक; ३—साहित्य के रचनाकार। मैं क्रमशः तीनों ही के सम्बन्ध में अपने विचार यहाँ प्रकट करूँगा।

१—हमारे आलोचक

वर्त्तमान समय में हमारी हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी विवेचना के क्षेत्र में पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों ही शैलियों से काम लिया जा रहा है। निस्सन्देह हमारा प्राचीन आलोचन-विज्ञान अद्वितीय है; हमारे आचार्यों ने मानव-जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रवृत्तियों और स्थितियों का अध्ययन करके साहित्य की परीक्षा के लिये जो मापदण्ड स्थिर किये हैं वे मूल्यांकन की अचूक क्षमता रखते हैं; किन्तु हमें पाश्चात्य-साहित्य में प्रचलित मापदण्डों की उपयोगिता और महत्ता भी स्वीकार करके ऐसी वैज्ञानिक समालोचना का विकास करना चाहिए, जिसमें दोनों ही का सामञ्जस्य हो और जो द्विगुणित शक्ति से कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर मानव मस्तिष्क की चिन्तनाओं और मानव हृदय की भावनाओं तथा उसके उद्गारों के प्रति सच्चा सम्पर्क, सच्ची सहानुभूति स्थापित कर सके। हमारी वर्तमान रचनात्मक प्रवृत्तियों का वांछित रूपेण परिफलन तभी सम्भव है जब किसी सीमा तक 'नेति'-'नेति' कह कर निरपेक्ष भाव से अग्रसर होने वाली उक्त प्रकार की वैज्ञानिक समालोचना के वातावरण में उन्हें प्रगतिशील होने का अवसर प्राप्त हो।

वैज्ञानिक समालोचना के विकास के लिए प्रगतिशील साहित्यिकों का एक सुसंगठित दल हम लोगों के बीच में होना चाहिए। शक्तिशाली हो जाने पर यह दल सहज ही उन जीवन केन्द्रापसारी प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर सकेगा जो असा-हित्यिक हृदयों ही में नहीं, साहित्यिक हृदयों में भी अनायास ही उत्पन्न हो जाया करती है। इस दल को किसी के प्रति न द्वेष होगा, न ममत्त्व होगा। कहने में तो यह बड़ी आसान बात समझ पड़ती है किंतु द्वेष और ममत्व से रहित वही व्यक्ति हो सकता है जो तपस्वी है, जिसका जीवन सरल है और जो सांसारिक स्वार्थों के

दलदल में नहीं फँसा है। जो हो, प्रगतिशील दल में निरपेक्ष, तटस्थ साहित्य-परीक्षक ही रह सकेंगे, जिनका सबसे बड़ा पारिश्रमिक और पारितोषिक होगा सत्य का दर्शन और आराधन तथा जो सूखी रोटियाँ खा लेंगे, किंतु मक्खन के पैसों के लिए किसी की चाटुकारी करना पसन्द न करेंगे, किसी अनाचारी के अनाचार पर अपनी मुहर नहीं लगायेंगे।

हमारे प्रगतिशील साहित्यिक हमारी विवेचना-गत विषमता का अंत किस प्रकार करेंगे ? विषम तत्वों के अंतर में व्याप्त समता की प्रतिष्ठा एवं वैज्ञानिक आलोचना का स्वरूप-निर्धारण करते समय, भारतीय पक्ष का प्रतिनिधित्व करने वाले किस अंश पर वे अनिवार्य रूप से अड़ेंगे ?

यह तो निर्विवाद है कि अहिंसा हमारे जीवन में समतत्व का तथा हिंसा विषम तत्व का प्रतिनिधित्व करती है; अहिंसा में विश्राम है, शान्ति है; इसके विपरीत हिंसा में ज्वाला है, अशान्ति है, अतएव हमारे सामने प्रश्न यह है कि हमारे प्रगतिशील साहित्यिक अपनी वैज्ञानिक आलोचना में विश्राम और शान्ति का विकास करनेवाली अहिंसा को स्थान देंगे अथवा ज्वाला और अशान्ति का प्रसार करनेवाली हिंसा को। यदि हमें समतत्व की खोज अभीष्ट है तो अहिसा के रूप में ही वह हमें प्राप्त हो सकेगा। और, यह केवल भारत के लिए नहीं सत्य है; सम्पूर्ण विश्व की वैज्ञानिक आलोचना में हिंसात्मक दृष्टिकोण को त्याग कर अहिंसात्मक दृष्टिकोण को स्थान देना आवश्यक है, नहीं तो विषम तत्वों की वृद्धि होती चलेगी।

भारत तो सदैव अहिंसावादी रहा है। मैंने पहले कहा है कि अपने युगसत्य को चिरंतन सत्य की संगति में रखने की कला का ही दूसरा नाम भारतीय संस्कृति, भारतीय परम्परा, भारतीय परिपाटी है। इस सिद्धान्त के विकास ने अहिंसा को, आज से सहस्रों वर्ष पूर्व, हमारे सामाजिक जीवन का आधारभूत नियम बना दिया था , जिसका प्रभाव आज भी हमारे व्यक्तित्व के भीतर अनेक संस्कारों के रूप में विद्यमान है। आप का ध्यान गौतमबुद्ध और महावीर की ओर जायगा; किंतु आप वहीं रुक न जायँ, और आगे बढ़ें; गौतम बुद्ध और महावीर ने अहिंसा को जन्म नहीं दिया था, वे हिंसा की प्रतिक्रियाओं को लेकर चले थे—वह हिंसा जो स्वयं किसी पूर्व अमर्यादित अहिंसा की अमर्यादित प्रतिक्रिया थी; अहिंसा को सामाजिक जीवन में नियामक महत्त्व देने का श्रेय वर्ण और आश्रम-व्यवस्था के आविष्कारक उन प्राचीन महर्षियों को है जिन्होंने आध्यात्मिक तत्त्व की श्रेष्ठता स्वीकार करके मानव की उग्र हिंसक वृत्ति को उसकी अधीनता में स्थापित किया। प्रतिक्रियाएँ होती चलीं; कभी वर्णाश्रम-व्यवस्था के रूप में व्यक्त होनेवाली

अहिंसा का बल बढ़ा और कभी उसके विरोध में खड़ी होने वाली हिंसा का। किंतु समन्वय होता चला है और आज भी अहिंसावादी होकर ही भारत अपनी पराधीनता का बन्धन तोड़ कर सिर ऊँचा करने योग्य हो सका है। ऐसी स्थिति में अहिंसा को भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता मान लेने में, आशा है, किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी।

पौर्वात्य और पाश्चात्य आलोचन दृष्टिकोणों का सामञ्जस्य-स्थापन करते समय हमें इसी अहिंसा-तत्त्व पर विशेष बलपूर्वक आग्रह करना पड़ेगा; उसे ही हमारे राष्ट्रीय व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है; उसे गँवाकर हम उस अमूल्य सुरक्षित पूँजी को क्षति पहुँचाने के अपराधी होंगे जो हमारी राष्ट्रीय निधि है और जिसे हमने अपने प्राचीन पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया है।

भारतीय संस्कृति के समर्थक विवेचकों से मेरा एक अनुरोध है। उनका पक्ष अत्यन्त प्रबल है, किंतु यदि वे उसका ठीक प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते तो उनके सहयोगियों की संख्या घटती चली जायगी; उनका कर्त्तव्य है कि वे नाम-मात्र के लिये नहीं, वरन् हृदय से दैनिक आचरण के द्वारा यह स्पष्ट कर दें कि वे परिवर्तनशील रूप के उपासक नहीं हैं, अपरिवर्तनशील तत्त्व के अन्वेषक और प्रेमिक हैं। पतझड़ के समय निश्चित रूप से जीर्ण पत्ते गिर जायँगे; इन जीर्ण पत्तों के प्रति आसक्ति का भाव दिखाकर, उन्हें डालियों और पत्तों ही में रोक रखने की चेष्टा करके वे अपनी ऐसी दुर्बलता का परिचय देंगे जिसकी कोई भी दवा इस ब्रह्माण्ड में नहीं है। वर्तमान युग में कई बातें स्पष्ट हो गयी हैं, उनमें से एक यह है कि श्रमिक को ही जीवित रहने का अधिकार है; दूसरी यह है कि उच्चता और नीचता की भावना, चाहे वह वर्णगत हो चाहे आर्थिक स्थिति-गत हो, चाहे राजनैतिक अधिकार-मूलक हो, अब अधिक समय तक नहीं टिक सकती। वर्तमान समय मानव व्यक्तित्व के उत्थान का है, प्रत्येक प्रकार के मानव-श्रम की उत्तरोत्तर गौरव वृद्धि का है, काल की प्रेरणा धूलि को आकाश में उड़ा रही है; और आकाश के नक्षत्रों को धूलि में मिला रही है; बड़े-बड़े साम्राज्यों के संगठित समूह भी उसके हुंकार के सामने खड़े होने का साहस नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में भारतीय संस्कृति का पृष्ठपोषक वैज्ञानिक विवेचक पीड़ित उपेक्षित, पददलित के प्रति सहानुभूति रखेगा, जहाँ असत्य का घना अंधकार छाया है, वहाँ सत्य का प्रकाश लेकर अग्रसर होगा, उन रूढ़ियों और स्वार्थों का वह कभी समर्थन नहीं करेगा जिनका संहार ही मानव व्यक्तित्व की, सबसे बड़ी सेवा, सबसे बड़ी मुक्ति है। यदि उसने इस तत्त्व को हृदयंगम न किया तो उसकी विवेचना में शक्ति

नहीं आवेगी और निःशक्त होकर भारतीय समाज के निर्माण-कार्य मे वह कोई भाग नहीं ले सकेगा। स्वभावतः अभारतीय संस्कृति से पोषण प्राप्त करनेवाले विवेचकों का प्रभाव बढ़ेगा और भारतीय समाज क्रमशः उनकी ओर आकर्षित हो जायगा। क्या भारतीय संस्कृति के शुभचिंतक हमारे साहित्य-विवेचकों ने संकट के वास्तविक स्वरूप को कभी समझने की चेष्टा की है ?

अभारतीय संस्कृति के पक्षपाती साहित्यालोचकों से भी मेरा एक निवेदन है। आपने कार्लमार्क्स और फ्रॉयड का अध्ययन किया है और भारतीय समाज में उन्हीं के सिद्धान्तों का प्रयोग आप करना चाहते हैं। आप शौक से इस रोगी का इलाज़ कीजिए, किन्तु एक कुशल चिकित्सक की तरह इसके रोग का पूर्व इतिहास तो समझ लीजिए। क्या आपकी चिकित्सा-कला में यह विधान है कि दो दिन के रोगी को दी जानेवाली दवा ही बीस वर्ष के रोगी को भी दी जाय ? दूसरे शब्दों में, जिस पद्धति से रूप में समाज का उपकार हुआ और वह बलशाली बना, उसे भारतीय संस्कृति से समझौता किये बिना ही, उसकी प्राचीन परिपाटी, प्राचीन परम्परा का समन्वय पाये बिना ही, भारतीय समाज में कार्यान्वित कर के आप सत्परिणाम की आशा किस प्रकार कर सकते हैं ? मानव-व्यक्तित्व के विकास-पथ में खड़ी होनेवाली कठिनाइयों की जो तालिका पश्चिमी चिन्तकों ने बनायी है, उसे भारतवर्ष के लिए भी स्वीकार कर लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती, केवल इतनी व्यवस्था कर दें कि उस तालिका में भारतवर्ष की एक प्रधान कठिनाई का उल्लेख बढ़ा दिया जाय और वह अड़चन यह है कि अहिंसात्मक दृष्टिकोणमूलक भारतीय संस्कृति का त्याग न करके ही समस्त समस्याओं को हल करने की उपादेय प्रणालियों पर यहाँ विचार किया जा सकता है। निस्सन्देह भारतीय समाज के शरीर में आसक्ति-रोग ने भयंकर फोड़ों का रूप धारण कर लिया है; पूँजीवादी, ईश्वरवादी, जमींदारीवादी, वर्णव्यवस्थावादी आदि न जाने कितने वादियों के साथ-साथ अन्य ऐसे 'वादी' भी उत्पन्न होते जा रहे हैं जिनका प्रथम प्रवेश औषधि के रूप में होने पर भी परिणाम रोगी के शरीर में विष की वृद्धि ही के रूप में दिखायी पड़ रहा है। इन सब 'वादियों' के लिए हिंसात्मक क्रान्ति ही आपके पास एकमात्र उपाय है। तो क्या भारत भर में हिंसा की भयंकर आग सुलगा कर ही आप भारतीय समाज का कल्याण-साधन कर सकेंगे ? नहीं, किसान-जमींदार में, मजूर और कारखाने के मालिक में, अस्पृश्य और सवर्ण हिन्दू में, अब्राह्मण और ब्राह्मण में, नास्तिक और ईश्वर-भक्त में; विवाहित पति और पत्नी में, प्राचीन संस्कारों वाले पिता और नव प्रकाश-सम्पन्न पुत्र में जो

विद्वेष पहले ही से विद्यमान है उसे अपनी उदार, किन्तु वैमनस्य को बढ़ाने वाली, सेवा-भावना की तृप्ति के लिए और भी बढ़ाकर हिंसात्मक क्रान्ति के विषाक्त बीज बोकर इस अभागे देश को पुनः दासता के बन्धन में मत डालिए। क्या अभारतीय संस्कृति के अनुगामी हमारे उत्साही एवं विशिष्ट शक्तिशाली साहित्यालोचक बन्धु इस ओर ध्यान देंगे ?

भारतीय और अभारतीय दोनों ही संस्कृतियों के अनुयायीगण से मैं पूछता हूँ कि सत्य-शोध की भावना और अहिंसात्मक दृष्टिकोण की स्वीकृति के रूप में क्या वे कोई समन्वय प्रस्तुत नहीं करेंगे ? यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि एकांगी होकर कोई भी पक्ष जीवित नहीं रह सकेगा। दोनों ही एकदू-सरे के पूरक बनकर समभाव की प्रतिष्ठापना, पूर्ण की सृष्टि करेंगे, तभी वे काल के आशीर्वाद-भाजन बन सकेंगे, अन्यथा वह दोनों ही को ठोकर मार कर धराशायी कर देगा और पूर्ण की रचना के लिए, सम-तत्व की आराधना के लिए अन्य शक्तियों में जीवन-संचार करेगा।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत सच्ची वैज्ञानिक आलोचना को स्थापित करने के सम्बन्ध में हमारा कार्यक्षेत्र कितना विस्तृत है, इसका अनुमान इसी बात से हो सकता है कि हम साहित्य-सिद्धांतों को कण्ठस्थ कर लेने में ही प्रायः सत्समालोचना-साधना की इतिश्री समझने लगे हैं। कहना नहीं होगा कि जो ऐसा समझते हैं, वे भ्रम में हैं। अग्नि में जलाने की शक्ति होनी चाहिए, हिम में शीतल करने की, इसी प्रकार वैज्ञानिक समालोचक में जिस गुण की अनिवार्य आवश्यकता है वह है निस्संगता, निर्लिप्तता का भाव, जो सत्य-शोध-भावना और अहिंसात्मक दृष्टिकोण के अभाव में सर्वथा असम्भव है। पुस्तक-पांडित्य इस गुण के विकास का सहायक हो सकता है, किंतु उसका बहिष्कार करके स्वयं उसके स्थान का अधिकारी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से हमारी दिनोदिन अवनति ही होती जा रही है और द्विवेदी काल में हम जहाँ थे वहाँ से भी अब बहुत दूर नीचे खिसक आये हैं। अब हम सफेद को सफेद और काला को काला कहने से हिचकने लगे हैं; हम साहित्यिक कृतियों के सम्बन्ध में अपनी सच्ची राय नहीं देते, अपना 'मत' देते हैं, जो हमारे द्वेष-ममत्व से प्रभावित होता है अथवा हमारे किसी मित्र या हितैषी के अनुरोध का फल होता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि लोकमत का सर्वथा अभाव हो गया है और संकीर्ण दलबन्दियों की बदली ने साहित्यकार को इतने घने रूप में घेर लिया है कि सत्य-सूर्य कभी प्रकट होंगे या नहीं, उनका अस्तित्व है भी या नहीं, इस सम्बन्ध में भी सन्देह होने लगता है। इन दलबन्दियों के साथ किसी प्रकार की सहानुभूति रखना साहित्य के भविष्य को अन्धकारमय बनाना है,

किन्तु तथ्य बात यह है कि हममें से अधिकांश साहित्य-सेवक उस दलदल में फँसे हैं। आइए, सच्चे हृदय से अपनी इस दुर्बलता का अंत करने के उद्देश्य से उसकी वृद्धि करने वाले कारणों का एक सक्षिप्त अध्ययन हम कर लें।

२---हमारे सरकारी शिक्षाविभागों के सञ्चालक

स्वर्गीय महात्मा गाँधी ने सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन में ब्रिटिश शासन-पद्धति पर आक्रमण करने के सिलसिले में प्रस्तुत शिक्षा-पद्धति की भी आलोचना की थी। उन्होंने कहा था कि हमारे वर्त्तमान शिक्षणालय दासों को उत्पन्न करने वाले कारखाने हैं। उनकी यह आलोचना १ अगस्त १९२१ के आस-पास सही थी तो १५ अगस्त, १९४७ तक भी उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ा, आज दिसम्बर १९४८ तक भी वह ज्यों की त्यों अपने रूप में अचल है और तब तक अकाट्य बनी रहेगी जब तक हमारे शिक्षा-विषयक मूलप्रेरक उद्देश्यों में कोई मौलिक परिर्तन नहीं होता। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, हिन्दी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के समावेश तथा शिक्षा-माध्यम के रूप में हिन्दी भाषा के व्यवहार की स्वीकृति के सिवा अन्य किसी भी नवीनता का सन्निवेश उक्त शिक्षा-पद्धति में नहीं हो सका है। मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक आपसे कहना चाहता हूँ कि जब तक आप अपनी शिक्षण-संस्थाओं का आवश्यक संस्कार नहीं करेंगे तब तक आपको सच्चे साहित्य-विवेचक नहीं प्राप्त हो सकेंगे। आपकी शिक्षण-सस्थाएँ जब शासन-पद्धति को आवश्यक कल-पुर्जे तैयार करके देने वाले कारखाने मात्र न रह कर आज के स्वस्थ, सबल, सद्भाव-सम्पन्न, स्वतन्त्र मानव का निर्माण करने में लग जायेंगी तब वह क्षुद्र व्यापारिक मनोवृत्ति जिसके अधीन होकर हम साहित्य रचनाओं को अपनी सच्ची सम्मति न देकर अनुरोध-प्रभावित कानूनी 'मत' देते हैं, आप ही आप समाप्त हो जायँगी और उसके अन्त के साथ ही संकीर्ण दलबन्दियों का भी अन्त हो जायगा। किन्तु प्रश्न यह है कि शिक्षा-संस्थाओं का संशोधन किस प्रकार हो? आप कहेंगे कि हमारे विद्यालयों में राष्ट्र के लिए उपयोगी समस्त बातों की शिक्षा दी जा रही है और विश्वविद्यालयों में उच्च कोटि के ज्ञान-विज्ञान के आदान-प्रदान के अनुसंधान की व्यवस्था है। आप बतायेंगे कि सुन्दर, सुनिर्मित, सुविधापूर्ण अट्टालिकाओं के भीतर, बिजली के पंखे के नीचे बिजली के प्रकाश में उच्च वेतनभोगी अध्यापकों की देख-रेख में विश्व के शिक्षा-विशेषज्ञों की सलाह के अनुसार शिक्षा दी जा रही है। यह सब सच है किन्तु आपका सारा शिक्षा-प्रबन्ध आँखों से देख कर भी, उसके पक्ष की सारी बातें सुनकर भी मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि यदि आप दुराग्रह-पूर्वक ब्रिटिश साँचे

में ढली हुई इन शिक्षा-संस्थाओं को ज्यों की त्यों बनाये रखेंगे, वर्तमान शिक्षा-पद्धति के मौलिक उद्देश्यों में कोई परिवर्तन नहीं करेंगे—ऐसा परिवर्तन जिससे सुरक्षित, सुसंस्कृत, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा में समर्थ मानव व्यक्तित्व का विकास हो सके—तो मैं कहता हूँ कि अलप्राग निर्माण-कार्य की दिशा में किया सारा प्रयत्न बालू की भीत की तरह धराशायी हो जायगा। हमें स्मरण रखना चाहिए कि मूल को छोड़कर शाखा-पल्लवों को सींचने से कोई लाभ न होगा, कर्त्तव्य-पालन के नाम पर साधारण खानापूरी से काम न चलेगा।

अब वह समय आ गया है जब हम इस बात पर विचार करें कि जिस त्रुटि को ध्यान में रखकर महात्मा गाँधी ने प्रस्तुत शिक्षालयों की आलोचना की थी, उसका निराकरण किस प्रकार हो। साक्षरता का प्रचार बड़ी धूमधाम से हो रहा है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है, किंतु वैसी ही धूमधाम के साथ, उतने ही उत्साह पूर्वक प्रस्तुत शिक्षापद्धति के आधारभूत सिद्धान्तों की परीक्षा का कार्य भी होना चाहिए।

महात्मा गाँधी ने भारतीय संस्कृति के अविराम प्रवाहित स्रोत से अंजलि भर जल लेकर अपने अहिंसात्मक सत्याग्रह नामक पारिजातप्रसून को प्रफुल्ल किया था। उस अहिंसा और सत्याग्रह की आवश्यकता विदेशी शासन को बहिष्कृत करने ही के लिए नहीं थी; वह हमारी निर्वेशात्मक और आत्मक्षयकारक क्षुद्र स्वार्थ-भावनाओं की शुद्धि के लिए भी आवश्यक है। हमारे शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्यों के मध्य में व्यापारिक मनोवृत्ति सर्वग्राहिणी, सर्वग्रासिनी सुरसा राक्षसी की तरह मुँह बाये बैठी है, जो एक ओर तो छात्रों को पुस्तक, कापी और फीस के झमेले में डाल कर उनके अधिकांश निर्धन अभिभावकों का गला काट रही है, दूसरी ओर जीविकाहीन साहित्यकारों और रचनाकारों को भूखों मरने देकर मोटी तोंद वाले दलालों की दलाली का बाजार गर्म कर रही है। इस राक्षसी का अन्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा-नीति के मूल में ही क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करें, हम उसे ऐसा स्वरूप दें कि उससे व्यापारियों की उत्पत्ति न हो, देश-सेवकों का आविर्भाव हो। महात्मा गाँधी के सिद्धान्तों पर आधारित हमारी सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह भारतवर्ष में प्रचलित शिक्षा-नीति के द्वारा जो असत्य, अमर्यादित नंगा नाच हो रहा है उसका अन्त करे और सत्यशोध-भावना तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण के विकास द्वारा निकट भविष्य में सच्चे साहित्य-विवेचकों की उत्पत्ति के लिए मार्ग परिष्कृत करे। सूर्य के प्रखर प्रकाश की तरह ये साहित्य-विवेचक कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर शीघ्र ही साहित्य-रचनाओं के

मिथ्या मूल्यांकन-स्वरूप उस कुहरे का ध्वस कर देंगे जो वर्त्तमान समय में हमारी आँखों को अन्धी बना रहा है।

हमारे विश्वविद्यालयों में शोध का जो कार्य हो रहा है, व्यवस्थित अध्ययन-अध्यापन का जो क्रम चल रहा है, मैं उसका उचित मूल्य मानता हूँ; वह हमारे ज्ञानार्जन के प्रयत्न में अलङ्करण स्वरूप हो सकता है। किन्तु न कोई व्यक्ति अलङ्करण का सहारा लेकर अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है और न कोई राष्ट्र ही इस पथ पर चल कर अपने उद्देश्य की सिद्धि कर सकता है। व्यक्ति और राष्ट्र दोनों ही के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने शरीर में प्राण का अस्तित्व पहले सुनिश्चित कर लें और तब शरीर की सजावट की ओर ध्यान दें। प्राणहीन देह को यदि बहुमूल्य रत्नों से भी सजा दिया जाय तो उससे क्या लाभ होगा? संक्षेप में मेरा निवेदन यह है कि हम शान्त चित्त होकर बैठें और विचार करें कि हमारी शिक्षा-संस्थाओं के पाठ्यक्रम में जो अनिवार्यतः आवश्यक की पूर्ण उपेक्षा करके साधारणतः आवश्यक एवं मूलतः अलंकरण-स्वरूप तत्त्व की प्रतिष्ठापना, ब्रिटिश शासन का अन्त हो जाने पर भी, अभी ज्यों की त्यों चल रही है, उसमें उचित संशोधन कम से कम कितने समय में हो जायगा।

हमारे शिक्षा-विभाग के संचालकों का यह कर्त्तव्य है कि वे भारतीय संस्कृति के साथ समन्वय स्थापित करने का अविलम्ब प्रयत्न करें। वे यह स्मरण रखें कि ब्रिटिश साँचे में ढाले हुए शिक्षालयों को असंशोधित रूप में चलाते रहने से राष्ट्र की अपरिमित शक्ति का क्षय होने की आशंका है। विशेष कर उस अवस्था में जबकि इस प्रकार का समन्वय ही हमारी भारतीय संस्कृति का प्राण है, उसमें अनावश्यक विलम्ब करना, उसकी ओर ध्यान न देना, अपने जीवन-विकास को कुण्ठित करना है, जान बूझ कर अपने ही संहार में प्रवृत्त होना है। विशुद्ध सत्य पर आग्रह करने वाली अहिंसामयी भारतीय संस्कृति की फैली हुई भुजाएँ सत्य के किसी भी स्वरूप का, उसकी अभिव्यक्ति की किसी भी शैली का बहिष्कार नहीं कर सकतीं। उस विशेष स्वरूप और विशेष शैली के आविष्कारक चाहे मुहम्मद हों, चाहे ईसा हों, चाहे फ्रॉयड, कार्ल मार्क्स अथवा लेनिन हों। भारतीय संस्कृति के प्रकाश में हम संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान का संग्रह करें तथा अपने दैनिक आचरण को अर्जित ज्ञान की संगति में लाकर हिंदी-साहित्य के अन्तर्गत रचना का स्तर ऊँचे उठाने के उद्देश्य से अपनी माँग का तल ऊँचे उठावें। हिंदी साहित्य में वैज्ञानिक आलोचना के विकास के लिए यह सब होना नितान्त आवश्यक है।

जितने कार्य की चर्चा ऊपर की गयी है, यदि उतने ही की पूर्ति हमारी राष्ट्रीय

सरकारों के शिक्षाविभागों द्वारा हो जाय तो हिन्दी-साहित्य में विवेचना का पथ बहुत कुछ परिष्कृत हो जाय। स्वभावतः इस कार्य के आरम्भ हो जाने पर भी उसका फल हमें कुछ काल के अनन्तर ही मिल सकेगा। अतएव, एकाध ऐसी बातों की ओर भी मैं अपने शिक्षा-विभागों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जिनका तत्काल प्रभाव हिंदी-साहित्यालोचना के तल को ऊँचे उठाने के कार्य में सफल हो सकता है।

थोड़े दिनों से हम प्रायः हिन्दी-साहित्यकार की आर्थिक-हीनता की चर्चा, खुल्लमखुल्ला सभाओं में करने ,लगे हैं। ऐसी संस्थाएँ भी क्रमशः स्थापित होने लगी हैं जो साहित्यकारों की शोचनीय आर्थिक परिस्थिति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार रखना चाहती है। सद्‌भाव के ये सब प्रदर्शन बड़े ही हृदयग्राही हैं; किन्तु इनमें भी सावधान रहने की बड़ी आवश्यकता है। आप साहित्यकार की आर्थिक सहायता तो कीजिए, किंतु इस बात का ध्यान रखिए कि उसके आत्म-सम्मान भाव को ठेस न लगने पावे, उसका पतन न होने पावे। व्यक्तियों की कृपा का पात्र बन कर जब वह कृतज्ञता के भार से दबता है, उस समय इस बात की आशंका रहती है कि कहीं वह दबने की उचित सीमा का अतिक्रमण न कर जाय। यही सम्भावना राजकीय अधिकारियों के संसर्गबाहुल्य से भी उत्पन्न हो सकती है; वहाँ भी संकीर्ण दलबन्दियाँ हो सकती हैं और उनमें साहित्यकार से नैतिक समर्थन प्राप्त करने की अनुचित प्रवृत्ति हो सकती है। सच बात यह है कि हमें साहित्यकार को पूर्णरूप से निस्संग, निर्लिप्त बने रहने का अवसर देना चाहिए और उसकी आर्थिक -व्यवस्था भी ऐसी रखनी चाहिए कि वह परमुखापेक्षी न बने। ऐसा किस प्रकार सम्भव है? साहित्यकार की कृति ही उसकी सम्पत्ति है; अपनी कृति की खपत से होने वाले लाभ का उचित अंश प्राप्त कर के अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने योग्य परिस्थिति में उसे होना चाहिए। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रसिद्ध साहित्यकारों की कृतियों की एक सूची अपने पास रखे; इस सूची में से प्रत्येक साहित्यकार की पुस्तकों के प्रकाशन और वितरण-सम्बन्धी समस्त आँकड़े एकत्र किये जायँ और यदि यह देखा जाय कि साहित्यकार-विशेष की कृतियों से साधारणतया जितनी आय उचित व्यवस्था से हो सकती है, उतनी उसे नहीं हो रही है तो सरकार उचित प्रबन्ध करे, जिससे साहित्यकार को भूखों मरने की नौबत न आवे। सरकारी नियंत्रणों के इस काल में, जब सभी वस्तुओं की दर निर्धारित हो रही है, क्या ही अच्छा हो यदि सरकार साहित्यकारों के पारिश्रमिक आदि की दर निश्चित कर दे। खेद है, अपनी आर्थिक शक्ति की निर्बलता के कारण साहित्यकार किस प्रकार ठगा जा रहा है, किस प्रकार पूरे

महीने परिश्रम करके भी अन्तिम दिन वह अपने को ऋणग्रस्त पा रहा है, इसकी ओर हमारे उन नवीन अधिकारियों का ध्यान नहीं है जिनके जय-जयकार का जनता के द्वारा निर्घोष आकाश तक गुंजाने की प्रेरणा देने के लिए उसने चलती लू में पसीना बहा कर, प्रदर्शनों और आत्म-विज्ञापनों से दूर रह कर लोक-हितैषी साहित्य का निर्माण किया था। आप इस भ्रम में न रहें कि साहित्यकार को विश्वविद्यालयों अथवा महाविद्यालयों में स्थान देने से अथवा कभी-कभी भूल-चूक से रेडियो की एक 'टाक' दे देने से यह समस्या हल हो सकेगी। साहित्यकार की स्वतंत्रता को अक्षत बनाये रख कर आप को उसे ऐसी स्थिति में लाना है कि वह अपनी कृतियों के पारिश्रमिक के आधार पर जी सके, साधारण, सरल, ऋण-बाधामुक्त जीवन-यापन कर सके। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गत बम्बई अधिवेशन के सभापति महोदय ने घोषणा की थी कि १५ अगस्त, १९४७ के पूर्व प्रकाशकों ने लेखकों से जो कापीराइट ले लिये हैं, वे रद्द कर दिए जायँ और लेखकों का अपनी कृतियों पर पुनः अधिकार राजमान्य हो। हमारी राष्ट्रीय सरकार यदि अपने साहित्यकारों के प्रति अपने इस कर्त्तव्य का किसी भी अंश में पालन करना उचित समझती है तो साहित्य-परिषद् से प्राप्त नैतिक अधिकार के बल पर मैं भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ कहना चाहता हूँ कि इतना तो वह न्यूनतम भाग है जो उपेक्षित, तिरस्कृत, पीड़ित साहित्यकार को प्रत्येक दशा में अपनी राष्ट्रीय सरकार से मिलना ही चाहिए; क्या हमारी सरकार इतना भी नहीं कर सकेगी ?

किसी व्यक्ति अथवा राजनैतिक दल के प्रभाव में न रह कर, किसी दयालु संस्था की अनुग्रह-भिक्षा का अनुचित आश्रय भी न ग्रहण कर, अपनी कृतियों की सुव्यवस्थित उचित आय पर ही अवलम्बित रह कर संतोषपूर्वक, निर्धनता को शंकर की विभूति की तरह अलंकार के रूप में ग्रहण कर जब साहित्यकार, प्राचीन ऋषियों की तरह, हमारे साहित्य की समीक्षा करेगा तभी हमारा साहित्य-सम्बन्धी मूल्याङ्कन, सत्य-शोध और अहिंसात्मक दृष्टिकोण पर आधारित हो सकेगा और तभी हम देखेंगे कि हमारे प्रगतिशील साहित्यिक दल ने अपना वास्तविक नेता प्राप्त कर लिया है।

साहित्य के विवेचकों को प्रकृत स्थिति में लाने के लिए नम्र प्रार्थना के रूप में मैंने थोड़े से शब्दों में जो निवेदन किया है, उसकी स्वीकृति की ओर यदि हमारे शिक्षा-विभाग के संचालकगण उचित ध्यान देंगे, तो उसका सत्परिणाम हमें शीघ्र ही दृष्टिगोचर हो सकता है।

भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों को अपने शिक्षा-विभाग की नीति में नियामक

स्थान देकर जब उसके संचालक हमारे राजनैतिक प्रतिनिधिगण अपने प्रकृत रूप को प्राप्त करेंगे तथा उसके परिणामस्वरूप हमारे प्रकृत साहित्य-विवेचक स्वतंत्रता के वातावरण में साँस लेकर देश और समाज की सच्ची सेवा करने के योग्य बनेंगे, तब हम अपने देश, समाज और साहित्य का प्रकृत सिंहावलोकन प्राप्त कर सकेंगे, जो हमारी शक्ति और दुर्बलता को प्रतिबिम्बित करने वाले दर्पण का काम देगा। हमारे भावी रचनाकार किस दिशा में प्रगति करे, यह बात तभी निर्णीत हो सकेगी।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जब तक आदर्श समीक्षक के पदार्पण के लिए उक्त आदर्श वातावरण न तैयार हो तब तक हम लोग हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहें। नहीं, जैसी भी परिस्थिति हमें प्राप्त है उसके अनुसार देश और समाज की सेवा के लिए शक्ति भर उत्तम और ओजस्वी साहित्य-निर्माण करने का उत्तर-दायित्व हम अनुभव करें। यदि हम यथासामर्थ्य काम में लगे रहेंगे तो हमारे सेवा-भाव का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा और कभी न कभी जो थोड़ी-सी सुविधाएँ हम चाहते हैं, वे हमें प्राप्त होकर रहेंगी।

मैं थोड़ी देर के लिए कल्पना कर लेता हूँ कि साहित्य-परिषद् में यहाँ जितने विद्वान् एकत्र हुए हैं वे सब इस बात पर सहमत हैं कि विवेचनागत समतत्त्व के रूप में सत्यशोध की भावना तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोणमूलक भारतीय संस्कृति को ग्रहण करना हमारे लिए अनिवार्यतः आवश्यक है। इसी कल्पना के आधार पर हिन्दी-साहित्य के प्रस्तुत रचनाकारों की स्थिति को प्रकृत बनाने के सम्बन्ध में कुछ शब्द निवेदित करने के लिए मैं आगे बढ़ता हूँ।

३—हमारे रचनाकार

रचनाकार, रचना करने के अनन्तर यह आशा करता है कि उसकी कृति का उचित मूल्यांकन होगा। सत्समालोचकों की मंडली में यथायोग्य आदर पाकर वह उत्साहित होता है और अन्य मनोरम कृतियों की उत्पत्ति में लगता है। यदि हमारे यहाँ वैज्ञानिक आलोचना का विकास होता और सत्यशोध-भावना तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण की सहायता से हम प्रस्तुत कृतियों के सम्बन्ध में विवेचना करने के लिए आगे बढ़ते तो रचनाओं का यथार्थप्राय मूल्यांकन असम्भव न हो जाता। रुचि-वैचित्र्य के कारण विद्वानों में भी मतभेद स्वाभाविक है, किन्तु वर्त्तमानकालीन पारितोषिकों के निर्णय में हम जिस मतभेद का परिचय देते है उसका आधार साहित्य का सिद्धान्त नहीं, व्यक्ति की आसक्ति है। हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में प्रत्येक के वर्त्तमानकालीन विवरणों पर दृष्टिपात कीजिए; आप

उनमें व्यक्त होने वाले मतवैषम्य को देखकर दाँतों तले उँगली दबा लेंगे! साधारण और असाधारण रचनाकार की भी पहचान करने के लिए वहाँ न कोई साहित्यिक कसौटी है, न कोई सिद्धान्त है; परिणाम यह है कि एक इतिहासकार रचनाकार-विशेष को महत्त्व देता है और दूसरा किसी अन्य को अपनी प्रशंसा का पात्र समझता है और दोनों ही स्वच्छन्दतापूर्वक कितने ही ऐसे रचनाकारों के नामों का लोप कर देते हैं जिनकी उपेक्षा से स्वयं उसी के इतिहास की अपरिमित हानि होती है, क्योंकि उसे लोकमत के न्यायालय में अपराधी बनकर उपस्थित होना पड़ता है।

वर्तमानकालीन रचनाकार की अपेक्षा प्राचीन रचनाकार के सम्बन्ध में रागद्वेष से प्रभावित होने की कम आशंका रहती है, किन्तु यदि हमें हिन्दी साहित्य को विश्व के साहित्यसेवियों की दृष्टि में ऊँचा उठाना है तो अपनी प्रशंसा, अपनी उपेक्षा और निन्दा के वितरण से सर्वत्र अधिक सजग और सावधान होना पड़ेगा, साथ ही, अपने अनुसन्धान के क्षेत्र में गौण और प्रधान अंशों को पृथक्-पृथक् करके उनका निर्वाचन करना होगा और इस बात को दृष्टि में रखना होगा कि प्रधान की ओर हमारा ध्यान और परिश्रम पहले लगे तथा अधिक मात्रा में लगे। सत्य-शोध की भावना तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण की सहायता से एक बार हम सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करें और देखें कि किस रचनाकार की कला में कितना सत्य है और रचनात्मक प्रेम का कितना विकास है। हनूमान ने अमूल्य मणियों को तोड़-तोड़ कर ईटों और पत्थरों के ढेर में फेंक दिया था; कारण यह कि वे राम नाम के खोजी थे और उनमें रामनाम नहीं मिलता था। रचनाकार ने साहित्यरचना के माध्यम द्वारा किस युग-सत्य की अभिव्यक्ति की है, वह युगसत्य चिरंतन सत्य से कितनी मात्रा में सम्बद्ध और सुसंगत है, इसका अनुसंधान हम हनूमान की निस्संग, निर्लिप्त, असंगल भावना के साथ करें। तुलसीदास जी राजापुर के रहनेवाले थे या सोंरो के, वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे या कनौजिया थे, यह सब भी रोचक विवाद हैं और साहित्य-सेवियों की जीवनी के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा की पूर्ति भी होनी ही चाहिए; किन्तु अन्ततोगत्वा यह सब गौण हैं; मूलतः आवश्यक है तुलसीदास की कला के उन रहस्यों का उद्घाटन, उन गूढ़-तत्त्वों का विवेचन, जिन के कारण साढ़े तीन सौ वर्षों से हमारे हृदयों पर राज्य करके रामचरित मानस निकट भविष्य में विदेशियों और विधर्मियों की भी श्रद्धा का पात्र होने जा रहा है। सूर ने विवाह किया था या नहीं, उन्होंने अपनी आँखें फोड़ ली थीं या वे जन्म से अंधे थे, यह जान लेने से भी हमारे कौतूहल की तृप्ति होती है और जिसके उद्योग और श्रम से इसका साधन हमें सुलभ होता है वह भी

हमारे धन्यवाद का पात्र है; किन्तु हमारे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है यह जानना कि सूरकाव्यकला के वे कौन से उपकरण हैं जिनके द्वारा, समय की इतनी दूरी होने पर भी, हमारा हृदय उनके हृदय के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर झंकृत हो उठता है। इस ज्ञान-सामग्री को उपलब्ध करना साधारण जिज्ञासा अथवा कौतूहल-समाधान मात्र के लिए नहीं है; यह अनुसंधान अपने राष्ट्रीय जीवन के सूक्ष्म स्तरों के उस अध्ययन के निमित्त है जिसके आधार पर ही हम भविष्य में तुलसी और सूर जैसे महान् कलाकारों की पुनरुत्पत्ति का स्वप्न देखने के योग्य बनेंगे।

यहाँ तक आपके सामने मैंने जो निवेदन किया है उसका सारांश इस प्रकार है—(१) हमें ऐसे प्रकृत विवेचक की आवश्यकता है जिसकी विवेचना वैज्ञानिक हो; (२) प्रकृत विवेचक की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक प्रचलित राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति अपने प्रकृत स्वरूप को न प्राप्त करे; (३) हमारे शिक्षालयों में केवल कौतूहल की तृप्ति करने वाले अनुसंधान कार्य की तुलना में आनन्दवर्द्धक, रचनात्मक तत्त्वों के प्रकाशन में संलग्न अनुसन्धान-कार्य को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। वास्तव में इन तीनों में से प्रत्येक की प्रगति शेष दोनों के सहयोग पर निर्भर है और तीनों की प्रगति हमारे प्रकृत रचनाकार की उत्पत्ति तथा प्रगति के लिए आवश्यक है।

अब विचारणीय यह है कि विवेचनागत समसिद्धांत की प्रतिष्ठापना के अनन्तर क्या रचनागत समसिद्धांत की पृथक् रूप से खोज की आवश्यकता रह जायगी? दोनों ही को युगसत्य की आराधना करनी है तथा उसे चिरन्तन सत्य के साथ सम्बद्ध रखना है; यदि दोनों में कहीं भिन्नता हो सकती है तो वह है अभिव्यक्ति के क्षेत्र में; विवेचक अपने आप को तर्क और प्रमाण पर आधारित करता है, इसके विपरीत रचनाकार मानव-हृदय की भावनाओं और उसके उद्गारों पर अवलम्बित होता है। इस साधारण अन्तर को छोड़कर विवेचनागत और रचनागत समसिद्धांत अभिन्न ही रहेगा अन्यथा हमारी मानसिक शक्तियों का कोई संगठन नहीं हो सकेगा। संक्षेप में, मेरा निवेदन यह है कि सत्यशोध की भावना और अहिंसात्मक दृष्टिकोण द्वारा चिरंतन-सत्य-सम्मत अपने युग-सत्य को हृदयंगम करके हमारे रचनाकार को उसे साहित्य कला के विविध रूपों में उतारना होगा। हमारा वर्तमान रचनाकार यदि इस एक मौलिक सिद्धांत को स्वीकार करले, यदि वह अपनी प्रत्येक कृति में सत्य और प्रेम अथवा अहिंसा की मूर्ति ही प्रतिष्ठित किया करे तो मनोरंजन की असीम शक्ति से उत्पन्न होने के कारण उसका उपदेश सहज ही हमारे समाज के रचनात्मक आदर्शों का प्रचलन कर दे।

निस्सन्देह हमारा वर्तमान रचनाकार उक्त सिद्धांत को ग्रहण करने में असमर्थ दिखायी पड़ रहा है। इसका उत्तरदायित्व उस पर तो है ही, किन्तु जितना उस पर है, उससे अधिक उस समाज पर है जिसने उसके जीवन को एक विशेष स्वरूप दिया है, उसकी परिस्थितियों को एक विशेष साँचे में ढाला है। आज वह उस एंजिन की तरह है जो अपनी प्रकृति अवस्था में हमें देशान्तर यात्रा का आनन्द दिलाने का सामर्थ्य रखकर भी विपथगामी अथवा निष्क्रिय हो जाने के कारण लाभ कराने के स्थान में या तो हमारी क्षति कर रहा है या हम जहाँ थे, वहीं हमें रोककर खड़ा है।

जो हो, रचनाकार को अपने पैरों पर खड़ा होना है। उचित कार्य को उचित ढंग से करने की क्षमता उसे अपने में स्वयं विकसित करनी है। उसकी असमर्थता का चाहे जो भी कारण हो, आगे आनेवाली पीढ़ियाँ उसकी आलोचना करने में नहीं चूकेंगी। अतएव उसे अपने मार्ग के काँटों को स्वयं ही एक ओर फेंक कर प्रगति करनी चाहिए। उसे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि उच्च कलात्मक कृतियों का निर्माण बँगलों और अट्टालिकाओं में ही सदैव नहीं होता और न मोटरों में सैर के लिए लालायित रहनेवालों के द्वारा ही वह सदा होता रहा है। विश्व की महान् कृतियाँ उन महाप्राण रचनाकारों की लेखनी से प्रसूत हुई हैं जिनके पास आज भोजन है तो कल के लिए कोई प्रबन्ध नहीं है, जिन्होंने अनुचित उपायों से मिलनेवाले धन के लिए हाथ नहीं फैलाये, जिन्होंने पूंजीपतियों के और राजकीय अधिकारियों की दरबारदारी करके, उनकी कृपा अर्जित करने के स्थान में भूखों मर जाना अधिक पसन्द किया।

यदि विवेचक को निस्संगता, निरपेक्षता या अनासक्ति की शिक्षा ग्रहण करनी है तो रचनाकार को भी इसी पथ पर चलना है; उसे समाज के सभी वर्गों के प्रति अपने हृदय की सच्ची सहानुभूति देनी है, सच्चा स्नेह देना है और फिर भी अपने निस्संग भाव को बनाये रखना है। लम्पट, पतित, चरित्रहीन, उत्पीड़क—सभी रचनाकार के प्रेम की अपेक्षा करते हैं, उनकी कृपादृष्टि के भिखारी हैं और सबको अपनी दया, अपनी करुणा का वितरण करना उनका महान् धर्म है, जिसका पालन न करके वह स्वयं ही पतित हो जायगा। सत्य, प्रेम और अहिंसा ही एकमात्र पक्ष है जिसके लिए रचनाकार पक्षपात कर सकता है; प्रगति ही एकमात्र दल है जिसका वह सदस्य हो सकता है; केवल इतने के लिए उसे छूट है। इस मर्यादा का अतिक्रमण करके वह अपने उच्च आसन से नीचे गिरता है; उसकी वाणी में बल नहीं रह जाता, उसकी कला अनुप्राणित नहीं होती।

जिस कलाकार, रचनाकार के जीवन में निस्संगता नहीं है, उसकी कला में भी संगजात दूषण आ ही जाते हैं जिससे साहित्य की मर्यादा नष्ट होती है। अपनी मूल शक्ति से रहित होकर ऐसे साहित्य-स्रष्टा की कला वाह्य उपकरणों और अलकरणों में अपनी हानि-पूर्ति के साधन ढूँढ़ती है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों की यही स्थिति थी। उनमें तपस्या नहीं थी, साधना नहीं थी, निस्संगता का, अनासक्ति का अभाव था; इसी कारण वे सूर और तुलसी ही के विषय को हाथ में लेकर भी मानव-हृदय को अनुभूति की उस चोटी पर नहीं चढ़ा सके जिस पर ये महाकवि उसे निरंतर अनेक शताब्दियों से आसीन करते आ रहे हैं। मुझे भय है, कहीं रीतिकाल ही की स्थिति में हमारे वर्तमान युग के रचनाकार न पड़ जायँ। यदि ऐसा हो गया तो यह हमारे लिए बड़ी शोचनीय बात होगी, क्योंकि रीतिकाल में रचनाकारों के सामने सामाजिक निर्माण के वैसे सुअवसर नहीं प्राप्त थे जैसे वर्तमान युग के रचनाकारों को उपलब्ध हैं और न उन पर वैसा उत्तर-दायित्व ही था जैसा आज के रचनाकारों पर है।

मैं वर्तमान युग के हिन्दी-रचनाकार का महत्त्व घटाने की चेष्टा नहीं कर रहा हूँ, उसने अनेक दिशाओं में सराहनीय प्रगति की है। उसकी आज की प्रगति सामान्यतः भारत की किसी भी भाषा के रचनाकार की प्रगति से निम्न श्रेणी की नहीं है। महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि सभी क्षेत्रों में वह कार्यशील हो रहा है। किन्तु मेरा निवेदन यह है कि एक समय था जब हमने सूर और तुलसी की रचनाओं के द्वारा भारतीय साहित्य का नेतृत्व किया था और एक समय आज है जब वह नेतृत्व हमारे हाथ में नहीं रह गया है। भारत की अन्य भाषाओं के आधुनिक साहित्य में ऐसे रचनाकार हुए हैं और हो रहे हैं जिनका यश भारत की सीमाओं को पार करके अन्तर्राष्ट्रीय-जगत् में प्रवेश कर गया है। ऐसे रचनाकार हमारे यहाँ कहाँ हैं? देश के एक छोर से दूसरे छोर तक बोली जाने वाली हिन्दी के सफल आधुनिक रचनाकारों की नामावली माँगी जाय तो शायद एक दर्जन से अधिक नाम नहीं मिल सकेंगे। और इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई हो। ऐसी अवस्था में यह तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा ही कि हमारे आगे अनन्त, विस्तृत कार्यक्षेत्र हमारी शक्तियों के उपयोग का आह्वान कर रहा है। क्या हम उसका उचित उत्तर देंगे?

हमारे यहाँ जिस तेजी से रचनाकारों का लोप हो रहा है, उस तेजी से उनकी संख्या में वृद्धि नहीं हो रही है; थोड़े ही समय के भीतर महाकवि 'हरिऔध', सिद्धहस्त उपन्यासकार श्री प्रेमचंद, यशस्वी नाटककार श्री जयशंकर 'प्रसाद'

चले गये। विवेचकों में स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल नहीं रहे। ये चारों ही अपने-अपने क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक थे। इनका अभाव हो जाने से हमारे साहित्य की जो क्षति हुई है; उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। जो हो, जितने दिन वे हमारे साथ रहे, उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया; अब हमारे कंधों पर जो भार आया है, हम उसको साहस, त्याग और भावपूर्वक सँभालें, उससे बचने के लिए बहाने न निकालें, साहित्य-निर्माण को अल्पप्राण वासनाओं की तृप्ति के साधन रूप में ग्रहण कर अपने समाज और राष्ट्र का भविष्य अंधकारमय न बनावें।

हमारे रचनाकारों को यह स्मरण रखना चाहिए कि अमृतवर्षिणी और जीवनदायिनी पंक्तियाँ लिखने की अपेक्षा विष पिलाकर जीवन का नाश करने-वाली पंक्तियाँ लिखना अधिक आसान है; अच्छे बने हुए महल को एक दियासलाई एक दिन में नष्ट कर सकती है, किन्तु उसी की रचना करनी हो तो उसके लिए बहुत से श्रमिकों को बरसों परिश्रम करना होगा। इस बात को ध्यान में रखकर हमारे रचनाकार भावी भारतीय समाज का निर्माण करें। जो लोग यह सोचते हैं कि कांग्रेस के सभापति, अथवा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के मंत्रीगण इस कार्य को कर लेंगे, वे भ्रम में हैं; वे केवल उस तैयार खड़ी खेती को काटने वाले मजदूर हैं जिसे किसान रचनाकार ने बड़े परिश्रम और बहुत अधिक सावधानी के साथ बोया था, सींचा था, अंकुरित-पल्लवित किया था, चर जाने वाले जानवरों से बचाया था और जिसकी रक्षा के लिए उसने खेत की मेंड़ पर घुटने टेककर आँधी-पानी, ओले-पाले के रूप में अपने कोप को प्रदर्शित करने वाले इन्द्रदेव से प्रार्थना की थी।

समाज में रचनाकार का स्थान बहुत ऊँचा है; वह पृथ्वी पर का ब्रह्मा है, भूसुर है। अपने प्रकृत रूप में वह विवेचक से भी महान् है, चिन्तक से भी श्रेष्ठतर है; प्रत्येक प्रकृत रचनाकार नहीं हो सकता, किन्तु प्रत्येक प्रकृत रचनाकार में विवेचक की विशेषता स्वभावतः सन्निविष्ट रहती है। विवेचक की सार्थकता तो इसी में है कि वह रचनाकार को सचेत करे, सावधान और जाग्रत बनावे, जैसे सीता-खोज की तैयारी के अवसर पर जाम्बवन्त ने हनूमान को उद्‌बोधित किया था। वह उसके महत्त्व को कम करने के लिए नहीं है, उसके चमत्कारों की घोषणा करने के लिए है। क्या ऐसे महान् रचनाकार के उच्च सिंहासन पर आसीन होना हमारे वर्तमान युग के साहित्यस्रष्टा अपने जीवन का लक्ष्य बनायेंगे?

जब हमारे सामाजिक जीवन का प्रभाव अवरुद्ध होकर अपनी मूलधारा से

पृथक् एक गन्दे सोते के रूप में परिणत होता है तब उसके अस्वास्थ्यकर, अहितकर होने की प्रथम अनुभूति प्रकृत रचनाकार ही को होती है; इस सम्बन्ध में वह उसी प्रकार उपयोगी है, जैसे ज्वर की नाप करने के लिए थरमामीटर आवश्यक होता है। जैसे हम थरमामीटर को बहुत सँभाल कर रखते हैं, वैसे ही हमारे समाज का भी कर्त्तव्य है कि वह अपने रचनाकार को प्रकृत, स्वस्थ अवस्था में रखे। प्रकृत रचनाकार के अभाव में प्रकृत विवेचक उसकी उत्पत्ति के लिए मार्ग परिष्कृत करता है और अन्तर-काल में सामाजिक सुधारक के रूप में कार्य करता है। किन्तु प्रकृत रचनाकार की आवश्यकता अनिवार्य बनी ही रहती है, क्योंकि उसी के हाथ में वह साँचा है जिसमें ढलकर समाज पुनर्जीवन प्राप्त कर सकता है। विश्व में जिस समाज को उचित अवसर पर प्रकृत रचनाकार की प्राप्ति नहीं हुई वह सीमित, संकीर्ण पथावलम्बी होकर शीघ्र ही काल के गाल में समा गया। हमारा भारतीय समाज प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक अपने उचित अवसर पर प्रकृत विवेचक और प्रकृत रचनाकार से सहारा पाकर ही जीवित है और नये साँचे में ढलकर आगे भी जीवित रहने की आशा करता है। क्या उसकी यह आशा पूर्ण होगी? क्या हमें प्रकृत विवेचक और प्रकृत रचनाकार की प्राप्ति होगी?

प्रकृत विवेचक और प्रकृत रचनाकार का यदि हमें स्वागत करना है तो पहले उनको पहचानना होगा, जिससे कहीं धोखे में पड़कर हम अपना अभिवादन विकृत विवेचक और विकृत रचनाकार को न दे दें। मैंने पहले ही यह निवेदन किया है कि सत्यशोध-भावना तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण इन दोनों ही की कृति में होना अनिवार्यतः आवश्यक है। इस गुण का जिस विवेचक में अभाव हो उसे विकृत विवेचक और जिस रचनाकार में यह विशेषता न हो उसे विकृत रचनाकार कहने के लिए हम विवश हैं।

प्रकृत विवेचना और प्रकृत रचना फलित ज्योतिष की कुण्डली की तरह काल्पनिक वस्तुएँ हैं; इनमें पूर्णता प्राप्त करना असम्भव है, हम पूर्ण के निकट पहुँचने ही का प्रयास कर सकते हैं। संसार का कोई भी रचनाकार ऐसा नहीं है जिसकी कृति में विकृत की खोज न की जा सके। कालिदास, तुलसीदास, सूरदास की भी रचनाओं में हम अपूर्णता का, विकृत का अन्वेषण कर सकते हैं। इस अपूर्णता विकृत के होते हुए भी वे महान् हैं; उनकी इस महत्ता का रहस्य यह है कि उन्होंने अधिक से अधिक पूर्ण, अधिक से अधिक प्रकृत होने के लिए प्रखर साधना की है, गहरी तपस्या की है जिसका परिणाम यह हुआ कि विकृत के होते हुए भी उनकी कृति का कलात्मक स्तर युगसत्य के स्तर से ऊँचा रहा है और उनकी

थोड़ी-बहुत विकृति अत्यन्त प्रगतिशील प्रकृति के समुद्र में निमग्न हो गयी है। हमारे वर्तमान रचनाकार में भी यदि इसी प्रकार की विकृति हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं। शोचनीय बात तब होगी जब उसकी विकृति उस युगसत्य के स्तर से निम्न हो जायगी, जिसे हम अपने वर्तमान सामाजिक जीवन के सुव्यवस्थित विकास के लिए, अपने अज्ञान, प्रमाद आदि से उत्पन्न होने वाले बन्धनों को तोड़ने के लिए निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया है। यह युग-सत्य वही है जिसके द्वारा हमने उत्पीड़क विदेशी शासन से मुक्ति पायी है और जो उस मुक्ति को चिरस्थायी बनाने के लिए हमारी सम्पूर्ण शक्तियों को आवाहित कर रहा है। क्या उस युगसत्य का नाम हिमालय की चोटी पर बैठकर घोषित करने की आवश्यकता है? क्या 'अहिंसात्मक सत्याग्रह' से हम चिर-परिचित नहीं हैं?

हाँ, यह अहिंसात्मक सत्याग्रह ही हमारा युगसत्य है। अपनी समस्त विकृति के रहते हुए भी यदि हमारी रचना में निहित समाविष्ट सत्य का स्तर अहिंसात्मक सत्याग्रह के सत्य से उच्चतर अथवा उसके समकक्ष होगा तो उससे समाज का उपकार हो सकेगा और वह उपादेय हो जायेगा; किन्तु यदि हमारी कृति में प्राण रूप में विद्यमान सत्य का स्तर अहिंसात्मक सत्याग्रह के स्तर से नीचा होगा तो हमें समाज के सामने उत्तरदायी हो जाना पड़ेगा। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि चिरन्तन सत्यसेवियों को भी युगसत्य का कर देना पड़ता है, फिर जो युग-सत्य के विरोधी आचरण में लगकर उसको अपदस्थ करने में लगेंगे, उन्हें तो दंडनीय होना ही पड़ेगा।

हमें यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि हमारा प्रस्तुत युगसत्य अनिश्चित, अपरिमित समय तक हमारे जीवन में कार्यशील होने के लिए आया है। जो लोग यह समझते हैं कि वह अपने प्रचारक महात्मा गांधी के साथ सदा के लिए चला गया, वे धोखा खा रहे हैं; भारतीय मानव व्यक्तित्व को सुव्यवस्थित और शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए वह अवतीर्ण हुआ है और उसकी प्रगति, उसकी कार्य-प्रेरणा की तब समाप्ति होगी जब हमारे समाज का पतित से पतित, दलित से दलित व्यक्ति मानवता की श्रेष्ठता से सम्पन्न हो लेगा। राजनीति से हटकर वह साहित्य में प्रवेश करेगा और साहित्य में अभिव्यक्ति पाकर फिर साधारण जन-जीवन में, समाज के दैनिक आचरण में, कार्यशैली में व्यक्त होगा। जितनी ही जल्दी हम इस यथार्थता को हृदयंगम कर लें, उतना ही अच्छा हमारे लिए होगा; क्योंकि तब हम उसका अनावश्यक विरोध कर के अपयश भागी होने से बच जायँगे।

जब यह निर्विवाद है कि अहिंसात्मक सत्याग्रह हमारे रचनात्मक साहित्य

को प्रभावित करने के लिए आ रहा है, तब यह विचारणीय हो जाता है कि वह अपने राजनैतिक प्रचारात्मक मूल्यों द्वारा हिन्दी साहित्य कला को नीरस बनावेगा अथवा उसे किसी हद तक बन्धन-मुक्त करके सरसता-विकास के लिए अधिक परिष्कृत और योग्य बना डालेगा। मुझे पिछली बात की असंदिग्ध सम्भावना में पूर्ण विश्वास है, अतएव उसके सम्बन्ध में दो शब्द कहने का साहस करता हूँ।

अहिंसात्मक दृष्टिकोण का तिरस्कार करके जब से अभारतीय संस्कृति के अनुगामी अथवा भारतीय संस्कृति का नाम लेकर भी अभारतीय संस्कृति ही का, अधिकांश में पोषण करने वाले हमारे कुछ रचनाकारों ने हिंसात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है, तब से उन मूलों पर भी प्रहार करने की उनकी प्रवृत्ति दिखायी पड़ रही है जो हमारे भारतीय जीवन-द्रुम को धारण करते हैं। परिणाम यह हो रहा है कि हिंसा की कामना उत्तरोत्तर अनिवारित प्रगति प्राप्त कर, उन्हे मानसिक वासनाओं और उत्तेजनाओं की उलझनों ही में प्राय: अपनी साहित्य-सृजन-शक्ति का अपव्यय कर देने के लिए विवश कर रही है। इस प्रकार उन्हें कला की मध्यम श्रेणी की स्थितियों ही से संतोष कर लेना पड़ रहा है—उन स्थितियों से जिनमें सरल, त्याग भाव के लेबेल वाले पर्णपात्रों के भीतर अवारित भोग-लालसा की मदिरा छलकती मिलती है। उच्च कलात्मक कृतियों में जिन परिस्थितियो का उपयोग साधन के रूप में होता है, उन्हीं को ये कलाकार साध्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति की संगति में चलने वाले रचनात्मक सिद्धान्तों का चिर अभ्यस्त भारतीय पाठक इन अभारतीय शैली के रचनाकारों के साथ सच्चा सौहार्दपूर्ण सम्पर्क नहीं स्थापित कर पाता, और यदि किसी प्रकार यह संभव भी हुआ तो पाठक स्वयं ही अवाञ्छनीय पथ का पथिक हो जाता है। दोनों ही अवस्थाओं में देश और समाज के रचनात्मक विकास में जिस शक्ति की प्रयोजना अधिक श्रेयस्करी होती है, वह व्यर्थ के कार्यों में नष्ट हो जाती है।

एक उदाहरण देने से यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट हो जायगी। 'क' और 'ख' नामक दो यात्रियों की कल्पना कीजिए। 'क' को दिल्ली की यात्रा करनी है और 'ख' को कानपुर की। कानपुर तक पहुँच जाना 'क' का अंतिम उद्देश्य नही है। किन्तु साधन-स्वरूप अवश्य है, क्योंकि वहाँ तक गये बिना वह दिल्ली तक यात्रा करने की अपनी इच्छा की पूर्ति कर ही नहीं सकता। इसके विपरीत 'ख' के लिए कानपुर पहुँचना साधन-स्वरूप नही है, साध्य-स्वरूप है। 'क' की तरह ही अहिंसात्मक दृष्टिकोणवाला रचनाकार निर्विकार सत्य को निर्विकार कला के

रूप में व्यक्त करना चाहता है; मानसिक वासनाओं और उत्तेजनाओं को अपने मार्ग के किसी पड़ाव पर छोड़कर, उनमें अपने मन को रमण करने के लिए अवकाश न देकर वह पूर्ण, प्रकृति तृप्ति की खोज में आगे बढ़ता है। कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नामक नाटक ऐसा ही है; नाटककार ने दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय-व्यापार को जिसने अपनी प्रगति के पूर्व कण्वमुनि की स्वीकृति की कोई अपेक्षा नहीं की थी, अपनी कला का साध्य, अंतिम लक्ष्य नहीं माना है; उसे उन्होंने साधन के रूप में ग्रहण कर आगे बढ़ने की चेष्टा की है और उनकी इसी मानसिक मुक्ति में शकुन्तला नाटक की महत्ता का रहस्य छिपा है। हिंसात्मक दृष्टिकोण के दृष्टान्त स्वरुप मैं यहाँ रसखान का एक कवित्त दे रहा हूँ। आप देखेंगे कि कालिदास की रचना में जो कला का साधन है, वही रसखान की कृति में कला का साध्य हो गया है :—

छूटी लोक लाज गृहकाज मनमोहिनी को
मोहन को भूलि गयो मुरली बजायबो।
अब रसखानि दिन द्वै मैं बात फैलि जैहै
सजनी कहाँ लौ चंद हायन दुरायबो।।
कालिह ही कलिंदी तीर चितयो अचानक ही
दुहुन की ओर दोऊ मुरि मुसकायबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ
उन्हें भूलि गयी गैयाँ इन्हें गागरि उठायबो।।

इस कवित्त में से 'मनमोहिनी', 'मोहन' और 'कलिंदी', इन शब्दों को निकाल दीजिए। इन शब्दों के द्वारा हमारी सहानुभूति की एक पृष्ठभूमि इस रचना को मिल जाती है और उसी के आधार पर वह खड़ी हो लेती है; उनसे रहित होकर यह कवित्त आसक्ति का एक चित्र मात्र रह जाता है।

अनेक विषमताओं के कारण, संभव है, कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् से इस कवित्त की तुलना करने में कुछ असुविधा प्रतीत हो; इस कारण हिन्दी काव्य में अहिंसात्मक दृष्टिकोण के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस की कतिपय पंक्तियाँ जिनमें स्वयंवर के पूर्व सीता और रामचंद्र के एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होने का चित्रण किया गया है, यहाँ प्रस्तुत करता हूँ :—

"कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।

मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं।
मनसा विश्व-विजय कहँ कीन्हीं।
तात जनक तनया यह सोई।
धनुष यज्ञ जेहि कारण होई।
पूजन गौरि सखी लै आई।
करति प्रकाश फिरति फुलवाई।
तासु बिलोकि अलौकिक शोभा।
सहज पुनीत मोर मन क्षोभा।
सो सब कारण जान विधाता।
फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।
अस कहि पुनि चितये तेहिं ओरा।
सिय मुख शशि भये नयन-चकोरा।
भये विलोचन चारु अचंचल।
मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दृगंचल।''

स्मरण रहे कि ये पंक्तियाँ रामचरित मानस में तुलसीदास की कला के साध्य अंश की नहीं, साधन अंश की प्रतिनिधि हैं, और फिर भी अहिंसात्मक दृष्टिकोण की इन पर कितनी गहरी छाप है !

हमारे वर्तमानकालीन रचनाकारों की अधिकांश एक श्रेणी रीतिकालीन कवियों ही की तरह कला की निम्नकोटियों को प्रस्तुत करने ही में तृप्ति का अनुभव कर रही हैं; भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में उसके चित्रण, उसकी चरित्र सृष्टियाँ उद्वेगजनक और नैतिक स्तर को नीचे गिरानेवाली सिद्ध हो रही हैं। यह श्रेणी अपरिपक्व वय और अनुभव वाले विद्यार्थियों का सौहार्द प्राप्त कर अपने को सफल और कृतार्थ समझ रही है। राधाकृष्ण की आड़ लेकर जैसे रीतिकालीन कवियों ने अपनी निम्नकोटि की रचनाओं को भी लोकप्रिय बनाने का एक रास्ता पा लिया था, वैसे ही इस वर्ग के कलाकार कहीं तो राधा-कृष्ण ही की परिपाटी पर चलकर अभी तक उस परम्परा को चलाये चल रहे हैं और कहीं प्रगति का नाम लेकर ऐसी कृतियाँ उपस्थित कर रहे हैं जिन्हें प्रगति से कोई लगाव नहीं, जिनमें कला के सुन्दर स्वरूप का कहीं दर्शन नहीं। अहिंसात्मक सत्यशोध अथवा सत्याग्रह की भावना की प्रभाव वृद्धि से आशा है, ऐसे कलाकार सावधान होंगे, युगसत्य के कठोर संकेत को हृदयंगम करके ऐसी रचनाएँ करने में प्रवृत्त होंगे जिनसे या तो उसकी तृप्ति हो या उसके आराध्य चिरंतन सत्य का संतोष-साधन हो। और, यदि वे समय रहते सचेत न होंगे तो काल उनकी यशलालसा

की पूर्ति होने के पहले ही उनके नाम और कृति दोनों ही को विस्मृति के अतल समुद्र में निमज्जित कर देगा।

मैं निराशावादी नहीं हूँ, विशेषकर उस अवस्था में जबकि भारतीय समाज को नवीन युग-सत्य के आगमन से अपने उज्ज्वल भविष्य की पूर्ण आशा हो गयी है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अज्ञान तथा आलस्य से मुक्ति पाकर रचनात्मक कार्य में लगने के प्रयत्न का श्रीगणेश हो गया है, तब निराशावादी होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यहाँ जो कुछ निर्देश करने की चेष्टा की गयी है, उसका उद्देश्य यही है कि हम अपने लक्ष्य और साधनों के सम्बन्ध में पूर्ण सावधान हो जायें। यदि हमें अपने कार्यकर्त्ताओं की सेना को लेकर उत्तर की ओर जाना है तो इस बात पर निरन्तर दृष्टि रखनी चाहिए कि किसी का भी पैर दक्षिण की ओर न पड़े। जनता की चेतनाशक्ति पर, सुकुमार मन और मस्तिष्क वाले बालकों और बालिकाओं के हृदय पर अल्पप्राण किन्तु मोहक रचनाएँ अमिट प्रभाव डाल कर उन्हें अभारतीय संस्कारों के गर्त्त में गिराती रहें और हम निष्क्रिय होकर यह सब देखते रहें, यह उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में हमें यह नियम बना लेना है कि जिस रचना में अहिंसात्मक सत्य का चित्रण नहीं है, उसे प्रोत्साहन देना हम अस्वीकार कर दें। हमारे इस निषेध मात्र से हमारे साहित्य में बड़ी स्वच्छता और शक्ति आ जायगी। हमारी राष्ट्रीय सरकार राष्ट्र-निर्माण के लिए सजीव सत्यशोध-प्रधान तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण विकासमूलक-साहित्य की रचना प्रेरित करने की ओर कब ध्यान दे सकेगी, यह कहा नहीं जा सकता। उसका बोझिल छकड़ा बड़ी मंथर गति से चल रहा है; ऐसी दशा में जब हम निरन्तर आन्दोलन द्वारा उसे प्रेरणाएँ देते रहेंगे, तभी उसमें आवश्यक जागरूकता आ सकेगी। साथ ही, उसका जागरूक किया जाना भी आवश्यक है, क्योंकि जब तक सरकार इस सम्बन्ध में नहीं चेतेगी, तब तक लक्ष्य की ओर कार्यशील होनेवाली समस्त शक्तियों का संगठन नहीं हो सकेगा। अतएव, तब तक हिन्दी-साहित्य को प्रगतिशील बनाने के कार्य में लगी हुई संस्थाओं को उसे जगाने का यह आन्दोलन अपने हाथ में लेना चाहिए।

संक्षेप में हम देखेंगे कि हमारे कार्य की अनेक दिशाएँ स्पष्ट हैं—हमें वैज्ञानिक आलोचना का विकास करना है, हमें अपने रचनाकार को ऐसे सुव्यवस्थित रूप में लाना है कि वह हमारी वर्तमान आवश्यकताओं की यथोचित पूर्ति कर सके, आलोचक और रचनाकार दोनों ही को प्रकृत स्वरूप देने के लिए हमें अपने शिक्षा-विभाग एवं साहित्य-हितैषिणी संस्थाओं के संचालकों को यह समझाना है कि भारतीय शिक्षा की कोई भी व्यवस्था तब तक पूर्ण और राष्ट्रीय दृष्टि से उपादेय

नहीं समझी जा सकती जब तक उसमें सत्य-शोध-भावना और अहिंसात्मक दृष्टि-कोण का विकास करने वाले पाठ्यक्रम की नियोजना न हो। सच बात यह है कि हमें अपने जीवन के प्रचलित मूल्यों में बहुत बड़ी क्रान्ति करनी है, सच्चे अर्थ में प्रगतिशील होना है।

किन्तु हम अभी शीघ्रता न करें, हमारी समस्याओं का यही अन्त नहीं है। अहिंसात्मक दृष्टिकोण को साहित्य के क्षेत्र में, नियामक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करने पर एक कठिनाई साहित्य-निर्माताओं के सामने उपस्थित होगी और वह यह कि जीवन के विविध क्षेत्रों में अहिंसा-विषयक आग्रह का अतिरेक जब कायरों की अकर्मण्यता का एक आवरण प्रस्तुत करने लगेगा, तब कला के मूल किस प्रकार हरे भरे रह सकेंगे; क्या तब भी, जनता की ग्रहण-शक्ति की कोई भी परवा न करके, उसकी प्रकृत भूमि से बहुत दूर आकाशविहारिणी होकर वह अपने उच्च, किन्तु अप्रकृत, काल्पनिक रूपों से ही उसे आकर्षित करने का प्रयत्न जारी रखेगी? यह अव्यावहारिक, जीवन-प्रगति-विरोध प्राप्त करके क्या वह अपने अस्तित्व की निष्फलता में भी सतोष प्राप्त कर सकेगी? इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तविक तथ्य यह है कि अहिंसा और हिंसा की मर्यादा निश्चित करने की शक्ति प्रकृत में है; वही अपनी सूक्ष्म प्रतिभा के द्वारा यह समझ सकता है कि कब अनिवार्य परिस्थिति उत्पन्न होने पर हिंसात्मक संग्राम में प्रवृत्त होना भी अहिंसा ही का पोषण करना है। वही इस बात का भी निर्णय कर सकता है कि किस सीमा का अतिक्रमण होने पर हिंसात्मक अहिंसा, अपने नग्न रूप में, जीवन-शोषिणी, एकमात्र संहारकारिणी बनकर उपस्थित होती है। चंचल जीवन-स्रोत, अहिंसा और हिंसा दोनों ही की भूमियों में से होकर संचरित होता है, वह दोनों का पृथक् अस्तित्व देकर पक्षपात की सम्भावना नहीं उपस्थित करता, उसे दोनों ही कूलों के मध्य में से प्रवाहित होकर सत्य के अतल, गम्भीर, समुद्र की ओर प्रगतिशील होना है। प्रकृत रचनाकार ही इस तत्त्व का प्रकृत ज्ञाता है, अपने इसी ज्ञान की विभूति से सम्पन्न होकर वह न समाज की उपेक्षा की परवाह करता है और न राजकीय अधिकारियों की वक्र भृकुटि से भयभीत होता है। जीवन-प्रवाह जब-जब अहिंसा और हिंसा की ओर मोड़ लेता है, प्रकृत रचना-कार एक मात्र सत्याराधना के भाव से प्रभावित होकर, उसके स्वस्थ एवं तरंगित सौन्दर्य के चित्रण में अपने अस्तित्व की सार्थकता और सफलता का अनुभव करता है। अहिंसात्मक हिंसा की परख करने वाला प्रकृत रचनाकार ही समाज में प्रचलित हिंसात्मक अहिंसा की भी परख कर सकता है और उससे भी बड़ी बात

यह है कि अहिंसात्मक, कलात्मक, साथ ही अत्यन्त वेधक शैली में समाज के विद्रोही वर्गों को, जो हाथ मे अहिंसा का झंडा लेकर चलते हैं और बगल में छूरा छिपाये रहते हैं, विशुद्ध पथावलम्बी बनाने की करामाती कारीगरी भी उसी के पास है।

किन्तु, फिर भी भारत के स्वतंत्र होने के दिन से लेकर अब तक, हमारे राजनैतिक जीवन के संकटमय वातावरण में भी, राष्ट्र-द्रोही, क्षुद्र स्वार्थ भावना में मग्न अनेक वर्गों ने जिस नीचता का परिचय दिया है उसकी कहानी, उसका कलात्मक चित्र अब तक हमारे साहित्य में नहीं दिखायी पड़ा; ऐसी स्थिति में क्या यह कहना अनुचित है कि हमारे बीच में आजकल न कहीं कोई प्रकृत विवेचक है और न कहीं कोई प्रकृत रचनाकार है? सम्भवतः हमारे रचनाकार ने या तो अपनी साधारण आवश्यकताओं की भी आपूर्ति से विवश होकर विशेष प्रभावशाली स्वार्थों के प्रतिनिधियों के सामने घुटने टेक दिये है या अपने त्याग-प्रधान उच्च आसन की नीरसता में अनुभव करके समाज-शोषक दल में, अथवा उसके प्रति सहानुभूति रखने वालों में स्वयं अपना नाम भी लिखा दिया है। जो हो, हमारे रचनाकार को कहाँ होना चाहिए था और वह वास्तव में कहाँ है, इसका अनुमान हम उक्त परिस्थिति से लगा सकते हैं; अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए हमें कितना लम्बा पथ पार करना है, इसका आभास भी हमें उसी से मिल सकता है।

प्रकृत हिन्दी रचनाकार-सम्बन्धी अपने वक्तव्य को समाप्त करने के पूर्व मैं दो शब्द उसकी भाषा के सम्बन्ध में भी कहना चाहता हूँ। निस्संदेह जटिल और दुरूह विचारों को व्यक्त करने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों का उसे सहारा लेना ही पड़ेगा, उसकी यह स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है। इस बात को न समझ कर हमारे कितने ही राष्ट्रीय नेता उस पर बहुत दिनों से यह दोषारोपण करते आ रहे हैं कि वह अनावश्यक रूप से अपनी भाषा को संस्कृत-गर्भित बना रहा है। वाद-विवाद में प्रवीण हमारे नेताओं से बहस छेड़ने का हमारे हिन्दी साहित्यकार को अवकाश कहाँ? फलतः ब्रिटिश कूटनीति ने, अधिकारी नेताओं से प्राप्त नैतिक समर्थन के आधार पर, हिन्दी को दबाने के लिए 'हिन्दुस्तानी' को जन्म दिया और वह परिस्थिति उत्पन्न करने की चेष्टा की जिसमें हिन्दुस्तानी के विरोध में अथवा उसकी उपेक्षा करके हिन्दी का पक्ष लेना प्रायः अराष्ट्रीय कार्य समझा जाने लगा। क्रमशः ऐसी स्थिति आ गयी कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व सभापति स्वयं महात्मा गाँधी को उसकी स्थायी समिति की सदस्यता से त्यागपत्र दे देना पड़ा!

अपनी ओर से अधिक से अधिक त्याग करके विरोधी को निरस्त्र बना देना स्वर्गीय महात्मा जी की रहस्यमयी कार्यशैली थी, जिसके द्वारा वे हृदय में परिवर्त्तन करने के लिए उद्योग करते थे। वे हिन्दी के पक्ष को सदोष नही समझते थे, वे हिन्दी राष्ट्रभाषा और देवनागरी राष्ट्रलिपि के अनुकूल अपना मत बहुत पहले प्रकट कर चुके थे, किन्तु अपनी उस उदार त्याग-भावना से प्रेरित होकर वे हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण कराना चाहते थे जो सत्याग्रह की आधारशिला है और जो सबल शक्तिमान् की अहिंसा के रूप में एक आदर्श एवं प्रभावशालिनी बात होती। किन्तु महात्मा गाँधी स्वयं इस बात का अनुभव कर चुके थे कि पिछले आन्दोलनों में भारत ने जिस अहिंसात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया था, उसकी जननी शक्ति की अनुभूति और त्याग भावना नहीं थी, वरन् दुर्बलता ही थी। उसी के प्रभाव के कारण हम सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में सफल और शक्तिशाली की अहिंसा का परिचय नहीं दे सके और राष्ट्रभाषा हिन्दी हो या हिन्दुस्तानी, इस सम्बन्ध के निर्णय भी नही दे सके। हिन्दी राष्ट्र-भाषा और देवनागरी राष्ट्रलिपि-आन्दोलन की साधिकारता के सम्बन्ध में महात्मा जी को कोई सन्देह नहीं था। किन्तु वे हमसे त्याग कराना चाहते थे, हमें ऊँचा उठाना चाहते थे। अनेक परिस्थितियों के सम्मिलित प्रभाव से हम उतना त्याग नहीं कर सके तो न सही, किन्तु शब्दों के निर्वाचन में हम हिंसावृत्ति से काम न लें, बहिष्कारमूलक नीति के अनुगामी न बनें। जैसाकि मैंने प्रारम्भ ही में निवेदन किया है, हमें अपनी विवेचना और रचना में सम्पूर्ण भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करना है, भारतनिवासी मुसलमान, ईसाई, पारसी, ऐंग्लोइंडियन सभी की भाव-नाओं को, सभी के जीवन को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करनी है। वास्तव में हिन्दी विधान सम्मेलन के निश्चय से नहीं, वरन् अपनी इसी उदार सर्वमोहिनी सहानुभूति के द्वारा राष्ट्रभाषा बनेगी और हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी का जैसा पूर्व इतिहास रहा है, उसमें जैसी विलक्षण आध्यात्मिक प्रतिभा का विकास हिन्दी में हो सका है उसे देखते हुए, उसकी राष्ट्रीय सेवा सम्बन्धी क्षमता के प्रति उसी को सन्देह हो सकेगा जिसे भारतीय संस्कृति का, अहिंसा और सत्याग्रह की वर्णमाला के क, ख, ग का भी ज्ञान नहीं है।

अन्त में, हिन्दी साहित्य के विवेचकों और रचनाकारों से एक बार फिर यही अनुरोध करके कि जैसे महात्मा गाँधी ने सामाजिक जीवन में सत्य और अहिंसा का प्रयोग करते हुए सहर्ष अपने प्राणों का बलिदान कर दिया, वैसे ही वे भी इन्हीं सिद्धान्तों को कलात्मक स्वरूप प्रदान करते हुए अपने जीवन को खपा दें, मैं अपने इस नम्र कथन को, त्रुटियों के लिए क्षमायाचनापूर्वक, समाप्त करता हूँ।

अभिभाषण-१२

पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र

⊙ ⊙

श्री स्वागताध्यक्ष, भाइयो और बहनो !

राष्ट्रभारती की इस तीर्थयात्रा का सुयोग मुझे आपके स्नेह से मिला है। अब कल्पना के पंखों पर चलनेवाला साहित्यकार व्यवहार की ठोस धरती पर भी चल सकेगा, निश्चय ही अपने बल से नहीं, आपकी प्रेरणा से, आपके सहारे। आप उस परम्परा के वाहक हैं जिसने वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास को जन्म दिया था। जिसने शंकर, रामानुज और सायण जैसे मनीषी दिये। आज इस देश के बुद्धिजीवी का सहज बल, धन्यवाद भर के देता है, फिर भी, मैं अपनी और आपकी उस परम्परा का स्मरण कर इतने सहज इस ऋण से छूट निकलने की कामना न करूँगा।

कृष्णा तट के इस स्थान का, जहाँ यह अधिवेशन हो रहा है, भारत भूमि के सांस्कृतिक ऐतिह्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। दक्षिण और उत्तर की इस सीमा रेखा पर आन्ध्रों के, तैलंगाना-गोंडवाना के और महाराष्ट्र के तीन छोर आ मिले हैं। अजन्ता के चित्रमंडप और एलोरा के कैलास से निकलकर शाश्वत सौन्दर्य की जननी कला की मौन वाणी इस वातावरण में गूँज रही है। इसी धरती की धूलि में खेल कर मेधावी सायण ने कभी वह शक्ति प्राप्त की थी जिसके सहारे हमारे सम्बन्ध, अपनी संस्कृति के उषःकालीन वेदों से जुड़ा। समूचे संस्कृत-साहित्य, दर्शन, योग, संगीत और वीणा से इस क्षेत्र का गहरा सम्बन्ध है। इस भूमि ने समुद्र-विजयी उन नाविकों को जन्म दिया था जिनकी पताका प्रशान्त महासागर के दूसरे किनारे तक उड़ती रही। मध्ययुगीन राष्ट्रकों और राजवंशों की संघर्षभूमि बनी रहने पर भी, आज भी इस धरती में बहुमूल्य खनिज द्रव्यों की भाँति चैतन्य-शक्ति छिपी हुई है। यहाँ की जनता आज भी एक सप्ताह में अत्याचार के पहाड़ को कुचलकर धूल कर सकती है। उस शक्ति के सामने बिना सिर झुकाये मेरे लिए कुछ भी कहना कठिन ही नहीं, प्रगल्भ बनना भी होगा। फिर भी

राष्ट्रभाषा की इस तीर्थयात्रा मे, राष्ट्रभारती के चरणों पर कुछ चढ़ाये बिना लौटना भी तो न हो सकेगा; चाहे पूजा की यह सामग्री नितान्त साधारण हो क्यों न हो? विश्वास है, फूलों की गन्ध पर न जाकर आप भाव की ओर ही देखेंगे।

हमारे सामने

आज से ठीक एक महीने बाद, हमारे इस पुराने देश का नया जन्म होगा। आपकी आकृति पर मैं विस्मय के भाव देख रहा हूँ। कही देश भी 'द्विज' बना है? 'काल' के पंख तो कल्पना में माने गये हैं, परन्तु 'देश' को भी आकाशगामी और आकाशजीवी बनानेवाले दिव्य स्वप्नद्रष्टा हमारे विधायक है। अगली २६ जनवरी को भारत जिस विधान के अनुसार स्वतन्त्र लौकिक प्रजातन्त्र बनेगा, वह विधान, हमारे प्राचीन विधायक वशिष्ठ, शुक्र, मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर और विष्णुगुप्त की ओर देखता भी नहीं। अमेरिका, आयरलैण्ड और दूसरे उन नये देशों के विधान के अनुकरण पर इसकी रचना हुई है, जिनकी सभ्यता इतनी भी पुरानी नहीं है, जितनी पुरानी कि हमारे घरों में धान कूटने की ओखली है। अनुकरण ही हमारे विधान का और हमारी जीवन-पद्धति का प्रधान धर्म बन रहा है। इसी अर्थ में देश के नये जन्म की बात मैं कह रहा हूँ।

विधान का निर्माण युग और परिस्थिति के भेद के अनुसार पहले भी बराबर होता रहा है। हर नये विधान में पुराना बदलता गया है, फिर भी उसका बीज कभी भी बदलकर बिलकुल नया नहीं हुआ। हमारे इस नये विधान के नये मनु श्री अम्बेडकर के शब्दविधान सम्बन्धी उनके अंतिम भाषण मे भविष्य का क्या चित्र दे रहे हैं?

—"२६ जनवरी, १९५० को भारत स्वतन्त्र देश हो जायेगा। उसकी स्वतन्त्रता की गति क्या होगी?"—आरम्भ में ही ऐसी संशयात्मा की-सी विश्वास-हीनता और भय की भावना क्यों? मनु को तो अपने विधान में ऐसी शंका नहीं हुई—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

विश्वास की यह दृढ़ भूमि, जिसमें इस देश के निवासियों के चरित्र से संसार भर के मनुष्यों को चरित्र की शिक्षा लेने की बात कही गयी थी, हमारे नये विधायकों को क्यों नहीं मिल रही है? कारण यही है कि रामलीला में राम बननेवाला

सचमुच वाल्मीकि और तुलसी का राम नहीं बन जाता। राजनीति, संस्कृति और समाजनीति में हम पश्चिम का निरा अनुकरण करने लगे हैं। व्यक्ति और समाज का जीवन जहाँ अनुकरण पर टिका रहता है, उसकी जड़ें धरती के नीचे गहरी नहीं जातीं। कई शताब्दियों की दासता में भी भारत की नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता बराबर अक्षुण्ण बनी रही है। आज हम अपने जिस भौतिक स्वतन्त्रता का रूप देख रहे हैं, वह आत्मा को भुलाकर निरी देह की सजावट हो रही है।

अपनी पहचान भूलकर इस वृद्ध देश को उसी जुए में जोत देना, जिसमें वे देश नधे हैं जो अभी कल पैदा हुए, एक तरह की अरुचि और तीखा स्वाद पैदा कर रहा है। इस पुरातन देश ने यूनान को उठते और गिरते देखा, रोम इसके सामने जनमा और मरा, मिश्र और बैबीलोन में सभ्यता के भौतिक घरौंदे इसके सामने बने और उजड गये। सुमेरी सभ्यता जो संभवतः हमसे इसमें कुछ पुरानी थी, इतिहास के किनारों पर छितरायी पड़ी है। फिर भी यह पुराना देश धर्मराज युधिष्ठिर की तरह अपनी यात्रा पर अडिग बढ़ता चला जा रहा है। अनेक आघात इस पर हुए, इसकी गति कुछ क्षणों के लिए रुकी, फिर भी इसकी संजीवनी शक्ति इसे बराबर बढ़ाती चली। देश के विधायक उस संजीवनी शक्ति से प्रेरणा लें; नहीं तो सांस्कृतिक खोखलापन जल्दी ही खुल जायगा। हमारी संस्कृति 'देश' और 'काल' को बाँधती और लाँघती आयी है।

यह संजीवनी शक्ति

इस देश की संस्कृति की आयु का अनुमान मोहेनजोदडो और हड़प्पा के वे संकेत हैं जो, संभवतः इसकी जवानी के स्मृति चिह्न हैं। और फिर भी उनका हमसे आज भी सनातन सम्बन्ध है। यही हमारी संजीवनी शक्ति है। संतोष की बात है कि सारे देश के कर्णधार नेताजन अपनी संस्कृति का नाम तो ले रहे हैं, परन्तु क्या वह संस्कृति कबीर के निर्गुण ब्रह्म की तरह या मध्ययुगीन हठयोगियों के चमत्कारों की तरह पकड़ में न आनेवाली निरी अमूर्त वस्तु है? अच्छा होता, हमारे नये विधान में हमारी इस संस्कृति की परिभाषा और रूपरेखा भी आ गयी होती। विधायकों का ऐसा जमावड़ा कदाचित् भविष्य में फिर जल्दी न हो। और कम-से-कम हम लोग जो यहाँ आ जुटे हैं, उनके जीवन में फिर ऐसा अवसर न आये, ऐसी कामना तो हम सब की है ही। कौन जाने संस्कृति की परिभाषा देकर हमारे विधायक संकुचित न होना चाहते रहे हों? अब यह भार देश के विचारकों, साहित्यकारों और शिक्षकों पर आ पड़ा है। भारतीय संस्कृति की परिभाषा,

रूप-रेखा, उसकी संजीवनी शक्ति की प्रतिष्ठा अब उनका काम है, जो सामयिक राजनीति से दूर साहित्य, कला और निर्माण-चिन्तन में, अज्ञात और अपरिचित-से देश के हर कोने और हर छोर में दिन बिता रहे थे।

संस्कृति का इतिहास मनुष्य के निर्माण का इतिहास है। इस एक सूत्र पर चलकर हम देखते हैं, मनुष्य के सारे निर्माण जीवन के निर्माण के लिए हैं। वह केवल भूत (बीइंग) मात्र नहीं है वह भूयमान (बिकमिंग) सत्ता है। आज हम मनुष्यता की बात मनुष्य को भूल कर करने लग गये हैं। जहाँ तक भौतिक निर्माण की बात है, यह देश पुराने मिश्र, यूनान और रोम की बराबरी नहीं करता। आज भी अमेरिका के डालरपतियों की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ पचपन से लेकर एक सौ पैंतीस तली ऊँची हो सकती हैं, फिर भी संसार के इन सभ्य देशों के भौतिक निर्माण की परिणति के जहाँ नागासाकी और हिरोशिमा प्रमाण हैं, भारत के निर्माण के प्रतीक हैं—युगपुरुष गाँधी और योगी अरविन्द। भारतेतर देशों की सभ्यताएँ अपने भौतिक निर्माण के चक्र में हिंसा से प्रतिहिंसा की एक अटूट परिधि बनाती चली हैं; जिनका अन्त केवल ध्वंस और केवल संहार में है—स्पेंग्लर का 'डिक्लाइन ऑफ दी वेस्त' साक्षी है। जब कि हमारी संस्कृति का बीजमन्त्र जीवन और पुनर्जीवन जन्म और पुनर्जन्म है। हमारे यहाँ अणु विस्फोट के प्रयोग नहीं, 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' का दिव्य संगीत है।

हमारी संस्कृति मृत्युञ्जयी है; जिसके आरम्भ से ही 'मा भैः मा भैः' का मूल मन्त्र है। काल का रूप भी हमारे लिए सृष्टि की अनिवार्य कड़ी है। ताण्डव प्रलय और उसके भीतर से ही फिर नयी सृष्टि ! युगपुरुष गाँधी की हत्या के बाद उनके गुणों की चर्चा में भरे कण्ठ से पण्डित नेहरू ने कहा—"महात्मा जी ताजमहल को इसलिए पसन्द नहीं करते थे कि वह बाधित श्रम (फोर्स्ड लेबर) से बना था।" इस कथन में इस देश के जीवन-दर्शन और उसके महान् उद्बोधक बापू की भावधारा पूरी नहीं मिलती। सम्भवतः वे भी शाहजहाँ को उदार बादशाहों में मानते रहे होंगे। उन्हें इसका भी पता रहा होगा कि शाहजहाँ ने ताजमहल के उजले पत्थरों को आँसुओं से धोया ही नहीं, उसके बनाने वालों के श्रम का पूरा पुरस्कार भी दिया था। भौतिक निर्माणकला में ताजमहल कितना ही मनोरम क्यों न हो, उसका यह सारा बाहरी सौन्दर्य रवीन्द्र के शब्दों में 'रूपहीन मरणेर मृत्युहीन अपरूप' गढ़ने का यत्न मात्र है। ताजमहल के रूप में शाहजहाँ ने मृत्यु की पूजा की थी। अपनी मृतप्रिया को अमर बनाने के लिए उसने पानी की तरह सोने की धार बहायी। परन्तु कोई भी निर्माण, जिसके मूल में अज्ञान है, कलाकृति का मूल्य नहीं ले सकता। मृतकों को अमर बनाने के लिए मिश्र की भौतिक सभ्यता में

पिरामिड बने थे और आगरे के ताजमहल में मुमताजमहल को अमर बनाने की वही बात है। जिस संस्कृति ने गंगा, यमुना, सरयू, सिन्धु, सरस्वती, ब्रह्मपुत्र, रेवा, कृष्णा, कावेरी और गोदावरी के तट पर अपने बड़े-से-बड़े चक्रवर्ती राजाओं और मनीषियों को भस्म कर मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी, उसे ताजमहल या मिश्र के पिरामिडों में मृत्यु की पूजा नहीं रुची। नदी की धारा की तरह जीवन-धारा को भी अटूट मानने वाले हमारे पुराने विचारकों ने मरी देह रखने के लिए कोई भवन न बनाकर उसके भस्म को जल की धारा में बहाकर जीवन की बहती हुई धारा में अपनी बुद्धि का अभिषेक किया था! आत्मा की अमरता की बात कहकर मृत्यु को केवल रूपविपर्यय कहनेवाली इस देश की संस्कृति के सबसे बडे पोषक कई सौ वर्षों में केवल महात्मा गाँधी हुए थे। ताज, शायद उन्हें इसलिए नहीं लुभा सका कि उसके मूल में ही वह अज्ञान था, जो हाड़, मांस, रक्त और मज्जा से बनी देह को बराबर बनाये रखने का किसी भी जीवधारी का पहला मोह है। कला जीवशास्त्र की भौतिक कामना से बढ़कर कुछ और भी है। स्वर्गीय बापू देह की नहीं, आत्मा की अमरता मानते थे। कला की अमरता को भी वे रूपमात्र से नहीं, कलाकार के कर्म और आदर्श से जोडकर देखना चाहते थे। इस देश की ओर अन्य देशों की संस्कृति के बीच पहला और अन्तिम भेद यही है। हम जीवन-पूजक हैं, मृत्यु की पूजा हमने कभी नहीं की।

'मृषा मृत्यु का भय है, जीवन की ही जय है'—आज भी राष्ट्र कवि मैथिलीशरण यह कह जाते हैं। अपनी संस्कृति की यह पहली बात, जो नहीं जानते, वे दया कर इसे नीचे-ऊपर उलट कर देखने का कष्ट न करें। ताजमहल को न देखकर वे ऊपर सप्तर्षि-मण्डल में वसिष्ठ के निकट बैठी अरुन्धती को देखें और यह सोच लें कि एक नहीं, ऐसे अनेक ताजमहल धरती पर छितराकर पत्थरों के टुकडे और बाद में घिसकर बालू होते रहेंगे, पर वसिष्ठ और अरुन्धती विस्तृत आकाश में इस देश की संस्कृति की अमरता की किरणें तब तक फेंकते रहेंगे जब तक यह धरती रहेगी और मानव नामधारी इसके जीव रहेंगे।

संस्कृति का नाम जपना एक बात है, उसे समझना और आत्मसात् करना दूसरी। इस देश की सच्ची संस्कृति को न समझ कर ही विदेशी साहित्य और संस्कृति की मान्यताओं में पले इसी देश के एक व्यक्ति ने युगपुरुष गाँधी की नश्वर देह का अन्त कर दिया। पिछले डेढ़ सौ वर्षों से हमें सभ्य बनाने के लिए जो शेक्सपियर और दूसरे पश्चिमी साहित्यकारों की रचनाएँ पढ़ायी गयीं, उनके फल-स्वरूप हम नैतिक और मानसिक अधःपतन के गहरे तल में जा पहुँचे। सीजर, ब्रूटस और एन्टोनी की हत्याओं पर शेक्सपियर के समालोचकों के बड़े-बड़े पोथों

को हमारी पिछली कई पीढ़ियों ने पढ़ा और साहित्य की इन हत्याओं को आदर्श भी माना। समूचे संस्कृत-साहित्य मे, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और अग्रेजों के आने से पहले के सारे देशी साहित्य में युद्धवर्णन को छोड़कर जिसे धर्म युद्ध का नाम दिया गया था, कहीं भी रक्त के छीटे उड़ते नहीं दिखायी पड़ते। पश्चिमी साहित्य और कला ने हमें प्रतिहिंसा (रिवेन्ज) और द्वन्द (कान्फ्लिक्त) के पाठ पढाये। वह गोली केवल गाँधी के हृदय में नहीं, भारतीय संस्कृति के मर्म में लगी है और हाय ! अब हमारी संस्कृति भी रक्त से रगी है। हम जो यह कहते आये कि हमने किसी सुकरात को विष नहीं दिया, किसी ईसा को सूली नहीं दी, किसी मन्सूर का बध नही कराया, किसी गैलीलियों की आँखें नहीं निकाल लीं, वही हम किस मुँह से यह सब कहेंगे ?

एल्डाल्स हक्सले ने अपने नये उपन्यास 'एप ऐण्ड इसेन्स' का आरम्भ ही गाँधी की हत्या से किया है। हमारे कर्णधार अभी भी अँग्रेजों के ऋणी है, पश्चिमी सभ्यता का मोह अभी भी उनसे नहीं छूट रहा है, इसलिए अब आवश्यक है कि अपनी सस्कृति का विदेशी सस्कृति से जो भेद है, उसे हम देख ले।

संस्कृति-भेद

यूनानी साहित्य, पश्चिमी साहित्य का मूल उद्‌गम है। यूनानी शोकान्तिकाओं के मूल में ही 'नेमेसिस' और 'ह्यूब्रिस' है। उनके देवता क्रूर, पीड़क और हिंसक हैं मृत्यु-पूजा, निराशा, वेदना की प्यास, प्रतिहिंसा, यूनानी साहित्य की सिद्धि हैं। दूसरी ओर भारतीय साहित्य के राक्षस-चरित्र भी दशग्रन्थी और शिवोपासक है। साहित्य के नाम पर अतिरञ्जित जीवनदर्शन, स्वाभाविक भावनाओं और प्रवृत्तियों से छूटकर बौद्धिक प्रतिहिंसा और अस्वाभाविक चरित्र-निर्माण जो यूनानी नाटकों में चल पड़ा, उसका विरोध आचार्य प्लेतो ने भी किया था। ऐसे साहित्य को उस मेधावी ने स्वाभाविक जीवन की धारणाओं के प्रतिकूल और लोक-हित-चेतना के विपरीत सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया। किन्तु उसी के शिष्य अरस्तू ने ऐसे साहित्य के पक्ष में जिस विरेचन (कथार्सिस) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया; उसी की विजयदुन्दुभि सारे पश्चिमी साहित्य मे बराबर बजती आयी है। मनुष्य के भीतर जो भावनाएँ, मनोवेग और स्वाभाविक कामनाएं है, उनसे भी मनुष्य को छुड़ाने के लिए इस विचारक ने कथार्सिस या दूसरे शब्दों मे "विषस्य विषमौषधम्" का सहारा लिया। यह कुछ ऐसा ही रहा कि किसी स्वस्थ देह में किसी बीमारी के कीटाणु इसलिए छोड दिये जायें कि इससे किसी दवा के प्रयोग का अवसर मिले और यह देखा जाय कि यह दवा काम करती है या

नहीं। स्वाभाविक मनुष्य के स्वाभाविक जीवन को न देख कर साहित्य में अतिरंजना, कल्पना में असत्य की यह पद्धति अरस्तू ने चलायी।

यहाँ मैं यूनानी शोकान्तिकाओं के पहले नाटककार ईस्किलस से आरम्भ करता हूँ। इसलिए कि यूनानी साहित्य आधुनिक पश्चिमी साहित्य का आकर्षण-केन्द्र है। इस नाटककार की शोकान्त रचनाओं का अन्त नियतिवाद भयानक है। इसके प्रधान नाटक 'प्रोमिथ्युस बाउन्ड' में यूनान का प्रधान देव 'ज्यूस' अपने बाप 'क्रोनस' को मार कर देवपति बनता है। प्रोमिथ्युस को पहाड़ की चोटी पर वह इस तरह लोहे की जंजीरों में कस कर खूंटों में बँधवा देता है जैसे कि भादों के महीने में चमड़ा ताना जाता है। प्रोमिथ्युस ने देवलोक से चुरा कर मनुष्य जाति को आग दे दी है, इसी का यह दण्ड है। उसे देवदूत हरमीज यह भय दिखाता है कि ज्यूस के दूसरे विवाह का रहस्य न बतलाने पर वह पाताल में दबा दिया जायगा और उसकी अँतड़ियाँ निकाल कर बाहर कर दी जायँगी जिन्हें गीध नोच-नोचकर खायेंगे। ज्यूस की भावी प्रेमिका आयो को एक यूनानी देव बर्रे बनकर बराबर डंक मार रहा है और वह इस पीड़ा में बेचैन एक द्वीप से दूसरे द्वीप भागती फिर रही है। इस नाटक का अन्त वज्रपात, भूकम्प और सृष्टि के प्रलय संकेतों से होता है। अपने बाप को मार कर यूनानी देव का देवपति बनना प्रोमिथ्युस और आयो की दारुण यातना और इसी अवस्था में समुद्र कन्याओं को यह सब देखने की उत्सुकता, पीड़ा में विनोद जैसी यूनानी वृत्ति का द्योतक है। इस नाटककार के देव-चरित्र भी भयानक क्रोध और विद्वेष से भभक रहे हैं। अपने किसी नाटक मे ईश्वरी शक्ति को वह 'दीवाल के पीछे छिपी हुई मृत्यु' कहता है, और किसी दूसरे में इसी को वह 'गुप्त चट्टान जिससे जीवन की नाव टकरा कर चूर-चूर हो जाती है' और किसी अन्य नाटक में नियति के प्रति इसी 'भय' को प्रधान नैतिक प्रेरणा कहकर मनुष्य के मन में प्रतिष्ठित करना चाहता है।

यूरिपिडीज की इफीजीनिया के दो भागों में भी यही क्रूरता, हिंसा और रक्तपात चित्रित है। देवों के सम्मुख मनुष्य की बलि, प्रधान नायिका का पति-वध करा कर दूसरे पुरुष से प्रेम, जैसे कृत्य हैं। होमर के इलियड में भी एकिलीज अपने प्रतिद्वंदी हेक्टर की मरी लाश को मीलों तक घसीटता रहता है। आप यह सुन कर हँसेंगे कि यूनान में चोर को दण्ड इसलिए नहीं दिया जाता था कि उसने चोरी का नैतिक अपराध किया, बल्कि इसलिए कि उसने कलात्मक रूप से चोरी नहीं की और पकड़ लिया गया। यूनानी साहित्य और कला इस प्रकार हिंसा, दुराचार, छल, कपट से भरी है। उनके शिल्प में जो नग्नता है, वह मनोवृत्ति पर आश्रित है। अप्राकृतिक प्रेम और परपीडन उसके मूल में हैं। मनुष्य के विकार,

वैर, द्रोह, घृणा और ईर्ष्या इस साहित्य की चरम परिणति हैं। यही सब रोमन सभ्यता के अमानुष ऐम्फीथियेटरों की नींव में है, जहाँ कि भाड़े के नररक्तपायी हिंस्रपशु और नरयोद्धा पाले जाते थे। लैटिन कवि वर्जिल का मार्को जिस स्त्री का अपहरण करता है, उससे प्रेम का प्रस्ताव करता है, उसके मना करने पर यूरोप के साहित्य का यह महावीर उस अबला की दोनों आँखें निकलवा लेता है और उसके दोनों कुच काट डालता है। इस तरह के जघन्य कर्म प्राचीन भारतीय साहित्य की भावधारा के सर्वथा प्रतिकूल हैं। हर साल विजयादशमी में आप अपनी जातीय घृणा के कारण जिस रावण का शवदाह, हर नगर और हर गाँव में करते हैं; वह रावण भी अपनी बनावट में इतना जघन्य नहीं है, जितना कि वर्जिल का यह मार्को है। अशोकवाटिका में रावण सीता के पास जाता है, फिर भी अपनी प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए अपनी पट्टरानी मन्दोदरी को साथ लेकर। रावण के प्रति आपकी घृणा अभी नहीं मिटी। दूसरी ओर मार्को यूरोप के महावीरों का आदर्श है। जिस देश के जीवनदर्शन में मृत्यु अन्त नहीं, नया आरम्भ माना गया था और शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही जहाँ पुनर्जन्म की धारणा थी, जहाँ जीवन के संयोग में ही दैवी और आसुरी दोनों प्रवृत्तियों को मानकर, आसुरी प्रवृत्ति के निग्रह की बात कही गयी थी, वहाँ न तो उस कला का जन्म हुआ न उस साहित्य का, जिसके अनुकरण में हम सभ्य बनने की चेष्टा करते रहे हैं। अब समय आ गया है, हम चेतें और हाथ उठा कर उन सभ्यता के ठेकेदारों से कह दें—नहीं हमें अब आपकी सभ्यता और संस्कृति की आवश्यकता नहीं। भौतिक जीवन के निर्वाह के लिए विज्ञान में हम दूसरों से भले ही सीखें परन्तु साहित्य, कला और चिंतन में, अब उनका उच्छिष्ट उठाना हमारे लिए घोर लज्जा की बात होगी। हम जानते है, कला का प्रधान धर्म—मृत्यु से रक्षा है, मृत्यु पूजा नहीं। हमारे लिए सृष्टि के मूल में ही आनन्द और कल्याण अभिप्रेत है। सृष्टि के मूल में ही यदि आनन्द और कल्याण नहीं तो, फिर न तो इस सृष्टि का ही कुछ अर्थ है न इससे प्रभावित कला और साहित्य का। आनन्द के उद्रेक में ही सृष्टि का कोई भी कार्य सम्भव है। हमारी अपनी और यूरोप की संस्कृति की यही भेद-रेखा है, एक ओर जीवन का लक्ष्य, प्रयोजन और आधार आनन्द है; दूसरी ओर यही सब विषाद, अतृप्ति और निराशा। जहाँ जीवनदर्शन में इतना मौलिक भेद है, वहाँ कला और संस्कृति में भेद होना स्वाभाविक है। साहित्य के मंच से दर्शन में न जाकर, यह कहना बहुत है कि भारतीय कला का दृष्टिकोण, जीवन का भारतीय दृष्टिकोण है जिसमें कर्म का अन्त होता ही नहीं। कहते हैं, अपने आनन्द में विभोर होकर उस लीलामय ने सृष्टि की लीला रची है। जो यह नहीं मानते, उनके भीतर भी जीवन के प्रति

स्वाभाविक आकर्षण तो रहता ही है। बुद्धि भी इतना तो मान ही लेगी कि कला और किसी भी दूसरी रचना में यदि जीवन की ओर आकर्षण नहीं है, आग्रह नहीं है तो फिर मनुष्य के लिए बुद्धि का अहंकार भी विडम्बना है।

दुःखांत साहित्य (ट्रैजेडी) के रूप में यूनानी लेखकों से लेकर शेक्सपियर तक और बहुत बाद तक कुछ थोड़े अपवादों को छोड़कर, जिन पर भारतीय जीवन-दर्शन का प्रभाव पड़ चुका था, या जब तक पश्चिम के आधुनिक मनोवैज्ञानिक पैदा नहीं हुए थे; सब कहीं जीवन मृत्यु के मुख में ठेला गया है। हमारे यहाँ दुःखान्त साहित्य का निर्माण नहीं हुआ, इसलिए नहीं कि हम रचना के कार्य में निर्बल थे, अपितु इसलिए कि हमारा विवेक जागरूक था; सृष्टि के तल और तत्व को हम समझते थे। कला और साहित्य के माध्यम से हमें जीवन की जय बोलनी थी। दुःखान्त और मानसिक विकारों से ग्रस्त साहित्य और कला का रूप लेकर जो बराबर मृत्यु की जय बोलते रहे हैं, उनसे अब हमें अधिक नहीं सीखना है।

अस्तित्ववाद और विभूतितत्त्व

साहित्य में महावीरों का जो आदर्श हमारे सामने है, वह राम का है, युधिष्ठिर का है और मध्य-युग में आल्हा बनाफर का है। अपनी संस्कृति की परम्परा का मानदण्ड साहित्य के इन चरितनायकों में हम देखते हैं। लंका के युद्ध में मेघनाद के मारने की शक्ति श्रीरामचन्द्र में नहीं है, उसका वध करते है लक्ष्मण। फिर भी रामायण के नायक हैं श्रीरामचन्द्र। शरीर का बल ही सब कुछ नहीं है। यदि ऐसा होता तो रामायण के नायक लक्ष्मण होते। किन्तु राम इसलिए नायक हैं कि जितने भी मानवीय गुण सोचे और समझे जा सकते है, उनमें उनका पूरा विकास है। वे युद्ध में ही केवल अपराजित नहीं हैं, शत्रु भी उनके शील का साक्षी है। अपने लोकोत्तर शील में सब कुछ भूलकर आहत और मूर्च्छित भाई लक्ष्मण की चिंता न कर वे विभीषण की चिंता करते है—

> "बन कानन जैहें साखामृग मैं पुनि अनुज सँघाती।
> ह्वैहे काह विभीषन की गति, रही सोच भरि छाती।।"

महाभारत में भी मानवीय गुणों का यही संयोग युधिष्ठिर को महाभारत का नायक बना देता है, नहीं तो कौन नहीं जानता कि महाभारत के वीरों में अर्जुन सब से बड़े धनुर्धर और विजयी थे। भारतीय संस्कृति के सिद्धांतों को न जानने वाले जगनिक भाट ने भी आल्हा-खण्ड में आल्हा को नायक बनाकर परम्परा के इसी धन की रक्षा की है। इस देश में साहित्य, व्यक्तिवादी कभी नहीं रहा और इसीलिए व्यक्तिवाद से निकले अहंकार, द्वेष, संघर्ष और प्रतिहिंसा की भावना यहाँ न चल

मकी। विभूतिचिन्ता के कारण यहाँ साहित्य और कला का उत्कर्ष हुआ; किन्तु साहित्यकार के व्यक्तित्व का नहीं। एक वाक्य में इस तरह कहेंगे कि अपने देश का प्राचीन साहित्य, विभूतिसाहित्य है, व्यक्तिसाहित्य कदापि नहीं। भारतीय साहित्य परम्परा में व्यक्ति की अहंता पर चोट है। उसमें व्यक्ति प्रधान नहीं है—समाज-चेतना के प्रतीक 'अवतार' या 'पुरुषोत्तम' चित्रित हैं। तुलसी के राम और सूर के कृष्ण निरे कोटि (टाइप) नहीं जैसे हैम्लेट या डॉक्टर फास्टस, वरन् वे समाज मन की आशा-आकांक्षाओं के, सामूहिक सुख-दुःख की, सम्मिलित भाव-व्यञ्जना के मनोरम मूर्त्तरूप भी हैं जिनमें शंका और संदेह अब उठने भी लगे हैं—तो भी बड़ी कठिनाई से। वे व्यक्ति नहीं, विधान है; भूतमात्र नहीं, विभूति हैं। साहित्य में विभूतितत्व की इस प्रतिष्ठा को जनतन्त्र मे विश्वास करनेवाले चाहे पुराना आदर्श कहें, किन्तु इस देश की कला और साहित्य की साधना यही विभूतितत्व है।

दूसरी ओर पश्चिमी साहित्य मे जहाँ व्यक्तिवाद प्रधान रहा है, व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के घेरे में अपनी निजी लालसाओं, वासनाओं और अभाव की अग्नि मे जलता हुआ बराबर छटपटाता रहा है। व्यक्ति अपने आगे जब कुछ नहीं देख पाता या जिसका स्वार्थ नितांत एकांगी है, विपरीत स्थिति मे मृत्यु की कामना को अध्यात्म बना लेता है। यह स्थिति सारे यूनानी साहित्य में, समस्त मध्ययुगीन यूरोप के साहित्य में रति और प्रेम की कामना के साथ ही साथ मरण कामना को अपने में समेटे है। शेक्सपियर के नाटकों और सॉनेटों में, बर्न्स, कीट्स और बाइरन आदि के रूपवर्णन में; ब्राउनिंग के प्रिया का गला घोंट देने वाले पार्फीरिया के प्रेमी में; आस्कर वाइल्ड के 'प्लेजर फार दि ब्यूटीफुल बाडी, पेन फार दी ब्यूटीफुल सोल' वाले 'डी प्राफेन्डिस' जैसे पापी के आत्मचरित्र मे; फ्रांसिस टामसन की 'फार दी रोज इज बट ए सारो' जैसी कविताओं में; जर्मन कवि हाइने और रिल्के के विलाप गीतों में; और पुश्किन के साइबेरिया की ठण्ड से सिकुड़नेवाले वर्णनों में सब कहीं यही व्यक्तिवादी वेदनावाद जो आजकल अब 'अस्तित्ववाद' कहा जा रहा है, विस्तार से भरा पड़ा है। ऐसे व्यर्थ जीवन का वर्णन आज के टी० एस० इलियट 'अपने खोखले मानव' के लिए देते हैं—जीवन एक निरन्तर कोलाहल है—

जन्म, विवाह, मृत्यु,
इत्यलम्—इत्यलम्—इत्यलम्।

कर्म और उनके फलाफल में जिनकी आस्था न हो सकी, उनका यह दर्शन है, जो अब मार्क्सवाद के विरोध में 'अस्तित्ववाद' कहा जा रहा है। इस दर्शन के पश्चिमी प्रवर्त्तकों के, कीर्किगार्ड, सार्त्र, केमस, काफ्का आदि नाम कहाँ तक

गिनायें ? इनमें किसी एक का कहना है—'कैवल्य ज्ञान की प्रथम सीढ़ी है, मृत्यु की कामना' तो कोई दूसरा कहता है—'आत्महत्या ही प्रधान दार्शनिक समस्या है।' आप सोचिए भी, इस तरह के विचारों का मेल आपकी संस्कृति के साथ कैसे हो सकेगा ! बौद्धदर्शन का शून्यवाद भी निराशा की ऐसी भूमि में नहीं उगा है। इस प्रकार के वेदनाविगलित आशाशून्य, हिंसा-प्रतिहिंसा और उन्माद के पश्चिमी साहित्य से हमें क्या लेना है ? भारतीय दर्शन और तत्त्वचिन्तन के प्रभाव में ही नीत्शे ने कहा था—"जिसे कोई आशा नहीं, आकांक्षा नहीं, जिगीषा नहीं, वह कलाकार नहीं हो सकता।" साहित्य और कला के कितने वाद पश्चिमी जगत् में पैदा होते चले जा रहे हैं, उनकी तालिका लम्बी होगी और अच्छा हो हम उनकी चकाचौध में न पड़े। अपने साहित्य में तो करुण रस को भी आनन्ददायक कहा गया है—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
—(विश्वनाथ : साहित्य दर्पण; परि० ३, श्लोक ४)

पंडितराज जगन्नाथ करुण रस में 'आल्हादप्रयोजकत्व' और 'दुःखप्रतिबन्धकत्व' मानते हैं। तथ्य यह है कि हमारे प्राचीन साहित्य में सभी मनोवैज्ञानिक अवसर सुखदुःखमय कहे गये हैं। पतञ्जलि के अनुसार मन की अणु और विधु नामक दो वृत्तियाँ हैं। एक से हम दुःख-दर्शन में आँसू बहाते हैं और दूसरी से उनमें बीज रूप से बसे आनन्द को भी ग्रहण करते हैं।

संस्कृति और प्रकृति

यह सब कहने का अर्थ यह नहीं कि मैं रूढ़िवादी या परम्परा का अन्धभक्त हूँ—और यदि अपनी संस्कृति की मान्यताओं पर विचार करना भी रूढ़िवादी कहा जाय, तो मुझे उसकी चिंता भी न होगी। अपनी सीमाओं को न जानना बुद्ध का बल नहीं कहा जायगा। संस्कृति की कहानी उन बन्धनों की कहानी है, जिन्हें मनुष्य अपने कल्याण के लिए काल और परिस्थिति के अनुसार बराबर बनाता चला आया है। जिस देश के बन्धन जितने ही दृढ़ हैं, उस देश की संस्कृति भी उतनी ही दृढ़ देखी जा सकती है। विदेशी साहित्य का प्रभाव अब हमारे साहित्य पर बहुत अधिक पड़ चुका है। छायावाद, हृदयवाद, व्यक्तिवाद, वेदनावाद, हालावाद और प्रगतिवाद—और पता नहीं अभी आजकल में कौन नये वाद पैदा हुए, उन वादों के बवण्डर में हमारा साहित्य हमारी धरती को छोड़कर कहीं आकाश में चक्कर काट

रहा है। आज के अपने व्यक्तिवादी साहित्यकारों से मुण्डकोपनिषद् की ये पंक्तियाँ मैं कहना चाहूँगा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

साहित्य में जब तक व्यक्ति का मोह छूट नही जाता और साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को मिटा कर समष्टि में लय नहीं कर देता, उसके साहित्य में उसके अपने मन की लालसाओं की रंगीनी दर्शन का भ्रम पैदा करती रहेगी; जैसा कि हिन्दी के छायावादी युग में स्पष्ट है। मन की प्रसुप्त रति, काम, लालसा, अतृप्ति और कुण्ठा की भावनाओं को हिन्दी साहित्य के किशोर कवियों और किशोरी कवियित्रियों ने परमेश्वर तक पहुँचने की सीढ़ी बना दी थी, और ऐसी कविताओं को उपनिषद् चिन्तन की परम्परा में कहने लगे थे। छायावादी कविता, हिन्दी में वेदना और मानसिक विकारों के फेनफूल बिखेरती चलीं। व्यक्ति के मन की जिन प्रवृत्तियो के दमन और निग्रह ही में कला और साहित्य की सब से बड़ी सफलता होती, उनको कुरेद कर समाज के गले मढ़ दिया गया, जिसमे जीवन की अनुभूति नहीं, दुर्बल स्वप्न का सजा सजाया विभ्रप पात्र है। और अब इस छायावाद की प्रतिक्रिया में कहते हैं, उस प्रगतिवाद का जन्म हुआ जो साहित्य और कला के हमारे सारे मानदण्डों को उखाड़ रहा है। छायावाद अंग्रेजी रोमाण्टिक 'लिरिक' कविताओं के अनुकरण में हिन्दी साहित्य में पैदा हुआ था, प्रगतिवाद रूसी प्रचार का वाहन बन रहा है। आज के दिन हमारे देश का साहित्य मार्क्स और फ्रॉयड के दो छोरों पर चल रहा है, जिसमें साहित्यकार समूचे जीवन के सत्य को साहित्य में न उतार कर उसके अंग-विशेष काटकर अपने साहित्य की विजययात्रा पर भाग चले है। मार्क्स के जन्म के पहिले भी इस देश में मनुष्य रहते आये हैं, और फ्रॉयड के जन्म के कुछ सहस्र वर्ष पहले इस देश के विचारकों और साहित्यकारों ने अर्थ और काम की सर्वजयी शक्ति को पहचान कर कहा था—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमः यदासीत्।
सतोबन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।
—(नासदीय सूक्त, ऋग्वेद दशम मंडल)

फ्रॉयड ने 'बियांड दी प्लेजर प्रिंसिपल' की भूमिका में बृहदारण्यक का उद्धरण दिया है। बाद में 'तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय' और फिर—

शूरान्महाशूरतमोस्ति को वा मनोजबाणैर्व्यथितो न यस्तु।
धीरश्च प्राज्ञश्च क्षमस्तु को वा प्राप्तो न मोहं ललनाकटाक्षैः।।

और फिर आधुनिक मनोविज्ञान के विरोधी पक्ष, नर और नारी के आकर्षण और संघर्ष को ठीक-ठीक पहचान कर, श्रृंगार रस को सभी रसों में प्रधान कहकर, रसराज का नाम दिया। फ्रॉयड के जन्म न लेने से रति और काम के आकर्षण का पता सम्भव है पश्चिमी देशों को न चलता। पर इस देश के लिए यह कोई नया ज्ञान नही। कालिदास का सारे श्रृंगार, यहाँ तक कि देवाधिदेव शंकर और जगत्जननी पार्वती के प्रेम और रति का वर्णन और श्रीमद्भागवत का दशमस्कन्ध इस बात का निश्चित प्रमाण है कि फ्रॉयड ने जीवन के जिस रहस्य का निरूपण इस युग में किया है, उसका पता हमारी संस्कृति को कालिदास के बहुत पहिले ही चल चुका था। नये-नये वादों का जन्म, जो पश्चिम के अनुकरण पर बराबर इस देश में हो रहा है, हमें दूर तक नही ले जायेगा। हमारे सांस्कृतिक बन्धन इतने दृढ़, बुद्धिसंगत और वैज्ञानिक हैं कि उनसे छूट जाना सरल नही। नैतिक और आध्यात्मिक बन्धन प्रगति की आँच में सम्भव है गलाये भी जा सके; परन्तु भौतिक बन्धनों के साथ जो हमारी प्रकृति के तथ्य जुड़े हैं, वे अटूट रहेंगे। बुद्धि से तथ्य नही बनाये जाते, तथ्य के आधार पर ही बुद्धि अपनी चौकड़ी भरती है। भौतिक बन्धनों का मै दो रूप देखता हूँ—

(१) हम इस पृथ्वी के एक विशेष भूखण्ड के जीव हैं जिसका नाम भारतवर्ष है, जिसकी निश्चित भौगोलिक स्थिति है। इसके उत्तर में एक छोर से दूसरे छोर तक पृथ्वी के मानदण्ड के रूप में आकाशभेदी हिमालय के हिममंडित शिखर हैं। सारे देश में नदियों का जाल बिछा है। दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में समुद्र हैं। यहाँ छः ऋतुएँ दो-दो महीने के अन्तर पर आकर प्रकृति में नया सौन्दर्य और नया आकर्षण पैदा करती हैं। पेड़, पौधे, वनस्पति, पशु, पक्षी, भृंग इसमें पग-पग पर हैं। इस प्राकृतिक दशा का प्रभाव हमारे चिंतन पर, कला-साहित्य पर, जीवन-दर्शन पर, जो कुछ जैसा और जिस रूप में पड़ा है, उसी के अनुसार हमारी अनुभूतियाँ और संस्कृति की मान्यताओं का भी निर्माण हुआ है।

(२) हमारे पीछे हमारे पूर्वजों की लम्बी परम्परा है। जिस प्रकार हमारे शरीर के निर्माण में उनका रक्त है, उसी प्रकार हमारी भावनाओं, हमारे विश्वासों, हमारे संस्कारों और हमारी चेतना के संधान में भी उनके विधि-विधान काम कर रहे हैं। हमने उनसे जितना लिया है कम-से-कम यदि हम उतना भी न दे दें, तब हमारे जीवन और जन्म का फल क्या होगा? संस्कृति और व्यक्तियों के समूह की नहीं, देश की भौगोलिक स्थिति के कारण लोकपरम्परा का निर्माण होता है। इस देश में जिस किसी ने जन्म लिया है, जो इसके अन्न जल से पला है, जो इसके आकाश के नीचे इसी की धूल में खेलकर बढ़ा है, उसकी इस देश की प्रकृति के बाहर जाने

की चेष्टा देश के प्रति द्रोह है। हिमालय में गर्मी काटनेवाले और गंगा में नहानेवाले जब कोहकाफ और दजला फरात का नाम साहित्य में लेते हैं, कोयल को भूलकर बुलबुल के गीत गाते हैं, निश्चय ही अपने देश और अपनी प्रकृति के ऋण को वे नहीं मानते। प्रकृति का प्रभाव संस्कृति पर गहरा पड़ता है। धर्म और संस्कृति ऊपर आकाश से न चूकर इसी धरती से पैदा होते हैं। मनुष्य अपनी धरती में उसी तरह गड़ा रहता है जैसे वह सामने का पेड़ गड़ा है। इस देश की संस्कृति, इस देश की चिंतनधारा, इसी धरती से पैदा हुई। हमारी संस्कृति का सब से बड़ा बन्धन यही है।

प्रगति के नाम पर जो लोग वह सब हवा में उड़ाकर नया आरम्भ करना चाहते हैं, वे बस इतना समझ लें कि विदेश के जिस पेड़ का बीज वे इस धरती मे लगावेंगे, वह उग कर ठीक-ठीक यहाँ भी वैसा ही न होगा जैसा कि वह उस देश-विशेष में देख पड़ता है। वर्गसंघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमारी संस्कृति के लिए उतने ही विदेशी हैं; जितना विदेशी है आज का पूँजीवाद। जब तक हमारा यह आर्थिक शोषण है, तभी तक साहित्य में वर्गसंघर्ष की बात चल सकती है। साहित्य और कला को तब तक चलना है जब तक इस देश में मनुष्य और उसके विवेक को चलना है। पूँजीवाद के मिट जाने पर भी साहित्य को चलते रहना होगा। इसलिए किसी युग या वाद-विशेष मे बँध कर जो साहित्य चलेगा, उसकी आयु छोटी होगी। साहित्य का आधार हमारी वे मानवी प्रवृत्तियाँ, भावनाएँ, रुचि और अरुचि के अवसर रहेंगे जो वादों के घेरे में बँधकर हमारे जीवन का भार ढो सकेंगे, जिनके लिए भरत मुनि ने कहा था—

> लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
> उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्॥

इस भरतवाक्य के अनुसार लोकजीवन का चित्रण साहित्य और कला का प्रधान तत्त्व बना रहेगा। जीवन के सभी क्षेत्र, परिस्थिति, सुख, दुःख, क्रोध, हर्ष, विनोद, भय, प्रेम और राग, साहित्य के निर्माण की प्रेरणा देते रहेंगे। आज तो प्रगतिवाद की रोज बदलनेवाली कसौटी पर पन्त और अज्ञेय, जैनेन्द्र और राहुल से साहित्यकार खोटे सिद्ध किये जा रहे हैं। फिर भी मेरा विश्वास है कि यह कसौटी बदलेगी और हमारे ये साहित्यकार अपनी अनासक्त भावना के लिए प्रशंसित होंगे। प्रगतिवाद की दौड़ में 'सुमन' और 'अचल' सरीखे नये कवि कहते हैं, पिछड़ रहे हैं। हर नयी पीढ़ी, पुरानी पीढ़ी को प्रतिगामिनी करती रही है। इसलिए किसी को चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह निश्चित है कि केवल गालियाँ देना आलोचना नहीं है, क्रोध और घृणा का प्रचार प्रगति नहीं है।

हमारे प्राचीन साहित्य में न यह पूँजीवाद है न यह प्रगतिवाद। किसी वाद में उसे देखना ही हो तो उसे मैं केवल 'जीवनवाद' कहूँगा; जीवन व्यक्ति का नही समाज का। अपने साहित्य में हम यन्त्रयुग का यह वर्गसंघर्ष, ध्वस और विप्लव नही पाते। फिर भी सामाजिक न्याय, अपने लिए कुछ न चाहकर लोककल्याण में अपने व्यक्ति को लय कर देने की भावना अवश्य है। तत्त्वतः हमारा जीवनदर्शन, हमारी संस्कृति, हमारे साहित्य और हमारी कला में समाजवाद है। समाजवाद के सबसे पुराने सूत्र हमें अपनी संस्कृति में मिलते हैं। त्याग की कला जान लेने पर भोग की कला अनायास ही आ जाती है। रति और काम की बलवती स्वस्थ प्रेरणा हमारे साहित्य और हमारी कला का प्रधान अग है। फिर भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के नाम पर रति और काम प्रेरणा का वह अस्वस्थ कुत्सित रूप अपने साहित्य में पहले नहीं मिलता जिसमें नारी केवल रति के लिए ग्रहण की जाय, और फिर अब कोई दूसरी रूप और यौवन में उसे हरा देनेवाली मिले, या राह चलते जहाँ मन चल जाय, पुरुष वहीं अटककर उस पहिली को सदैव के लिए भुला दे। स्त्री और पुरुष के आकर्षण और प्रेम का फल हमारी संस्कृति मे केवल वासना की तृप्ति नहीं, प्रकृति का सबसे प्रधान धर्म है प्रजनन—"प्रजार्थं गृहि मेधिनाम्।" और—

दुष्यंतेनाहितं तेजो, दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन् अग्निगर्भां शमीमिव।।

फ्रॉयड के मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष, उसके युंग आदि शिष्य भी कहते हैं कि हमें सत्य का अंश मात्र दे रहे हैं। इन अंशों के आधार पर हमारे साहित्य में जो कुछ किया जा रहा है, भय है उससे समाज में मानसिक विकार बढ़ेगा। इस प्रसंग पर अपनी ओर से अधिक न कह कर रेवरेन्ड हिल्ली ने "वर्ल्ड रिव्यू" की पिछली संख्या में जो कुछ कहा है, उसके दो वाक्य मैं यहाँ दे रहा हूँ—

"अरविन्द की मनोवैज्ञानिक दृष्टि इतनी प्रखर और स्पष्ट है और इसके विश्लेषण का विश्व पश्चिमी मनोविज्ञान की तुलना में इतना अधिक विस्तृत और व्यापक है, यहाँ तक कि फ्रॉयड की मीमांसा से भी, कि जब इसके विस्तार में कोई घुसता है तो उसका यह काम अन्धकार में बच्चे के टटोलने सा ही रह जाता है।"

प्रगतिशील और अन्य सभी लेखकों से मेरा आग्रह है कि योनिसिद्धांत के तांत्रिक फेर में न पड़कर लोक-मंगल की कामना में साहित्य का निर्माण करें।

भाषा में विदेशी दासता

भाषा के प्रचार का कार्य अब तक सम्मेलन और राष्ट्रभाषा की दूसरी प्रेमी

संस्थाएँ और व्यक्ति करते रहे हैं। अब हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गयी। भारतीय विधान के अन्तिम भाषण में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का यह कथन सब ओर से प्रशंसनीय है—"इस विधान परिषद् को जिस एक समस्या के सुलझाने में बहुत अधिक समय लगा है, उसका सम्बन्ध देश की राष्ट्रभाषा से रहा है। यह हमारी स्वाभाविक इच्छा थी कि देश में अपनी भाषा चलायें और देश में कई भाषाओं के रहते हुए भी सारी कठिनाइयों को पार कर हमने हिन्दी को स्वीकार किया जिसे कि इस देश के सबसे अधिक निवासी समझते हैं। यह निर्णय बड़े महत्त्व का है, इसमें सहयोग की भावना है और देश को एक सूत्र में संगठित करने का दृढ़ संकल्प है। जिनकी भाषा हिन्दी नहीं है उन्होंने भी इसे राष्ट्रभाषा स्वीकार किया। अब इस भाषा को ऊपर से लादने का प्रश्न ही नहीं है।" हिन्दी के स्वीकार करने में देश के विभिन्न भाषाभाषियों के आज हम कृतज्ञ हैं, किन्तु विधान परिषद् में इस सम्न्ध में जो बातें कही गयी हैं, भविष्य के इतिहासकार उनकी आलोचना खेद के साथ करेंगे। मैं यह नहीं चाहता कि इस सम्बन्ध में अधिक बातें कहकर प्रान्तीयता अथवा हिन्दी के अधिकार की भावनाओं को उभड़ने का अवसर दूँ। इस देश की भाषाओं में ऊपरी भिन्नता तो अवश्य रही, पर संस्कृति और जीवन की अनुभूति की भिन्नता कभी नही रही। शंकराचार्य और रामानुजाचार्य का जन्म दक्षिण में हुआ था; पर इसके धार्मिक और सांस्कृतिक विजय के केन्द्र मथुरा, अयोध्या और काशी बने। सूर और तुलसी ने इन्हीं से प्रेरणा लेकर अपने उन काव्यों की रचना की जो केवल हिन्दी के नहीं, सारे देश के धन हैं। हिन्दी के अधिकांश शब्द संस्कृत से आये हैं। वही दशा उत्तर-भारत के सभी भाषाओं की तो है ही, दक्षिणी भाषाओं के बहुसंख्यक शब्द संस्कृत के ही हैं। मैं तो वह मोहक स्वप्न देख रहा हूँ कि किसी दिन हिन्दी के लेखक सारे देश में पैदा होंगे। संस्कृत-साहित्य की तरह कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक और भड़ौंच से लेकर शिवसागर तक के लेखकों का सहयोग मिलेगा। आज भी हिन्दी के बहुतेरे यशस्वी पत्रकार और लेखक अहिन्दी क्षेत्रों के हैं। श्री पराड़कर, श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन, श्री अज्ञेय और श्री प्रभाकर माचवे की तरह और भी बहुत से नाम गिनाये जा सकेंगे। हिन्दी की यह लड़ाई देश की सारी प्रान्तीय भाषाओं की लड़ाई रही है। यह संघर्ष हिन्दी और अंग्रेजी के बीच रहा। अंग्रेजी के निकल जाने पर इस देश की सारी भाषाएँ अपना स्वाभाविक अधिकार पा जायेंगी। देश के राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता के लिए हिन्दी राजभाषा बनी है और पहले भी इस कार्य के लिए साधुओं की यही भाषा चारों धामों और देश के प्रधान तीर्थों में रही है।

राष्ट्रभाषा का पद पिछली १४ सितंबर को हिन्दी को मिल गया पर अभी पन्द्रह वर्षों तक अंग्रेजी बनी रहेगी। प्रायः तीन वर्षों से हम स्वतन्त्र हैं, इसमें पन्द्रह और जोड़कर अठारह वर्षों में हम इस योग्य होंगे कि अपने देश का सारा काम अपनी भाषा में कर सकें। यह निर्णय क्या यह नहीं सूचित करता कि हमें यह स्वतन्त्रता समय से पहले ही मिल गयी? आयरलैण्ड स्वतन्त्र होने के बाद ही अपना काम अपनी भाषा में कैसे करने लगा? क्या यह सच नहीं है कि इसी हैदराबाद में एक दिन के निश्चय से ही सारा काम उर्दू में होने लगा था?

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती के अवसर पर महात्मा गाँधी के श्रीमुख से जो शब्द निकले थे, मेरे कानों में अब भी गूँज रहे हैं।—"मैं जब यहाँ विश्वविद्यालय के फाटक पर आया, मैंने देखा फाटक के ऊपर मोटे अक्षरों में तीन चौथाई जगह घेर कर अंग्रेजी अक्षरों में लिखा है, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी और नीचे पतले नागरी अक्षरों में लिखा है— काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय। अंग्रेजी की प्रधानता उस फाटक पर महात्मा जी नहीं सह सके। अंग्रेजी के मोह की उन्होंने निन्दा की और देश के दुर्भाग्य से जिस अंग्रेजी को अगली २६ जनवरी से निश्चित निकल जाना चाहिए था वही हमारे सिरों पर पन्द्रह सालों तक चढ़ी रहेगी और इतिहास में लिखा जायगा कि स्वतन्त्र होने पर भी भारत अंग्रेजी के चक्र से नहीं छूट सका। 'भारत छोड़ो' वाले प्रस्ताव में महात्मा जी को आंतरिक अराजकता की चिन्ता भी नहीं हुई, फिर स्वतन्त्र भारत के साथ हिन्दी यदि राष्ट्रभाषा बन गयी होती तो निश्चय ही देश पर कोई विपत्ति का पहाड़ न टूट पड़ता। देश भर के विचारक सोचने लगे हैं कि इस निर्णय की जड़ में उस वर्ग का स्वार्थ है जो अंग्रेजों के समय से ही ऊँची सरकारी नौकरियों पर बैठ चुका है, अपनी आनेवाली पीढ़ी के लाभ के लिए उसने अनेक प्रकार के भय और संदेह का सहारा लेकर इस निश्चय तक हमारे नेताओं को पहुँचाया है। नहीं तो देशी भाषाओं के विद्वानों के सहयोग से यह काम कुछ ऐसा कठिन नहीं होता और अगले स्वतन्त्रता-दिवस पर इस स्वतन्त्र देश की भाषा अपनी होती। उस वर्ग को चेत करना है, देश की भाषा और संस्कृति को अपने निहित स्वार्थ के ऊपर देखना है; ऐसा न करने पर भविष्य के विचारक उन्हें देश विरोधी और हीन स्वार्थ में जकड़े जीव ही कहेंगे।

कितने वर्षों में हिन्दी देश के सभी विभागों में चालू की जाय, यह बात देश की सांस्कृतिक भावना और स्वतन्त्रता के गौरवबोध पर टिकी रहेगी; पर नागरी अक्षरों में अंग्रेजी अंकों का रखना हमारी लिपि को वर्णसंकर बना रहा है। देश की सारी परम्परा, संस्कृति और स्वतन्त्रता का अभिमान इस आँच में

बराबर गलता रहेगा, केवल छह अंक अंग्रेजी लिपि के हमारी लिपि में आ जायँ और इस प्रकार हमारी लिपि अपने स्वाभाविक विकास की कहानी से दूर हट जाय ऐसी कड़वी घूँट है जो पीते नहीं बनती। जो अंक सबसे पहले इसी देश में चले और यहाँ से चलकर अरब में 'हिन्दसा' कहलाये उन्ही का विदेशी रूप हम अपनी लिपि में रख रहे हैं। विलायत से लौटकर कोई भी भारतीय अपने को और भारतीयों से बड़ा समझने लगता है। नौकरियों में उसका मान और आदर भी बढ़ जाता है; ठीक इसी तरह हमारे ही अंक विदेशी रूप लेकर अब फिर हमारी लिपि में लौट रहे हैं। यह प्रश्न केवल हिन्दी लिपि का नहीं; हमारी समूची संस्कृति और सारे इतिहास का है। नागरी लिपि में ये अंक आज जिस रूप में लिखे जा रहे हैं, उनसे हटना जब इसका कोई भी वैज्ञानिक कारण नहीं दिया जाता, अपनी संस्कृति के मोहक चित्र में कुछ काले धब्बे लगाने-सा होगा। आप जो अपने देश की अटूट ऐतिहासिक धारा में विश्वास करते हैं यह कभी न होने देंगे। दक्षिण भारत के मनीषी भी शान्त चित्त से इस प्रश्न पर विचार करें और अपने देश की लिपि में उन विदेशी अंक रूपों को न आने दें जो सदैव अपने विदेशीपन के कारण हमारी भावनाओं पर चोट करते रहेंगे। हिन्दी लिपि और अंकों का सुधार प्रांतीय भाषाओं के सहयोग में टेली प्रिण्टर, टाइप, तार आदि के लिए अधिक-से-अधिक जितना ठीक समझा जाय उसका विरोध कोई भी हिन्दीभाषी नहीं करेगा। पर यह कहना कि देश की एकता के लिए ये अंग्रेजी अंक आवश्यक हैं, अपनी संस्कृति और इतिहास की हँसी उड़ानी है।

हिन्दी के प्रश्न को लेकर श्री आयंगार, श्री गाडगिल और श्री आजाद ने जो कुछ कहा है उस पर देश के भावी विचारक निर्णय देंगे। हम यह मानकर चलेंगे कि देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता के पक्षपाती वे भी हैं, प्रान्तीयता की भावना उन्हें भी पसन्द नहीं फिर भी बिना भाषा की एकता के देश की राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता बस स्वप्न बनकर रहेगी। इस देश में अब अंग्रेजी को अधिक दिन चलने देना अपनी स्वतन्त्रता और संस्कृति के मुख पर कालिख पोतना होगा। ये सज्जन अपने विचारों में अब से ही परिवर्तन करें और हिन्दी को किसी एक क्षेत्र की नहीं सारे देश की भाषा बनाने में शुद्धचित्त से सहयोग दें। अंग्रेजों से स्वतन्त्र होकर अंग्रेजी से हम स्वतन्त्र न हों यह बात स्वतन्त्रता के संकल्प में ही संदेह पैदा करती है। अंग्रेजी यदि हम पर लादी न गयी होती तो रूस, जापान और जर्मनी की तरह अपनी ही भाषा में ज्ञान-विज्ञान, हम भी सीख गये होते। हमारी भाषा भी इन भाषाओं

की तरह आगे बढ़ी होती। अगला युग इस बात को दिखा देगा कि हिन्दी और इसके साथ ही इसकी दूसरी प्रांतीय बहिनों का विकास किस गति से होता है।

हिन्दी का भविष्य

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अंग्रेजी की उपयोगिता मानकर भी आप से कहना चाहूँगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ में उन भाषाओं की तरह जिनके बोलने वाले एक करोड़ भी नहीं हैं हिन्दी को भी जगह मिलनी चाहिए जिसे जानने वाले अब तीस करोड़ से ऊपर हो गये। हमारी केन्द्रीय सरकार, हमारे प्रधान मंत्री और हमारा विदेशी विभाग इस ओर पहले पैर उठावें। प्रजातंत्र भारत की राष्ट्रभाषा के स्वर यदि संयुक्तराष्ट्र संघ में न गूँजें तो मैं नहीं समझता हमारे प्रतिनिधियों का वहाँ अंग्रेजी में बोलना, उनके और उनके देश के नैतिक तल को कैसे ऊँचा करेगा? संसार के छोटे देशों के प्रतिनिधि अपने देश की भाषा में बोलें और हमारे प्रतिनिधि वहाँ अंग्रेजी में बोलते रहें यह स्थिति जितनी जल्दी मिटेगी हमारी स्वतन्त्रता के फूल और फल भी उतनी ही जल्दी मिलेंगे। इन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की प्रधान भाषाएँ रूसी और अंग्रेजी हैं। आपकी हिन्दी उनके साथ बराबर के आसन पर बैठे; क्या हमारे इस स्वतंत्र देश के लिए इससे बड़ी सिद्धि कोई दूसरी होगी? जब तक यह नहीं होता अंग्रेजी बोल कर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा जो मिलेगी उससे सन्तोष किसी एक भी व्यक्ति को न मिलेगा जो इस देश की संस्कृति और इसकी आत्मा में विश्वास करता है। भाषा के क्षेत्र में हमारा इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय बनना देश के भीतर हमें सब ओर से राष्ट्रीय रहने देगा; इसमें विश्वास मुझे नहीं है। देश की इतनी बड़ी जनता और प्रवासी भारतीयों के लिए भी भारत की राष्ट्रभाषा का अधिकार अब और भी अधिक आवश्यक है।

हिन्दी में क्या नहीं है? भारतीय संघ के राजकीय काम के लिए अभी यह विकसित है या नहीं? इस चिन्ता में न पड़ कर देश के कर्णधार अब इस चिन्ता में पड़ें कि कम-से-कम समय में हिन्दी की यह सारी कमी पूरी हो। हिन्दी अंग्रेजी की समता नहीं कर सकती यह कहकर हमारे अगुआ अंग्रेजों की बराबरी में खड़े होने का अधिकार खो देते हैं, संस्कृत में जो कुछ है हिन्दी भाषा और साहित्य में सरलता से लाया जा रहा है, भारतीय भाषाओं के परस्पर आदान-प्रदान इस कमी को और भी जल्दी पूरी करेगा। वैज्ञानिक साहित्य के लिए पारिभाषिक शब्दों की समस्या, यदि केन्द्रीय सरकार चेष्टा करे तो देश में विद्वानों की कमी नहीं है,

सब के सहयोग से जल्दी ही सुलझ जायगी। हमारा जो 'शासन शब्द-कोष' प्रकाशित हुआ है उसके ९० प्रतिशत शब्द सब प्रान्तों की भाषाओं की प्रतिनिधि विद्वत्परिषद् ने मान्य कर लिया है। आगे और ऐसे कोश बन रहे हैं। अदालतों का काम उसी दिन से हिन्दी में होने लगेगा जिस दिन से हमारी सरकार यह संकल्प करे। अदालती काम में भी यदि पन्द्रह साल लगते हैं तो भय है दूसरे कामों में और भी अधिक समय लगेगा। अंग्रेजी के प्रति यह नारद-मोह देश के विकास को युगों के लिए रोक देगा, याद रहे।

पण्डित नेहरू के शब्दों में "हिन्दी को ग्राहिका भाषा बननी चाहिए न कि त्याजिका" हम सभी पण्डित जी के इस सिद्धान्त से सहमत हैं। गो० तुलसीदास ने रामचरितमानस और दूसरे ग्रन्थों में 'गरीब नेवाज" लायक' आदि कितने ही शब्दों का प्रयोग कर इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। देश के साहित्यकार और लेखक जिन विदेशी शब्दों को अपने साहित्य में स्थान देंगे, जिन शब्दों का चलन देहात की जनता में भी होगा उन्हें निकालने का नाम कोई भी न लेगा। पर जो शब्द हिन्दी में चले आ रहे हैं उन्हें संस्कृत से निकलने के कारण हम छोड़ना भी न चाहेंगे। संस्कृत के शब्द देश की सभी भाषाओं में आ गये हैं और समान रूप से चल रहे हैं। उत्तर भारत की सारी भाषाओं की जननी संस्कृत है। शब्द के जन्म में भी देश-विदेश की भौगोलिक स्थिति प्रधान कारण रही है। सूखे, भूरे, अरब के रेगिस्तान में, जो ध्वनियाँ पैदा हुई वे स्निग्ध हरे-भरे भारत में चलकर भी विदेशी बनी रहेंगी। अंग्रेजी शब्द भी ज्यों-के-त्यों न लिये जा सकेंगे। देशी भाषाओं के शब्दों से और संस्कृत के शब्दों से बनकर जो शब्दकोष रचा जायगा वही इस देश की धरती और इसकी प्रकृति के अनुकूल पड़ेगा। तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड के भी शब्द हिन्दी में आ जायें, जैसे तमिल का 'पंदल' हिन्दी में 'पण्डाल' बन गया है। उत्तर भारत की सारी भाषाओं की शब्दराशि तो हिन्दी में है ही। भाषा के क्षेत्र में शुद्धिवाद पर हमें आग्रह नहीं करना है, फिर भी जहाँ तक बनेगा हम पहले अपने देश की सीमाओं के भीतर ही इस विषय में भी रहना चाहेंगे।

आज की हिन्दी (कुरुभूमि) मेरठ प्रान्त की भाषा मानी जाती है। इस हिन्दी में भोजपुरी, मागधी और मैथिली के लेखक जिनकी बोलियाँ बँगला के निकट हैं अधिकारपूर्ण रचनाएँ कर सके हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास, आलोचना में पूर्वीयुक्त प्रान्त और बिहार के लेखकों ने जितना काम किया है, यही इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी में देश भर के लेखक सफल साहित्य का निर्माण कर सकेंगे। 'हरिऔध', 'प्रेमचन्द' और 'प्रसाद' जैसे साहित्यकारों को पूर्वीयुक्त

प्रान्त के होते के कारण कहा जा सकता है वे बँगला से दूर और मेरठ प्रान्त के निकट थे; पर शिवपूजन सहाय, बेनीपुरी और दिनकर जैसे साहित्यकारों के लिए क्या कहा जायगा जिनकी साहित्यिक कृतियाँ आधुनिक हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण है। श्री मैथिलीशरण, वृन्दावनलाल वर्मा और वियोगी हरि जैसे साहित्यकारों की अपनी बोली भी बुन्देलखण्डी है। आधुनिक हिन्दी के सभी प्रसिद्ध साहित्यकार मेरठ प्रान्त से दूर के ही हैं। हिन्दी को प्रांतीय भाषा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि हिन्दी अब एक प्रान्त की नहीं सारे उत्तर भारत की भाषा बन गयी है। हिन्दी अधिकार नहीं माँगती, सहयोग माँगती है। देश भर की सांस्कृतिक एकता और दृढ़ता का यही ठोस आधार होगा कि चारों धामों और तीर्थों की यह भाषा राजकीय कामों में भी बरती जाय। दक्षिण भारत की जिस बुद्धि के लिए अंग्रेजी पर अधिकार जमाना इतना सरल रहा, वह बुद्धि हिन्दी पर सहज अधिकार प्राप्त कर लेगी, यह दूर की बात नहीं है। संस्कृत शब्दों से भागना अपने अतीत से भागना है जिसमें हमारी संस्कृति की जड़ें हैं। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के ये शब्द भी इसी विचार के पोषक बन रहे हैं—"केन्द्र में प्रयोग की जाने वाली यह भाषा हमें एक-दूसरे से समीप लाएगी, इसलिए कि हमारी परम्परा एक है, हमारी संस्कृति एक है, जो बड़ी-से-बड़ी महत्त्व की बात हो सकती थी उसे हमने आज कर दिया। मुझको इसकी प्रसन्नता है; आनन्द है, मुझे विश्वास है आनेवाली पीढ़ियाँ हमें आशीर्वाद देंगी।" संविधान के सभी व्यक्तियों को आनेवाली पीढ़ियाँ आशीर्वाद देंगी। जिनका विरोध आज मिला वे भी किसी दिन राष्ट्रभाषा का सब से बड़ा बल बनकर रहेंगे। आगामी पीढ़ियाँ सबसे अधिक श्रेय राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन का मानेंगी जिनका सारा जीवन राष्ट्रभाषा के इस यज्ञ में हवन हो चुका है। साहित्य-परिषद् के इस स्थान से हिन्दी के एक सामान्य साहित्यकार के नाते, मैं देश भर के साहित्यकारों की ओर से राजर्षि का अभिनंदन करता हूँ। वीरों के प्रति श्रद्धा का भाव राजनीति में रहे या न रहे साहित्य में रहेगा और साहित्यकारों को सृजन की प्रेरणा भी देता रहेगा। युग-पुरुष गाँधी और देश के दूसरे नेताओं पर जो कुछ साहित्य अब तक बन चुका है उसमें वीर-पूजा की यही भावना है। जिस मनोयोग से डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने इस समस्या को सम्हाला, देश की भावी पीढ़ी उन्हें भी इसके लिए सदैव याद करेगी। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद संविधान सभा के सहयोग से ही मिला। विरोधियों की भी हमारी भावी पीढ़ी कृतज्ञ रहेगी, क्योंकि विरोध भी नये बल और नयी प्रेरणा का कारण बनता है।

नया बल और नयी प्रेरणा

राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास में सब से बड़ा काम अब यह होगा कि इस प्रश्न को साम्प्रदायिक या प्रान्तीय संकीर्ण भावना का शिकार न बनाया जाय। हिन्दी राज्य के भरोसे अब तक नहीं फली फूली; अपने जन्म से ही वह जन-मन के आन्दोलनों की वाहिका, भक्ति और रीतिमयी, विदेशियों के विरोध में डट कर जयनाद और हर्षनाद की वाणी रही है। अब राष्ट्रभाषा का पद मिल जाने पर यह अपने विकास के साथ ही देश की अपनी दूसरी बहिनों के विकास में भी सहायक होगी। वन्य जातियों की भाषाओं और उनकी संस्कृति की लोकवार्ता और लोकगीतों की रक्षा भी करेगी। भाषा का प्रश्न राजनीति के कर्णधारों को नहीं, देश भर के साहित्यकारों के सहयोग, समन्वय, वैचारिक आदान-प्रदान में आगे बढ़ना चाहिए। हिन्दी सहित्य-सम्मेलन को पहले की तरह उन सारे प्रान्तीय भाषाओं के सहयोगियों के साथ मिलकर राष्ट्रभाषा के प्रश्न को बराबर आगे बढ़ाना है कि इसमें अब आवश्यकता से अधिक समय न लगे। अब तो आचार्य शंकर के शब्दों में—

अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत्परिवृतः।
पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम्॥

विश्वास कर चलने का अवसर है। अखिल भारतीय हिन्दी परिषद् के अवसर पर माननीय सरदार पटेल के संदेश में यही देख पड़ता है—"राष्ट्रभाषा किसी व्यक्ति या प्रान्त की सम्पत्ति नहीं है, इस पर सारे देश का अधिकार है और देश भर की जनता को इसके सीखने में गर्व का अनुभव करना चाहिए।... हिन्दी जब राष्ट्रभाषा मान ली गयी—गो कि कुछ समय तक एक विदेशी भाषा की सदारत में यह चलती रहेगी, हर किसी का यह कर्तव्य है कि वह इसके विकास में सहायक हो।" इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी भाषा के इस अधिकार का खेद सरदार पटेल को भी है। आशा है अखिल भारतीय हिन्दी परिषद्, जिसके लिए विश्वविद्यालय का अधिकार माँगा जा रहा है, हिन्दी के विकास में नयी प्रेरणा और नये बल का साधन बनेगी। यह कहना भी आवश्यक है कि इस परिषद् के संचालक हिन्दी-सेवियों, साहित्यकारों और विद्वानों का सहयोग भी लेंगे और वही सहयोग इनका सबसे बड़ा नैतिक और व्यावहारिक बल भी होगा। हिन्दी को सारे देश में चलना है और जहाँ तक बन पड़े, हिन्दी का एक-रूप ही चलना ठीक होगा। इसी काम के लिए हिन्दी-सेवियों के सहयोग की बात भी आवश्यक है।

हमारा साहित्य

हिन्दी साहित्य के लिए जो बात कही जायगी देश भर की सभी भाषाओं के साहित्यों पर वह समान रूप से उतरेगी। साहित्य के सिद्धान्त हमारी संस्कृति के सिद्धान्त होंगे, जिनमें तप और भोग एक-दूसरे के पूरक हैं। केवल तप जीवन की अस्वीकृति है और केवल भोग जीवन का उपहास। तप और भोग का सम्बन्ध हमारी संस्कृति का मेरुदण्ड है।

अंधन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इवते तमो येऽसम्भूत्यां रताः॥

(ईशावास्योपनिषद्)

इसीलिए संस्कृत में कवियों ने न तो रहस्यवादी साहित्य का निर्माण किया और न उस भोगवादी साहित्य का, जिसमें व्यक्ति भोग की नदी में सिर नीचे कर कूदने लगा है। हमारे साहित्यकारों को अपने पूर्वजों से साथ, उनके कर्म और विवेक प्रधान साहित्य के साथ सम्बन्ध जोड़ना है। दासता के सैकड़ों वर्षों में हमारा वह सम्बन्ध टूट चुका है। हम पश्चिमी साहित्यकारों का अनुकरण काव्य, नाटक, उपन्यास और आलोचना में भी करते चले जा रहे हैं। अब इस स्वतंत्र भारत का साहित्य एक बार फिर उन चरण-चिन्हों को देखकर चले जो वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और तुलसीदास के हैं। अवश्य ही युग बदल गया है, हमें युग साहित्य का निर्माण करना है, फिर भी इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि हम सामग्री विदेशों से ही लें, अपने जीवन की समस्याओं को उन्हीं आँखों से देखें जिनसे विदेशी विचारक देखते हैं। इस नये युग में भी हम अभी भारतीय हैं, इसलिए हमारा साहित्य भी भारतीय होगा। यूरप, अमेरिका और रूस से ऋण लेकर हम जिस साहित्य का निर्माण करेंगे वह भारतीय नहीं होगा। ऊपरी वेश-भूषा जिस अंश तक हमारी पश्चिम से प्रभावित है, उसी अंश तक हमारे साहित्य का बाहरी रूप भले कुछ अंशों में पश्चिम से प्रभावित रहे, किन्तु भीतरी भावलोक को हमें अपना, अपनी संस्कृति का रखना होगा, नहीं तो हम फिर अनुकरण जीवी कहे जायेंगे। यह बात हमारे लिए खेद और लज्जा की होगी। कविता के क्षेत्र में सस्ती भावुकता, श्वासों की लघुता, महाकाव्य और खण्डकाव्य का अभाव, छिछला रोमांस, प्रेम के नाम पर दार्शनिकता के पदों में वासना की फलहीन रति भावना, आज अधिक देखी जा रही है। मनोग्रंथियों से पीड़ित साहित्य, भारतीय भावना के विरुद्ध मृत्युपूजा, वेदना राग और हाय-हाय वाद से राष्ट्र के यौवन और कर्म में विरक्ति, ऐसी बातें हैं

जिन्हें बिना दूर फेंके साहित्य का वह भारतीय रूप नहीं मिलेगा, जिसमें प्रकृति का धर्म और जीवन का अनुराग है। हमारे अधिकांश कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे में बन्द, अपनी अतृप्त वासनाओं, लालसाओं और उन मानसिक रोगों का जाल बिछा रहे हैं, जिनमें फँसकर हमारी कविता व्यक्ति के मनोदेश के बाहर निकल कर स्वाभाविक जीवन को छूना भी नहीं चाहती। रहस्यवाद या गोपन की प्रवृत्ति इस देश की धरती की उपज कभी नहीं रही। इस्लाम के कठोर सिद्धान्तों में जहाँ विचार स्वतंत्रता का अभाव था, उमर खय्याम और जलालुद्दीन रूमी पैदा हुए थे। इस देश में विचार की स्वतंत्रता बराबर बनी रही, वेदनिन्दक और नास्तिक खुलकर यहाँ अपने मन की कहते रहे, उन्हें किसी ने नहीं रोका। पश्चिमी आलोचक किसी भी तत्वचिन्तन को भ्रम से रहस्यवाद कह देते हैं। इस देश में रहस्यवाद दर्शन में नहीं आ सका; यहाँ तो "ऋषयः मन्त्र द्रष्ट्रारः, की बात थी, फिर साहित्य में यह कहाँ से आ पाता। सस्कृत के किस कवि ने एक पंक्ति भी रहस्यवाद की लिखी है? रहस्यवाद का कोई भी पथ साहित्य में होता तो संस्कृत का एक भी कवि तो उस पर चलता दिखायी पड़ता। इस युग के रहस्यवादी और प्रगतिवादो दोनों के जीवन और लेखन का अन्तर पुकार कर रहा है कि कहीं कोई भ्रम है। नाटक और कथा साहित्य में भी वही किशोरावस्था की डगमगाती मनोवृत्ति काम कर रही है। पश्चिम के अनुकरण का अस्वस्थ प्रभाव प्रतिहिंसा, द्वन्द्व, आत्मघात का चित्रण हमें आज साहित्य में मिल रहा है। सारा संस्कृत साहित्य इन व्यापारों से अछूता है। विधवा के पैरों पर प्रेम के लिए शरतचन्द्र के चरित्रों की आत्मा लोट-लोटकर करवटें लेती हैं, उनका त्राण अभी नहीं हुआ। अश्रुपूजक, और अपने संचित कर्मों से भाग निकलने वाले चरित्रों से राष्ट्र को किस बात की प्रेरणा मिलेगी?

असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसा वृत्ताः।
तत्र प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः॥

ईशावास्य की यह वाणी हम भूल गये। भारतीय जीवन दर्शन के सब से बड़े पाप और कर्म के फलभोग से भाग निकलने वाली कायरता को हमने साहित्य में आदर्श बना दिया। श्री कामथ एक ओर आत्मघात को कानूनी बना देने के लिए कहते हैं कि "शासन को मनुष्य और उसके रचयिता के बीच रोक टोक न करनी चाहिए" और दूसरी ओर व्यवस्थापिका में वे ईश्वर की प्रार्थना के साथ नित्य की कार्यवाही के आरम्भ की बात भी कहते हैं। यह ईश्वर में विश्वास अनोखा है जो व्यक्ति को ईश्वर के भरोसे न रहने देने के लिए आत्महत्या की वकालत भी करता है, फिर भी ईश्वर की प्रार्थना चाहता है। इस तरह के भ्रामक विचार

साहित्यकारों में भी घर कर रहे हैं। भारतीय संस्कृति की परीक्षा का यह कठिन अवसर हमारी स्वतंत्रता के दिनों में आया है, देखें संस्कृति जड़ मूल से उखड़ जाती है या टिकी रहती है। ईश्वर में यह तर्क वाला विश्वास तब तक टिकेगा, जब कि यह जीव को उसका अंश भी नहीं मानता और न तो इस शरीर को उसका मन्दिर? साहित्यकारों को कुछ भी लिखने की स्वतंत्रता है; फिर भी वे केवल इतना सोचें कि अपनी परम्परा को अस्वीकार करना अपने पूर्वजों को अस्वीकार करना है। पश्चिमी विचारकों की काम ग्रंथि में पड़ कर हम उन्नयन का अर्थ दमन या स्तम्भन करने लगे हैं; संयम या निग्रह का अर्थ आत्मपीड़न, और हितबोध का अर्थ पलायन करने लगे हैं।

प्रकृत जीवन के तथ्यों की धारणा का भार हमसे नहीं उठता जो हमारी संस्कृति का सोना है। हम पश्चिमी विचारधारा में अपने अतीत के उस स्वस्थ और प्रसन्नमुख को भी नहीं देखना चाहते जहाँ प्रेम का फल पुत्र है और जहाँ कर्म के आरम्भ में ही परहित का संकल्प है!

तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।

हमारी जिस संस्कृति की यात्रा इतनी लम्बी है उसके आरम्भ में ही निर्भय रहने का मन्त्र है। मैं निर्भय होकर कह रहा हूँ हमारे साहित्य का जो अंश दूसरों की जूठन है, इस देश में सदैव हेय रहेगा। भारतीयता के विकास-क्रम में ही हम कला और साहित्य का विकास देख सकेंगे। हाँ, जिन्हें अपना सब कुछ दूसरों की आँखों से देखना है वे हमारी संस्कृति के सारे बन्धनों से अपने को मुक्त मान बैठे हैं, उनके बिना भी हमारी यह संस्कृति जीवित रहेगी।

राष्ट्रीय रंगमंच

राष्ट्रभाषा हिन्दी का रंगमंच देश के सभी बड़े नगरों में होना चाहिए। सिनेमा और रेडियो के कारण नाटक में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। फिर भी नाटक देखने की रुचि अभी भी बनी है। सिनेमा ने आँख मूँदकर पश्चिम का अनुसरण किया और रेडियो में भी साधारणतया वही नाटक जनता पसन्द करने लगी है जिसमें कोई प्रेम की अतिरंजित कहानी नीचे ऊपर कर फूँक दी गयी हो या अमेरिका के क्राइम-ड्रामा जैसी सनसनी पैदा करनेवाली हत्या जैसे व्यापारों से युक्त कहानी हो। यह स्थिति भी कम चिन्ताजनक नहीं है। केन्द्रीय सरकार के सहयोग में जिस नगर की जनसंख्या एक लाख तक हो वहाँ राष्ट्रीय रंगमंच अवश्य होना चाहिए। इसी देश में पुराने समय में रंगमंच राजभवनों के अतिरिक्त देवमन्दिरों

में हुआ करते थे। पहाड़ की गुफाओं तक में और नगरों में सार्वजनिक नाट्यशालायें बनी थीं। इनकी बनावट कहीं वृत्तरूप में, कहीं अर्धवृत्त, कहीं चतुरस्र और कहीं त्र्यस्र होती थीं। भरत नाट्यशास्त्र के भाष्य में अभिनव गुप्त ने जो इनके अठारह प्रकार के प्रचलित भेद दिये हैं इसी से सिद्ध है कि नाटक का कितना व्यापक स्थान इस देश के लोकजीवन में था। यज्ञों और दूसरे सामाजिक अवसरों पर नाटक देखना धर्म माना जाता था। कालिदास के काव्यों में "दरीगृहा" और "शिलावेश्म" उस समय के रगमच हैं। जनता को नाटक के रूप में स्वस्थ मनोरंजन देना भी हमारी केन्द्रीय सरकार का काम होना चाहिए। इस प्रकार हमारी परम्परा का जो तत्त्व मिट गया है फिर से चल निकलेगा और राष्ट्रभाषा के प्रचार के साथ ही जनता की रुचि का भी परिष्कार होगा। हमारी सरकार से भला यह कब सम्भव होगा, इसीलिए आप हँस रहे है। आइये आज हम इसकी कामना करें, किसी दिन हमारी इस कामना को पख भी मिल जायेंगे।

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी पत्रों के सम्पादकों को अब और अधिक् क्रियाशील और सहिष्णु होना पड़ेगा। अहिन्दी भाषियों में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए इन्हें अधिक उदारचेता और समन्वय वृत्ति से काम लेना पड़ेगा। जनता में भाषा और साहित्य की रुचि बढ़ाने का भार भी हमारे सम्पादकों पर है। हिन्दी उस क्षेत्र की भाषा अब तक रही है जिसमें हजारों रुपये कमाने वाले, वकील, सरकारी कर्मचारी, विश्व-विद्यालयों के अध्यापक भूलकर भी कभी कोई हिन्दी पुस्तक नहीं खरीदते। किसी के घर में दो चार उपन्यास कहानियों की पुस्तकें मिलें भी तो वे घर की देवियों को बझा रखने के लिए आकर्षक भड़कीले आवरणवाली सस्ती भावुकता और काल्पनिक प्रेम की कथाओं की होंगी। हमारे सम्पादक इस स्थिति के विरुद्ध लिखकर लोकचेतना को मार्ग दे सकते है। साहित्य और संस्कृति को सुलभ बनाने का काम हमारे सम्पादक कर सकेंगे। आप यह भी देखें कि जब कोई अहिन्दी भाषी हिन्दी की किसी ऐसी पत्रिका का नाम पूछता है जिससे कि हिन्दी साहित्य की आधुनिक गतिविधि का पता चल सके तो हमें नाम लेने में संकोच होता है। एक समय की प्रसिद्ध, पत्रिकाये विशाल भारत, हंस, रूपाभ, हिमालय, पारिजात, प्रतीक आदि प्रायः बन्द हो गयी हैं या अनियमित निकलती हैं। जो चल भी रही हैं उनमें प्राण बहुत थोड़े होते हैं सिवा 'जनवाणी' जैसी दो एक पत्रिकाओं के, और दूसरी ओर गन्दे साहित्य से भरी पत्रिकाओं की ग्राहक सख्या

सुनते हैं लाखों तक पहुँच जाती है। सरकारी प्रकाशन, प्रचार विभाग, दान-दक्षिणा का लेखकों पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है और यह सम्बन्ध कितना विचारपूर्ण रहा है, यह एक स्वतंत्र विषय है। हिन्दी के सम्पादकों का कोई विद्यालय नहीं। उनकी योग्यता का कोई मापदण्ड नहीं। उनके वेतन भी बस इतने हैं कि किसी तरह शरीर और प्राण सटे रहें। उनकी प्रतिष्ठा भी इसी कारण अंग्रेजी पत्रों के सम्पादकों से कम देखी जाती है। नेताजन तो अंग्रेजी में 'स्टेटमेंट' देते ही हैं, अंग्रेजी पत्र ही अधिक पढ़ते हैं। यह स्थिति शोचनीय है।

प्रकाशक : लेखक

हिन्दी के प्रकाशकों की बात ब्रह्मा ही जाने। उनके लेखकों को तो पता ही नहीं चलता वे कितनी पुस्तकें बेचते हैं और कितनी पुस्तकों की रायल्टी देते हैं। इसके सजीव प्रमाण महाकवि 'निराला' हैं। लेखक बेचारा चुपचाप जो हिसाब आता है सही कर देता है। साहित्य और साहित्यकार की चिन्ता न कर प्रकाशक बस अपनी तिजोरी की चिन्ता करता है। जब जैसी चटपटी चीज ग्राहक चाहता है, वही होटल वाला देता है—यही दशा हिन्दी प्रकाशक की है। जनरुचि-उसका मापदण्ड है—चाहे जनता सिनेमा के सस्ते गाने चाहे या प्रचारवादी ध्वंसक साहित्य। विचार स्वातन्त्र्य पर रोक नहीं लगनी चाहिए। फिर भी प्रकाशक कब क्या प्रकाशित कर देता है इस पर नियंत्रण तो कुछ होना ही चाहिए। साथ ही साथ कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें लेखक, प्रकाशक के नाग-फाँस में जन्म भर न कसा रहे। इस देश की स्वतंत्रता के युग में साहित्यकार यदि अधमरा जीवन बिताता रहा, आर्थिक कठिनाइयों से छूट न सका तो फिर वह किस तरह के साहित्य का निर्माण करेगा, सहज ही सोचा जा सकता है। कल्पना से जीवन को जगानेवाला यदि अपने आप जाग न सका, सीधे खड़ा न हो सका तो राजनीति में यह देश चाहे जो कर ले साहित्य और संस्कृति में कुछ विशेष न कर पायेगा। आप जानते होंगे सेना की तरह कला और संस्कृति भी पेट के बल पर ही चल सकती है। साहित्य और संस्कृति की ध्वजा लेकर चलने-वाला आपका मध्यवर्ग आज किस हीन स्थिति में पड़ा है, आप जानते हैं और यह भी जानते हैं कि साहित्यकार व्यवहार विधि में अधिक सफल न होने से और भी भयानक स्थिति में पड़ा है। यह समय किसी भी साहित्यकार के लिए साहित्य और संस्कृति का नाम लेने का भी नहीं है, पर वह अपने स्वभाव से विवश जो है, जो कह भी देता है, कुछ लिख भी देता है। जिसका मन आज पंख खोलकर

आकाश में उड़ता होता वही आज जैसे धरती के सारे भार से दबा जा रहा है।

भविष्य के संकेत

हिन्दी के साहित्य को संसार की विकसित भाषाओं के साहित्य की कोटि में पहुँचाने का भार अब हमारे कन्धों पर है। इसके विशाल और व्यापक साहित्य का निर्माण कैसे जल्दी से जल्दी हो हमें इसी में जुट जाना है। यह काम हिन्दी के अध्यापकों, अध्यापन संस्थाओं, सम्पादकों, प्रकाशकों, लेखकों और पाठकों पर निर्भर है, इन सब के संकल्प और कर्मसाधना से ही यह काम सम्भव हो सकेगा। इसकी प्रेरणा और सुविधा इन सबको केन्द्रीय सरकार से मिलनी चाहिए। सारा देश हिन्दी सीखेगा केवल भाषा सीखने के लिए ही नहीं, जिसका मतलब सरकारी नौकरियाँ होंगी, बल्कि अधिक इसलिए कि हिन्दी साहित्य और उसकी विचार सम्पदा से आकृष्ट होकर। तुलसी, सूर कबीर, मीरा, जायसी और हिन्दी के यशस्वी इस युग के कवियों और लेखकों की रचनायें देश भर को खींच सकेंगी इसमें तो हमें विश्वास है, फिर भी भविष्य का आकर्षण भी हमें देना ही होगा। सारे देश के लेखकों से हमें यह भी कामना करनी है कि वे अपनी साधना के फूल राष्ट्रभारती के मन्दिर में भी चढ़ायें।

ललितसाहित्य, काव्य, कथासाहित्य, संस्मरण, हास्य, व्यंग्य, निबन्ध, नाटक आदि देश की सभी प्रांतीय भाषाओं से हिन्दी में आ जाना चाहिए। पश्चिम से अच्छा हो अभी हम गंभीर साहित्य, विशेषतः वैज्ञानिक साहित्य ही लें। यह सारा काम किसी सुनिश्चित योजना के अनुसार ही होना चाहिए। अँग्रेजी में जो सस्ती ग्रन्थमालाएँ निकलती हैं वैसी हमारी भाषा में निकलनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि यह सारा काम हिन्दी-भाषी ही करे। प्रांतीय भाषाओं में जो हिन्दी के जानकार हैं उनसे भी इस काम में सहायता ली जानी चाहिए।

आज हिन्दी का सबसे आवश्यक कार्य वैज्ञानिक साहित्य है। अध्ययन अध्यापन और पुस्तक लेखन के लिए वैज्ञानिक परिभाषाओं की आवश्यकता सिर पर सवार है। अनुमान है कि ऐसी सारी परिभाषाओं के लिए पाँच लाख पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता पड़ेगी। अंग्रेजी के बन्धन से हम छूटेंगे इन परिभाषाओं के निर्माण पर ही। इस देश की सरकार सभी प्रांतीय भाषाओं के विशेषज्ञों और हिन्दी संस्थाओं के सहयोग में यह काम चालू कर दे तो सारे पारि-भाषिक शब्द अधिक से अधिक दो वर्षों में बन कर तैयार हो जायेंगे। यह काम

केवल हिन्दी या हिन्दी के विद्वानों के बूते की बात नहीं है, और न तो ये पारिभाषिक शब्द केवल हिन्दी के लिए ही बनेंगे। इन शब्दों से काम सभी प्रादेशिक भाषाएँ भी लेंगी इसलिए सब के सहयोग में इन्हें बनना भी चाहिए। वेदान्त, दर्शन और साहित्य की परिभाषायें दक्षिण से उत्तर तक जिस प्रकार सभी भाषाओं में एक-सी हैं, उसी तरह विज्ञान के हर विभाग की परिभाषायें भी एक होंगी और एक ही मूल संस्कृत से बनेंगी भी।

अथक मनीषी महापंडित राहुल सांकृत्यायन के कर्मठ नेतृत्व में परिभाषा निर्माण की योजना सम्मेलन आगे बढ़ा रहा है। पंडित राहुल और उनके दो सहयोगी श्री माचवे और विद्यानिवास मिश्र द्वारा संपादित शासन-शब्दकोष जैसे पारिभाषिक कोषों से यह समस्या शीघ्र ही सुलझकर रहेगी। अच्छा होता यह सारा काम केन्द्रीय सरकार की किसी सुनिश्चित योजना के अन्तर्गत विश्रुत भाषा शास्त्रियों के सहयोग में संपादित होता।

टेलीप्रिंटर, तार आदि के लिए नागरी लिपि का आवश्यक सुधार भी ऐसे ही प्रादेशिक विशेषज्ञों की राय से होना चाहिए, जिससे कि अंग्रेजी से अनुवाद करने की झंझट छूट जाय और अंग्रेजी पत्रों को सीधे हिन्दी में समाचार सूचनाएँ और भाषण मिलने लगेंगे। हिन्दी पत्र और पत्रकारिता तभी अँग्रेजी के सामने डट सकेगी और अंग्रेजी पत्रों में जो कुछ मिलता है, सभी हिन्दी में मिलने लगेगा।

हिन्दी अध्यापन

विश्वविद्यालयों में ऐसे विद्यार्थियों की सख्या बराबर बढ़ती जा रही है जो हिन्दी साहित्य का अध्ययन करना चाहते हैं, पर उन्हें उचित मात्रा से वैचारिक खाद्य कहाँ मिल रहा है? पुस्तकों का अभाव, अन्वेषणात्मक ग्रन्थों की कमी। हिन्दी के उच्च पाठ्यक्रमों में अभी भी अंग्रेजी पुस्तकों का सहारा लेना पड़ रहा है, जिनका सारा दृष्टिकोण विदेशी है। शेक्सपियर और तुलसीदास का मूल्यांकन एक ही कसौटी पर हो रहा है। तुलनात्मक अध्ययन और आलोचना में अभी भी हिन्दी का आधार अंग्रेजी बनी है। आलोचना के अंग्रेजी ग्रन्थों का अनुवाद देकर अध्यापक अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जाते हैं और फल यह होता है कि अंग्रेजी साहित्य के सारे आलोचना-सिद्धांत, विद्यार्थी हिन्दी साहित्य पर उतार कर मतिभ्रम में पड़ जाता है। क्या अभी भी वह समय नहीं आया जब कि हमारे अध्यापक संस्कृत साहित्य के सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी साहित्य का अध्यापन करें। हिन्दी का सारा पुराना साहित्य क्या संस्कृत साहित्य की मान्यताओं

पर नहीं टिका है? विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों के लिए अब आवश्यक है कि वे हिन्दी साहित्य की सारी पृष्ठभूमि से परिचित हों, जो बिना संस्कृत की जानकारी के संभव नहीं। कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी के ये अध्यापक बस सिद्ध संत साहित्य या रीतिकालीन साहित्य के घेरे के बाहर कुछ नहीं देख पाते। कबीर को समझाने के लिए भी इन्हें अंग्रेजी पुस्तकों के पन्ने उलटने पड़ते हैं। हिन्दी में डाक्टरेट देश के आठ विश्वविद्यालय दे रहे हैं फिर भी हिन्दी में ऐसा विश्वकोष क्यों नहीं बन सकता जैसा कि अकेले इस उस्मानिया के उर्दू विभाग में बनने लगा या जो काम मराठी में अकेले डॉ० केलकर ने किया। देश के आठ विश्वविद्यालयों में हिन्दी के डाक्टरों की संख्या बढ़ रही है परन्तु क्या वह खोज और सेवा हुई, जिसे उल्लेखनीय कहा जाय? क्या अब भी आशा की जा सकती है कि हिन्दी का पिण्ड अंग्रेजी से छूटेगा और संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रन्श से जुड़ेगा? साहित्य के भारतीय दृष्टिकोण का प्रतिपादन अब हमारे अध्यापकों को करना है।

रेडियो और हिन्दी

रेडियो की भाषा परामर्शदात्री समिति से हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और कवि श्री वियोगी हरि, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री मौलिचन्द्र शर्मा के त्यागपत्र के साथ हिन्दी संसार को चिन्ता हो रही है। हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध कवि और लेखक रेडियो से असहयोग भी कर रहे हैं। रेडियो की भाषा संबंधी नीति हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने पर भी यदि न बदले तो निश्चय है कि केन्द्रीय सरकार अपने कर्त्तव्य से गिरी कही जायगी। अखिल भारतीय रेडियो की ये समितियाँ रेडियो की भाषा में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का अनुपात निश्चित करने के लिए बनायी गयी थीं। इस अनुपात और वर्गीकरण से केवल अस्वाभाविकता और कृत्रिमता पैदा हुई। रेडियो की भाषा लिखित भाषा नहीं, बोली हुई भाषा है। लिखने और बोलने की भाषा में कितना अन्तर होता है इसे आप सब जानते हैं। इन समितियों का निर्माण शब्दों के अनुपात और वर्गीकरण के निश्चय के लिए नहीं बल्कि देश के जिस क्षेत्र में जो रेडियो स्टेशन है उस क्षेत्र को संस्कृति और जन-जीवन के अनुकूल होना चाहिये था; जिनका काम कार्यक्रम में परामर्श देने का होता; भाषा में नहीं। कार्यक्रम के अनुकूल स्वाभाविक भाषा बनती गयी होती और इसमें किसी को विरोध की बात मिलती ही नहीं। अब हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने पर कार्यक्रम परामर्शदात्री समितियाँ बननी चाहिएं और हर क्षेत्र के रेडियो में उस क्षेत्र की संस्कृति और

जन-मन के अनुकूल कार्यक्रम का निर्धारण भी होना चाहिए। किसी रेडियोक्षेत्र की भाषा का आधार भी उस क्षेत्र की संस्कृति को ही मानना ठीक होगा। सरकार ने जब इन समितियों का निर्माण किया उसी समय इनके हाथ में रेडियो के समूचे कार्यक्रम का कुल सत्रह प्रतिशत इनके भाषा-परामर्श में आ सका। समाचार, संगीत और विशेष कार्यक्रम इन समितियों की छाया से दूर रहे जिनका अनुपात रेडियो के कार्यक्रम में प्रायः तिरासी प्रतिशत है। इस प्रकार यदि इन समितियों की सारी बातें मान भी ली गयी होतीं तो उनका प्रभाव रेडियो कार्यक्रम के कुल सत्रह प्रतिशत पर पड़ता। यह सीमित क्षेत्र भी हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी समितियों के निर्माण से और भी संकुचित हो गया था। प्रश्न अब हमारे सामने अखिल भारतीय रेडियो को हिन्दी या किसी दूसरी भाषा के सिखलाने का नहीं बल्कि यह बताने का है कि रेडियो किस संस्कृति का प्रचार करे। उस भारतीय संस्कृति का जिसकी धरती में इसके खम्भे गड़े हैं या समुद्र और सीमान्त पार की किसी दूसरी संस्कृति का जिससे हम बड़े अच्छे अनुकरण करने वाले बन जायँ।

रेडियो का प्रधान कार्यक्रम ६५ प्रतिशत संगीत प्रसारण है। उदाहरण के लिए—लखनऊ रेडियो से १२० मिनट नित्य रेकार्ड-संगीत चलता है, इसमें से कम से कम आधा, सिनेमा-संगीत है। कहना यह है कि १६ से लेकर २० सिनेमा के गाने अखिल भारतीय रेडियो का एक स्टेशन नित्य प्रसारित करता है। ऐसे समय में जब कि देश भर के संस्कृत और अर्द्धसंस्कृत व्यक्ति इस बात में एक स्वर हैं, कि भारतीय सिनेमा अश्लील और घोर कुरुचिपूर्ण हो गये हैं। अखिल भारतीय रेडियो का इन सिनेमा गीतों का प्रसारण जनता में कुरुचि का प्रसारण हो रहा है: भाषा की समस्या से कहीं अधिक विकट समस्या यह है। भाषा का प्रश्न हमारे संस्कृति के प्रश्न का एक अंग है—अखिल भारतीय रेडियो, जिसे इस देश की संस्कृति का, हमारे लौकिक जीवन की मान्यताओं का, हमारे ऐतिहासिक विकास क्रम की माला का प्रसारक होना चाहिए था, समाज में कुरुचि और गंदे मनोवेगों का प्रसारक हो रहा है। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि देश के सिनेमा उद्योग से हीन हमारा रेडियो उद्योग नहीं है इसे हम सब बिना किसी हिचक के मान लेंगे; फिर भी सिनेमा के मूल में ही पूँजीपतियों की देश को पतन के गर्त में ठेलकर धन कमाने की भावना है; पर अखिल भारतीय रेडियो तो हमारी सरकार द्वारा संचालित एक विभाग भी है। हिन्दी कवियों के गीत भी जो सिनेमा पर आते हैं उनमें उन कवियों को अवसर कम मिलता है जिनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में विश्वास और श्रद्धा के साथ लिखा गया है। इनमें अर्द्धशिक्षित गायकों को अर्द्धसंस्कृत शब्द वाले गीत ही अच्छे

लगते हैं। मुसलमानी संगीत की उस्तादी परम्परा का ही शास्त्रीय संगीत के नाम से प्रसारण, भारतीय संगीत के समूचे इतिहास और विधान को व्यक्त नहीं करता। सामगान के पश्चात ध्रुपद, धमार और शुद्ध राग-प्रबन्धों को छोड़कर वह बराबर ठुमरी, दादरा और नशीले गजलों में उलझा रहता है। आत्मा रूपी कमल के विकसित करनेवाले भारतीय संगीत और आनन्दबोध की जगह गजलों की टीस, दर्द और जलन समाज के हृदय में उतारी जा रही है। हल्का संगीत एकदम घृण्य है। फिल्मों की अस्वस्थ उत्तेजना और रोगी प्रेमचित्रण के रेकार्ड रेडियो से होकर जनता को दुहरी नशा पिला रहे हैं। मैं सिनेमा के सेठों की तिजोरी में हर रेकार्ड के एक बार बजने में रेडियो का सरकारी एक रुपया पहुँच जाता है। भजन और भक्तिगान के नाम पर तुलसी, सूर, मीरा और कबीर के पदों की कपाल-क्रिया की जाती है। तुलसी और सूर के पदों पर जो राग लिखे हैं वे पद उन रागों में न गाये जाकर नये बनाये रागों में गाये जाते हैं। विश्वास है हमारी स्वतन्त्र चेतना के साथ ही सांस्कृतिक चेतना भी पैदा होगी और हमारा संत साहित्य अब आगे अधिक विकृत न किया जायगा।

रेडियो नाटक और भाषण

हिन्दी साहित्य में नाटककार के रूप में जो अब तक न देखे गये, रेडियो नाटक लिखने में वे ही कुशल बन गये हैं। विदेशी एकांकियों की जूठन, छिछली कामकौतुक जगाने वाली अस्वाभाविक संवाद पद्धति, मानसिक रोगों से ग्रसित चरित्र, हिन्दी उर्दू की मिली जुली खिचड़ी—रेडियो, नाटकों की विशेषता है। अभिनेता शब्दों का उच्चारण भी नहीं कर पाते फिर भावों का अभिनय तो और भी कठिन है। रेडियो में बीसों बार खेले गये नाटक वे हैं जो किशोर वयस के रंगीन सपनों से आगे नहीं जाते। बी० बी० सी० लुई मैकनीस, ड्रिंकवाटर, इलियट और यहाँ तक कि शा तक के नाटकों को प्रस्तुत कर सका है। हमारे यहाँ के प्रसिद्ध हिन्दी नाटककारों के कितने प्रसिद्ध साहित्यिक नाटक अब तक रेडियो पर आ सके हैं। जनता, विशेषत: उस शिक्षित वर्ग की रुचि का परिमार्जन भी अच्छे रेडियो नाटकों से हो सकता है जिनकी भावनाएँ पश्चिमी नाटकों के दुःखवाद और अतिरंजित अस्वाभाविक भावावेश में दबी पड़ी हैं। अच्छा हो रेडियो विभाग अधिकारी हिन्दी लेखकों का विश्वास इस विषय में अधिक करें न कि उन प्रोग्राम सहायकों का जिनमें बहुतों को परीक्षाओं में निर्धारित नाटकों के अतिरिक्त देशी विदेशी नाटकों का न तो पता है और न तो दोनों पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन का ही जिन्हें अवसर मिला है। यही बात

भाषण के भी संबंध में कही जा सकती है। जिस विषय पर रेडियो को भाषण प्रस्तुत करना है उस विषय के केवल अधिकारी विद्वान् जो अपने विषय के समूचे इतिहास और सारी परम्परा से परिचित हैं कम देखने को मिलते हैं। स्त्रियों और बच्चों के कार्यक्रम में भी हमारी संस्कृति और परम्परा की वही अवहेलना देखी जाती है। जनता का मनोरंजन ही नहीं, जनरुचि का परिष्कार भी इस विभाग का काम होना चाहिए। राजनैतिक दृढ़ता बिना सांस्कृतिक दृढ़ता से चल सकेगी इसका विश्वास हम सब को नहीं करना है और हमारी यह भी कामना है कि हमारे नेता भी इस ओर अपनी आँखें बराबर खुली रहने देंगे। रेडियो से हम केवल अपनी संस्कृति का प्रचार चाहते हैं, जो सब ओर से हमारे इस देश और इस प्रकृति की उपज है।

हमारे जिन यशस्वी साहित्यकारों के यश से हिन्दी का वायुमंडल गूँज रहा है; इस स्थान से उनकी चर्चा न करना जो कुछ भी कहा गया उसे अधूरा छोड़ता है। पर इस विचार से कि हिन्दी के साहित्यकार अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यकारों से अब भिन्न नहीं है, मैं उनके नाम और गुण के स्मरण से जानबूझकर वंचित हो रहा हूँ। साथ ही साथ मेरा यह भी विचार है कि हमारी संस्कृति में साहित्यकार केवल व्यक्ति नहीं विधान है। अपने साहित्य और संस्कृति के इस संक्रांति काल में हमें अपने व्यक्ति के मोह से छूटकर राष्ट्र व्यक्ति की कामना करनी है। साहित्य में हमें अब उस जीवन सत्य को देना है जो बुद्धि से नहीं जीवन और प्रकृति के अनुभव से निकलकर हमारे प्राचीन साहित्य के प्रकाश स्तम्भ हैं। विचार भेद बराबर रहा है और रहेगा भी पर क्या अनुभव भेद भी कहीं देखा गया? मानवी मन: और परिस्थितियों के परे साहित्य की कोई दूसरी गति नहीं है। साहित्य के मूल में अब हम उन मनोवेगों को न धरें जो हमारे किशोर स्वप्न के पंखों पर उड़ते रहते हैं, जिनके दबा देने में हमारा संयम है, पर जिनमें बह जाना ही हमारा और हमारी कला का पतन भी है। कीचड़ के कमल की तरह काम भावना में ही कला का जन्म होता है। काम की कलियों में ही कला के फूल आते हैं। कला और रतिकामना एक ही साथ व्यक्ति की किशोरावस्था में पैदा होती है। इसकी जानकारी हमारे पुराने कवियों को थी; इसे जानकर ही उन्होंने इस सारी कामना का चित्रण राधा और कृष्ण के काव्यों से नायक-नायिकाओं के माध्यम से किया। पथिक के जान लेने से पहले पथ को जान लेना आवश्यक है। पश्चिमी साहित्यकार पथिक (व्यक्ति) के जानने की चेष्टा करते रहे हैं पथ जानना उन्होंने नहीं चाहा। हमारे पूर्व के साहित्यकारों ने पथ का निरूपण किया। हमें बस एक ही नया आरम्भ करना है कि हम भी

उसी पथ पर चलने लगें, जिसमें व्यक्तिजीवन और लोकजीवन अलग नहीं परस्पर अविच्छिन्न हैं। इसलिए यहाँ व्यक्ति नहीं लोकचिन्ता है। हमारे पूर्व पुरुष साहित्य और कला के क्षेत्र में इसलिए अनासक्त रहे। इस विस्मयजनक सृष्टि का रचयिता अपनी सृष्टि में सब ओर से अनासक्त है और ठीक इसी तरह कवि भी अपने व्यक्ति की आसक्ति अपने साहित्य में नहीं रखता और इसीलिए वह—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः है।"

पहाड़ अपने सिर पर तृण और पेड़ उठाये रहते हैं, समुद्र के अगाध जल के ऊपर फेन बहता है, स्नेह और धीरज से मेरा निवेदन सुनकर आपने इसी अनुग्रह का परिचय दिया है।

जय राष्ट्रभाषा!

अभिभाषण–१३

श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब'

⊙ ⊙

हिन्दी प्रेमियो,

हिन्दीवालों की कृपा से आज मैं साहित्य-परिषद् के सिंहासन पर आसीन हूँ। कविता में अभिव्यंजनावाद, छायावाद, प्रगतिवाद की भाँति जीवन में धन्यवाद भी रम गया है, यह धन्यवाद मैं आप सब लोगों को प्रचुर परिमाण में समर्पित करता हूँ। यही एक वस्तु है जिससे न देनेवालों के हाथ से कुछ जाता है न लेनेवाले को कुछ मिलता है, किन्तु दोनों ही प्रसन्न होते हैं। आजकल हमारे देश में इस प्रकार की वस्तुओं का बाहुल्य है।

आज मैं उस भूमि पर खड़ा हूँ (बैठा हूँ), जिसकी वीरता, त्याग तथा बलिदानों से हमारे साहित्य को संजीवनी मिली है। यहाँ की इस सिकता से जो रसिकता हमें मिली है, उसे समय भी सुखा नहीं सकता। पृथ्वीराज रासो का बहुत कुछ अंश जाली हो सकता है, किन्तु उस जाली के अन्दर हमें हिन्दी साहित्य-गगन के उगते हुए चन्द्र की झाँकी मिलती है। (करतल ध्वनि) मीराँ के पदों की टीस और मिठास आज भी प्रेमियों की जलती आँखों में ममीरे का काम देती है। आपके वीरों के वीर कृत्यों ने इतिहास के पन्नों को हीरे-सा चमका दिया है। प्रताप के चरित्र ने हिन्दी में कितने ही महान् काव्य और महाकवि बना दिये हैं। इस वीरता, रोमान्स और शिवैलरी की मिट्टी से हमारा साहित्य पनपा है। आज जब हम अपने साहित्य के सम्बन्ध में विचार करने के लिए एकत्र हुए हैं और राजस्थान ही में, तब हम श्रद्धा पूर्वक इस प्रदेश का स्मरण करते हैं।

वैदिक काल से लेकर आज हाइड्रोजन-बम के युग तक साहित्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह हमारे नये विधान-सा विस्तृत है। पूर्व और पश्चिम के विचारकों ने समय-समय पर अपना मत संसार के सामने रखा। इनमें परस्पर कहीं-कहीं मतैक्य है; कहीं-कहीं मतभेद है, किन्तु एक बात में सब सहमत हैं। वह है साहित्य की शक्ति। बालाओं के आँसू के समान इसकी शक्ति अपरिमेय है। यह देश में क्रांति कर सकता है, समाज की व्यवस्था में उलट-पलट कर सकता है,

निष्प्राण जातियों में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकता है और शीतलसुधा के समान रस पान करा कर विदग्ध हृदय को शान्ति प्रदान करा सकता है। भयानक युद्धों की अग्नि प्रज्ज्वलित करने की इसमें चिनगारी है और शान्ति की शीतलदायिनी छाया के लिए यह अक्षयवट है। तुलसी की वाणी में यह कल्याणी होकर आयी, जिसने कोटि-कोटि मानव के जीवन को संतोष, सुख और शान्ति प्रदान की। अकबर और जहाँगीर की महत्ता, स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों के पत्थर और ईंटों की चहारदीवारियों में विराजमान हैं। तुलसी और सूर युग-युग से जन-मन-मानस में विहार करते चले आये हैं और जब तक हिन्दू जाति जीवित रहेगी—और हमें विश्वास है जिस जाति का अभिषेक वेदों में मंत्रों से हुआ है, जीवित ही रहेगी—सदा हमारे और हमारी संतानों के हृदयों में, चाहे वह पश्चिम की मदिरा से कितने ही मँदिर क्यों न हो जायें, निवास करेगी। विक्रम की विरुदावली उनकी शताब्दी के अवसर पर सुनी जाती है, किन्तु अभिज्ञान शाकुन्तल, मेघदूत अथवा रघुवंश के दृश्य हमारे नयनों के रंगमंच पर नित्य ही दिखायी पड़ते हैं। मैं विज्ञान की अवहेलना नहीं करता। वैज्ञानिक न होते तो दो दिनों में हम कोटा कैसे पहुँचते? अथवा पेनिसीलीन के अभाव में रक्त को विषैला होने से कैसे बचा पाते। विज्ञान की कृपा से शीघ्र ही हम चन्द्रलोक का दर्शन करेंगे, यदि बीच ही में रैकेट स्वर्ग लोक की ओर नहीं मुड़ गया। जहाँ पहले चंगेज खाँ ऐसे भयानक हत्यारे को दो चार सहस्र मनुष्यों का वध करने में महीनों लग जाते थे, वहाँ आज एटम बम की कृपा से क्षण भर में लाखों मनुष्यों के बोझ से धरती मुक्त हो सकती है। विज्ञान ने सभी कार्यों में हमारा मार्ग सरल और सुगम कर दिया है और हमारे जीवन की अवधि छोटी होने के कारण सब काम कम समय में करने की सुविधा प्रदान कर दी है। उसके लिए हमें विज्ञानदेव को प्रणाम करना चाहिए।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या बीसवीं शती में विज्ञान की उपेक्षा की जा सकती है? उपेक्षा नहीं अपेक्षा है। विज्ञान की आवश्यकता न स्वीकार करना अज्ञान है। मैं तो चाहूँगा कि विज्ञान ऐसी उन्नति करे कि रेलगाड़ी दो सौ मील प्रति घंटे चले, किन्तु इंजन उलटे नहीं। डॉक्टर कृत्रिम हृदय बना ले जिससे मनुष्य जीवित रह सके किन्तु उस हृदय में प्रेम और संवेदना होनी चाहिए। मंगल ग्रह की सैर हम कर आवें किन्तु किसी प्रकार का अमंगल न हो।

यह सम्भव कैसे? यह तभी सम्भव है जब विज्ञान का मार्ग प्रदर्शन साहित्य करे। विज्ञान के विद्वान् यह सुनकर रौद्र रस का अभिनय करने लगेंगे। कहेंगे हम लोग दिन और रात प्रयोगशालाओं में परिश्रम करते हैं, आग से खेलते हैं

बिजली को गले लगाते हैं, परमाणु को तोड़ते हैं। हम उनका नियंत्रण नहीं मान सकते जो लेखनी और कागज लेकर बैठ जाते हैं और मकड़ी के जाले की भाँति उस कागज पर शब्दों में अपनी कल्पना की चित्रकारी करते हैं। मानवता क इतिहास यदि वह केवल परिहास नहीं है तो यही बताता है कि वाल्मीकि, तुलसी, रवीन्द्रनाथ, शेक्सपीयर, मोलियर, डिकेन्स से मानवता का जितना भला हुआ उस अनुपात में विज्ञान से नहीं। आरम्भ में तो विज्ञान मानवता का त्राता तथा कष्ट नष्ट करनेवाला था, किन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यता छलांग मारती चली जा रही है विज्ञान उसी पथ पर चल रहा है जिस पर विष वृक्ष की छाया है, विनाश की धूलि है, और जिसके अन्त की कल्पना नहीं की जा सकती। यह दूसरी बात है कि युद्ध के पंक से पेनिसीलीन का पंकज भी खिल उठा। अफीम के पौधे से भी पोस्ते के दाने निकल आते हैं, जो हमें शक्ति देते हैं, जिसे हम व्रत में भी खाते हैं।

जिस साहित्य की महत्ता का वर्णन हम प्रेमिका के सौन्दर्य की भाँति कर रहे हैं वह क्या है। सरकार की योजनाओं की भाँति साहित्य के सम्बन्ध में भी अगणित धाराएँ तथा मान्यताएँ हैं और मुद्रणकला के विस्तार और उन्नति के साथ साथ प्रत्येक व्यक्ति जिसे लिखना पढ़ना आता है विचारक के सिंहासन पर बैठ कर विक्रमादित्य बन जाता है और अपना निर्णय कह सुनाता है। सत्य, अर्द्धसत्य तथा असत्य की इस भीड़ में साहित्य से अभिरुचि रखनेवाला जिज्ञासु उसी प्रकार घबरा जाता है, जिस प्रकार सिगरेट पीता हुआ पुत्र पहली बार अपने पिता को सम्मुख देखकर। रेल का टाइम टेबल भी साहित्य है, झंडू कम्पनी का सूचीपत्र भी साहित्य है, चन्द्रकांता संतति भी साहित्य है, लोकगीत भी साहित्य है, हृदय को बेधनेवाले सिनेमा के गाने भी साहित्य हैं, रामचरितमानस भी साहित्य है, उपनिषद् और वेद भी साहित्य हैं—इस प्रकार भिन्न अभिरुचि वालों के लिए सुगमता से सामग्री मिल जाती है और साहित्य का क्षेत्र बम्बई के 'आर्मी एण्ड नेवी स्टोर्स' की भाँति हो जाता है। जिनका दावा है कि हमारे यहाँ आलपीन से लेकर हवाई जहाज तक मिल सकता है।

हिन्दी साहित्य का वंशगत सम्बन्ध संस्कृत से है, इसलिए अभी तक अपने देश में साहित्य के सम्बन्ध में वही मान्यताएँ सहृदयों को स्वीकार रही हैं जो संस्कृत के आचार्यों ने निर्धारित की थी। इनके अनुसार साहित्य वही है जिसमें लोकहित की भावना हो, मानवता का कल्याण हो, जो समन्वय की भावना उत्पन्न करे। सौहार्द, सौमनस्य और शोभन जिसके पठन-पाठन का परिणाम हो। स्वस्थ मन, स्वस्थ चित्त के लिए आनन्द आवश्यक वस्तु समझी गयी और साहित्य का ध्येय आनन्द में माना गया। संस्कृत के साहित्यकारों ने काव्य शब्द को व्यापक रूप में माना।

इसका अर्थ केवल पद्य बद्ध कविता ही नहीं, यह साहित्य का पर्याय समझा गया और इसलिए साहित्य वही माना गया जिससे रसानुभूति हो, जो रमणीय हो और मम्मट ने सब का समन्वय करते हुए काव्य अर्थात् साहित्य का लक्षण बताया—

काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतररक्षतये।
सद्यः पर निवृत्तये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे।।

लैटिन में एक शब्द है, 'लिटरेट्युरा' जिससे फ्रेंच में लिटरा बना जिसका अर्थ है अक्षर, उसी से अंग्रेजी शब्द लिटरेचर बना है। इस अक्षर से स्मरण रखिए, ब्रह्म से नहीं तात्पर्य है, उन काले-काले चित्रों से तात्पर्य है जो हमारे स्वर अथवा व्यंजन के प्रतीक हैं। आरम्भ से ही दोनों का अन्तर आप समझें। एक का आरम्भ ऐसे शब्द से होता है जिसमें हित की भावना सन्निहित है और दूसरे का अक्षरों से जिनसे शब्द बनते हैं। हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि हम आपको दिग्दर्शन भी करा सकें कि पश्चिम का साहित्य आरम्भ में जब यूनान में विकसित हुआ कितना क्रूर, पाशव तथा अमानुषिक था। हमारे यहाँ का साहित्य इन शब्दों से आरम्भ हुआ—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंच - मिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

किन्तु यह कहना भूल होगी कि यूरोप के साहित्य में यूनानी नाटकों की हत्याओं और देवताओं की लड़ाइयों का ही अनुकरण हुआ। मानवता के विकास के साथ इटली, जर्मनी, फ्रांस तथा इंगलैण्ड ने बहुत सुन्दर मानव हितकारी और आनन्द-दायक साहित्य संसार के सम्मख रखा।

यह भी देखना चाहिए कि हमारा हिन्दी साहित्य किन परिस्थितियों में जन्मा और पनपा। इसका शैशव वीरता की उदात्त भावनाओं के अंक में बीता और त्याग तथा बलिदान के पावन दुग्ध से इसका पालन हुआ और भक्ति के सुस्वादु पौष्टिक व्यंजनों से इसे शक्ति मिली। आरम्भ से आज तक जिस रूप में भी हिन्दी साहित्य का निर्माण हुआ है आत्मा का सम्बन्ध उससे रहा है। उसी के समीप हमारा साहित्य रहा है। पश्चिम में भी १९वीं शताब्दी के अन्त तक साहित्य की सरिता उसी धारा में बही, जिसका स्रोत मानव हृदय से फूट कर निकला है। समाज के हित की भावना उस युग की मान्यताओं के अनुसार उसका ध्येय था। वैयक्तिक उत्कर्ष की ओर भी ध्यान दिया गया और वैज्ञानिक आविष्कारों का धार्मिक विचारों से समन्वय करने की चेष्टा की गयी।

यूरोप में पहले युद्ध के पश्चात् लोगों के विचार में परिवर्तन होने लगा। लोगों

के विश्वास कायरों के दिल की भाँति हिल गये। साहित्य में नये लेखक पुराने आदर्शों तथा मान्यताओं को छोड़ कर नये आदर्शों की ओर झुके। दो विशेष विचार साहित्य और समाज उपचारों के लिए उपयोगी समझे गये।

साहित्य में आदर्श कल्पनाएँ मानवता के लिए अहितकर समझी गयीं। यह कहा गया कि यह सब झूठी बातें मनुष्य को सत्यता से बहुत दूर फेंक देती हैं। आदर्श की इस भूल भुलैया में पड़कर मनुष्य यह नहीं सोचता कि हमें सचमुच क्या करना है? दूसरा विचार यह था कि समाज का सगठन और उसकी व्यवस्था जर्जर हो गयी है, परोक्ष रूप से समाज को 'दारु योषित की नाई' धनिक वर्ग नर्तन करा रहा है और साहित्य भी उसी का परिणाम है। यद्यपि यथार्थवादी (रोय-लिस्ट) लेखक फ्लाबर्ट और कैपिटल के लेखक मार्क्स बहुत पहले हो चुके थे, परन्तु उनका प्रभाव अंग्रेजी साहित्य पर प्रायः नही के बराबर था। दूसरे महायुद्ध के बाद एक और गहरा धक्का विचारों और मान्यताओं को लगा। इसी बीच दूसरे देवता फ्रायड भी जलदपटल से निकल आये जिन्होंने अपने मानस शास्त्र का मधुर रस लोगों को आकण्ठ पान करा दिया। इंगलैण्ड में भी उस साहित्य का प्रजनन होने लगा जिसे रीयलिस्ट अथवा यथार्थवादी साहित्य कहते हैं। पश्चिम के और देशों में तो हो ही रहा था। यह शिशु देखने में बड़ा सुन्दर था। इसकी मुसकान में मादकता थी। इसकी किलकारी लोगों के हृदय में गुदगुदी उत्पन्न करती थी। लोग इसे हृदयंगम करने लगे।. इस साहित्य की विशेषता थी कि उपन्यास, कहानी, कविता में, चरित्रों के निर्माण में अथवा किसी घटना या वस्तु में जो वस्तु जैसी है वैसी ही वर्णन करना। यदि आदर्शवादी साहित्य चित्रकला था तो यथार्थवादी साहित्य फोटोग्राफी। यदि पत्नी पति के मस्तक का अभिषेक झाड़ू से करती है तो यही लिखा जाय---यह छिपाने से कोई लाभ नहीं। यदि समाज में महिलाएँ प्रेम के मैदान में राइट लेफ्ट का परेड करती हैं तो यह साहित्य में आना चाहिए, इसको छिपाने से और यह दरशाने से कि महिलाएँ सच्चरित्रता की देवी हैं, कोई लाभ नहीं है। कामवासना को पिपासा से संतप्त होकर पुरुष अथवा स्त्री किसी भाँति अपने ही तल को शीतल करें तो कोई हानि नहीं और साहित्य में ऐसी ही अभिव्यक्ति होना आवश्यक है। कारखानों के मजदूरों, खनिकों, किसानों के वास्तविक जीवन का समावेश साहित्य में होने लगा और उनके अभावों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया गया। यह भी कहा गया कि जब हमारे सम्मुख सभी वस्तुएँ सुन्दर नहीं हैं तब असुन्दर, विकृत, कुरूप वस्तुओं का भी वर्णन अपेक्षित है क्योंकि इनमें वास्तविकता है, सचाई है और यथार्थ है। कानों तक खिंची हुई बड़ी-बड़ी सफरी के समान चंचल आँखों के वर्णन से क्या लाभ जब ऐसी

आँखें देखने को नहीं मिलतीं। हमारे सामने तो कौड़ी के बराबर मटमैली, घिसे शीशे के समान आँखें है, हमें उन्हीं का वर्णन करना चाहिए। आदर्श प्रेम, आदर्श दम्पति जिनमें त्याग और बलिदान की भावना है यदि लन्दन और पेरिस में नहीं मिलते तो उपन्यास तथा काव्य में उनका चित्रण व्यर्थ है। ऐसे परिवार का चित्रण साहित्य में होना आवश्यक है जिनमें पति मदिरा की शक्ति से अनुप्राणित होकर घर आकर पत्नी के ऊपर जुजुत्सू के दाँव का अभ्यास करता है और अपनी संतान को ऐसी भाषा सुनाता है जिसकी शब्दावली आक्सफोर्ड डिक्शनरी में भी ढूँढ़ने से नहीं मिलती, क्योंकि समाज में अधिकांश ऐसे ही परिवार मिलते हैं। वर्तमान यूरोप में एक वर्ग इसी प्रकार के साहित्य का सर्जन कर रहा है। यद्यपि आदर्शवादी साहित्य की रचना बन्द नहीं हुई।

विचारों के विस्तार के लिए कोई बन्धन नहीं है। विस्तृत-से-विस्तृत महासागर ऊँचे-से-ऊँचे पहाड़ विचारों के प्रवाह को रोक नहीं सकते। ईथर की लहरों के समान सारे ससार में इसका विक्षेप हो जाता है। अंग्रेजी भाषा को बधाई है कि उसके द्वारा हमारे देश में भी इन विचारों का आगमन हुआ। देश के दारिद्र्य, सामाजिक तथा राजनैतिक अत्याचार, असमानता, दासता इत्यादि ने इन विचारों के लिए वही कार्य किया जो मदिरा से अभ्यस्त फेफड़े क्षय के कीटाणुओं के लिए करते हैं। समय-समय पर साहित्यिक विचारों में परिवर्तन होता रहता है। हिन्दी में बीस-पचीस वर्ष पहले उस कविता का चलन था जिसे छायावादी कहते हैं। कहानी और उपन्यास भी आदर्शवादी ढंग के लिखे जाते थे। तब जो कुछ यथार्थ कहानी और उपन्यास में लिखा भी जाता था वह बहुत ही मर्यादित और शालीनता की सीमा के अन्दर। इसकी प्रतिक्रिया हिन्दी में हुई और यथार्थवादी साहित्य का जन्म हुआ और जैसा स्वाभाविक है बुद्धिमान् चेला गुरु से भी आगे बढ़ जाता है, हमारे साहित्य रचयिता यूरोप के यथार्थवाद से आगे बढ़ गये। हमारा देश पूजा करने का अभ्यस्त तो है ही, मार्क्स और फ्रायड की पूजा होने लगी। काडवेल का 'ईल्युजन एण्ड रीयलीटी' हमारा वेद बना और हम ऐसे साहित्य का सर्जन करने लगे जिसे यथार्थवादी साहित्य कहा गया।

नये प्रयोगों का, नये विचारों का हमें स्वागत करना चाहिए किन्तु यह देख लेना चाहिए कि वह हमारे अनुकूल है। परम्परा को तोड़ा जा सकता है, रूढ़ियाँ नष्ट की जा सकती हैं यदि उनसे देश का अहित होने लगा हो। दूसरे देश के विचार यदि हमारी परम्परा, परिस्थिति के अनुकूल हों और यदि उनसे हमारा कल्याण होता हो तो उनका समावेश साहित्य और जीवन में होना चाहिए। जब हमारे रक्त में हारलिक्स का दूध और हंटले पामर का बिस्कुट बह रहा है तब पश्चिम के

विचार भी ग्रहण किये जा सकते हैं; किन्तु यह देखना होगा कि हमारे लिए स्वास्थ्यकर है कि नहीं। योरप के नये विचार चाहे वह दार्शनिक हों, चाहे राजनैतिक; चाहे साहित्यिक अवश्य ही हमारे लिए भी लाभकारी होंगे, आवश्यक होंगे—नहीं कहा जा सकता। जैसे एक ही औषधि सब रोगों के लिए गुणकारी नहीं हो सकती, एक ही उपाय सब अवस्थाओं के लिए उचित नहीं होता वैसे ही एक ही विचार सब देशों, सब कालों तथा सब परिस्थितियों के लिए हितकारी नहीं होता। मुझे एक घटना स्मरण है। काशी में एक वैद्य थे, जिनकी प्रतिभा प्रख्यात थी। जिनकी औषधि में बड़ा गुण था और हाथों में यश। वह जब किसी रोगी के यहाँ जाते थे, अपने एक शिष्य को भी साथ ले जाते थे जिससे उसका व्यावहारिक ज्ञान बढ़े। एक बार एक शिष्य के साथ किसी रोगी को देखने वैद्य जी गये। नाड़ी की परीक्षा के पश्चात् और सब हाल पूछ कर वैद्य जी ने कहा औषधि तो ठीक चल रही है और रोग भी उतार पर है किन्तु आप खाने-पीने में असंयम न करें, नहीं तो नीरोग होने में बहुत समय लग जायगा। रोगी ने कहा, मैं तो वही पथ्य ले रहा हूँ जिसका आपने निर्देश किया है और किसी प्रकार का असंयम नहीं हुआ है। वैद्य जी ने कहा—नहीं, आप छिपाते हैं ऐसा जान पड़ता है कल या आज आपने भुने चने खाये हैं, चाहे वे थोड़े ही रहे हों। रोगी को बहुत आश्चर्य हुआ और उसने अपना असंयम स्वीकार किया। वैद्य जी जब लौटे तब उनके शिष्य ने पूछा—"गुरु जी! आपने कैसे समझ लिया कि उसने चना खाया है। नाड़ी की किस चाल से यह ज्ञान होता है मुझे आपने यह विद्या नहीं बतायी।" वैद्य जी ने कहा—सब ज्ञान नाड़ी से ही नहीं होता कुछ बुद्धि से भी काम लिया जाता है। मैं जब गया, मैंने इधर-उधर देखा और उसकी चारपाई के नीचे कुछ छिलके चने के पड़े थे, इसी से मैंने बताया कि उसने चना खाया है। शिष्य ने यह अनोखा टेकनीक ग्रहण कर लिया। तीन-चार दिनों के पश्चात् रोगी ने वैद्य जी को स्मरण किया। वैद्य जी के पाँव में पीड़ा थी उन्होंने उसी शिष्य को भेज दिया देखने के लिए। शिष्य महोदय ने आते ही तीक्ष्ण दृष्टि से कमरे का निरीक्षण किया फिर नाड़ी देखने लगे। नाड़ी ध्यान पूर्वक देखकर उन्होंने कहा—देखिए आपने फिर असंयम किया। रोगी ने कहा नहीं किसी प्रकार असंयम नहीं हुआ है। भावी होनहार वैद्य ने कहा अवश्य हुआ है। आपने जूता खाया है। रोगी की खाट के नीचे जूता पड़ा हुआ था। कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही सिद्धान्त प्रत्येक स्थान पर लागू नहीं होता। सिद्धान्त ठीक होने पर भी उसका व्यवहार समझदारी के साथ करना आवश्यक है।

यथार्थवादी साहित्य का प्रयोग हिन्दी में होने लगा। पुराने विद्वानों ने तथा उन लोगों ने जो नवीनता के पक्षपाती नहीं हैं विरोध करना आरम्भ किया।

नवीन और पुरातन का संघर्ष सदा से रहा है। यद्यपि यह संघर्ष अनावश्यक तथा अशोभनीय है। शास्त्रीय स्तर पर विवाद और विवेचन तो समझ में आता है किन्तु उससे नीचे उतरना अस्वस्थ मानस का लक्षण जान पड़ता है।

यथार्थवादी साहित्य के रचयिता तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। पहले तो वह विद्वान् जिनके ऊपर परिचय के यथार्थवादी साहित्य का प्रभाव पड़ा है। जो सचमुच समझते हैं कि हमारे समाज की व्यवस्था पश्चिम के ढंग की हो जानी चाहिए। उनका विश्वास विदेशी मान्यताओं में है। इनकी नीयत पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। दूसरे वह लोग हैं जो नवीनता के चाकचिक्य के वशीभूत हैं। जिस प्रकार हम विदेशी ढंग से भोजन करने लगते हैं, आचार व्यवहार विदेशी ढंग का कर लेते हैं क्योंकि उसमें चमक, सौन्दर्य और आकर्षण अनुभव करते हैं उसी ढंग से यह लोग साहित्य का सर्जन भी करते हैं। तीसरे वह लोग हैं जो साहित्य जगत् में अथवा समाज में पराजित हो गये हैं। जिन्हें सम्मान, समादर, सहानुभूति, सहयोग नहीं प्राप्त हुआ, वह इस दृष्टि से यथार्थवादी साहित्य के निर्माण में सहयोग देने लगे कि इन नवीन साहित्यकारों के बीच हमारे अभावों की पूर्ति होगी।

यथार्थवादी साहित्य का विरोध उस तीव्रता तथा कटुता से नहीं हुआ जिस ढंग से छायावादी कविता का हुआ था; यह अच्छा ही हुआ। यथार्थवादी साहित्यकारों का एक दल रूसी कम्यूनिज्म के साथ भी अपना तादात्म्य करने लगा और इस समय यथार्थवादी साहित्यकार राजनैतिक विचारों की दृष्टि से दो वर्गों में हैं। एक, जो रूस को और रूसी विचारों के जैसा कुछ भी वहाँ से अंग्रेजी अनूदित पुस्तकों द्वारा यहाँ उपलब्ध है, प्राप्त होता है और दूसरे वह लोग जो आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन तो चाहते हैं, परन्तु रूसी कम्यूनिज्म के समर्थक नहीं हैं। दोनों के साहित्यों में इतनी समता है कि आर्थिक व्यवस्था में दोनों ही परिवर्तन चाहते हैं, काम के बन्धनों को दोनों ही ढीला करना चाहते हैं और अपनी कल्पना के अनुसार इस युग के मानव की माँग की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में करते हैं। अन्तर यह है कि रूसी कम्युनीज्म के समर्थकों की रचनाओं में प्रचार की मात्रा बहुत अधिक रहती है।

जहाँ तक आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन का सम्बन्ध है कोई समझदार व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि समाज में आर्थिक विषमता रहे। सम्पत्ति का वितरण समाज में समुचित ढंग से हो, भोजन वस्त्र से सब सुखी रहें। किसी व्यक्ति को यह न अनुभव करना पड़े कि आर्थिक दृष्टि से मैं हेय और छोटा हूँ। कारखानों में मजदूरों का और गाँवों में किसानों का शोषण न हो। इस सम्बन्ध में भी दो बातों का विचार करना आवश्यक है। युद्ध के पश्चात् किसानों तथा मजदूरों की अवस्था

में बहुत परिवर्तन हो गया। आर्थिक दृष्टि से अब उनकी अवस्था वह नहीं रही जो पहले थी। श्रमिकों के पारिश्रमिक में इतनी वृद्धि हो गयी कि उनके जीवन का स्तर ऊपर उठ गया, अधिकतर किसान भी आर्थिक दृष्टि से पहले से सम्पन्न हैं, यद्यपि उन्होंने अपने रहन-सहन में परिवर्तन नहीं किया, परन्तु यथार्थवादी साहित्यकारों ने यह यथार्थ चित्रण करने की अपेक्षा नहीं समझी और अभी वही पुराने राग में अपने गीत गाते चले जा रहे हैं। इधर मध्यम वर्ग की आर्थिक अवस्था गिरती गयी। न श्रमिकों के समान उनके पारिश्रमिक में वृद्धि हुई और न पूँजी-पतियों के समान उन्हें धन एकत्र करने की सुविधा प्राप्त हुई। यह सजीव यथार्थ है किन्तु किसी साहित्यकार ने अपनी लेखनी की तूलिका से इस वर्ग की चित्रकारी नहीं की। यों भूले भटके किसी ने एकाध कहानी लिख दी होगी। यथार्थवाद का अवतरण जिस अर्थ में साहित्य जगत् में हुआ वह यही था और यदि इसका पालन न किया जाय तो सन्देह होने लगता है कि रचनाएँ प्रचार मात्र है। इस सम्बन्ध में एक निवेदन और कर देना आवश्यक है। जो भी रचना हो यदि लेखक को उसके सम्बन्ध में अनुभूति नहीं है तो वह रचना सफल नहीं हो सकती और साहित्यकार केवल शब्दों का जाल बुनता है। जिसके हृदय में कभी प्रेम की अनुभूति नहीं हुई है वह टीस वेदना और पीड़ा ऐसे शब्दों की सैकड़ों सूची बनाकर लिखता रहे पढ़ने वाले अथवा सुनने वाले के हृदय में कभी रचना का प्रभाव नहीं पड़ सकता। केवल सुनी सुनाई बातों पर साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता और यदि ऐसा होता है तो वह साहित्य नहीं है। कभी-कभी कल्पना से कवि अथवा लेखक ऐसी रचना करता है जो वास्तविक अनुभूति के समान होती है किन्तु ऐसी कल्पना साधना से उपलब्ध होती है। मेरे एक मित्र कवि हैं जो सोने की घड़ी लगाते हैं, रेल की दूसरी श्रेणी में चलते हैं। प्रातःकाल मक्खन और टोस्ट के साथ अमेरिका का शहद और आस्ट्रेलिया के मुरब्बे का जलपान करते हैं। वेष-भूषा भी बहुत भव्य रहती है और श्रमिकों की दयनीय अवस्था का राग अलापते हैं और उन लोगों को कोसते हैं जो उनकी दीनता के कारण हैं। गाँवों के किसानों के सम्बन्ध में ऐसे लोग भी कविता और कहानी लिखते हैं जिन्होंने गाँव शब्द पुस्तक में देखा है जिन्होंने यह भी नहीं देखा कि जौ और गेहूँ के पौधों में क्या अन्तर है। यह भी एक कारण है जिससे यथार्थवादी साहित्य का विरोध होता है।

पश्चिम में साहित्य का जन्म और उन्नयन जिन परिस्थितियों में हुआ है उससे हमारे देश की परिस्थिति भिन्न है। हमारे देशवासियों के अनुकूल साहित्य वही उचित हो सकता है जो हमारे युग-युग के इतिहास, परम्परा और संस्कृति की तात्विक भावनाओं को लिए हुए प्रगति करे। यद्यपि विज्ञान ने बहुत उन्नति की

है, फिर भी न यूरोप में आम उग सकता है और न भारत में जैतून। मानवीय संस्कृतियों की भी यही अवस्था है। संस्कृति और इतिहास प्रत्येक देश को जलवायु, प्रकृति तथा भौतिक वातावरण के अनुसार निर्मित होते हैं, और साहित्य तो इन्हीं की वाणी है। यथार्थवाद के यूरोपीय आचार्य साहित्य का स्रोत समाज की आर्थिक व्यवस्था मानते हैं और इस कारण आज वह नया साहित्य उसी दृष्टि से निर्माण करने के लिए कहते हैं और उनके समर्थक साहित्यकार इसी दृष्टि से साहित्य की रचना करते हैं। यूरोप के लिए भी यह सत्य नहीं है। फ्लाबर्ट, बालजक, जोला, तुर्गनेफ भी यथार्थवादी साहित्यकार थे, इसमें किसी को मतभेद नहीं हो सकता किन्तु न सब के राजनैतिक विचार एक थे न आर्थिक। अनेक समस्याओं से प्रेरित होकर इन लोगों ने साहित्य निर्माण किया। हमारे देश में तो साहित्य के निर्माण का मूल ही दूसरा था। सूरदास ने जब कृष्ण की भक्ति में अपने ललित पद गाये तब वह बेचारे दोनों नेत्रों से हीन, सगीत के सागर में डुबकियाँ लगाते हुए आर्थिक योजनाओं से बहुत दूर थे। अर्थ और अनर्थ दोनों की परिधि के बाहर उन्होंने पद बनाये। आलोचकों से मैं पूछना चाहता हूँ कि सूर की रचनाएँ साहित्य की श्रेणी में रखी जा सकती हैं या नहीं और यदि रखी जा सकती हैं तो किस प्रकार की आर्थिक प्रेरणा उसके पीछे थी? तुलसीदास ने अपने आराध्य देव के सम्बन्ध में रामचरित मानस की रचना की। तुलसीदास के हृदय में क्या यह भावना थी कि मुगल साम्राज्य में भारतवासियों की या हिन्दुओं की आर्थिक अवस्था क्या थी और क्यों ऐसी थी; अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि धार्मिक भावों से प्रेरित होकर उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। काडवेल के मत से तो सभी युग का साहित्य आर्थिक प्रवृत्तियों से प्रेरणा पाता है। काडवेल महोदय ने केवल इंगलैण्ड के साहित्य के भरोसे यह निष्कर्ष निकाला। दुःख तो इस बात का है कि यूरोपी लेखक चाहे वह किसी विषय का हो जब कुछ लिखता है तब उसका संसार यूराल से टेम्स और नारवे से इटली तक सीमित रहता है। इसके बाहर भी कहीं कुछ लोग रहते हैं, कहीं ज्ञान है, कोई और सभ्यता अथवा संस्कृति है इसका उन्हें ध्यान नहीं रहता और इसलिए ध्यान नहीं रहता कि वह जानबूझ कर दूसरे का महत्त्व स्वीकार करना नहीं चाहते। काडवेल ने अगर भारतीय साहित्य का कुछ ज्ञान प्राप्त किया होता तो संभवतः उसे यह लिखना पड़ता कि ऐसे भी देश हैं जहाँ साहित्य का निर्माण आर्थिक के अतिरिक्त और भी प्रेरणाओं से हुआ है।

हमारे देश के साहित्य के आचार्यों ने साहित्य की जो मान्यताएँ निर्धारित की हैं, उनकी जानकारी भी कुछ नये साहित्यकार नहीं रखते। इन्हें मानना न मानना तो दूसरी बात है किन्तु साहित्य के आलोचकों को उसका ज्ञान बहुत आवश्यक है।

अंग्रेजी कविता हिन्दी के छन्द शास्त्र पर नहीं बनायी जा सकती, न हिन्दी की कविता अंग्रेजी छंद शास्त्र पर। इसी प्रकार और भी साहित्य की मान्यताएँ हिन्दी की या अंग्रेजी की अलग-अलग हैं। पश्चिम और पूर्व के मनुष्यों के चरित्रों में अन्तर होता है। यद्यपि संसार के मानव एक हैं और उनके बहुत से गुणों में समता है फिर भी देश की जलवायु, भौगोलिक परिस्थिति, खान-पान तथा परम्परागत चारित्रिक उत्तराधिकार के कारण प्रत्येक देश का निवासी कुछ अलग-अलग-सा होता है। अपने देश में ही बंगाली, पंजाबी, महाराष्ट्र तथा दक्षिण के रहनेवालों के चरित्र में अन्तर होता है और यह सभी जानते हैं कि इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, यूनान इत्यादि के निवासियों के चरित्रों में बहुत भिन्नता है। मैं अपने देश के विभिन्न राज्यों के लोगों में अथवा संसार की विभिन्न जातियों में जो अन्तर है उसे महत्त्व नहीं देना चाहता। सभी लोगों की कामना होगी कि शीघ्र ही उस प्रभात पर ऊषा सुन्दरी की किरणों का नर्तन हो जिस दिन विश्व का प्रत्येक मानव वेदों की वाणी में "संगच्छध्वं, सं वद्ध्वं" का आदर्श ग्रहण करते किन्तु जो बात यथार्थ है उसे हम इसलामी प्रथा के अनुसार बुरके के अन्दर कैसे रख सकते है ?

यह कहा जा सकता है कि हमारे साहित्य की मान्यताएँ जिस युग में निर्धारित की गयी थीं वह आज से भिन्न था। उस युग के समाज के अनुसार वह मान्यताएँ निर्धारित की गयी थीं। आज का भारतीय समाज पहले के भारतीय समाज से भिन्न है। जब यह मान्यताएँ स्थिर की गयी थी उस समय के साहित्य के अनुसार थीं।

लक्षण ग्रंथ लक्ष्य ग्रंथ के अनुसार ही बनते हैं यद्यपि पीछे उनकी एक स्वतंत्र सत्ता हो जाती है। मम्मट का काल ११वीं शती के आस पास माना जाता है और सब महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इसके भी पहले के बने हैं केवल साहित्य दर्पण १४वीं शती का है जिसका आधार प्राचीन लक्षण ग्रन्थ हैं। ११वीं शती तक की निर्धारित साहित्य मान्यताएँ ऐसी थीं जो २०वीं शती के आरम्भ तक हमारे साहित्य का नियंत्रण करती रहीं। पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य की भी मान्यताएँ वही रही हैं जो संस्कृत की। यह मान्यताएँ ऐसे ठोस ढंग पर बनी थी कि एक सहस्र वर्ष तक पीछे भी उनमें परिवर्तन की आवश्यकता न पड़ी। यद्यपि समाज में परिवर्तन होता गया। आज यथार्थवादी साहित्यालोचक उन सिद्धांतों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ बिना इसकी परीक्षा किये हुए।

उन मान्यताओं का निष्कर्ष एक शब्द में कहा जा सकता है—आनंद ! उनके अनुसार साहित्य का ध्येय मानवता को आनन्द देना था, दूसरे शब्दों में इसी को रस का सिद्धान्त कहते हैं। हमारे प्राचीन आचार्यों का मुख्यतः यही मत रहा है कि

जिस साहित्यिक कृति को पढ़कर, सुनकर या देखकर हृदय में सहानुभूति न हो वह साहित्य नहीं है। यथार्थवादी साहित्यकार कहता है कि हम यथार्थ वर्णन या चित्रण करेंगे। रस इत्यादि साहित्य के लिए अनावश्यक बातें हैं। किन्तु उन्होंने यह नहीं समझा कि चाहे रचना का विषय काल्पनिक हो, यथार्थ हो, आदर्श हो, ज्यों ही वह हृदय के निकट पहुँचेगी, रस की निष्पत्ति हो ही जायगी। यदि हम किसानों के ऊपर अत्याचार और उत्पीड़न का वर्णन सुनेंगे या पढ़ेंगे अथवा मंच पर देखेंगे तो हृदय में करुणा अथवा क्रोध उत्पन्न हुए बिना रह नहीं सकता। कोई अश्लील वीभत्स घिनौना गन्दा वर्णन सुनकर घृणा का भाव उपजेगा ही। जहाँ तक केवल आनन्द की बात है, उसमें अवश्य आज अन्तर हो सकता है और इस सम्बन्ध में अपनी दृष्टि कुछ बदलनी भी चाहिए। यदि हमारा देश सम्पन्न होता, किसी प्रकार का अभाव न होता, सुख सागर की तरंगों पर हम झूलते होते और "सघन कुञ्ज छाया सुखद शीतल मंद समीर" में कालयापन करना होता और "ललित लवंग लता परिशीलन, कोमल मलय समीरे" का वातावरण होता हो सदा ऐसी रचनाओं की आवश्यकता होती जिससे हृदय में गुदगुदी हो। जीवन सदा मंदिर बना रहे।

किन्तु युग बदल गया। कलियुग आप इसे भले ही न मानें किन्तु कर युग तो मानना ही पड़ेगा क्योंकि जिधर देखिए उधर कर ही कर है और उसके बोझ से हम धराशायी हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में हमारी रचनाएँ जिस युग में हम रहते हैं उसी के अनुसार होनी चाहिए। आज के जीवन में आनंद नहीं है। कोई भी साहित्य समाज से, मानव जीवन से अलग नहीं बन सकता। वही तो उसका प्राण है, वही साहित्य का आधार है। यह अपने को धोखा देना होगा कि हम किसी रचना को इसकी परिधि से बाहर रख सकें। किन्तु हमारे पूर्वज साहित्यिक आलोचकों ने एक ऐसा शाश्वत जाल बुन रखा है मजाल नहीं, कोई साहित्यकार उससे बाहर निकल आये। हाँ ऐसी रचनाएँ हो सकती हैं जिनका हमारे हृदय पर कुछ भी प्रभाव न पड़े। वह रस के भाव हृदय में नहीं उत्पन्न कर सकती किन्तु ऐसी नीरस रचनाओं को साहित्य कहना साहित्य के प्रति अन्याय करना है। मान लीजिए एक रचना है—

> चाँदनी रात,
> आओ हम—तुम करें बात।
> कंपित क्यों तुम्हारा गात,
> तब उल्लू बोल उठा हठात्॥"

इसमें यथार्थवाद है इसमें सन्देश नहीं। इसकी अभिव्यंजना यों है। प्रेमी और प्रेमिका चाँदनी रात के सुन्दर वातावरण में बैठे हैं। रसिकता है। बठने का

सामान न हो तो खड़े हों। दोनों बात कर रहे हैं। प्रेमी प्रेमिका का स्पर्श करता है। उसका शरीर काँप रहा है। प्रेमी पूछता है तुम्हारा शरीर क्यों काँप रहा है। तुम्हें निर्भय होना चाहिए। लाज तथा संकोच पुरातन के प्रतीक हैं। इसी समय उल्लू बोल उठा। उल्लू पूँजीपति का प्रतीक है जो सब कामों में बाधा डालता है, जैसे प्राचीन युग में इन्द्र सब तपस्याओं में बाधा डालते थे। इससे किसी रस का उद्रेक हृदय में होता है किन्तु क्या इसे आप साहित्य कहेंगे। यदि इसे आप साहित्य कहेंगे तो मिट्टी के तेल को सुधा, शिरीष के पुष्प को वज्र, मच्छर को ह्वेल और मेज पर के पेपर वेट को हिमालय पहाड़ कहने में कोई हानि न होगी। साहित्य यदि साहित्य है तो वह हृदय को स्पर्श करेगा और किसी-न-किसी रस की निष्पत्ति होगी।

यह सत्य है कि यथार्थवादी साहित्य समाज का सुधार करना चाहता है। समाज में जो विषमता है आर्थिक और राजनैतिक, उसी पर उसका आक्रमण है। अन्याय अत्याचार पर उसका आक्रोश है। यह कोई अनुचित बात नहीं है। इन्हें वह मिटाना चाहता है किन्तु वह चाहता क्या है?——वह वही चाहता है जो आदर्शवादी अपनी रचना में चित्रित करता है। आदर्शवादी किसी वस्तु को पूर्ण रूप में, सुन्दर रूप में देखता है। यथार्थवादी का ध्यान अपूर्णता की ओर रहता है। सम्भवतः ध्येय दोनों का एक है किन्तु अभिव्यक्ति के ढंग में अन्तर है। अपूर्णता की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक है। ऐसा पहले भी होता रहा है। रामचरित मानस में कलिकाल के वर्णन में इसका संकेत है। भारतेन्दु का भी ध्यान इस ओर गया था और उनके पीछे आने वाले लोगों ने भी समाज के अभावों की ओर देखा था और अपनी रचनाओं में व्यक्त किया था। अवश्य ही उनमें वह तीव्रता नही थी, वह स्पष्टता नहीं थी।

शदियों की दासता ने हमें हताश कर दिया है। हम अपने को पराजित अनुभव करते हैं। राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर भी हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। उपकरण भो जो साधारणतः ठीक ढंग से जीवनयापन के लिए आवश्यक हैं, उपलब्ध नहीं होते तब हृदय का विचलित हो जाना स्वाभाविक है। आज का साहित्यकार खुले शब्दों में इन अभावों की ओर ध्यान दिलाने को विवश हो गया है। इस प्रवृत्ति को कोई रोक नहीं सकता। रोकने का प्रयास व्यर्थ होगा। रोका भी क्यों जाय? सत्य की अभिव्यक्ति आवश्यक है। समय भी इसी प्रकार है। साहित्य समय और समाज से पृथक् नहीं हो सकता।

यथार्थवाद की अभिव्यक्ति यहीं तक होती तो किसी को विरोध न होता। किन्तु जिस ढंग से आज इस साहित्य का निर्माण हो रहा है उससे सहमति नहीं हो सकती। एक बात तो यह है कि हम सदा विदेशी मान्यताओं की ओर देखते रहते

हैं। इस सम्बन्ध में अन्यत्र कहा जा चुका है। यह मानसिक दासता राजनैतिक दासता से भी भयकर है। दूसरी बात है शालीनता की सीमा का उल्लंघन। गाली किसी विशेष अवसर पर भली लगती है, किसी विशेष व्यक्ति के मुख से आनन्द-दायिनी होती है और हमें बार-बार सुनने की इच्छा होती है किन्तु साहित्य में उसका स्थान नहीं है। गाली से हमारे कथन को बल नहीं प्राप्त होता। हमारा खोखलापन, असंस्कृत अभिरुचि की यह परिचायिका होती है। 'उल्लू, पाजी, हरामी' कह देने से यदि कोई बात प्रमाणित हो जाती अथवा सत्य-स्पष्ट हो जाता तो राम, कृष्ण, बुद्ध, गाँधी गाली का ही सहारा लेकर सर्वहारा से बातचीत करते और उन्हें अपने सिद्धान्त समझाते। वीभत्स उपमाओं, अशिव कल्पनाओं तथा अश्लील वर्णनों के बिना भी यथार्थ की अभिव्यक्ति हो सकती है। नयी उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं का बहिष्कार या तिरस्कार नहीं होना चाहिए; उनका स्वागत करना चाहिए किन्तु वह भद्दी और शिवेतर न हों। हमें यदि अच्छा नहीं लगता तो किसी सुन्दरी के शरीर के रंग की उपमा हम चम्पक अथवा कञ्चन से भले ही न दें क्योंकि यह उपमाएँ बहुत घिस गयी हैं। उसके लिए नवीन उपमाएँ खोजें। किन्तु यह तो न कहें कि इसके शरीर का रंग पीब के समान है। किसी के उजले बाल की उपमा कुंद, कपास या कपूर से न देकर कोढ़ी से देना कहाँ तक साहित्य की अभिव्यंजना को हितकर बना सकता है, सहृदयगण विचार करें। जिस औचित्य के सम्बन्ध में यहाँ के आचार्यो तथा आलोचकों ने सिर खपाया और साहित्य रचना को सुन्दर बनाने के लिए विशद विवेचना की उसका ज्ञान इन साहित्यकारों को नहीं है। यदि इसकी जानकारी हो तो सम्भवत: ऐसा न हो।

दूसरी बात कामवासना के सम्बन्ध में है। काम कोई घृणित या उपेक्षित भावना नहीं है, मनुष्य की एक आवश्यक बुभुक्षा है और संसार में सृष्टि की परम्परा प्रचलित रखने के लिए आवश्यक गुण है। पुराने धर्मशास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मनुष्य के सफल जीवन के लिए आवश्यक उपकरण समझे गये। मोक्ष प्राप्ति के पहले कामवासना की तृप्ति आवश्यक समझी गयी किन्तु जिस भद्दे और वीभत्स ढंग से उसका वर्णन कुछ लेखक अथवा कवि यथार्थवाद के नाम पर आज कर रहे हैं, वह सभ्यता, शिष्टता के नितान्त प्रतिकूल है। जो रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं अथवा पुस्तकों में प्रकाशित होती हैं वह सरलता से सब के हाथों में पहुँच जाती हैं। कन्याएँ, अबोध बालक सभी को उन्हें पढ़ने का अवसर मिलता है। यह कहाँ तक उनके जीवन के लिए लाभप्रद होगा यह विचारकों के सोचने की बात है। यदि ये लेखक यह समझते हैं कि नग्न-से-नग्न कामुकता का वर्णन भी बाल-बच्चे, कन्याएँ और कुमारियाँ पढ़ें, इससे उनके जीवन का कल्याण होगा, तब दूसरी बात है। यह

किसी अंश में सत्य भले ही हो कि किसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को दबाने से हमारे मन और शरीर में विकार और दोष उत्पन्न होते हैं। पश्चिम के वातावरण में, वहाँ के समाज में सेक्स की बातें ऐसी हो सकती हैं जिन पर फ्रायड का सिद्धांत लागू हो। हमारे यहाँ का समाज, हमारे यहाँ का पारिवारिक जीवन, पति-पत्नी, भाई-बहन, पिता-पुत्री का सम्बन्ध ऐसा है और न जाने किस युग से ऐसा चला आ रहा है कि सेक्स की बातें अधिकांश इस प्रकार नहीं होतीं जिससे बालक बालिकाओं के मन पर कुप्रभाव पड़े, इसलिए किसी प्रवृत्ति को दबाने या रोकने की समस्या नहीं उत्पन्न होती।

एक मनोरंजक बात और है। श्रृंगार-कालीन युग जब पतन की सीमा पर पहुँचा और भक्ति की वास्तविक भावना न रही, दरबारी कवि राधा और कृष्ण के बहाने कामोत्तेजक और वासनापूर्ण रचनाएँ अपने संरक्षकों को सुनाने लगे, उस समय की रचनाओं पर वर्तमान युग के आलोचकों का तीक्ष्ण आक्षेप होता है। उन्हें वासना के यज्ञ में घी डालने वाला कहा जाता है, काम को जाग्रत करने वाला कहा जाता है और नाना प्रकार के लांछनों से उनका स्वागत किया जाता है। मेरे सम्मुख अनेक ऐसी रचनाएँ आयी हैं जो श्रृंगार-कालीन रचनाओं से भी अधिक उत्तान श्रृंगार से परिपूर्ण हैं और मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्य की गति-विधि से जो लोग परिचित हैं, उनके सम्मुख भी आयी होंगी।

यदि उपर्युक्त कुप्रवृत्तियाँ यथार्थवादी साहित्य से निकाल दी जायँ तो मैं समझता हूँ कि यथार्थवादी साहित्य से किसी का विरोध न होगा और यथार्थवाद आदर्शवाद का पूरक हो जायगा।

वास्तविकता तो यह है कि हमने अपने साहित्य की गतिविधि का निरीक्षण और परीक्षण समुचित ढंग से नहीं किया। अपवाद हो सकता है किन्तु अधिकतर साहित्यकार किसी-न-किसी दल, किसी-न-किसी वाद के समर्थक और संरक्षक हो कर साहित्य की रचना अथवा आलोचना करते हैं। इसी से हमारे साहित्य का वह उत्कर्ष, उसकी वह उन्नति नहीं दृष्टि में आती जो इतने दिन पराधीन रहने पर भी हमारे ही देश की और भाषाओं के साहित्य में दिखाई देती है। बहुत से साहित्यकार स्वयं अपने सम्बन्ध में यह निश्चित नहीं कर पाते कि हमारा ध्येय, हमारा लक्ष्य क्या है और कभी एक वाद को लेकर रचना करते हैं, कभी दूसरे। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि साहित्यकार अपरिवर्तनशील हों। पं० मोतीलाल नेहरू ने कहा था कि अपरिवर्तनवाद तो रासभ की विशेषता है। कवि के विचारों में परिवर्तन हो और होना आवश्यक भी है किन्तु वह परिवर्तन उन्नति की सीढ़ी के समान हो जिससे उत्तरोत्तर रचना में विकास होता रहे।

अब हमारा देश स्वाधीन हो गया है। हिन्दी राजभाषा घोषित कर दी गयी। १५ वर्षों में यह राजकीय कार्यों में भी व्यवहृत होने लगेगी। विश्वविद्यालयों में हिन्दी का प्रयोग होने लगा। अब हमें थोड़ी आत्मपरीक्षा करनी चाहिए कि हम कितने और कैसे साहित्य का सर्जन कर रहे हैं। हम हिन्दी को हेय नहीं समझते। हिन्दी में जो साहित्य उपलब्ध हैं, उस पर हमें गर्व है किन्तु हम यह भी जानते हैं कि जिस साहित्य का उत्तराधिकार हमें मिला है और जिस साहित्य को हम राष्ट्र के सम्मुख रखना चाहते हैं, उसके अनुरूप हमारे पास साहित्य नहीं है। प्रत्येक युग में सूर और तुलसी नहीं हो सकते, किन्तु प्रत्येक युग में उस युग की सच्ची प्रतिध्वनि तो सुनायी देनी ही चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि देश और समाज का कल्याण एटमबम और हाइड्रोजन बम से नहीं हो सकता, राष्ट्र की भूखी आत्मा और प्यासे हृदय की भूख और प्यास साहित्य द्वारा ही मिटायी और बुझायी जा सकती है।

साहित्य किसी देश के महान् व्यक्तियों के महान् विचारों का समूह है। साहित्य की महत्ता व्यक्ति की महत्ता पर निर्भर है और साधना के बिना कोई महान् हो नहीं सकता। तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ या गाँधी ने जो कुछ दिया है, उससे किसी-किसी को असहमति हो सकती है; किन्तु उनकी तथा उनके विचारों की महत्ता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। उनका साहित्य देश और काल की परिधि को पार कर विश्व-साहित्य के सिंहासन पर जा बैठा है। यह साहित्य साधना के बिना सम्भव नहीं था। साधना का अर्थ यह न लगाया जाय कि हिमालय की हिमाच्छादित गुफा में बैठकर अथवा किसी नन्दन वन में प्रातःकाल से सायंकाल तक शीर्षासन करते हुए प्राप्त होने वाली कोई वस्तु है। साहित्यिक साधना अध्ययन, मनन तथा विवेकाविवेक पर आधारित है। अपरिपक्व विचार तथा बिना अध्ययन और मनन के निर्मित रचना उस कविता की भाँति है जिस पर कवि सम्मेलन में सुन कर लोग खूब तालियाँ पीटते हैं किन्तु छपने पर वह नीरस, निरर्थक तथा भद्दी दिखायी पड़ती है। इस जन-जागरण के युग में हमारा साहित्य जनता और जीवन से अलग नहीं होना चाहिए और नवीन श्रेयस्कर विचारों का समावेश उसमें होना आवश्यक है; किन्तु वह अपनी प्राचीन स्वस्थ परम्पराओं की रक्षा, अपनी संस्कृति के प्रति सम्मान तथा भक्ति लिये हुए होना चाहिए।

प्रत्येक देश में दो प्रकार का साहित्य होता है—एक तो वह जो साधारण लोगों के जीवन से सम्पर्क रखता है जिससे जन-साधारण को लाभ पहुँचता है, लोक के लिए होता है और जिससे लोक हित होता है। दूसरा वह साहित्य होता है जिसमें बहुत ऊँचे विचार, ऊँची कल्पनाएँ, ऊँचे भाव रहते हैं। ऐसा साहित्य सब के लिए नहीं होता, इस साहित्य के हृदय तक पहुँचने के लिए साहित्यकार की बुद्धि के स्तर

तक पाठक को परिश्रम कर के पहुँचना होगा, किन्तु ऐसे साहित्य का हम तिरस्कार नहीं कर सकते। ऐसा साहित्य उस सुवर्ण के समान है जिसे प्राप्त करने के लिए पर्वतों की चट्टानें तोड़नी पड़ती हैं। तुलसी के समान साहित्यकार तो बिरले होते हैं जिसका रस साधारण-से-साधारण मनुष्य पान कर सकता है तथा जिसकी गहराई में बुद्धिमान्-से-बुद्धिमान् मनुष्य डूबा रहता है। हमें दोनों प्रकार के साहित्यों की आवश्यकता है और अपनी क्षमता के अनुसार हिन्दी के साहित्यकारों को दोनों प्रकारों की रचना करनी चाहिए। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक की रचना तो होनी ही चाहिए, क्योंकि समाज के चित्रण के ये साधन हैं। इनके अतिरिक्त भी साहित्य के और अंगों की पूर्ति और पुष्टि आवश्यक है। साहित्य का ध्येय जब देश और समाज की उन्नति है तब उन सब की ओर हमारी दृष्टि जानी चाहिए, जो इस समय हमारे देश के उन्नयन में सहायक होंगे। स्वाधीन भारत का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। विश्व की दृष्टि इस ओर लगी है। पश्चिम की गति-विधि देखकर लोगों को वहाँ की मान्यताओं पर सन्देह होने लगा है। जड़वाद से पोषित विज्ञान पर से लोगों का विश्वास हट रहा है। यद्यपि ऐसे विचारकों की संख्या अभी कम है। जाग्रत एशिया की दृष्टि भी भारत की ओर है। हमारी ओर क्यों लोग देख रहे हैं, हमें विश्व के सम्मुख ऐसे विचार रखने हैं जिनसे सब का कल्याण हो। हमारे वैदिक अथवा विश्व की आदि सभ्यता के प्रवर्तकों ने मानवात्मा की स्वतन्त्रता और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा पर अधिक जोर दिया है। इसी कारण आज तक उस साहित्य की पूजा होती है और संसार उन विचारों को आदर की दृष्टि से देखता है। हमें उस ऊँचाई तक पहुँचने की चेष्टा करनी चाहिए। कम-से-कम ऐसा साहित्य तो हम सब के सामने रखें, जिससे सब का मंगल हो।

युद्ध के पश्चात् हमारी मर्यादा का, हमारे आदर्शों का पतन हो गया है। इसका अनुभव पग-पग पर हमें होता है। हमारे विचारों, विश्वास और व्यवहार में एकरूपता का अभाव हो गया है। इसका कारण जो भी हो, हिन्दी का साहित्यकार इससे मुक्त नहीं है। उसे वादों के झमेलों से दूर रह कर साहित्य का सृजन करना चाहिए जो सार्थक उपयोगी तथा प्रेरणात्मक हो। ऐसा साहित्य ही संसार के सम्मुख प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है, जिसमें जीवन का वास्तविक मूल्यांकन हो और अपनी प्राचीन संपत्ति की रक्षा हो। तुलसीदास ने कुछ ही शब्दों में जो निर्देश किया है, वह हमारा मूलमंत्र होना चाहिए।—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सबकर हित होई।।

इससे अधिक सत्साहित्य की व्याख्या क्या हो सकती है?

आज के युग में भय है साहित्य के वर्गीकृत 'रेजिमेंटेशन' की। इससे सावधान रहना प्रत्येक साहित्यकार का कर्तव्य है। दूसरे देशों में ऐसा हुआ है। साहित्य का बल समझ कर राजनीतिक चाहता है कि साहित्यकार हमारे कृत्यों का समर्थन करे, हमारे सिद्धान्तों का गीत गाये। कभी-कभी विषम परिस्थितियों में साहित्यकार को प्रचारक बनना पड़ता है; किन्तु उस अवस्था तक ही यह सीमित रहना चाहिए। साहित्य, राजनीति की पूँछ नहीं बन सकता। राजनीति के संकेत पर चलनेवाला साहित्य, उस पति के समान है, जिसका शासन उसकी पत्नी करती है और ऐसे पति के सम्बन्ध में आप भलीभाँति सोच सकते हैं कि उसकी कितनी स्वाधीनता होगी, क्या उसकी सत्ता और महत्ता होगी?

साहित्यिक सिद्धान्तों की मीमांसा के साथ-साथ अपने साहित्यकारों के सम्बन्ध में भी कह देना आवश्यक समझता हूँ। पहले तो विदेशों में भी किसी युग में साहित्यकार समाज का उपेक्षित अंग रहा है, किन्तु और देशों में अवस्था बदल गयी। हमारे देश में हिन्दी के साहित्यकार का कोई अस्तित्व नहीं समझा जाता। कवि-सम्मेलन न हों तो बहुत से कवियों को राशन की व्यवस्था करने में भी कठिनाई होगी। जो प्रोफेसर, अध्यापक, पत्रकार आदि नहीं है, केवल साहित्य-सृजन के भरोसे जीवित रहते हैं, वह केवल जीवित रहते हैं। ऐसे लोगों का यदि फोटोग्राफ एकत्र किया जाय तो तुरन्त पहचान लिया जायगा कि यह हिन्दी के साहित्यकार हैं। आशा तो हम उनसे यह करते हैं कि वह विश्व-साहित्य का निर्माण करेंगे। शा, इब्सन, ईलियट, बर्टरेंड, रसेल, या पर्लबक के समकक्ष हम इन्हें देखना चाहते हैं किन्तु यह नहीं देखते कि इनकी अवस्था क्या है। पत्रों से जो 'पत्र-पुष्प' मिल जाता है, उसी के सहारे यह जीते हैं। पत्र-पुष्प पर जीने वाला मानव कैसा होगा, आप कल्पना कर सकते हैं। किसी युग में कन्द-मूल-फल खाकर लोग महर्षि बन जाते थे। आज फल भी नहीं मिलता। पत्र-पुष्प ही तक सीमित है। जब वह अपने और भाइयों को देखता है कि सुन्दर भोजन से शरीर सुचिक्कन है और सुन्दर वस्त्रों से शरीर अलंकृत है तब हताश हो जाता है। समाज को गालियाँ देता है। जो चतुर है, वह फिल्म कम्पनी की शरण लेते है, जहाँ वेतन के साथ-साथ नेत्रों को ठढक भी मिलती है। कुछ लोग सरकार का द्वार खटखटाते हैं और उदारमना सरकार प्रत्येक वर्ष पाँच-सात व्यक्तियों को पुरस्कार दे देती है। जहाँ सरकार के सम्मुख इतनी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ रहती हैं, वहाँ साहित्यकारों की ओर भी उसका ध्यान रहता है, यह साधारण बात नहीं है। समाज को अभी साहित्यकारों के महत्त्व का ज्ञान

नहीं और जब तक समाज इस ओर जागरूक नहीं होता, साहित्यकारों की मान-मर्यादा तथा जीवन-स्तर में किसी प्रकार का सुधार सम्भव नहीं है।

फिर भी साहित्यकारों को निराश और हताश होने की आवश्यकता नहीं है। उसका कार्य बड़ा पावन है। यद्यपि इस आर्थिक युग में किसी से त्याग तथा बलिदान की आशा करना ऊँट से संस्कृत उच्चारण कराना है। इनकी एक सीमा भी होती है तब भी कुछ तो करना ही पड़ेगा। कुछ समय तक जब तक समाज में चेतना नहीं आती, उसे अपनी हड्डी गलानी पड़ेगी। वह तो दधीचि की भाँति समाज की सुरक्षा के लिए अपने को मिटा कर वज्र का दान देगा। उसका सन्तोष तथा पुरस्कार इसी में है कि उसने समाज का नेतृत्व किया है; समाज को सजीवनी दी है; मानवता का कल्याण किया है।

⊙

अभिभाषण-१४

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

⊙ ⊙

साहित्य-परिषद् में जहाँ एक-से एक मनीषी विद्यमान हैं, साहित्य की विस्तृत व्याख्या करना प्रयोजनीय नहीं है। बताना यही है कि साहित्य विशेष प्रकार का वाङ्मय है और इसके अध्ययन-मनन-चिंतन की पुराकल्प से भारत में परम्परा रही है। इस देश में विदेश से भी साहित्य-विषयक धारणा आयी है और उसका भी प्रभाव यहाँ की साहित्यसरणि पर पड़ा है। अँग्रेजी-साहित्य से विशेष संपर्क होने पर और शिक्षा में उसका संचार हो जाने के कारण तथा उससे आकृष्ट होकर जो यह धारणा-सी बन गयी है कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' उसी का यत्किंचित् विचार करना आधुनिकता के प्रसंग में कुछ महत्त्व का हो सकता है। यह तो कोई भी विचारशील नहीं कह सकता कि भारतीय साहित्य में जो कुछ है वही सर्वस्व है, अन्य साहित्यों में जो है वह नगण्य है या अपनेपन के अभिमान में 'अभारतीयानां प्रवेशो निषिद्धः' की भावना का प्रसार किया जाय। भारत में, कम-से-कम वाङ्मय के क्षेत्र में, यह कभी नहीं रहा कि भारतीयेतर को ग्रहण किया ही न जाय। प्रत्युत् जो कुछ भी इतर रहा, उसका भी सोत्साह स्वीकरण होता आया है और उसका गंभीर विश्लेषण करके संवर्धन करने का ही प्रयास किया जाता रहा है। जैसे ज्योतिष में 'रोमक सिद्धांत' नाम ही बताता है कि रोम से इसका सम्बन्ध है। इसलिए साहित्य में यदि विदेशी मान्यता का ग्रहण हो तो यह यहाँ के प्रवाह के विरुद्ध नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं है कि कोई बाहरी सिद्धांत आकर वही सब कुछ माना जाने लगे। रोमक-सिद्धांत ने सूर्यसिद्धांत को निरस्त नहीं कर दिया। किन्तु साहित्य में इसके विपरीत स्थिति दिखायी दे रही है। अपनी सारी परम्परा का निषेध कर दिया गया है।

हिन्दी-साहित्य से ही सम्पर्क रखकर कुछ कहना ठीक रहेगा। आज यह मान्यता फैलायी जा रही है कि भारतेंदु से पूर्व का हिन्दी-साहित्य पढ़ना ठीक नहीं, उसमें श्रम अधिक है और वह केवल पौराणिकता पर आधृत होने से आधुनिक जिज्ञासा की शांति करने में समर्थ नहीं है। आधुनिकता के उन्मेष में पूरे-के-पूरे

प्राचीन का परित्याग ठीक नहीं। अँग्रेजी साहित्य की अनुगामिता के कारण ही इस प्रकार की मनोवृत्ति बन रही है, किन्तु स्वयम् अँग्रेजी साहित्य वाले भी अपने प्राचीन साहित्य का इस प्रकार बहिष्कार या तिरस्कार नहीं करते, प्रत्युत् प्राचीन के विमर्श में उनकी वृत्ति पहले से कहीं अधिक संलग्न हो रही है। हिन्दी में प्राचीन साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। आधुनिक युग में खड़ीबोली के आंदोलन का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी का प्राचीन साहित्य धीरे-धीरे अनधीत रह जाने लगा। विश्वविद्यालयों में भी अब प्राचीन काव्य के विशिष्ट कवियों के पूरे ग्रंथ नहीं, उनके कुछ अध्याय ही पाठ्यक्रम में रखे जाते हैं। कहा यह अवश्य जाता है कि केवल अर्थ-व्याख्या के लिए ही इतना अंश रखा जा रहा है। अध्येता को पूरा ग्रंथ इस उच्च स्तर पर व्याख्यायित अंश के आधार पर स्वतः पढ़ लेना चाहिए। स्थिति यह है कि अध्यापक भी पूरा ग्रंथ स्वयम् नहीं पढ़ते, अध्येता छात्र फिर कहाँ से पढ़े। इसका दुष्परिणाम हो रहा है कि ग्रंथ के गहरे अध्ययन की भारतीय सरणि उठती जा रही है। यहाँ तक कि आधुनिक काव्यग्रंथ भी ठीक से नहीं पढ़े जाते। आधुनिक साहित्य के जो तथाकथित विशेषज्ञ हैं, वे भी आधुनिक काव्य की पक्तियों का अर्थ नहीं कर पाते। आलोचना को हवा वाले इस युग में आलोचना हवाई होने लगी है।

राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त की रचना को छायावादी रचना की अपेक्षा सरल मानते हैं आज के विशेषज्ञ। वे यह नहीं जानते कि कठिन काव्य के प्रेत आचार्य केशवदास जिस बुंदेलखंड के थे, वहीं के गुप्त जी भी। खड़ीबोली में कमर कसकर रचना करने को संनद्ध गुप्तजी ने प्राचीन काव्य का भरपूर अध्ययन किया था। इसलिए परम्परा का तिरस्कार उनकी रचना में नहीं है। शब्दों का चयन करने में उन्होंने पूर्ववर्त्तियों की पद्धति भी बहुधा रखी है। साकेत में 'रुदती' शब्द का प्रयोग केवल रोनेवाली के अर्थ में नहीं है, प्रत्युत् छंद का सारा संभार उसके दूसरे अर्थ को ही लेकर है—यह है 'रुद्रवंती'। यह रुद्रवंती' एक औषधि है जो भारतवर्ष में, जहाँ तक मुझे पता है, फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) के खागा नामक स्थान के एक तालाब में मिलती है। इस तालाब में दलदल है। विख्यात है कि अँधेरी रात में इसमें प्रकाश रहता है, जिससे यह पहचानी जा सके। इसे अमावस्या की रात में ही कोई निर्वस्त्र होकर लेटे-लेटे निकट सरकते जाते हुए प्रकाश से पहचान कर पा सकता है। दलदल के कारण वस्त्र का त्याग और खड़े-खड़े प्रवेश करना निषिद्ध है। यह जीर्णज्वर की अमोघ औषध है और इसकी यह विशेषता भी प्रथित है कि यदि ताँबे के पत्तर इसके उबलते पानी में शताधिक बार डूबो कर निकाले जायँ तो ये सुवर्ण के हो जाते हैं। इसलिए जो 'निघंटु' से इसकी इस विशेषताओं को न जाने, वह गुप्तजी की निम्नांकित पंक्तियों का अर्थ भला लगा ही कैसे सकता है—

उस रुदंती विरहिणी के विरहरस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से।
वर्ण वर्ण सुवर्ण जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के।।

'नारद' शब्द के केवल मुनि अर्थ से ही जिसे संतोष हो जायगा, वह 'द्वापर' की इस पंक्ति का स्वारस्य कैसे उद्घाटित कर पायगा—

"पुत्रों से िश्चित सदा को पितरजनों का नारद मैं।"

'नारद' का दूसरा अर्थ यहाँ नार अर्थात् 'जल' और 'द' अर्थात् देनेवाला, तर्पण करनेवाला है।

'तंतुवाय' का हिन्दी कोशों में दिया 'जुलाहा' अर्थ मात्र ग्रहण कर के स्वर्गीय रामनरेश जी त्रिपाठी भी गुप्तजी की निम्नलिखित पक्तियों का स्वारस्य नहीं ग्रहण कर सके और कविता-कौमुदी के आधुनिक काव्यवाले खंड के नवीन संस्करण में गुप्तजी की कड़वी आलोचना लिख गये—

आकाशजाल सब ओर तना, रवि तंतुवाय है आज बना।
करता है पद प्रहार वही, मक्खी सी भिन्ना रही मही।।

यहाँ तंतुवाय का अर्थ 'मकड़ा' है। 'पद' के भी दो अर्थ है—पैर और किरण।

'प्रसाद' की कामायनी की स्थिति विषम है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी आलोचना में 'संवेदन' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति कर दी हो तो सभी उसी का अनुवाद न करने लगे। 'प्रसाद' ने जिस अर्थ में उसका प्रयोग किया था, उसे किसी ने नही ढूँढ़ा—

सवेदन और हृदय का यदि यह संघर्ष न हो सकता।
तो अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहाँ बकता।।

शुक्ल जी का कहना ठीक ही है कि संवेदना और हृदय में संघर्ष का प्रश्न ही नहीं है। सवेदना तो हृदय में होती ही है। पर क्या प्रसादजी का यही तात्पर्य है? नहीं। दैवी सृष्टि में केवल सुख की संवेदना थी। मानव-सृष्टि में उसके साथ नयी संवेदना दुःख को आयी। मानव-सृष्टि के आरभक मनु को दुःख या चिता की जो सर्वप्रथम अनुभूति हुई, उसी के लिए 'संवेदन' शब्द का व्यवहार है। शैवतंत्र के प्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में 'संवेदनमाद्यमनुभवः' इसी से कहा गया है। सुखात्मक हृदय में पहले पहल दुःख का संवेदन संघर्षरूप ही हुआ होगा।

निराला ने 'नयन' को सबोधित करते हुए अपनी कविता में लिखा—

'कोमल कुसुम तुम कौन हो?'

कोमल कुसुम को तो कमल उपमान के सहारे समझ लिया जाता है, किन्तु

स्वारस्य उद्घाटित नहीं किया जाता। 'तुम कौन हो' में की गयी व्यञ्जना पकड़ में तभी आ सकती है जब 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' पंक्ति पर ध्यान रहे—तुम मृदु कुसुम हो या वज्र कठोर?

विश्वविद्यालयों में आधुनिक काव्य पढ़ाया जाने लगा है, सांप्रतिक कवि भी कोशिशें करके अपनी रचनाएँ पाठ्यक्रम में नियत करवा लेते हैं और विशेषज्ञजन उन रचनाओं को प्रायः न पढ़ाकर उन पर उपरफट्ट आलोचना बताते हैं। ये आलोचक, आलोचना की गरिमा का और टीकाटिप्पणी-व्याख्या की लघुता का चारों ओर उद्घोष करते हैं। इसलिए नहीं कि वह सचमुच हलकी वस्तु है, उसके लिए श्रम करना उन्हें अभीप्सित नहीं है। चाहे जिस कारण से हो, साहित्य-क्षेत्र में इस आधुनिक गरिमामयी आलोचना के कारण उसमें साहित्य से इतर क्षेत्र के राजशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि की अनेक ज्ञातव्य बातें विस्तार से दर्ज की जाती हैं, पर साहित्यगत शब्दयोजना के साथ जो कर्त्ता द्वारा अर्थयोजना रहती है, उस पर कुछ भी विचार नहीं किया जाता। आज इधर यह स्थिति है और पहले उधर वह स्थिति रही है कि संस्कृत से लेकर हिन्दी के प्राचीन और मध्यकालिक काव्यों पर टीका की महनीय परम्परा थी, जिसमें अनाधार कुछ भी नहीं कहा जाता था और जिसमें अनपेक्षित कहने का दिखावा भी नहीं रहता था। सुविधा-भोग के साथ दिखावा जैसे जीवन में बढ़ रहा है, वैसे ही साहित्य में भी।

साहित्य-प्रेमियों और मनीषियों से प्रार्थना है कि इस भारतीय साहित्य पर-म्परा को जिलाये रखने का प्रयास नहीं छोड़ना चाहिए। एक तो कोई सर्जक हो या समालोचक, उसे पूर्ववर्ती साहित्य को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य को अवश्य पढ़ना चाहिए। अभिनवगुप्त पादाचार्य ने कहा है कि पूर्ववर्ती साहित्य के अनुशीलन से हृदय निर्मल हो जाता है और अनुशीलनकर्ता के मनोमुकुर का मलीमस हट जाता है, वह सहृदय हो जाता है। सहृदय का अर्थ है—समान हृदय वाला। अनुशीलनकर्ता में यह विशेषता आ जाती है कि वह दूसरों के—अर्थात् कवियों, पात्रों आदि के हृदय के समान अपना हृदय कर लेने में समर्थ हो जाता है। समानता में साधारण धर्म एक से ही होते हैं। केवल समानधर्म ही की प्राप्ति नहीं होती, ऐसी विशेषता भी आ जाती है कि वह हृद्य और अहृद्य के भी ग्रहण-त्याग में समर्थ हो जाय। यही कारण है कि सभी प्राचार्यों ने सहृदयों के न्याय-पीठ को वहाँ प्रमाण माना है जहाँ किसी प्रकार के विवाद की संभावना हुई है।

सहृदय में एक यह भी विशेषता आ जाती है कि भिन्न रुचि, भिन्न जाति, भिन्न देश-कालादि से आलिंगित किसी की समानहृदयता का वह ग्राहक हो सके।

इसी से वह 'सामाजिक' भी कहलाता है। व्यक्तित्वसंस्पर्शशून्यता उसमें आ जाती है। व्यक्तिहृदय सर्वहृदय या लोकहृदय हो जाता है। यह सर्जक या कर्ता के लिए भी उतना ही सत्य है जितना ग्राहक या आलोचक के लिए। आधुनिक पश्चिमी आलोचक ईलियट जिस निर्वैयक्तिकता की चर्चा करता है, उसकी-सी स्थिति की कल्पना यहाँ की परम्परा में पहले ही कर ली गयी थी। सामाजिक जीवन के भोक्ता व्यक्तित्व और कलासर्जक के कर्ता व्यक्तित्व में उसने पार्थक्य माना है। इसे यहाँ एक प्रकार से स्वीकृति मिली हुई थी। सहृदय में निर्मलता आने से उसके रजोगुण, तमोगुण दब जाते हैं और सत्वगुण का उद्रेक हो जाता है। यही सत्वगुण वह शक्ति हैं, जो किसी के हृदय को दूसरे के हृदय से जोड़ दे। स्वयम् के रजोगुण-तमोगुण के दबे रहने से ही दूसरे के रजोगुण-तमोगुण का ठीक स्वरूप उसके मानस्-पटल पर अंकित हो जाता है। मनमुकुर निर्मल होने से उसमें प्रतिबिंबन स्पष्ट होता है। उसकी चिन्मय स्थिति इसी से कही गयी है।

परम्परा का अनुशीलन करने का तात्पर्य उसका अनुधावन नहीं है। देश-कालालिंगित लोक के प्रवाह की कुछ ऐसी वृत्तियाँ रहती हैं जो अवसर-विशेष पर वांछित होती हैं और परम्परा से हट कर चलने का प्रयास करनेवाला भी उन्हें ग्रहण करके कुछ संकेतित कर देता है या कर देना चाहता है। विकास-परम्परा की श्रृंखला में से होने से निजता या पहचान बनी रहती है। जिसे यहाँ के प्रवाह में निजता या अपनापन कहा गया है, उसे ही 'पहचान' समझना चाहिए, जिसका उद्घोष आजकल होता रहता है। परम्परा से कटकर 'पहचान' कैसे ठीक-ठीक हो सकेगी या बहुत करायी जा सकेगी, यह चिंतनीय है। परंपरा का सम्मान 'प्रसाद' तक जो निरंतर था, किन्तु आगे चलकर इससे हटना भी श्रेयोमार्ग माना गया। सांप्रतिक युग में 'नयी कविता' के समर्थक डॉ० जगदीश गुप्त का परम्परा से सबन्ध बहुत गहरा है। प्रयोग के प्रस्तोता परम्परा का अपना अर्थ करते हों, करें। परंपरा अभिलषित है, इसे आधुनिकतम ईलियट ने भी माना है। परम्परा से कट जाने पर काव्य के उच्छलन में परम्परा-मान्य कुछ आ जाने पर उसका ठीक संकेत नहीं पकड़ा जा सकेगा। 'प्रसाद' ने कामायनी के लज्जा-सर्ग में लिखा है—

> वरदान-सदृश हो डाल रही नीली किरणों से बुना हुआ।
> यह अंचल कितना हलका-सा कितने सौरभ से सना हुआ।।

यहाँ 'नीली किरणों' का अर्थ कामायनी के आधुनिक टीकाकारों ने 'दु:ख' किया है, क्योंकि लज्जा दु:खात्मक भाव है। 'प्रसाद' ने 'नील' से दु:ख के संकेत कामायनी में अन्यत्र किये हैं, अत: टीकाकार के विरोध की गुंजायिश नहीं है। किन्तु यह (दु:ख) 'वरदान सदृश' है, 'सौरभ' से सना हुआ है, क्यों। अत: 'नीली

किरणों' का संकेत कुछ और भी है। वह लज्जा व्यापक सामाजिक लज्जा नहीं, प्रेम या श्रृंगार की लज्जा है। श्रृंगार का ताना-बाना इसमें है; यह इंगित करना निश्चय ही प्रयोजन है। भारतीय परम्परा में श्रृंगार और काम दोनों का वर्ण श्याम या नील ही माना गया है। लज्जा रति की प्रतिकृति है, कामप्रिया है अनंग-सहचरी वह। अनुभव में शेष रह गयी है। अस्तु।

निवेदन इतना ही है कि अर्थ के स्पष्टीकरण की जो परम्परा यहाँ आरम्भ से ही चली आ रही है, वह जितनी अनिवार्य प्राचीन काल मे थी, उतनी ही आधुनिक काल में भी है। छायावादी कवि कहा करते थे कि काव्य लिखना हमारा काम है, अर्थों का उद्‌घाटन करना दूसरों का व्यापार है। 'प्रसाद' पर और उनकी कामायनी पर अनेक शोध हो चुके हैं, पर कामायनी पर छात्रों की माँग के दबाव से अर्थ के विश्लेषणवाली टीका एक भी नहीं हुई। जो टीका हुई भी वह भावार्थ या तात्पर्यार्थ मात्र है। पद्य का पद्यरूप भर है। आज की रचना में लक्षणा-व्यंजना, प्रतीक-बिंब प्रयोग आदि द्वारा जो वाच्यार्थ से अधिक संकेतित करने का गहरा अच्छा तथा साथ ही आयाससाध्य प्रयास है, उसने विवश कर दिया है कि वास्तविकता के स्पष्टीकरण का उद्योग हो। ऐसा न करने से सांप्रतिक साहित्य और विशेषतया कविता में जो समारंभ किया गया है जैसा अर्थ का संभार लाया-लादा गया है, वह अस्पष्ट रह जायेगा। ग्राहक ही नहीं मिलेगा। पाठक या ग्राहक की न्यूनता की चर्चा संप्रति हो भी बहुत रही है। नयी कविता वाले उसकी चिंता भी नहीं कर रहे हैं। डॉ० जगदीश गुप्त कहते हैं कि "वह (नयी कविता) उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है, जिनकी मानसिक व्यवस्था, बौद्धिक चेतना, नये कवि के समान है—अर्थात् जो उनके समानधर्मी हैं। 'नयी कविता' वालों को भवभूति की भाँति ही यह कहना पड़ सकता है कि अभी नहीं है तो 'उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।" 'नयी कविता' विश्वविद्यालय के उच्चपाठ्यक्रम में पहुँच गयी या पहुँचा दी गयी है। जिज्ञासुओं को समानधर्मा बनाना पड़ेगा, समानधर्म के साँचे में ढालना पड़ेगा। इसलिए साहित्य-रसिकों के हित के लिए व्याख्या की पद्धति को पुनरुज्जीवित करने की अपेक्षा है। बिना मूल के तरुपल्लवों को सींच कर आलोचना का फूल-फल नहीं पाया जा सकता।

संप्रति नवलेखन का जो विकास हुआ है, उसमें साहित्य के क्रियाकल्प (तकनीक) को ही सर्वस्व माना जा रहा है, उसकी वास्तविक जीवनोपयोगिता को नकारा जा रहा है। साहित्य या काव्य के विषय में यह प्रश्न उठता रहा है कि उसे जीवन की उपयोगिता से संबद्ध किया जाये या नहीं। भारत में भी काव्यालाप का धार्मिकों

ने वर्जन किया था और पश्चिम में भी पहले उसे अनैतिक कह कर तिरस्कृत किया गया था; किन्तु भारत में आगे चलकर साहित्य दर्शन मान लिया गया। जीवन की विशेष प्रकार की सरणि से उसका सम्बन्ध मान लिया गया। साथ ही, जीवन का परम लक्ष्य वाङमय के सभी क्षेत्रों में यहाँ एक ही माना गया। हाँ, लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न स्वीकृत कर लिये गये। सभी वाङमय जाते एक ही ध्येय की ओर हैं, केवल प्रस्थानभेद है। यों अत्यंत संतुलित दृष्टि का यहाँ विकास हुआ। संप्रति सौन्दर्य, दर्शन, व्यक्ति (निर्माता), समाज और इतिहास की दृष्टि से साहित्य को देखा-परखा जा रहा है। समन्वय का मार्ग अभी ढूँढा ही जा रहा है। साहित्य को जीवन से पृथक् करने का आंदोलन यहाँ नहीं हुआ, क्योंकि 'चतुर्वर्गफलप्राप्ति' इसका उद्देश्य माना गया। पश्चिम में काम और अर्थ को स्वतंत्र करके साहित्य को इधर निरखने से अतिवादिता ही बढ़ी है। या तो व्यक्ति का महत्त्व इतना मान लिया गया कि समाज से उसे पृथक् कर लिया गया या समाज की महत्ता ऐसी सकारी गयी कि व्यक्ति महत्त्वहीन हो गया। इसलिए सर्जना के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों की परम्परा में व्यवस्थावादिता सर्वोपरि दिखायी देती है। जहाँ काव्य के स्वरूप का विचार किया गया, वहाँ शब्द और अर्थ और उनकी प्रतिस्पर्धा का ही विचार किया गया। शब्द की ओर झुकनेवाला अर्थ से या वस्तु से निरपेक्ष नहीं हो सका। अर्थ या वस्तु की ओर विशेष आग्रही शब्द को निरस्त नहीं कर सका। यहाँ अलौकिक और लोकोत्तर का अर्थ जीवन के संस्पर्श से शून्य अतीन्द्रिय लोक नहीं माना गया। अलौकिक का अर्थ यही किया गया कि सामान्यतया लोक में जैसा होता है, उससे कुछ भिन्न अर्थात् परिष्कृत। लौकिक जीवन में इंद्रिय-संनिकर्ष-जन्य सुख की प्राप्ति में जो रस होता है, उसे लौकिक रस ही कहा गया। रज, तम और सत्व, तीनों की सम्मिलित शक्ति लौकिक रस में होती है। अलौकिक में सत्व ही उद्रिक्त रहता है, दो गुण दबे रहते हैं। इसलिए यह रस उससे विशिष्ट होता है।

लोक के रस में विषयनिरपेक्ष स्थिति नहीं रहती। साहित्य या काव्य में विषयसापेक्ष स्थिति का पर्यवसान विषयनिरपेक्ष स्थिति में होता है। काव्य में वर्ण्य और अनुकार्य लोक के ही रहते हैं, किन्तु जो रसानुभूति होती है, उसमें वे अपेक्षित विषय नही रह जाते। वासनावासित हृदय में सत्व का ही उद्रेक होता है। जीवन की मृण्मय या भौतिक स्थिति से दिव्य चिन्मय स्थिति होने से यह परिष्कृत अनुभूति होती है। वासना को सुगंधित भर कर देती है। नवीन मनोविज्ञान, दमित वासनाओं की तृप्ति की चर्चा करता है। यहाँ वासना अपने सहज रूप में ही जागरित हो जाती है। परिष्कृत अनुभूति का तात्पर्य उभयथा है। पहले से

अंतःकरण परिष्कृत है और काव्यश्रवण या नाट्यदर्शन से भी अंतःकरण और परिष्कृत होता जाता है। सहजरूप निर्विकार होता है। मनोविज्ञान नाना प्रकार के आवरणों को चीरकर आदिम वासना तक पहुँचने की चर्चा करता है। यहाँ भी साहित्य अव्यक्त सहज वासना को व्यक्त करने की धारणा रखता है।

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में काव्यशास्त्र के जो ग्रंथ लिखे गये, उनमें संस्कृत साहित्यशास्त्र की सरणि अनुवदन, अनुग्रहण के रूप में रखी गयी है। साहित्य-शास्त्रीय विचार इतना गंभीर और इतना विस्तृत हो चुका था कि पहले उससे अवगत होने और अवगत कराने की ही अपेक्षा थी। इसी से नवीन चिंतन के लिए उन्हें अवकाश नहीं मिला। किन्तु ऐसा नहीं था कि कोई कुछ सोचता ही न था। केशवदास ने रसिकप्रिया में प्रकाश-प्रच्छन्न भेदों की रूपकल्पना रुद्रट और रुद्रभट्ट की पारम्परिक संकल्पना से भिन्न रूप में की है। ऐसे प्रयास नाममात्र को ही हैं। जिन्हें लक्षण-ग्रंथ नहीं लिखना था और जो लक्षण-ग्रंथों का अनुधावन करनेवाले नहीं थे, उन्होंने कभी-कभी काव्य के रूप की भावना ऐसी की है जिसमें नवीनता दिखायी देती है। इसके लिए गोस्वामी तुलसीदास और घनआनंद दो कवियों के वक्तव्यों पर विचार करके देख लेना अच्छा रहेगा गोस्वामी जी भक्ति और जीवन के क्षेत्र में मर्यादावादी होते हुए भी साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में स्वतंत्रचेता थे। यद्यपि 'रामचरितमानस' के आरम्भ में उन्होंने वन्दना की है तथापि उसी के माध्यम से साहित्य के स्वरूप की अपनी कल्पना भी स्पष्ट की है:—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वंदे वाणीविनायकौ।।

यहाँ 'शब्दानां' न कहकर उन्होंने 'वर्णानां' का प्रयोग किया है। 'शब्द' केवल 'ध्वनि' का ही संकेत करता है, किन्तु 'वर्ण' ध्वनि के साथ-साथ रंग-रूप का भी। जिन वर्णों का समूह शब्द होता है, उनका काव्य में विशेष महत्त्व होता है। इसलिए गोस्वामी जी शब्द का व्यवहार न करके वर्ण या आखर (अक्षर) का ही उल्लेख करते रहे हैं। वर्ण, अर्थ, रस, छंद, मंगल कहने में उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर भी संकेत है जिसका विस्तार करने का यहाँ अवकाश नहीं है, किन्तु मंगल भी काव्य के लक्षण का अनिवार्य अंग है, यह उनका नवीन अभिमत था। संस्कृत की परम्परा में 'शिवेतरक्षति' (अमंगल का नाश) उसके प्रयोजन में रखा गया है। किन्तु यहाँ उसको स्वरूप के अंतर्गत ही रखने का विशेष हेतु है। संस्कृत के आचार्यों का काव्य सहृदयों का ही उपकारक होता है। वह सब का हित नहीं कर पाता। किन्तु तुलसीदास काव्य को 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' माननेवाले हैं। जैसे

उनके राम सबका मंगल करनेवाले हैं, वैसे ही वे काव्य को भी सर्वजनमंगलकारी मानते हैं। उन्होंने यह मान रखा है कि राम ही सूत्रधार हैं जो 'कवि उर अजिर नचावहिं बानी।' जिसके चरित सर्वहितकारी हैं उसका कविगत चरित भी वैसा ही होना चाहिए। वे राम को सबका सूत्रधार मानते हैं—'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥' भारतीय परम्परा सृष्टि को सप्रयोजन मानती है। प्रयोजक भी कोई होना ही चाहिए। मनुष्य भी सृष्टि में अपूर्ण या अभावयुक्त ही माना जाता है। अपूर्ण को पूर्ण या अभाव को भाव में परिणत करने की प्रक्रिया में जीवन और साहित्य दोनों की स्थिति एक-सी है। जीवन और साहित्य अपूर्ण से पूर्ण होने की ओर गतिशील हैं, सर्वमंगल विधायक से जुड़ जाना चाहते हैं।

तुलसीदास काव्य में हृदय और मति दोनों को स्थान देते हैं; किन्तु हृदय के अंगरूप में ही बुद्धि को स्वीकार करते हैं। पर अंग होने पर भी काव्य में टिकाब या पकाव का आधार मति को ही मानते हैं। काव्यमुक्ता की शुक्ति, मति ही है। यह मति वह बुद्धि नहीं है जो विवेचनकारिणी होती है। यह प्रज्ञा न होकर उपज्ञा है। हृदय के शासन में रहनेवाली उपज्ञा है जिससे हिन्दी में 'उपज' शब्द बना है। नयी-नयी उपज करनेवाली उपज्ञा, विशिष्ट उपजवाली मति। वाणी या सरस्वती तो स्वाती का जल है, जिससे श्रेष्ठ विचार का जल बरसता है। काव्य को अविचारित रमणीय नहीं मानते या अविचार का तात्पर्य अल्पविचार—किंचित् विचार संस्पर्श मानते हैं—

हृदयसिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौ बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥

यहाँ 'विचार' भावना या कल्पना के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है। तुलसीदास ने काव्य-व्यापार का निरूपण कई प्रकार से और कई स्थानों पर किया है। उनके काव्य-सम्बन्धी विचार पर्याप्त हैं और उनके आधार पर उनकी मान्यता स्वतंत्र-चिंतन का परिणाम प्रतीत होती है।

गोस्वामी जी ने वाणी की परिणति मुक्ता के रूप में मानी है और माना है कि सीपी का कार्य हृदय के शासन में रहनेवाली मति (उपज्ञा) करती है। पर घनआनंद हृदय में 'वाणी' को सजी-बजी, बनी-बनायी दूल्हन के रूप में कल्पित करते हैं—

उर भौन में मौन को घूंघट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों हुलसै सुलसै रसरूप मनी॥
रसना अली कान गली मधि ह्वै पधरावति लै चित सेज ठनी।
घनआनंद बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी॥

वाणी (काव्योक्ति) में सब कुछ मूलरूप में ही मिला रहता है। उसकी आवृत सौन्दर्यराशि को सुजान या सहृदय ही खोल सकता है। काव्य की उक्ति में संयोजन पृथक् से नहीं करता रहता। वह जैसी है, वैसी सहज रूप में ही रहती है। पश्चिम में नाना प्रकार के वाद इसको लेकर उठते रहे हैं कि काव्य संवेदन है, अभिव्यक्ति है, सौन्दर्य है, आस्वाद है, क्रियाकल्प है या क्या है। काव्यत्व कहाँ है। अलग-अलग विशेषता को पकड़ने के कारण ऐसा होता रहा है। उक्ति ही काव्य है। उसमे सब कुछ नैसर्गिक ही संपृक्त रहता है। पृथक्-पृथक् तो समझने-समझाने के लिए ही कहा जाता है। भाव जिसे अँग्रेजी में इमोशन (संवेग) कहते हैं, वह भी मनोविज्ञान की दृष्टि से वृत्तिचक्र (सिस्टम) ही माना जाता है। उसके मूल में ही निसर्गत: सवेदना या रागात्मक, प्रज्ञात्मक और शरीरधर्ममूलक सभी प्रकार की वृत्तियाँ संश्लिष्ट या संपृक्त रहती हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में रस के भीतर अवयवों की, विभावादि की, विचारपद्धति इसी से जोड़ी गयी है। साहित्य भी सहजत्व-प्राप्ति की साधना है। निर्गुणधारा में ज्ञान के द्वारा भी इसी सहज साधना से सिद्धि की ओर जाने का उपक्रम था।

भाषा में भेद प्रकृतिगत होता है, पर साहित्य की प्रकृति अभेद की है। हिन्दी ही नहीं, भारत की सभी भाषाओं के साहित्य में जो कुछ सर्जना हुई है, उसमें साहित्य और काव्य के सम्बन्ध में जो भी और जितनी धारणाएँ हैं, सबको इस अभेद की पकड़ के लिए संकलित करने की अपेक्षा है। ऐसा करने से बहुत-सी नवीन मान्यताएँ विमर्श-परामर्श भी सामने आयेंगे। जहाँ एक ओर सभी लक्ष्यकचक्षु दिखायी देंगे, वहीं उनमें दृष्टिभेद भी मिलेगा। भारतीय सभी भाषाओं में विभेद होने पर भी साहित्य का स्वर एक है। भारतीय भाषाओं के लोकसाहित्य का भी स्वर एक है। उर्दू में जो पार्थक्य दिखायी देता है, वह पिछले काँटे आया है। दक्षिणी काव्यधारा का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है, अस्तु। साहित्य के अनुशीलन के लिए अभी बहुत कुछ करने की अपेक्षा है। संस्कृत-साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का अनुवाद तो डॉ० नगेन्द्र के प्रयास से हो गया और बहुत-सी भ्रांतियाँ भी दूर हो गयी; किन्तु अभी समग्रता में कार्य करने की आवश्यकता फिर भी बनी हुई है। अनुवाद से आगे बढ़कर विस्तृत व्याख्या और पारस्परिक तुलना द्वारा विमर्श-विश्लेषण अब वांछित है। संस्कृत के आचार्यो का साधारणीकरण के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष क्या है, यह हिन्दी में पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो सका और उसको अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्याएँ इतनी हो गयी कि उलझन ही बढ़ती चली गयी। भारतीय साहित्यशास्त्र की सारी मान्यताओं का विस्तृत फलक पर अब विचार पूर्वाग्रहपरित्यागपूर्वक होना चाहिए। इससे पता चल जायगा कि अनेक वाद जो पश्चिम में उठा करते हैं, उनकी

संभावना और संकेत करके भी अपनी रसप्रक्रिया के अनुरूप न पाकर उन्हें बहुधा परित्यक्त कर दिया गया है। केवल अभिनवगुप्त की समस्त विचारधारा का पूरा ऊहापोह ही यदि कर डाला जाय तो साहित्य-चिंतन का आगे विकास करने में बहुत सहायता मिलेगी, ऐसी मेरी धारणा है। इन सबके लिए उपलब्ध समस्त टीका, व्याख्या आदि का सहारा लेना अभिलषित है।

पश्चिमी साहित्यशास्त्र के सम्बन्ध में भी तथा अन्य देशों के साहित्यशास्त्र का भी विश्लेषणपरक पृथक्-पृथक् व्यापक विचार अपेक्षित है। भारतीय सभी भाषाओं में साहित्यशास्त्र-विषयक जो भी प्रयास है, उसका भी आकलन विस्तार से होना चाहिए। डॉ० नगेन्द्र ने 'भारतीय समीक्षा' नाम से श्लाघ्य प्राथमिक प्रयास किया है। उसका व्यापक रूप में आयोजन किया जाना चाहिए। हिन्दी के शृंगार-रीतिकालिक साहित्य का भी काव्यशास्त्रीय विवेचन व्याख्यात्मक रूप में संकलित करना चाहिए। अभी तक इस युग का बहुत-सा स्पृहणीय साहित्य प्रकाशित ही नहीं हुआ है। उसको प्रकाशित करने-कराने का संभार होना चाहिए। पाठशोध का कार्य पर्याप्त हो रहा है, बहुत से विद्वान् इधर हाथ बढ़ा रहे हैं, यह हर्ष की बात है। किन्तु परंपरा से परिचितों को ही इसमें हाथ डालना चाहिए, पाठालोचन की पश्चिमी प्रणाली उपयोगी अवश्य है, किन्तु उसमें परंपरा के अर्थ-विषयक बोध की भी अनिवार्यता है। यदि ऐसा न होगा तो 'अहुठ वज्र' के अर्थ में हनुमान की साढ़े तीन हाथ की पूँछ ही हाथ लगेगी, दधीचि की हड्डी से बने साढ़े तीन वज्रों की उपलब्धि न होगी। विष्णु का एक धनुष शार्ङ्ग और महादेव के दो धनुष—पिनाक और गांडीव, तीन पूरे वज्र माने जाते हैं। इंद्र का वज्र आधा ही होता है। उसका आकार धनुषदंड को मध्य से तोड़ देने से बने दो टुकड़ों में से किसी एक के रूप का ही पुराणों के अनुसार माना जाता है।

हिन्दी के मध्यकाल में साहित्यिक टीका-भाष्य की पद्धति को वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य में फिर से संचरित करने की अपेक्षा है। मध्ययुग के बहुत-से ग्रंथों के साथ उनकी टीकाएँ यदि न भी प्रकाशित की जायँ तो उनमे साहित्य विमर्श की जो सामग्री है, उसे अवश्य संकलित करना चाहिए। सुरति मिश्र आदि ने केशव की रसिकप्रिया पर न जाने कितने प्रश्न प्रत्येक छद के साथ उठाये हैं और उनका ज्ञानवर्धक सामंजस्यपूर्ण समाधान भी किया है। जिन विशिष्ट ग्रंथों की साहित्यिक व्याख्या नहीं है, उसकी आयोजना की जानी चाहिए। घनआनंद की रचना पाठ्यक्रम में तो जा चुकी हैं, किन्तु उनकी व्याख्या परंपरा में हुई ही नहीं। आज कोई वैसा करना छोटा काम समझता है। उसके व्याख्यायित होने पर अनेक लाभप्रद उपलब्धियाँ होंगी। सूरसागर की भी कोई व्याख्या पहले नहीं हुई है। इधर उसके

भावार्थ का प्रयास किया जा रहा है। प्रयास और अच्छा होना चाहिए। व्याख्या विस्तृत और व्यंग्यात्मक स्थलों की रमणीयता से परिपूर्ण उद्घाटनपूर्वक होनी चाहिए।

तुलसीदास के रामचरित मानस पर 'मानस-पीयूष' में सभी व्याख्याएँ-टीकाएँ संकलित की गयी हैं। पर मानस पर यह सारा प्रयास महात्माओं और व्यासों का था। साहित्यिक व्याख्या उसकी भी नहीं हुई है। उसकी साहित्यिक गरिमा के प्राकट्य की अपेक्षा तो है ही, उनके अन्य ग्रन्थों पर भी ध्यान देना चाहिए। मानस-चतुःशती पर बड़े-बड़े आयोजन हुए। तुलसीदास को आधुनिक सदन्र्भ में बहुत कुछ देखा-समझा गया। किन्तु उनके ग्रन्थों के पुराने सन्दर्भ ही संकलित हो जाते तो हिन्दी साहित्य में समृद्धि-ही-समृद्धि हो जाती। स्वर्गीय महात्मा अंजनीनंदनशरण ने 'विनय-पीयूष' प्रकाशित करा दिया है। वे 'कवित्त-पीयूष' (कवितावली की समस्त टीकाओं का सार-संग्रह) भी संकलित एवम् प्रकाशित कराने वाले थे, पर न करा सके। गीत-पीयूष, बरवै-पीयूष आदि नवीन साहित्यिक व्याख्या संयुक्त प्रकाशित कराना बहुत उपयोगी होगा।

भारत की विभिन्न भाषाओं और लिपियों में हिन्दी का बहुत-सा साहित्य छिपा पड़ा है। कुछ तो अनुसंधित्सुओं के द्वारा प्रकाश में लाया गया है। शंकरदेव की ब्रजबुलि ग्रंथावली विशेष श्रमपूर्वक प्रकाशित हुई है। पर अभी न जाने कितनी सामग्री पड़ी-पड़ी धूल चाट रही है और उसे कीट चाटे जा रहे हैं। फारसी लिपि में हिन्दी की न जाने कितनी सामग्री पड़ी है। दक्खिनी की ही सारी सामग्री अभी सुसंकलित और आलोचित नहीं होपायी है। साहित्यिक संस्थाओं को इन्हें संरक्षित रूप में अँधेरे से उजाले में लाने का उद्योग करना चाहिए। साहित्य में सेवावृत्ति और गंभीर चिंतन, कर्तव्यनिष्ठा की भावना बलवती करने की महती आवश्यकता है।

हिन्दी साहित्य के सेवकों, विद्वानों, शोधकों पर सबसे अधिक उत्तरदायित्व है। उसके निर्वाह का जैसा उत्साह मध्यकाल में था, आधुनिक काल में भी अपने परिमित साधनों में जिस रूप का था, उस रूप का उत्साह अब सर्वत्र नहीं दिखायी दे रहा है। आप सबके सामने मैं अपना यह विनम्र निवेदन इसीलिए कर रहा हूँ कि विज्ञान ने अब बहुत-से साधन और उपकरण जुटा दिये हैं और यदि उधर सबका नहीं तो कतिपय कर्मठों का ध्यान हो जाय तो आज उस उत्तरदायित्व के निर्वाह में पूर्वापेक्षा सुगमता है। अभिलाषा है कि साहित्य की मंगलविधायिनी रूपराशि के दर्शन सुलभ हों। भगवती भारती ऐसा ही करें।

०

अभिभाषण–१५

डॉ० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

⊙ ⊙

आप इसे मात्र औपचारिकता न समझें जब मैं पूरी ईमानदारी के साथ हार्दिक सच्चाई के साथ आप समस्त साहित्य सर्जकों, विचार-विवेचकों और रचना-प्रेमियों के सम्मुख यह कहता हूँ कि मैं इस विशिष्ट पद और अध्यक्षीय गरिमा के योग्य नहीं हूँ। पूर्व में यह सम्मान जिन मनीषियों को मिल चुका है उनकी तुलना में प्रत्येक दृष्टि से अपनी लघुता मैं जानता हूँ। इसलिए मुझसे किसी पांडित्यपूर्ण अवलोकन, अनुशीलन और साहित्यालोचन की आशा आप न करें। पिछले पचास वर्षो से अपना लेखन-जीवन-धर्म निबाहते और साहित्य-रचना-मंच की दरी बिछाते, आसंदियाँ साफ करते और जमाते मैंने बहुत कुछ देखा-सुना-समझा-पाया है। मुखौटों की अनेक 'फैक्टरियाँ' बनते और बिगड़ते देखी हैं, परिवर्तन की कितनी ही वैसाखियों का ऊँचे और सस्ते दरों पर क्रय-विक्रय होते पाया है। इन सब सुकृतियों-विकृतियों के बीच मैं अप्रभावित निष्कम्प और अडिग रह आया होऊँ ऐसी अहं भावना भी मेरी नहीं है। साहित्य के लगभग चार युग मैंने इतनी सहजता और निकटता से जिये-जागें है कि मैं उसमे अभिन्न और एकाकार होकर अपनी सारी विकलांगता में भी उसका एक जीवित, स्पंदित और बीच-बीच में कोई-न-कोई प्रेरक ऊर्जा पाकर लहक उठने वाला अंश बन गया हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि जिस प्रकार व्यक्ति का व्यक्तिगत अर्जन राष्ट्र की या विश्व की आय को समृद्ध कर देता है उसी प्रकार साहित्य-व्यक्ति का व्यक्तिगत अर्जित सत्य विश्व-सत्य और विश्व-प्रकृति की महत् कल्पना और क्रिया को अपने एकांश में प्रतिफलित करता है। यह तात्विक प्रक्रिया भले ही अप्रत्यक्ष लगती हो किन्तु उसकी निरंतरता को झुठलाया नहीं जा सकता। साहित्य-सत्य व्यक्ति की अनुभूति को अबाधता से मंडित कर यथार्थ को विराट् अखण्ड और अभेद के संदर्भ में देखकर उसे आत्मसात् करना जीना और जिलाना गूँजना और गुँजाना ही तो है। साहित्य-सृजेता का व्यक्तिगत अर्जित सत्य होकर भी यह रचना-सत्य विश्वमन और विश्व-प्रकृति की पूर्णतम, महत्, यथार्थ सत्ता से अलग नहीं है।

साहित्य की अपनी समझी हुई समस्याओं और समाधान न पाये प्रश्नों की ओर आप विदग्धजनों का मन खींचने में मैं कुछ उन कटु वास्तविकताओं और कुरूप हकीकतों की चर्चा करना चाहूँगा जिन्होंने साहित्य-संसार को बड़ी सीमा तक प्रदूषित कर रक्खा है। आचार-जगत् की छुआछूत, सवर्णों की अवर्णों के प्रति अस्पृश्यता से अधिक अस्पृश्यता आज विचार-जगत् मे फैली है। वैचारिक एकरूपता, मान्यताओं का मेल और भावनाओं की भैयाचारी समझ में आती है। समानधर्मीजनों के पारस्परिक अनुराग की अपेक्षाकृत अधिकता भी अपनी जगह-पर ठीक है। पर जब यह शिविरबद्धता—कुछ-कुछ पारस्परिक संघर्ष और युद्ध-स्तर के से विरोध और वैपरीत्य का रूप ले ले तो यही लगने लगता है कि जैसे साहित्य के आकाश का अनेक अशुभ ग्रहों के साथ संयोग हो गया हो। परिणामस्वरूप साहित्यकारों में आपसी आत्मीयता का लोप हो गया है। यहाँ तक कि मोर्चेबन्दी के कारण जानबूझकर इतर विचार-सरणियों में रमने वाले, इतर भावना-धारा रखने वाले दूसरे लेखकों के महत्व को नकारने की सुनियोजित दुरभि-सधियाँ चारों ओर दिखायी देती हैं। यों तो आपसी वाद-विवाद और साहित्य की श्रेष्ठता, प्रेरणा की शिवता, रचना की आशयगत और शिल्पगत श्रेष्ठता को लेकर साहित्यिक वाद-विवाद हर साहित्य-युग में चलते रहे है और वे सदैव 'ज्ञानाय' ही होते थे, 'विवादाय' नहीं—ऐसा भी नही है। रुचि-अरुचि की तीव्रता, असहिष्णुता और विरोध की स्तरहीनता के दर्शन भी पहले कभी-कभी होते रहते थे। पर एक मूल्यगत नैतिकता, एक साहित्यधर्मी सौष्ठव, एक वर्गगत बंधुता, नियति-भोग की समान श्रेणी-चेतना, एक विचित्र मिठास भरा अपनत्व भी साहित्यकारों के बीच बना रहता था। आज की जैसी एक आयातित, अभिजात्यभरी अलगाव और सम्पूर्ण बहिष्कार की भावना—अपने से इतर साहित्य-दर्शन और रचना-प्रणाली को अपनाकर चलने वाले रचना-धर्मियों के प्रति ऐसा अशोभन 'ब्लेक-आउट' स्वतंत्र भारत की ही देन है। दूसरे के साहित्यिक कृतित्व-हनन, कहीं-कहीं तो चरित्र-हनन की यह प्रक्रिया साहित्य की प्रगति और समृद्धिमूलक अभियान में कभी सहायक नही होती—घातक ही होती है। चारों ओर कुंठा का वातावरण बन जाता है और जीवनधर्मी, आनंददायी लालित्य छीजने लगता है। यदि सामाजिक और आचारिक जीवन का शूद्रता-बोध, जात-पाँत का भेद बढ़ाने वाली छुआछूत बाहर से आकर साहित्य में सिमट बैठी तो विचार और बुद्धिजीविता की दुनिया अधिकाधिक न रहने योग्य बनती जायगी।

साहित्यकारों की, रचनाधर्मी वाणी-साधकों की पिछली पीढ़ियों ने पार-

स्परिक स्पर्धा और प्रतियोगी यशैषणा न जानी हो, ऐसा नहीं है। पर पूर्वाग्रह-युक्त लेखनगत और विचारणागत योजनाबद्ध अनुकृतिवाद तब नहीं था। एक विशेष ढंग से लिखने, सोचने, समझने, समझाने और व्यक्ति-विशेष या विधा विशेष का प्रचार करने से ही साहित्य का प्रेय और श्रेय सिद्ध होता हो—ऐसा तब न माना जाना था। साहित्य, समाज, सम्मान और सत्ता सबके लिये था। संरक्षण और संपोषण से वे ही वञ्चित रह जाते थे जिनमें प्रतिभा और निजता की—आत्मदीप्ति की कोई चमक नहीं होती थी। साहित्य के मंच पर एकाधिकार की प्रवृत्ति न थी। एक प्रकार का खुलापन था जो सबके लिये था। ऐसी वैचारिक जकड़न—ऐसा 'रेजीमेण्टेशन' तब न के बराबर था। अपनी कीर्ति बनाने और स्थापित करने के लिए दूसरों को अपदस्थ करने या उपेक्षाओं के अंबार लगा देने की —कुछ-कुछ एकछत्रता का आवेग और पर-अवमूल्यन का दलबद्ध प्रयत्नवाद लेकर चलने वाली आज की सी आचरण-सहिता साहित्य-जगत् में पहले नहीं देखी गई। साहित्य, समग्रता और पूरे राष्ट्र की चिन्ता का व्यक्तीकरण है और सभी को अपना प्राप्य मिलता है—अपनी रचना-ऊर्जा आत्मानुभूति की सच्चाई, गम्भीरता और व्यापकता के अनुरूप—इस न्यायोचित साहित्यिक कर्त्तव्य को हम भूले जा रहे है। साहित्य—किसी विधा विशेष और जीवन-दृष्टि विशेष का 'माइक' नही है। यह वैचारिक जगत् की पृथकत्वभरी छूतछात सतही है जिसका साहित्य की ध्येयनिष्ठता के साथ कोई सम्बन्ध नही।

साहित्यकार की किसी भी प्रकार की राजनैतिक या सामुदायिक (साम्प्र-दायिक नही) प्रतिबद्धता में मुझे कोई हानि नहीं दीखती। वह अपने विचारों, निष्ठाओं और भावादर्शो के चयन और समायोजन के लिए स्वतत्र है। यह उसका मौलिक और बुद्धिवादी जीवन-आधार और अधिकार है जो प्रत्येक को स्वाधीन बनाने और बनाये रखने वाली शासन-व्यवस्था में सुरक्षित है। आशंका वहाँ होती है जहाँ राजनैतिक प्रदिबद्धता या पक्षधरता किसी प्रकार का बौद्धिक बौनापन, कायरता पैदा करे और इस प्रकार सुविधावाद का पर्याय बन जाय। जब राजनैतिक प्रतिबद्धता पद, पुरस्कार और पोषण प्रदान और प्राप्त करने के लिये अपनायी जाती है तब वह आन्तरिक विश्वास और अन्तर्भूत आस्था की शक्ति खो देती है। वह पग-पग पर अपने अस्तित्व के लिये जैसे खिसियाहट भरी माफी माँगती चलती है। पुराने विश्वासगत और प्रेरणाप्रद रचना-मूल्यों को एकनिष्ठ सच्चाई से पकड़े उस अनवीनतावादी को मैं चरित्र, मनुष्यता और मानवीय चारुता की दृष्टि से ऊँचा मानता हूँ जो सारे प्रलोभनों और प्राप्तियों

से दूर रहकर भौतिक और मानसिक अभावों से लड़ता है और अपनी जुझारू नियति से कोई शिकायत नहीं करता। इसके विरुद्ध सामाजिक न्याय, व्यवस्था-परिवर्तन और विश्व-मानवता की मुक्ति की बातें करने वाला, रचनागत चतुराई और शक्ति के साथ नवीनतावाद या समकालीन आधुनिकता के प्रचार में लीन वह बुद्धिवादी मुझे घटिया किस्म का लगता है जो पग-पग पर अपने समाजवादी लेखक को शासन, सत्ता, विदेशी-संरक्षण या स्वदेशी सरकार की संवेदनशीलता से भुनाता है। उसके लिये राजनैतिक प्रगतिशीलता और साहित्यिक अगुआगिरी का अर्थ केवल उस सत्ता के 'ग्लेमर' का समर्थन और उसकी उस प्रत्येक क्रिया का अनुमोदन रह जाता है जो उसके 'बैंक बैलेन्स' की चर्बी बढ़ाता है। अपनी सारी पलायन-वृत्ति और कायरता को वह छलछद्म का नकाब पहनाकर उसे प्रगति-दर्शन और जीवन-विज्ञान का हिमायती बनाता है। आज चारों ओर यही गति छायी है और यही बुद्धिवाद (जो इन्द्रियवाद का ही दूसरा नाम बन गया है) साहित्य में—उसकी विविध विधाओं और आत्मदंभ-डूबी विचारणाओं में परिलक्षित हो रहा है। वह कैसा और कौन-सा प्रगति दर्शन या आधुनिकता-वादी लेखन है जो लेखक और उसके आचरण के—उसकी करनी और कथनी के भेद को इतनी लाल रोशनाई से रेखांकित करे?

लेखक के दायित्व के दो रूप हैं। पहला—साहित्य-सृष्टि और दूसरा—अपने साहित्य में व्यक्त मान्यताओं के अनुरूप जीवन। स्थापना के सभाकक्ष का 'फरनीचर' बनने की कोशिश करते रहकर भी—बड़ी-बड़ी नौकरियों और पदों की तलाश करते रहकर भी समाजवाद, धर्मनिरपेक्षतावाद और अन्तर्राष्ट्रीय मान-वतावाद लाया जा सकता है। पर सरकारी सचिवालयों में जैसे वह फाइलों में ही रह जाता है वैसे ही इन लेखकों के लेखन में समाजवाद केवल स्तंभों और शासन की खरीदी में बड़ी-से-बड़ी संख्या में क्रय की जाने वाली पुस्तकों के पन्नों पर ही रह जायगा। उसमें संघर्ष की ऊष्मा नहीं होगी—जीवन का उन्मेष नहीं होगा—मात्र किताबी कैफियत होगी। अपने कथ्य को अपने कर्म का समर्थन न देकर—अपने लेखन और आचरण में इतना विषम भेद—यहां तक कि अधिकाधिक बढ़ते जाने वाली दूरी बनाये रखकर भी यदि साहित्यकार सोचता हो कि उसके लेखन से ही समाज बदल जायगा तो इसे उसकी मानसिक स्व-इच्छा-पूर्ति ही माना जायगा। दूसरी ओर लेखक और उसके आचरण में भेद—कथनी और करनी के बीच की खाईं जितनी पटती आयगी उतनी ही उसके लेखन को धार मिलेगी। इस प्रकार साहित्य के दोहरे दायित्व को जीने और जीने की प्रेरणा देने वाला लेखन आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है जो रेशमी, नायलोनी

मानसिकता के स्थान पर कठोर, श्रमशील सुविधाओं के बजाय अभावों को अपनाने वाली निर्मल बोधबुद्धि प्रदान करे। भौतिकतावादी परिपूर्ति का पूरा-पूरा समर्थन और अभिलाषी होकर भी साहित्य और साहित्यकार इस उपलब्धि को समाज-परिवर्तन, श्रेणी-भेद के विनाश और 'सब के सुख' के बीच पाना चाहे, अपने या अपनी स्वार्थसंकुल जमात के हितों के लिये किये गये समझौतों में नहीं।

समकालीन साहित्य जन-भावनाओं और जन-स्थितियों का प्रतिनिधित्व कहाँ तक कर रहा है, इसे भी इसी विचार-बिन्दु के संदर्भ में देखा जा सकता है। साहित्य में नई जीवनानुभूतियों, नये विचार, नये दृष्टिकोण और रचनाधर्मिता के नये प्रतिमान आ रहे हैं। यह सब-का-सब नया अनर्गल और सारहीन नहीं, जिस प्रकार सब-का-सब पुराना जीवन की ऊर्जा से उद्दीप्त और सार्थक नहीं। पुराना नयी प्रतिभा की प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करता है, प्रायः करता आया है पर शिल्प की प्रयोगशीलता और कथ्य की निर्भीकता में जो लिखा जाता है उसकी सार्थकता और शक्ति असंदिग्ध होती है। सामाजिक सरोकारों के नये-नये तेवर, नये-नये फैलाव और घुमाव आज साहित्य को तीक्ष्ण संवेदनशीलता और जीवन्तता प्रदान कर रहे है। परन्तु समकालीन साहित्य जन भावनाओं का वैसा विशद और प्राणवान् प्रतिनिधित्व क्यों नहीं कर पातीं जैसा पराधीनता से इतने लम्बे अरसे से उबरे और निर्माण पथ पर बढ़ते राष्ट्र में अपेक्षित है। जहाँ तक कविता का सवाल है वह अभिव्यक्ति की अस्पष्टताओं, दुरूहताओं और अन्तर्मन की खरचन में इतनी खो गयी है कि आत्मीय संवेदना का उद्रेक उसके द्वारा कम ही हो पा रहा है। जब कविता अधिकतर व्यक्ति-मन के अहं की पुकार और कुंठाओं भरी विकृतियों की परिपूर्ति ही होकर रह जाय---कथ्य की असंबद्धता, अशालीनता और अभाव को ही काव्य का रचनादर्श मान लिया जाय तब वह सामान्य स्वस्थ रुचिवान् पाठक के संस्कार, समझ और सहभोक्ता मन का हिस्सा कैसे बनेगी? यहाँ भी ईमानदार असमझदारों को आस्वादन बोध के पिछड़ेपन और आधुनिक भाव-प्रवणता से उनके निरे असंपृक्त होने का प्रमाण-पत्र दे दिया जाता है।

युगबोध और जन-जीवन की विशेषता, सामाजिक अन्याय, आर्थिक शोषण, जीवन-मूल्यों के पराभव के प्रति जैसा तीव्र और बेधक अंतर्द्रोह गद्य की विधाओं में होना चाहिए वैसा भी नहीं मिलता। लगता है अधिकांश गद्य-रचनायें यथा---कहानी, नाटक, उपन्यास आदि---जीवन की यथार्थता न होकर जैसे लेखक के मन में ऊब्रती विलास की तृष्णा और राजधानियों के रम्य अफसरी जीवन का

व्यामोह हों जिन्हें पढ़कर लिखने वालों के भीतर कुंडली मारकर बैठी दमित आकांक्षायें ही मूर्त होती हैं। दहेज के अग्निकुड मे नित्य नव-विवाहिताओं की आहुति होती हो--भाग्यदग्धाओं के समाचार प्रतिदिन आते हों, सामूहिक बलात्कार और शीलहरण की दुर्घटनाये नगरों और गाँवों में लगातार होती रहती हों, हरिजनों और बंधुआ मजदूरों के घर-के-घर जलाये जाते हों---चारों ओर एक भयावह असुरक्षा की भावना बढ़ती जा रही हो और हम यथार्थवाद के नाम पर गिनी-चुनी दूषित यथार्थताओं का ही रसीला चित्रण करते रह जायें या अस्तित्ववादी त्रासबोध में डूबे रहें, यह कहाँ का लेखन-धर्म है? कभी-कभी तो लगता है, हमारे भीतर सामाजिक संघर्ष से कटकर केलिशयनों और यौनवृत्तियों के अंत:पुर में झाँकने की प्रवृत्ति ही बलवती हो गयी है। लेखक अपनी स्वाभाविक शक्ति के बावजूद अपनी रचनाओं में रतिचर्या के स्वाभाविक या खींच तानकर लाये गये अस्वाभाविक प्रसंगों को चित्रित कर अपनी कृति में यौनाकर्षण और यौन सवेदन भरना चाहता है। पहले यह सब मनोविश्लेषण 'फ्रॉयड-वाद, के नाम पर होता था---आज यथार्थवादी जनवाद के नाम पर हो रहा है। यही प्रवृत्ति और नीचे उतरकर सत्य कथाओं और रोमांचक अपराध गाथाओं में पर्यवसित होती हैं---जब लोमहर्षक प्राण हरण कुकृत्यों में धँस-धँस कर हमारे सुलेखक सनसनीखेज लेखन करते हैं और साहित्य के जीवनधर्मी प्रयोजन 'शिवेतर क्षतये' को भूलकर उत्तेजक सस्ते मनोरंजन का सदावर्त बाँटते है। इससे जो चारित्रिक हानि होती है, अपराधवृत्ति पनपती है, उसकी कल्पना भली प्रकार की जा सकती है।

साहित्य के जन प्रतिनिधित्व की सच्ची कसौटी उसके भीतर निहित कर्म करने की प्रेरणा और ऊर्जा है। साहित्य वर्तमान सामाजिक व्यवस्था, भ्रष्टाचार छलछद्म, मुखौटेबाजी, जीवन मूल्यों के विघटन का---व्यक्ति पर व्यक्ति के, जाति पर जाति के, वर्ग पर वर्ग के अत्याचारों का चित्रण करके ही न रह जाय वरन् उससे आगे बढ़कर इन विकृतियों और विडंबनाओं से जूझने की प्रेरक शक्ति भी प्रदान करे। जातिवाद, सवर्ण आभिजात्यवाद, सामन्तवाद और स्वाधीन भारत की देन स्वदेशी अफसरवाद आज चारों ओर त्राहि-त्राहि मचाये हैं। भारतीय पूँजीवाद आज न केवल अपने शोषण और वातानुकूलित रक्तपान में ब्रिटिश पूँजीवाद को मात कर रहा है वरन् देश की सारी उत्पादक पूँजी और क्षमता को अपने हिंस्र जबड़ों में अधिकाधिक दबोचता और जकड़ता जा रहा है। जमींदारी चली गयी, राजे-रजवाड़े अतीत की वस्तु बन गये---उनका आतंक, उनका अभिशाप, ज्यों-का-त्यों है। बड़े-बड़े 'कुलक', हजारों-सैकड़ों एकड़ के भूमिपति

कि गानगाँवों की अर्थ-व्यवस्था और समाज-प्रणाली के अलंबरदार बने हुए गाँवों की सुख-समृद्धि अपनी मुट्ठी में दबाये चुनावों के कर्ता-धर्ता और सत्तादल की नाक के बेशकीमती बाल बने हुए हैं। इन सबसे संघर्ष करने की प्रदाहक प्रेरणा जिस साहित्य में नहीं है उसका लेखन केवल रुचिगत आनन्द भले दे दे पर वह जन-प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। साहित्य में भी जनता के सच्चे और मुलम्मे-बाज झूठे प्रतिनिधित्व के भेद की बात उतनी और वैसी ही है जैसी शासन और राजनीति में। आवश्यक नहीं कि जिसके लिबास की सफेदी में कभी कोई कमी न आती हो वही सच्चा जन-प्रतिनिधि हो। आवश्यक नहीं कि जो साहित्य चौखटेबद्ध, फारमूलाबद्ध शिविर-निष्ठा से लिखा जाता हो या जनता के कष्ट, संताप, जीवन-संकट को दलीय ध्वनिविस्तारक वाणी देकर रह जाता हो वही जनता का सच्चा प्रनिनिधित्व करता हो।

इसी प्रसंग में एक प्रश्न और उठता है। आज जनवाद, प्रगतिवाद, राष्ट्रवाद के खेमों में पूरा लेखन बँट गया है—बँटता जा रहा है। क्या आदमी को—साहित्य के सर्वाधिक प्रमुख उपजीव्य को इस प्रकार बाँटा जा सकता है—उसकी मनुजता और अस्मिता को इस प्रकार खण्ड-खण्ड कर देखा जा सकता है? उसकी अभिशप्त नियति के—उसके आत्मभोग और विडंबनाजीवी प्राण के टुकड़े किये जा सकते हैं? जब आदमी को नहीं बाँटा जा सकता तो उसकी कहानी—उसकी कर्म-कथा कैसे बाँटी जा सकती है? आज का जीवन भले विश्लेषण और विखंडन का हो पर साहित्य का स्वभाव, मानव के साथ उसका अंगभूत सम्बन्ध तो सदैव संश्लेषण कर रहा है। विभक्त में अविभक्त की तलाश चाहे आध्यात्मिक क्षेत्र में हो, चाहे मानव-मानव के लौकिक सम्बन्धों और सरोकारों में, हमारी संस्कृति का मूल रही है। 'अविभक्तं विभक्तेषु' गीता का जीवनमंत्र है जो मात्र बौद्धिक धारणा नहीं, भावनात्मक और रसात्मक प्राणानुभव भी है। विविधत्व के भीतर एकत्व देखने का यह चिरन्तन सत्य इतना बलवान् रहा है कि कोई भी राजनीतिक खंडता, आपत्ति या संकट इसे पराजित नहीं कर सका। यों भी ज्ञान और आत्म-ज्ञान की चरम परिणति इसे माना जा सकता है। हमारे इस विराट् देश में भौगोलिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से जो इतनी विविधता रही है; इसीलिए शायद विचारों और जातियों के बहुत से विभिन्न तत्वों का संश्लेषण करने की तत्परता हमारे तत्वज्ञान का एक अंग ही बन गयी है।

वाद-विवाद को जन्म दे और इस प्रकार तत्त्वबोध जाग्रत हो, इससे कौन इन्कार करेगा? सारे वाद सामाजिक आवश्यकताओं का निरूपण करते हैं और जीवन की बढ़ती जाती जटिलताओं के कारण छोटी पड़ती गई पुरानी मान्य-

ताओं और जीवन के तौर-तरीकों के छोटे पड़ते जाने के कारण उठती शंकाओं और असंगतियों का समाधान ही तो ढूंढ़ते हैं। रचना उसी का कलात्कम प्रयत्न है और इस प्रकार मानव की रसाकुल, कर्माकुल, जिजीविषा की अभिव्यक्ति है। सभी जीवनधर्मी वादों की प्रेरणा जीवित रहने और अच्छे रूप में जीवित रहने की सृजनशील आकांक्षा ही तो है। इसलिये मुझे यह सारा साहित्यिक वर्ग-विभाजन-वादों का यह शिविर-मण्डल कृत्रिम लगता है जो अक्सर साहित्यिक नेता के पद और यश के प्रार्थियों द्वारा बनाया-बिगाड़ा जाता है। इसके साथ जब राजनैतिक दलों से लगे लिपटे लगभग, एकाकार हो गये सम्बन्ध को निबाहने और अपने को उसी के साँचे में हू-ब-हू ढालने की अनिवार्यता आ जाती है तो राजनीति के विभाजन में उसका 'हिज़ मास्टर्न वायस' बन गया लेखन भी उसी प्रकार विभाजित होने के लिये मजबूर हो जाता है।

यहाँ मैं किसी भी लेखक संघ या साहित्यिक मंच की प्रासंगिकता पर किसी प्रकार का प्रश्न-चिह्न लगाये बिना इनके कारण प्रसूत रचनागत द्विधा, द्वैत और एक गलत किस्म की प्रतिद्वन्द्विता की ओर अपने रचनाधर्मी विचारकों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ। बँटवारे की भावना से राजनीति का गठन भले बनता हो पर साहित्य में यह प्रवृत्ति प्रायः बिगाड़ने वाली ही पायी गई है। जीवन कोई 'कमोडिटी' नहीं है जिसे इस प्रकार बाँटकर साहित्य में उसके समग्र आकलन और प्रतिफलन की आशा की जाय। किसी भी गतिशील जीवनधर्म और समाजव-दर्शन को राजनीति की उस मुहावरेबाजी और मौसमी प्रशासनिक परिवर्तनों के अनुसरण और अनुकरण में नहीं बाँधा जा सकता। राजनीति के बदलाव और अलगाव पर यदि लेखन भी शिविरों में बँटने लगेगा तो जनता उसके पथ-प्रदर्शक रूप और मूल्यगत नैतिकता के प्रति उसकी अविवादास्पद आस्था को कैसे पहचान सकेगी?

यों तो लेखन की प्रेरणा और प्रयोजन को लेकर न जाने कितने सिद्धान्त गढ़े गये हैं और साहित्यादर्शों की कितनी ही परिभाषाएँ रची गई हैं पर मैं समझता हूँ कि इस बात पर प्रायः सभी समाजशास्त्री, साहित्य-सृजेता और व्याख्याकार एकमत रहे हैं। आज भी सभी वैचारिक खेमे इसे मानते हैं—भले ज़ुबान अपनी-अपनी हो। साहित्य का मूल धर्म है मनुष्य को अज्ञान, अवसाद, मत्सर, मोह, कुसंस्कार और जड़ रूढ़ियों के निष्प्राण पारम्परिक अनुवर्तन से बचाना। दूसरे शब्दों में साहित्य मानव के मानसिक स्तर को मुक्ति, उच्चता और भव्यता प्रदान करता है। मनुष्य को व्यापक जीवनभूमि पर खड़ा कर उसमें मनुष्य के प्रति—उसके भाव-अभाव, सुख-दुःख, वरण-मरण, अर्जन-विसर्जन के प्रति *पारदर्शी*

संवेदना जगाता है। अन्तर्शिक्षित तो वह करता ही है—शोषण और स्वार्थ-साधन की कुत्साओं से वह मानव मन और तन को उबारता भी है। सारे प्रबुद्ध रचनाकार इसी उद्देश्य के अनुकूल साहित्य को पोषण देने के लिए जब लिख रहे हों या लिखने के आकांक्षी हों तब वे प्रकृति के विधान के प्रतिकूल जाकर जीवन और जगत् और मानवता के सत्य को और उस सत्य को कायिक भराव देने वाली कल्पना को खण्ड-खण्ड कर नहीं देख सकते। राजनीति भले विभाजन का मुँह ताकती हो—साहित्य तो समन्वय और समाहार, सामंजस्य और शान्ति के चिर-स्पंदित स्थायी भाव को आकार, वाणी और ऊर्जा देता है और बिना किसी दल की सदस्यता के भी अपना धर्म निबाहता है।

हिन्दी कविता के पिछले दशकों में बिम्ब-विधान की सारी समृद्धता कथ्य की शक्ति, आत्मभोग की तीक्ष्ण सच्चाई, अर्थ की निगूढ़ता और मानवीय व्यापकता के बावजूद आस्वादन की समस्या सामने आयी है। कविता का लक्ष्य केवल रचयिता कवि जैसे प्रबुद्ध काव्यबोध-संपन्न आस्वादकों के लिए लिखा जाना है या चारों ओर फैले व्यापक सहानुभूतिवान् भावुक वर्ग के लिए जो समानधर्मा न हो कर भी इस रसानुभूति-व्यापार को—काव्य में अभिव्यक्त रागात्मक संवेदनों और संतुलनों का अनुभव करता है और प्रत्येक रसोक्ति की सार्थकता अपनी जिजीविषा के परिवेश में पाता है। कविता सूचना नहीं, शक्ति देती है—चाहे वह शक्ति आनन्द के माध्यम से मिले चाहे गम्भीर बौद्धिक ग्राह्यता के माध्यम से, चाहे चिन्तन के माध्यम से। कविता में दिनोंदिन बढ़ती जाती दुरूहता अक्सर गद्यात्मक ऊहा और नीरस अभिधा का रूप ले लेती है। उसी परिमाण में छीजती जाती भावगत सरलता, रचनागत सर्वजनसुलभता, प्रसाद गुण के भीतर से फूटती फैलती साधारणीकृत अर्थ-सज्जा कविता के जन-मानस से बढ़ते जाते अलगाव को अधिकाधिक बढ़ाती है। यहाँ स्पष्ट कर दूँ कि मैं किसी मंचीय वाचक-परम्परा की या उसे कायम रखने वाली और पनपाने वाली प्रक्रिया की बात नहीं कर रहा हूँ—यद्यपि यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि हमारे समाज-धर्मी देश में हजारों वर्ष से कविता सुनी जाती रही है और उसकी भव्य-से-भव्य परम्परा इसी वाचकता और श्रवणीयता के माध्यम से जन-संपोषण पाती रही है।

नयी प्रतिभाओं और विविधवर्णी प्रेरणा-सम्पन्न काव्य-सर्जकों का इस प्रकार सर्वग्राह्यता से कटते जाना हमारे काव्य-सृजन के लिए रुचिकर और शालीन नहीं रहा। जनसाधारण की बोध-वृत्ति से उनके असामंजस्य का ही यह परिणाम हुआ कि कवि-सम्मेलन अपनी परम्परागत गरिमा और साहित्यिक संस्कारशीलता खोकर सस्ते मनोरंजन और लतीफागोई या चुटकुलेबाजी के मंच बन कर रह गये।

यहाँ मैं उस अव्यवस्थित, असंप्रेषित, विशृंखलाओं और आन्तरिक असंबद्धताओं को अपने ही भीतर तक सिमटाकर रह जाने वाली, मन की कटानों में रमी, रचना और शिल्प के स्थान पर अरचना और अशिल्प की दावेदार अकविता की बात नहीं कर रहा हूँ जिसने काव्यत्व की चारुता या शब्दगत-अर्थगत सुषमा की कभी हिमायत नहीं की। मैं उस नयी कविता की बात कर रहा हूँ जो नयी कम है, कविता अधिक और जिसमें काव्यानुभवों को दोहराते ही न रह कर नये-नये भावसत्यों और काव्य-कथ्यों की व्यंजना भी होती है। काव्य में स्वीकृत छंदों के परित्याग का अर्थ अकाव्यत्व नहीं है। अकाव्यत्व वहाँ है जहाँ बाह्यार्थवाद पनपता है—तुकों या अतुकों के माध्यम से—और काव्य का अंतरंग आशय या तो सर्जित ही नहीं हो पाता या लहजेबाजी में बिखर कर रह जाता है। नयी कविता में जहाँ संवेदना के नये कोणों की प्रतिष्ठा और आत्म-चेतना के नये धरातलों का अन्वेषण है, जहाँ आवेग-संयमन या भावात्मक चयन में कवि को शब्दों के रूप और गति की पहचान है—उनके प्रयोग की दो टूक सफाई है वहाँ काव्यत्व की अभिनव चारुता असंदिग्ध है। मैं उसी नयी कविता की बात कर रहा हूँ जिसमें शब्दों का अर्थ, उनकी भावगत सच्चाई पहली बार खुलती-सी लगती है और लोक यथार्थ की सोंधी, सरस, सुरीली धरती और उसके भीतर अपार अबाध सर्जना शक्ति से मचलते हुए शब्दों और जन-बोलों का चयन उसे अर्थ की दोहरी दीप्ति प्रदान करता है।

ऐसी नयी और आकर्षक विधा के कवि जन-बोध और जनमन-रंजन से जुड़े न रह कर और शब्द-चयन की अर्थगत सजगता को स्वीकारते हुए भी इतने वैयक्तिक और निजी क्यों बनते गये कि संप्रेषण ही समस्या बन गयी। फलस्वरूप काव्य-मंच की न केवल दिनों-दिन क्षीण होती जाती वरन् विकृति की सरहदों को छूती वाचक-परम्परा की गलित रुग्णता एक चुनौती बन कर सामने आयी। इन सच्चे काव्यधर्मी कवियों की कविता अमूर्तन और अवास्तव से इतनी आक्रान्त होती गयी कि काव्य-रसिकों को मंच के कुरुचिवर्धक अकाव्यत्व में खो जाना पड़ा। एक ओर हास्य, व्यंग, विडंबन के नाम पर पग-पग पर श्रोताओं की सतही मनोरंजन की उत्सुक जन-सामूहिकता द्वारा और अवमूल्यित मानसिकता द्वारा मांगी जाने वाली हल्की-फुल्की—यहाँ तक कि अश्लील कविताओं का दौर कवि-सम्मेलन में चलता है और काव्य-पाठ करने वाले को 'गेयर' बदल-बदल कर विदूषक की भूमिका निभानी पड़ती है। दूसरी ओर गीतों के नाम पर या गेयता की पुनरावृत्ति करते हुए जो गाया-सुनाया जाता है वह शुद्ध कंठनली का प्रसाद ही प्रायः होता है। इस प्रकार का गीत भी माधुर्य कवि के कमजोर, लचर, चर्वण-चर्वित कथ्य को इतना

खोखला बना देता है कि उसका नाम-निशान नहीं रह जाता। उसमें अनभूति और अभिव्यक्ति की रंकता जैसे पग-पग पर पुकारती है—मै यहाँ हूँ—बिना तलाश के ही सामने आई जाती हूँ।

कवि-सम्मेलन के मंच के इस देशव्यापी सौष्ठव-विघटन का कारण आज के इन नये कवियों की कविता का असहज और अबोधगम्य होकर अधिकाधिक किताबी होते जाना है। हिन्दी का प्रचार और प्रसार करने में, सुरुचि साहित्यिक स्तरीयता और उच्च भावावेदनों के जगाने-बढ़ाने में कवि-सम्मेलन एक सशक्त सांस्कृतिक माध्यम है। पर मंचीय वाहवाही की हास्यास्पद और 'खूब जमे' की स्पर्धाओं के भीतर से नहीं। जिस नयी कविता को हम स्वयं पढ़ते और रीझते है या इसी भाव की पंक्तियों—

> असीरे कुजे कफ़स का ये हाल है अब तो
> खुद अपने ज़मजमे सुनता है खुद फड़कता है

में वर्णित बंदी पक्षी की तरह खुद ही लिखते-सुनते और उसकी ऐकान्तिक प्रशंसा पाते हैं, उसे सारे देश में फैले विशाल भावक श्रोता समाज की भाव-प्रवणता को भी छूना है। मेरा अपने इन समर्थ कवियों से यही आग्रह है कि आज आपका, आपके सहधर्मियो का दायित्व और घना हो उठा है। आपको साहित्यिक कविता और काव्यास्वादन के प्रति जनता की खोई हुई आस्था और अनुराग को वापस लाना है—उसकी गिरती जा रही रचनागत सुरुचि और काव्य-रस ग्राहकता की पुनः प्रतिष्ठा करनी है। अपनी चित्र भाषा की सरलता, सहजता को बनाये रख कर उसे नयी ऊर्जा प्रदान करना है जो आत्मप्रतिवादशील दुरूहताओं से नहीं, लोक-संस्कारों का समाहार करने और सँवारने से आयेगी। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाव-चित्रण ठोस और पार्थिव बिम्बनाओं—इसी ठोस जीवनधरा की सहज, अकृत्रिम प्रतीतियों द्वारा हो सकता है—केवल उसके भीतर वैशिष्ट्य की विच्छिन्नता नहीं, सहयोजन की आन्तरिक सुषमा-सूत्रता होनी चाहिए। कविता की केन्द्रानुभूति के साथ संश्लिष्ट बिम्ब-विधान अपनी अन्विति में ही साकार और सार्थक होता है। विचारणा के आवेग में लिखे गये खण्ड वाक्यों की शैली बिम्बों के बाद भी एक स्वादहीन असंबद्धता को ही जन्म देती है। किसी-न किसी जनरूप कल्पित अवधारणा के प्रति तो कवि को आस्थावान् रहना ही है—भले ही वह नये-से-नये प्रतीकों और अप्रस्तुतों का विधान रचे। मुझे विश्वास है, नयी कविता जो भाषा की प्रभविष्णुता और शब्दों के सही चयन के प्रति इतनी सजग-सक्षम है और काव्य-भाषा को अधिक-से-अधिक व्यंजकता देने का प्रेरणाबोध लेकर चलती है

यदि पुराने प्रतीकों की प्रत्यक्ष उज्ज्वल व्यंजना की प्राण-ऊष्मा और आलोक को भी अपनाती चले तो कथ्य नितान्त वैयक्तिक और दुरूह न रह कर साधारणीकृत हो जाय---लोकरस और लोक-प्राण हो जाय। श्रोताओं के मनों में तब वही रस-दशा या अनुभूति-दिग्धता अप्रयास और अविलम्ब जाग्रत हो।

एक मुश्किल और भी है। आज की कविता यह तो समझा देती है कि बिना उचित ढंग से जिये और जीना सीखे हम मरे जा रहे हैं, पर हमारी जीवनी शक्ति को जीने और जागने की प्रेरणा भी उसे देती है। सारी बौद्धिक विवेचना और तर्कों-वितर्कों के बाद भी कविता मानव की रसाकुल जिजीविषा का प्रतीक है और इसीलिए वह जीवन का सर्वोच्च सत्य भी है। जीवन के सारे हर्ष, विषाद, भाव-अभाव और भेद-अभेद इसी अदम्य वांछा को लेकर इसी के सीमाहीन वृत्त में फूटते हैं। इसीलिये काव्य में जहाँ इस जीवन-जगत्-व्यापी ऐषणा का तिरोभाव मिलता है वहाँ उसकी आस्वादन-क्षमता का ह्रास भी स्पष्ट हो जाता है। बौद्धिकता का कोई भी लिहाफ बड़े-से-बड़े विवेचन और विचारक के द्वारा ओढ़ाये जाने पर भी इस सत्य को नहीं मूँद पाता। जगत् को दुःखपरिणामी मानने वाला भी इस जीवन-ऐषणा को स्वीकार करता है। मृत्यु की निश्चेष्ट कामना या आत्मक्षय की सम्मोहक अभिव्यक्ति केवल क्षणिक सत्य है जो सारी रंगीनियों में मढ़े जाकर भी हमारे मृत्यु-भय की ही द्योतक है।

काव्य में आस्वादन की समस्या का एक हल यह भी है कि कविता जिसका सम्बन्ध प्रायः आज जीवन की अपेक्षा मृत्यु से अधिक है, मानव की जिजीविषा का प्रतीक और प्रमाण बन जाय। समाज की बड़ी-से-बड़ी जटिलता और जीवन का बड़े-से-बड़े संकट और विघटन भी इस प्रक्रिया में बाधक नहीं हो सकता, यदि कवि-कर्म का विवेक अकुंठित और अम्लान रहे। आत्मान्वेषण और जीवन-अहं के बोध के नाम पर सामाजिक-स्वतंत्रता, आर्थिक परिपूर्ति और मानवीय समानता की उस महान् तरंग को भी अस्वीकृत करने से काम न चलेगा जिसकी माँग दिनों दिन अधिकाधिक प्रबल और प्रचण्ड होती जाती है और जो नये भविष्य का द्वार खोल रही है।

आस्वादन और प्रेषणीयता की कठिनाई की चर्चा विस्तृत होती जा रही है। परन्तु प्रेषणीयता का संकट हिन्दी कविता में कुछ इस प्रकार छाया है कि काव्य-कथ्य और काव्याभिव्यक्ति दोनों अधिकाधिक क्षीण होते जाते एक विशेष भावक वर्ग तक ही सीमित होकर रह गये हैं। आखिर वह कैसा भोगा हुआ है जो भिगो नहीं सकता---वह कैसा सहा हुआ है जो आस्वादक में अपनी जैसी प्रतीति प्रत्युत्पन्न नहीं कर सकता और वह कैसा झेला हुआ है जो तदनुरूप भावना से भावक के मन को

दिग्ध नहीं कर सकता ? कविता रचना से अरचना, शिल्प से अशिल्प और कविता से अकविता की ओर जा कर भी बोध से अबोध की ओर तो न जाय। पुराने भावगत और रूपगत मूल्यों को छोड़कर भी—नये-नये संस्कार, काव्य-रूढ़ियों और बिम्ब-समूह को अपना कर भी—रागबन्ध का पूरा स्थान बौद्धिकता को देकर भी कविता अपने प्रभाव-धर्म से इतनी कटी-कटी खंडित और भग्नांश तो न नज़र आये कि इदम् से सश्लिष्ट करने वाली अपनी मूलभूत एकता—अपनी व्यापक अर्थवत्ता, अपनी समग्रता ही खो दे। अनुभूति का पृष्ठ सत्य, अंगभूत आशय यदि सभी ओर से विच्छिन्न और विलग होकर अपने ही भीतर अधिकाधिक डूबने और सिकुड़ने वाला, सर्वथा पृथक् घटक बन कर रह जायगा तो काव्य के प्रयोजन की सार्थकता और साभिप्रायता बड़े-से-बड़े नवीन के भीतर भी अपने को सर्जित न कर पायेगी। यदि काव्यानुभूति का सत्व हमारी समझ के कंठ के नीचे नहीं उतरेगा तो उसकी शक्ति और उसके स्वाद का पता कैसे चलेगा ?

साहित्य में आजकल एक प्रच्छन्न कुंठावाद—तरह-तरह की बौद्धिक रंगीनियों से मंडित हो कर भी भीतर-भीतर कुछ इस तरह छाया है कि यथार्थता और उसे सर्जित करने वाली अनुभूतिजन्य प्रक्रिया के सामाजिक और वैयक्तिक प्रयोजन पकड़ में ही नहीं आते। कुंठा भी एक बहती हुई भाव-स्थिति है जो मन में आती-जाती रहती है। स्वस्थ, सबल, भावनिष्ठ कवि-लेखक में भी कुंठाएँ रह सकतीं हैं। संसार की न जानेकितनीश्रेष्ठरचनायेंकुंठा कीमनोदशा में लिखी गयी हैं। ये कुंठाएँ उधार ली हुई नहीं हैं और न आयात की गयी हैं। ये रचनाकार की अपनी हैं, उसकी आत्मा की भौतिक-अभौतिक पुकारों और भटकनों की जीवित-जाग्रत प्रतीतियाँ हैं। कठिनाई वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ कुंठा को साहित्य-दर्शन के रूप में या जीवन के ध्येय-आश्रय के रूप में ग्रहण किया जाता है। लेखक यदि आस्थावान् नहीं होता तो कुंठा स्वयं लेखक का उपयोग करने लगती है और उसे आत्मक्षय का माध्यम बना कर छोड़ देती है। कुंठावाद में कुंठाएँ ही कवि-लेखक को जीने लगती है। यहाँ आस्था का अर्थ मै किसी अज्ञेय आध्यात्मिक अर्थ में नहीं कर रहा हूँ। यहाँ आस्था का अर्थ है अपने व्यक्तित्व की सार्थकता की खोज। कुंठा इसमें सहायक हो सकती है जिस प्रकार मिथ्या सत्य की पहचान और उपलब्धि में सहायक होती है। कुंठा विकास का मार्ग न खोजे, केवल अपने सीधे, सच्चे निकास का मार्ग तलाश करे तब भी चल सकता है क्योंकि वह कोई जीवित धारा नहीं है पर उसके नाम पर मनोवैज्ञानिकता का बोझ ढोना और साहित्य द्वारा ढुलवाना युग-सत्य और युगबोध के नाम पर उसे अंगीकार करना अपने परिवेश क्या किसी भी परिवेश के प्रति रागात्मक सम्बन्ध नहीं प्रकट करता। लेखन-कर्म की ईमानदारी

दोहरी होती है। एक तो अपनी यथार्थ अनुभूतियों के निष्कपट प्रकाशन के प्रति ईमानदारी, दूसरी और उससे बड़ी है युगमन:स्थिति और युग-अधर्म को सही युग-धर्म में परिणत करने की ईमानदारी। पहले प्रकार की ईमानदारी तो लेखक, निभा रहे हैं---अपनी रचनाओं में अपनी घुटन, संत्रास, विघटन और विफलताओं को अभिव्यक्त करके। पर लेखक केवल भावनाओं और अनुभूतियों का परचूनी नहीं है कि जो सामने आता जाय और माँगा जाय उसे बिना डण्डी मारते बेचता रहे। उसे वस्तुजगत् के आशय को पकड़ कर सामाजिक शिव के सदाशय के साथ उसका विनियोग भी करना है। कुठावाद विकेन्द्रित आस्थाओं के बीच जीवन और जगत् के सम्बन्धों का स्वरूप तलाश करने में--जीवन के श्रेष्ठतर मूल्यों के प्रति व्यक्ति को संवेदनशील बना कर उसे फिर समाज से जोड़ने में---व्यक्ति के लघु आशय को उससे छुड़वा कर समाज और जाति के वृहत्तर आशय से उसे संपृक्त करने में कभी सफल होते नहीं देखा गया।

शासन और राजनीति द्वारा साहित्यकार की बिक्री और उसके अधिकाधिक सत्ता का संरक्षण तलाश करने की बात भी बराबर सुनी जाती है और इस खरीदी के पीछे दलबद्ध योजना का अनुभव भी किया जाता है। इसी सन्दर्भ मे यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि सत्ता और संस्कृति का (जिसमें साहित्य-प्रणयन और उसका प्रकाशन भी आता है) क्या-कैसा सम्बन्ध हो? यदि एक ओर सत्ता की संरक्षण और संपोषण वृत्ति की प्रशंसा होती है और उसे शासकीय संवेदनशीलता का नाम दिया जाता है तो दूसरी ओर अवहेलित साहित्यकार वर्ग इसके पीछे साहित्य और साहित्यकारों के प्रति सत्ता की सीमित, अनुदार दृष्टि का अनुभव करते हैं और इसे व्यक्ति-विशेष या विचारधारा-विशेष द्वारा की गयी अवज्ञा और बेसरोकारी का परिचायक मानते हैं। मैं यहाँ किसी प्रकार के पूर्वाग्रह बिना जो कहना चाहता हूँ वह किसी-किसी को कटु लग कर भी उनकी पसन्द-नापसन्द का मोहताज नहीं है। यह बेबाक बयानी मेरे उन बन्धुओं को भी अरुचिकर न होनी चाहिये जो शासकीय होने के कारण उस प्रत्येक क्रिया-प्रक्रिया और प्रतिक्रिया को प्रदूषित मानते हैं जो स्थापना और व्यवस्था द्वारा प्रसूत होती है।

यदि शासन या राज्य सरकार द्वारा साहित्य-रचनाकारों, अध्येताओं और विविध बुद्धिजीवियों को संपोषण, आर्थिक वृत्तियाँ, पुरस्कार और मानद धन-राशियाँ दी जाती हैं तो यह उन पर किसी प्रकार का अहसान या उपकार नहीं है। यह करदाता द्वारा प्रदत्त धन का सही दिशा में उपयोग और व्यय है जिसकी परिधि और प्रसार अन्य जीवनोपयोगी और लोककल्याणकारी मदों और बजट की तरह उनके साथ समवेत रूप से बढ़ते रहना चाहिए। छपने-छपाने की समस्या आज

विकराल हो उठी है। प्रकाशन-व्यय आज इतना बढ़ गया है कि सामान्यतः पुस्तक का प्रकाश में आना संभव नहीं हो पाता। संयुक्त प्रकाशन, छोटी, कम खर्चीली पत्रिकाओं का 'मिनी' युग आया है। स्थापित लेखक भी जितना लिखते है वह सब-का-सब श्रेष्ठ पत्रिकाओं में छप नहीं पाता—श्रेष्ठ प्रकाशनों के रूप में निकल नहीं पाता। आज सहकारी प्रकाशन-संस्थाओं के निर्माण और उनके अधिक कर्मठता-पूर्ण फैलाव का समय आ गया है। कम अच्छे से सदैव यह आशा भी नहीं की जा सकती कि अधिक अच्छे के प्रकाशन के लिए वह अपने प्रकाशन का मोह छोड़ देगा। प्रकाशन की ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में यदि नये कवि-लेखकों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपनी नवोदित कृति को प्रकाश में लाने के लिए शासकीय सहायता या अनुदान मिलता है तो इसका स्वागत होना चाहिए। इस प्रकार की सरकारी मदद या प्रोत्साहनप्रद वृत्ति कवि-लेखकों की निर्भीक वाणी और स्वतंत्र भाव-विचार-प्रकाशन को शासन की मान्यताओं के अनुरूप सीमित या मर्यादित करने के लिए दी गयी कोई प्रलोभन-राशि या रिश्वत नहीं है—यह भी भली प्रकार समझा जाना चाहिए। प्रतिभा की रचनात्मक अभि-व्यक्ति और उसके प्रकाशन-मुद्रण के लिए स्थापना का यह लगाव और कलात्मक क्रियाकलाप स्वागत के योग्य है जो साहित्यिक उपलब्धि का संवाहक ही होगा।

इसी प्रकार समय-समय पर वरिष्ठता, रचनाकार की श्रेष्ठता, कृति की कालजयी जीवन-शक्ति के लिए दिये जाने वाले सम्मान भी साहित्य चेतना के बहाने राष्ट्रीय चेतना के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के ही उपकरण है। यह लोकरुचि लोकसाधना और लोकसाधकों की गरिमा की ही स्वीकारोक्ति है जिसे कोई भी स्वाधीन अभ्युदयशील राष्ट्र सहर्ष किया करता है। यदि अनुदान-व्यय को बढ़ाने की और आज की भीषण मँहगाई के अधिक अनुरूप बनाने की माँग मसि-जीवियों द्वारा की जाती है तो यह अपने सामाजिक और राष्ट्रीय अधिकार की ही मांग है जो न्याय की पुकार है—किसी अनुकम्पा की याचना नहीं। इसे साहित्य के मूल्यों के अकाल की कहानी मानना उचित न होगा। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि लेखक छोटा हो जाय और उसकी उपलब्धि, उसका हासिल उससे बड़ा, चलाने वाले हाथ छोटे और अक्षम चलने वाले हथियार उसके बड़े और सक्षम। धन, कीर्ति, राजकीय अलंकरण, शासनों द्वारा पुस्तकों की खरीदी के लाभांश का मोटापा प्रशंसकों की आढ़त—ये सब लेखक के लिए उपलक्ष्य हैं, लक्ष्य नहीं; साधन हैं साध्य नहीं। जब इन्हें जीना वह भूल जाता है, तब ये सब लेखक को ही जीने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि जीवन के विवेक को भूलकर, सम्मति के सत्यपरक, शिवता-संवाहक मूल्यों और प्रतिमानों के लिए संघर्ष करना भूलकर

लेखक--व्यवस्था, एवं पिछड़ी हुई स्थापना का ध्वनि विस्तारक बनने लगता है। यही नहीं, आज चारों ओर चल रही धन और प्रभाव की खुली लूट में वह बढ़-बढ़ कर हाथ मारता है। उसका मुखौटा चाहे सामाजिक क्रान्ति का हो, चाहे गांधीवादी आचार-चरित्रवाद का--वह खुल जाता है, वह बेनकाब हो जाता है।

पहले मैंने सिद्धान्त की जो बात कही है उसे लेकर किसी प्रकार का भ्रम न पैदा हो इसलिए अमल में आनेवाली और चारों ओर दिखाई पड़ने वाली सच्ची बात को कहते-कहते यदि मैं इस वास्तविकता--बयानी में कुछ कटु हो जाऊँ तो क्षमा प्रार्थी हूँ। राज्याश्रय पर निर्भर रहकर साहित्यिक अपने जीवनधर्मी स्वरूप को भूल जाते और प्रायः फिर न पहचानते ही देखा गया है। पर लेखन की सफलता राजधानियों की आरती उतारने में नहीं, उसकी लोक-संग्रह वृत्ति में है यह किसी भी दशा में--किसी भी आर्थिक परिवेश में लेखक को नहीं भूलना चाहिये। चाहे लेखक और लेखन की इस जनोन्मुखी निष्ठा को त्याग, तप और साधना के नाम से पुकारा जाय, चाहे कष्ट-सहन और अभाव-भोग के नाम से, पर यही है जो उसे अपने से बाहर के लोक के साथ अधिकाधिक सार्थक गहराई के साथ जोड़ती रहती है। तभी वह अपने आसपास के केवल सद्‌गुणों की ही तलाश नहीं करता--केवल अपने आर्थिक सहायक और संपोषक का गुणगान ही नहीं करता, वरन् अपने और उसके चारों ओर घिरी बुराइयों, उनसे जनमते और पनपते हादसों को भी ज्यादा अंतरंगता से पहचान लेता है। उसके लेखन में, उसकी रचना-प्रेरणा में अपने सरकारी मालिकों के प्रति केवल स्वीकृति के ही नहीं, उनकी साहित्यिक मान्यताओं के प्रति-विश्वास के ही नहीं, निजी कठोर जनबोध और जीवन-मूल्यों की भ्रष्टाचारी गिरावट के तीव्र भावानुभवों का बल भी होता है।

साहित्यकार की बिक्री और उसके खरीदे जाने की चर्चा चारों ओर चलती रहती है। सरकारी संरक्षण के बल पर अपनी विशिष्ट पहचान अलग बना लेने और सरकारी अफसरों की तरह एक सुविधाभोगी जमात में परिगणित और परिणत होते रहने की भावना आज रचनाकार को व्यक्तिनिष्ठ और आत्म-केन्द्रित बना रही है। वह भी उन महिमा-मंडितों की नियति अपनाना चाहता है जो विनय के आवरण में लिपटी अपनी दुनियादार ऋद्धि-सिद्धि का प्रदर्शन करते हैं और अपनी लघुता को निरंतर सृष्टि के वृहत्तम आशय से जोड़ने का, विश्वदर्शन की भागीदारी का दावा करते हैं। रचनाकार अभी कुछ ही दशकों पहले बीते उस अतीत को भूल गया है जब रचनाधर्मिता और पत्रकारिता दोनों स्वाधीनता-संग्राम का अंग थी और बुद्धिजीवी पत्रकार या इतर लेखन-कार्य करने वाला समाज में स्वतंत्रता-संग्राम-सेनानी की मान-मर्यादा पाता था--

भले खुलकर वह राष्ट्रीय आन्दोलन में काम न करता रहा हो या जेल में जाता रहा हो। आज तो इसका उल्टा ही लगता है। आज वह अधिकतर छोटा या बड़ा सरकारी अफसर समझा जाता है। साहित्य की दुनिया—चाहे कला की रचनात्मकता की हो चाहे पत्रकारिता की, मूल्यों की नीलामी में सर्वागिता के साथ चढ़ने के लिए सबसे आगे रहती है।

इस पूरे सन्दर्भ में मेरी धारणा स्पष्ट है। शासकीय संरक्षण-संपोषण बंधनों से मुक्ति तलाशने वाले और शोषणों की कुरूपता और कटुता से आहत लेखक-मन को यदि किसी प्रकार की बाध्यता प्रदान करते हैं और उसके स्वतंत्रताधर्मी लेखन पर किसी प्रकार की रोक लगाते हैं तो वे त्याज्य हैं। निर्भीकतापूर्वक भली प्रकार अपनी तरह अपना वैचारिक जीवन जीने के रास्ते मे जो भी प्रलोभन अवरोध बनकर आते हैं—मोल लेने वाली जो भी बंदिशें विचारणा, अनुभूति, लेखनाभिव्यक्ति को बाँधती है वे सब हमारे लिये असामाजिक तत्त्व की तरह गर्हित हैं और किसी भी दशा में उन्हें शिरोधार्य नही किया जा सकता। हम सरकारी नौकरी करते हैं—मेहनत की रोटी खाते-हैं और पूरी ईमानदारी परिश्रमशीलता के सहारे जीते है तो इसमें कोई-बुराई नहीं है। आखिर नौकरी हममें से अधिकांश का भाग्य है क्योंकि हममें से अधिकांश के पास स्वतत्र लेखन से जीवन चलाने वाली पैसे की और व्यावसायिक कौशल की पूँजी नही होती। पर एक ओर हम अपनी समस्त मान्यताओं के प्रति बिना किसी नौकरशाही दबाव के दृढ़तापूर्वक सच्चे रहें तो दूसरी ओर पदोन्नति के स्वप्न-भंग की किसी निराशा और विडम्बना को कभी अपने लेखन पर हावी न होने दें। अपने मानवीय लगाव-लिपटाव को इस प्रकार के अनुभव से यथासंभव, यथाशक्ति असंपृक्त रखें—भले दलबद्ध उपेक्षाओं और सर्वशक्तिमय प्रभुओं के तीक्ष्ण प्रहारों से प्रसूत यह अनुभव कितना भी पीड़ाजनक हो।

जो शासकीय पुरस्कार, वृत्ति या सम्मान किसी दलगत प्रतिबद्धता के फल-स्वरूप प्राप्त होता हो, और किसी विशेष प्रकार की विचार-विधा अपनाने पर ही मिलता हो, जिसे स्वाभाविक रूप से पाने के लिए साहित्यकार को स्वीकृति के लिए उठे अनेक हाथों में अपना हाथ मिलाना पड़ता हो वह साहित्यकार की स्वतंत्र आस्था और रचना-विषयक अवधारणा से कहाँ तक मेल खायेगा; यह भी विचार-णीय है। मुश्किल यहीं आकर पड़ती हैं जब कोई व्यक्ति या दल-विशेष शासकीय नीति पर उसके संस्कृति, साहित्य, शिक्षा-विभाग पर अपनी निजी अभिरुचि लादता है और साहित्य-सृजन की बहुवर्णी विविधता को समानरूप से रक्षणीय और वदान्य न मानकर अपने राजकीय प्रभाव से सारी रचना-सृष्टि को एक

विशेष प्रकार की निर्मिति और भावधारा की प्रगति का अनुवर्ती बनाना चाहता है। पर जैसा मैं पहले कह चुका हूँ और बार-बार कहता रहा हूँ कि जिस प्रकार साहित्य सब का है—सबके लिए उसका प्रणयन होता है उसी प्रकार शासन सब-का है। नयी-पुरानी, स्वच्छन्दतावादी, बुद्धिवादी, पारंपरिक, प्रयोगधर्मी कैसी भी किसी भी साहित्यधारा को उससे प्रोत्साहन और संरक्षण पाने का असंदिग्ध अधिकार है। साहित्य का गौरव, समृद्धि और संस्कारशीलता उसके इसी सौन्दर्य-प्राण वैविध्य को लेकर है।

साहित्यकार का सत्ता के साथ सम्बन्ध अंगीकरण का है, अस्वीकरण का नहीं। पर सत्ता जब प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न रूप से यह मानने लगती है कि आर्थिक मूल्य देकर किसी को भी खरीदा और पाला जा सकता है तब वह भूल करती है। जिसने साहित्य की आत्मा को जाना और पहचाना है वह राजसत्ता, निजी पूंजी-वाद की सत्ता या सामन्ती राजों-रजवाड़ों की सत्ता किसी के भी सम्मुख अपने को बचा जाना तो दूर रहा—एक सीमा के और उचित सीमा के बाद किसी के वशीभूत होना या उससे कुप्रभावित होना भी सहन न करेगा। इसलिए शासन-सत्ता द्वारा प्रदत्त सारे सम्मानों और पुरस्कारों को राष्ट्र की सर्वोपरि शक्ति करदात्री जनता द्वारा किया गया और दिया गया मान कर ही, उनके प्रति किसी प्रकार का विरोध भाव मन में न रखकर भी मैं यह कहने में कोई संकोच नहीं करूँगा कि अभय, आलोक और आत्मबल की जिस जीवन-धरती पर साहित्यकार चलता और पलता है वहाँ मान-सम्मान, गरिमा और सामाजिक आदर-सत्कार के मूल्य थोक क्या खुदरा भी नहीं बिकते। ये सब वहीं तक स्वीकार्य हैं जहाँ तक कि पुरस्कार पाने वाले की ऊँची चितवन और ऊँचे मस्तक में कोई झुकाव नहीं आता। साहित्यकार का धर्म बन चुका है—युगों पहले उसे यह जीवन-मंत्र मिल चुका है कि आदर्शों और विश्वासों के खोये मूल्य पाने के लिए चारों ओर चल रहे संघर्ष की भागीदारी द्वारा ही अपना सच्चा और सार्थक सम्मान पाया जा सकता है। उसका ज्ञान बुद्धि का प्रतिफलन होकर भी इस जीवन-विजयिनी आस्था से न कटा है, न कभी कटेगा।

शासन-सत्ता को यह भी न भूलना चाहिए कि वह साहित्य-साहित्य, रचना-रचना और कृतित्व-कृतित्व के बीच अपनी पूर्वाग्रही नीति और रुचिगत पक्षधरता द्वारा कोई भेद नहीं पैदा कर सकती। जो साहित्य श्रेष्ठ है, जनता के मानस को सुन्दर, सुखी और भव्यतर जीवन की ओर प्रेरित करता है और इस प्रकार एक मानव-कल्याणकारी-रूप-रस-गंध-प्राण धरातल की सृष्टि करता है वह सत्ता के तिरस्कार और बहिष्कार के बाद भी अपनी समस्त सुषमा और गरिमा के

साथ जीवित रहेगा--'शेक्सपियर' के शब्दों में राजनायकों, सम्राटों के स्वर्णिम और संगमरमरी स्मारकों से अधिक अक्षुण्ण रहेगा। कालजयी महिमा, शक्ति का औदात्य जिन कृतियों या कृतिकारों में है वे कभी शासकीय संरक्षण के मुखापेक्षी नहीं रहे—यह बात दूसरी है कि जब कभी सम्मान या पुरस्कार, अभिनंदन या अभ्यर्थना, कुछ भी उन्हें प्रदान किया गया तो उन्होंने उसे स्वाभिमानपूर्वक स्वीकार कर लिया हो। शासन-सत्ता इस प्रकार का अन्तर और अलगाव कर अपनी राजनैतिक मूल्यहीनता और दलबंदी की प्रवृत्ति का ही परिचय देती है। जो उसे खत्म करना चाहिए था वही वैषम्य जब शासन पैदा करता है तो कुछ ऐसा लगने लगता है जैसे रक्षक ही अरक्षक बन गया हो, पोषक-अपोषक बन गया हो, प्रतिपालक घालक बन गया हो। राजनैतिक सत्ता की यह चेष्टा कहीं उसके उस विशद, विशाल प्रयास का ही तो भाग नहीं है जो आम जनता की देशव्यापी मूलभूत एकता को खंडित कर अपना प्रभाव और शासन बनाये रखने के लिए चल रहा है ?

साहित्यकार और उसके निर्भीक लेखन की स्वतंत्रता का प्रश्न इसी प्रसग में आपसे आप उठता है। आपातकाल में जो गयी हमारी जिंदगी ने इस सर्वोपरि मानव-सत्य को रेखांकित किया है । साथ ही उस कालखण्ड की अच्छाइयों-बुराइयों पर भी जी खोलकर चर्चा हुई है। मनकालीन यथार्थता और सच्चाई को जानने-समझने और उसे बदलने के इस सारे द्वन्द्वात्मक प्रयोग में बुद्धिजीवियों के आत्मतुष्ट औदासीन्य पर भी खुली बहसें हुई हैं। साहित्यकार की लेखनगत, रचनागत स्वाधीनता के समर्थन और किसी भी प्रकार के एकाधिकार से उत्पन्न फाशिस्ट निजाम के विरोध में हिन्दी कवि-लेखक-विचारक पीछे नहीं है पर किसी प्रकार की संकीर्णतावादी, क्षेत्रीयतावादी, विघटनकारी और अराजकतामूलक शक्तियों का उभरना किसी भी साहित्य-चेतना को सह्य नहीं होगा, क्योंकि यह देश और उसकी राष्ट्रीय प्रगति के लिए घातक है। साहित्यकार की सारी स्वतत्रता निर्माण के इसी दिशा-बोध और रचनात्मक सकल्प से प्रतिबद्ध है। जब खुले आम हिंसा और अराजकता की सीमा तक फैली अनुशासनहीनता द्वारा बलपूर्वक राज्यतंत्र को हथियाकर एक प्रकार के फौजी आधिपत्यवाद का विकल्प ढूँढ़ा और फैलाया जाय तब साहित्यकार को उस विषम स्थिति में शक्ति, सुरक्षा और व्यवस्था को बनाये रखने वाली प्रवृत्तियों और शक्तियों को बल पहुँचाना ही होगा। साहित्यकार का जागृत प्रबुद्ध विवेक ही उसे आत्म-नियंत्रण और आत्मानुशासन की प्रेरणा देगा। वह कभी उस दूषित सामाजिकता और दुष्ट मानसिकता को प्रोत्साहन न देगा जो हिंसा, तोड़-फोड़, लूटमार, हत्या और कानून को अपने हाथ में

लेकर हर प्रकार की असुरक्षा और निरंकुश संत्रास का वातावरण बनाये रखने को ही क्रान्तिकारी प्रजातांत्रिक कदम मानती है और रक्तपात में विश्वास रखती है। यदि साहित्य की स्वाधीनता के नाम पर इस उत्तेजना और तनाव को बौद्धिक संरक्षण और पैरवी मिलती है तो उसका प्रतिबंधित किया जाना देश और समाज के लिए हितकर ही होगा। यह बात किसी भी दशा में न भूली जानी चाहिए कि देश के किसी कोने में यदि राष्ट्रीय भावना या आजादी की आकांक्षा पर कहीं कोई आघात होता है तो सारी भारतीय जनता चोट से तिलमिला उठती है। देश की अखण्डता, भारत-व्यापी संवेदना सब कुछ सहने और भोग लेने के बाद भी ज्यों की त्यों है।

लेखन की स्वाधीनता के नाम मिली हुई और चल रही उस असंस्कारी ही नहीं खतरनाक, अशालीनता, अश्लीलता और नग्नता की बात भी मुझे कहनी है जो आज हमारे लेखन-जगत् को बुरी तरह आक्रान्त किये है। साहित्य में किसी भी प्रकार की शाकाहारी शुद्धता या निरामिषता की बात मेरे जैसे व्यक्ति के द्वारा यहाँ नहीं कही जा रही है जिसने अपने लेखन में कवि-कल्पना की अपेक्षा जीवन के सुन्दर और असुन्दर यथार्थों की अभिव्यक्ति ही प्रायः की है और साहित्य को भौतिक और भौमिक लगाव, सरोकार ही दिये हैं। पर जिस अनुपात में, जिस तेजी के साथ यथार्थवाद, समकालीन जीवन-कुरूपता, यौन स्वच्छंदता के नाम पर अरुचिकर और अभद्र वास्तविक चित्रण हमारे साहित्य में किया जा रहा है, उससे साहित्य और उसकी शिवता के प्रति निष्ठा रखने वालों को चिन्ता होना स्वाभाविक है। कहा जा सकता है कि आज के जटिल, नाना प्रकार की असंगतियों और अनीति से भरे युग में भद्रता और सुरुचि की परिभाषाएँ जब बदल चुकी हों तब इस प्रकार की उपवासी सात्विकता की बात करना पिछड़ेपन का ही द्योतक है। पर यहाँ किसी प्रकार की संस्कारगत नैतिकता और सनातन रक्त की बात न कर और नर-नारी जीवन की सार्थकता, सफलता, पारस्परिक परिपूर्ति की कामना, जीवन की इन्द्रियगम्य आवश्यकता और तृप्ति के दृष्टिकोण से, उसकी चरितार्थता से भली-भाँति अवगत होते हुए भी मैं जब साहित्य-रचनाधर्मी को अपराध, शीलहरण, हत्या और नरहिंसक अत्याचारों की मात्र सनसनीखेज पैदावार में लगा देखता हूँ तो पीड़ा होती है। क्या यथार्थवाद का परिवर्तित और युगानुरूप निर्मित रूप यही है कि सारा का सारा यथार्थ और उसके सारे सर्जनामूल्य यौन आवेदनों और उत्तेजनों तक ही सीमित रह जायं?

इस साहित्यिक भ्रष्टाचार का कितना दूषित प्रभाव बनने के क्रम में जी रही तरुण पीढ़ी पर पड़ता है इसकी कल्पना भली प्रकार की जा सकती है। जीवन

में कितनी कष्टप्रद, चिन्ताजनक, अदम्य संघर्षमय जो अन्य बातें हैं उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। हम चारों ओर व्याप्त भ्रष्टाचार की शिकायत करते हैं, भ्रष्ट राजनीति, भ्रष्ट अफसरशाही, भ्रष्ट चुनावी तालमेल, भ्रष्ट महाजनी व्यवस्था, भ्रष्ट शिक्षा-प्रणाली और उसे चलाने वाली संस्थाबाजी सभी के प्रति आक्रोश अनुभव कर आन्दोलन करते हैं—विद्रोह का नारा लगाते हैं। राज्यों द्वारा चलाये जा रहे सतर्कता आयोग हैं जो प्रशासनिक भ्रष्टाचार को बेनकाब करने के उद्देश्य से बनाये गये हैं। पर साहित्य-जगत् और लेखन के क्षेत्र में चल रही इस कुत्सित रचनाशीलता के प्रति इतने उदासीन हम क्यों है? उसके विरुद्ध उसी भाँति आन्दोलन क्यों नहीं करते? लेखकीय स्वाधीनता की यह गलत भावना है जो हमारे जीवन को एक सस्ता उत्तेजक उपन्यास बनाये हुए है और हमारा समाज उसी में जिये जा रहा है। जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में स्वाधीनता के साथ कतिपय कर्तव्यों की पूर्वनिहिति स्वीकार की गयी है उसी प्रकार साहित्यकार की स्वाधीनता भी कोई समाज-निरपेक्ष और जनहित से असंपृक्त, अपने में ही सीमित तथ्य नहीं है। जीवन मात्र विज्ञापन या 'कार्नीवाल' नहीं है जहाँ इस प्रकार की वसूली की जाय।

मैं जानता हूँ साहित्य में, विशेषकर कथा-जगत् में व्याप्त इस 'पोर्नोग्राफी' के सम्बन्ध में कुछ भी आलोचना हमारी अभ्युदयशील पीढ़ी के द्वारा नापसन्द की जायगी। मैं मानता हूँ दुनिया की परिस्थितियाँ आज जीवन की राह बन्द किये हैं और साहित्य मे अब किसी मुँदे-मुँदेपन से काम नहीं चल सकता। नर-नारी के परस्पर आकर्षण और दाम्पत्य-सम्बन्ध को दोनों के सम्मिलित कार्यक्षेत्र में आ जाने के कारण, निरन्तर सम्पर्क और सहयोग में बने रहने के कारण केवल सामाजिक कर्त्तव्य और विवाह-विधान-बंधन के रूप में देखा भी नहीं जा सकता। आधुनिक परिस्थिति-बोध ने नर-नारी के विचार, स्वभाव और व्यवहार में भी परिवर्तन घटित किया है। आर्थिक क्षेत्र में पुरुष की प्रतिद्वन्द्विता और प्रतियोगिता में आकर नारी के शील और चरित्र की चारुता का स्वरूप भी अब पहले जैसा नहीं रहा। पर इन सबके निरूपण और चित्रण में तो और भी अधिक कलाकार-जनोचित संयम और कौशल की आवश्यकता है। जहाँ जीवन और मानस की इतनी सूक्ष्म प्रक्रियाओं का अनुशीलन और आकलन हो रहा हो, तर्क और अनुभूति से मानव-मानव के नूतन सम्बन्धों की तलाश की जा रही हो वहाँ मात्र स्थूल, पोर्नोग्राफी, केवल शारीरिक स्वार्थ-व्यापारों तक ही बँधकर रह जाने वाली शैली कहाँ तक इस सर्वथा नये, समाज-वैज्ञानिक और 'डायनेमिक' कथ्य के साथ न्याय कर पायेगी?

हिन्दी साहित्य और दूसरी भारतीय भाषाओं के साहित्य के साथ निकटतम सम्बन्ध की बात बराबर कही जाती है। हिन्दी के रचनाकार और पाठक दोनों का मानस-क्षितिज इस दिशा में कितना उदार है यह आप जैसे साहित्यानुरागियों से छिपा नहीं है। मैं यहाँ और भाषाओं की बात न कहकर उर्दू की ही बात लेता हूँ जो हिन्दी की एक शैली मानी जाकर भी अपनी पृथक् परम्परा, प्रभाव और सौन्दर्य लिये है। हिन्दी भाषी उर्दू कविता और गद्य दोनों को जिस आत्मीयता और आनन्द के साथ पढ़ते हैं--हिन्दी के कवि-लेखक जिस प्रकार उर्दू के कवि लेखकों को अपनाते हैं, आदर-मान देते हैं वैसा उर्दू की दुनिया में हिन्दीवालों के प्रति होते नहीं दिखता। इसी वेदना से व्यग्र एक प्रसिद्ध उर्दू कवि से, उसके स्वागत में आयोजित समारोह में आमंत्रित एक वरिष्ठ हिन्दी कवि ने कहा था—"हम आपको इतना पढ़ते हैं, आप भी तो हमें पढ़िये। हम भी खून-पसीना एक करके लिखते हैं।" हमारे कवि बन्धु के इस कथन में हम सबकी भावना बोलती है। हिन्दी में जिस बड़ी संख्या में उर्दू कवियों के दीवान, कथा-संग्रह, उपन्यासादि छप-छप कर बिकते हैं, हिन्दी लेखन का उसका एक लघु अंश भी उर्दू में न छपता है—न बिकता है। यहाँ उन लेखकों की बात नहीं की जा रही है जो मूलतः उर्दू के ही हैं और उर्दू से प्रेमचन्द, सुदर्शन की तरह हिन्दी में आये हैं। जो हिन्दी के—नितान्त हिन्दी के हैं उनकी बात मैं कर रहा हूँ। निराला, पन्त और मैथिलीशरण की कितनी काव्य-कृतियाँ उर्दू में छपी हैं और पढ़ी जाती हैं? भगवतीचरण वर्मा, यशपाल और अमृतलाल नागर जैसे साफ सुथरी सर्वजन सुलभ भाषा लिखने वालों की कितनी रचनाएँ—उपन्यास, कहानी आदि उर्दू में छपे हैं, मैं नहीं जानता। शरद जोशी, रवीन्द्र त्यागी जैसे व्यंगकारों को उर्दू जगत् में कितने लोग जानते हैं, जबकि सामान्य -से-सामान्य कोटि का व्यंग लिखने वाले उर्दू-लेखक की कृतियाँ भी हिन्दी में उपलब्ध हैं। हिन्दी में उर्दू और इतर प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य पूरी तरह पढ़ा जाता है। बंगला के अनेक लेखकों को हिन्दी में अनूदित उनकी पुस्तकों से जो रायल्टी मिलती है वह बंगला संस्करणों की बिक्री से मिली रायल्टी के आसपास ही जाती होगी।

हिन्दी राष्ट्रभाषा और देशभाषा होकर अपना कर्तव्य पालन कर रही है और सभी भगिनी भाषाओं को हृदय से अपनाये है। यह भी सच है कि आज देशव्यापी प्रचार और प्रसार पाने के लिये किसी भी राज्य की भाषा में लिखी गयी कृति को हिन्दी में अनूदित होना पड़ता है जिस प्रकार पराधीन भारत मे उसे इस हेतु अपने अंग्रेजी अनुवाद पर निर्भर रहना पड़ता था। पर हिन्दी कवि-लेखकों की यह स्थिति तो न होनी चाहिए कि उसकी रचनाओं में इतर भाषा-भाषियों

द्वारा कोई रुचि न ली जाय। बादल सरकार या विजय तेंदुलकर का कोई भी नया नाटक निकलते ही हिन्दी में आ जाता है। पर सुरेन्द्र वर्मा या मणि मधुकर जैसे हिन्दी नाटककारों की कितनी नाट्य रचनाओं का बगला या मराठी मे अनुवाद हुआ है? उर्दू का सामान्य-से-सामान्य उपन्यास भी हिन्दी में पढ़ने को मिलता है, पर क्या 'झूठा सच' या 'बूद और समुद्र' उर्दू में रूपान्तरित हुए है? गुजराती और मराठी मे ही हिन्दी की कितनी श्रेष्ठ कृतियाँ अनूदित और मुद्रित हुई है? महादेवी के अनूठे गद्य के अनुवाद कितनी प्रादेशिक भाषाओं में हुए है? यहाँ भारत सरकार द्वारा संचालित साहित्य-अकादमी और नेशनल बुक ट्रस्ट जैसे इतर प्रकाशन-प्रतिष्ठानों की बात मैं नहीं कर रहा हूँ जो भाषायी प्रगति का उद्देश्य लेकर चलते है और साहित्य के पारस्परिक अनूदित आदान-प्रदान द्वारा इस दिशा में काम कर रहे हैं---भले उनकी अपनी चयन-दृष्टि रचना की श्रेष्ठता के अतिरिक्त इतर प्रभाओं में भी प्रेरित होती हो। मैं तो खुले समाज और जन-जगत् की बात करता हूँ जो सच्चे अर्थ में लोक-दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते है और लोक-प्रवृत्ति, लोक-अभिरुचि के परिचायक होते हैं। इन भाषाओं के बोलने, पढ़ने वालों के भीतर हिन्दी साहित्य के प्रति जो राष्ट्र भाषा मे रचित है ऐसी अपनत्व की भावना होनी चाहिए वैसी क्या जागी है? ऐसे दरजनों नये और पुराने साहित्यकार हिन्दी में हैं जिनकी कृतियाँ अनूदित होकर किसी भी---अधिक-से-अधिक समृद्धि और जीवन्त-सौष्ठव का दावा करने वाली, आधुनिकतम भाव-प्रवणता और बोध-बुद्धि मंडित प्रादेशिक भाषा का भण्डार भर सकती हैं। पहले की बातें मैं नही करता केवल पिछले चालीस वर्षो में ही हिन्दी मे जो लिखा गया है वह सबका सब ऐसा तो नहीं है जो अपनी पहचान अलग न रखता हो और जीवन-ऊर्जा में किसी से पीछे हो। पर ऐसे रचनाकारों में से कितने अपने पड़ोसी प्रान्त की साहित्य-दृष्टि मे आकर अपनी कोई छबि बना पाये हैं। बच्चन, रामकुमार वर्मा, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जैनेन्द्र, विष्णु प्रभाकर, राधाकृष्ण, शिवमंगल सिंह 'सुमन', कमलेश्वर जैसे सशक्त और लोकप्रिय साहित्यकार अन्यत्र कितने हैं?

हिन्दी रचनाकारों से अक्सर जनता के निकट आने और आमफहम भाषा लिखने को कहा जाता है। शायद हिन्दी की श्रेष्ठ कृतियों का उर्दू में या अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित किये जाने में इस तथाकथित कठिनाई को सर्व-प्रमुख कारण बताया जाय। प्रत्येक भाषा का अपना स्वभाव, सौष्ठव, संस्कार होता है---उसकी अपनी लोच और लय होती है और इनसे भी आगे बढ़कर अपना अर्थ-गौरव होता है जो उससे किसी प्रकार अलग नही किया जा सकता। पानी की बूँद का वैज्ञानिक विश्लेषण भले हो जाय पर भाषा की मौक्तिक बूँद के

साथ इस प्रकार का कोई प्रयोग संभव नहीं। अभिव्यक्ति और उसे मूर्तिमान् करने वाली भाषा दोनों को सामाजिक क्रिया मानते हुए भी यही कहना पड़ता है कि उसे कथ्य की गरिमा, संश्लिष्ट चित्रात्मकता, शिल्पगत रुचिरता और संवेदना की जीवन्तता के अनुरूप होना ही पड़ेगा। आखिर ग़ालिब, इकबाल, जोश और फ़ैज की रचनाओं की फारसी-बहुल तत्समता को बोधगम्य बनाने के लिये प्रचुर संख्या और मात्रा में पाद-टिप्पणियाँ देनी ही पड़ती हैं। संस्कृतनिष्ठ भाषा लिखने वाले हिन्दी कवियों का खड़ीबोली काव्य प्रसाद, निराला, महादेवी का या छायावादोत्तर कवियों का भी तो इसी प्रकार की अर्थस्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। आज तो हिन्दी में गद्य-पद्य दोनों में जो लिखा जा रहा है अधिकांश उसकी भाषा धुलते-धुलते और ढलते-ढलते इतनी साफ, इतनी पारदर्शी हो गयी है कि उसकी सारी तत्समता प्रसादमय बन गयी है। भाषा का कथ्य के साथ-विषयवस्तु के साथ जो अंगीकृत आत्मीय सम्बन्ध होता है---जल वीचि सम तात्विक एकता होती है, उसे देखते हुए भाषा की कठिनता क्या और सरलता क्या? यह तो लेखक का ध्यान है जो रचना को भव्य-से-भव्य भावभूमि पर ले जाता है और अधिकाधिक सार्थक पर नित्य नये अछूते बिम्बों के लिये वैसी ही बिम्बवती, सार्थक, स्वात्म को विश्वात्म तक पहुँचाने वाली भाषा की नियोजना स्वतः होती चलती है।

नीट्शे ने काफी पहले घोषित कर दिया था कि ईश्वर मर चुका है। दो दशक लगभग पहले 'डेनियल बेल' ने कह दिया कि आदर्श की विचारधारा (आइडियालोजी) का अन्त हो गया है। पर ये दोनों मरने का नाम नहीं ले रहे हैं। तीसरी बड़ी शक्ति परम्परा है जिसके दिवंगत होने की धूम प्रश्नवाचक बनी आज की क्रान्तिकारी 'टेक्नालाजी' की दुनिया में चारों ओर मची है जबकि मानवीय भविष्य एक वक्र तनाव का सहन-केन्द्र बना हुआ है। पर साहित्य और संस्कृति का घना सम्बन्ध जैसे-जैसे समझ में आता है वैसे-वैसे परम्परा में निहित अदम्य प्राण-शक्ति का आभास भी दृढ़ होता जाता है। सभी प्रकार की आचार-भूमियों और विचार-स्रोतों की परिणति परम्परा में ही आकर होती है। परम्परा और परम्परावाद दो अलग चीजें हैं। परम्परावाद जीवन को (फलस्वरूप साहित्य को) उसकी वर्तमान मंजिल पर स्थिर कर देता है---उसे वहीं-का-वहीं रोककर आगे की प्रगति की संभावनाओं को समाप्त कर देता है। परम्परा कालानुक्रम में जो बीत गया है उसके सार-तत्व को, बीते युग के विकास की प्रवाहवानता के ज्ञान को लेकर चलती है और इस प्रकार वर्तमान और भविष्य को निरूपित करने वाली विशिष्ट ऐतिहासिक चेतना का साथ नहीं छोड़ती। यह चेतना रूढ़ि की शव-

साधना नहीं करती वरन् राष्ट्र की संचित सांस्कृतिक अनुभूतियों और उपलब्धियों का प्राणरस खींच कर युग की बढ़ती-फैलती भौतिक आवश्यकताओं के अनुरूप जीवित आदर्शों का निर्माण करती है।

साहित्य के मूल्यांकन के लिए ही नहीं उसके रसास्वादन के लिए भी परम्परा की तीव्र चेतना आवश्यक है। साहित्य को सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्मिक (भले ही समाज की अवधारणा और परिकल्पना में, इतिहास की व्याख्या और धर्म की मूल्यगत नैतिक बाँछा में मतभेद हों) आचार-भूमि से अलग करके देखा और समझा नहीं जा सकता। यही अन्तर्भूत तीक्ष्ण चेतना हमारे समस्त ज्ञान और अन्तस्प्रेरणा का स्रोत है। मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा ही, चाहे वह कितनी भी रसाकुल हो, कितनी भी सोद्देश्य हो, प्रमुख और प्राणवती परम्परा है। साहित्य के सारे सौन्दर्यात्मक प्रभाव, जीवन की सारी व्याख्या और आस्था इसी परम्परा के प्रतिफलन हैं। परम्परा साहित्य की विभिन्न, बहुवर्णी प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं में अन्तःसलिला की तरह बहती रचनात्मक एकता को पहचनवाती ही नहीं, चरितार्थ भी करती है—वही समस्त लेखन की ऊर्जा है, वही मानस की निवृत्ति-मूलक या प्रवृत्ति-मूलक चारुता की अन्तस्-दीप्ति है जो रस की संज्ञा पाती है।

परम्परावाद, परम्परा का वाह्यार्थ है जो बदलता रहता है और जिसका उसके अंतरंग आशय के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। परम्परावाद के मरने या त्यक्त केंचुल की तरह निष्प्राण और निष्प्रयोजन हो जाने की बात ठीक है और प्रत्येक साहित्य-काल-खण्ड में घटित होती देखी गयी है। इसी के परिणामस्वरूप परम्परा के लोकोन्मुख क्रान्तिकारी अंतस्थ की खोज की जाती है और उसकी उस अन्तर्शक्ति को तलाशा जाता है जो लगातार नूतन होने में समर्थ है और जो कालगति में कभी समकालीनता के पीछे नहीं पड़ती। उसमें ध्यान और कर्म की तत्पर संप्रश्नता, संतुलन, समत्व की छानबीन—जीवन में उपस्थित द्वन्द्व और विरोध के बावजूद परिवर्तनशीलता का एक भीतरी गुण मिलता है। एक के बाद एक नये अनुभव आते हैं, एक के बाद एक नया विचार, एक नया विश्वास फूटता है—विकास और पतन की होनव्यताएँ गुजरती हैं। पर परम्परा की विकासशील प्राणधारा के साथ ये सब समन्वित होते रहते हैं। परम्परा की यह कालव्यापिनी, कालनिरूपिणी प्रक्रिया कभी रुकती नहीं।

आज साहित्य की सब से बड़ी समस्या, आवश्यकता या संभाव्यता जो भी कहिये परम्परा के इसी जनोन्मुख रूप को आत्मसात् करने और रूपायित करने की है। न कोई वैचारिक संकट है और न किसी प्रकार का गत्यावरोध। रचनाधर्म की आज यही आन्तरिक चुनौती है जिससे कतरा कर निकला नहीं जा सकता।

सारे क्रान्तिकारी तत्त्व इसी आह्वान और अवतरण से जुड़े है। इसके लिए चारों ओर व्याप्त उत्पीड़न, प्रच्छन्न या खुले आर्थिक शोषण जातिगत अत्याचार और पूँजीवादी अनीतिजन्य मुनाफाखोरी के रूप में चल रही खुली लूट के साथ रचना का सीधा, सवेदनशील सम्बन्ध बनना चाहिए। कोई भी परम्परा जब नया फैलाव, नयी संगति, नया युग-बोध, यथार्थ का नया मोड़ ग्रहण करती है तो वह अपना ही अग्रनिर्माण करती है और नयी भौतिकता के साथ नयी नैतिकता को भी निर्मित करती है। छायावादी-युग में एक तीक्ष्ण भावात्मक तन्मयता साहित्य का प्राण समझी जाती थी। व्यक्तिगत विशिष्टताओं, विलक्षणताओं और अनुभूतियों के आभिजात्य के व्यक्तीकरण के उस रेशमी युग में जब समस्याओं का समाधान व्यक्ति में ढूँढ़ा जाता था तो प्रेमचन्द ने साहित्य में निजी भावनाओं के स्थान पर सामाजिक आवश्यकताओं का निरूपण किया। सैकड़ों वर्षों से चली आ रही परम्परा को उन्होंने सामूहिक और सामाजिक चेतना की ओर मोड़ दिया। जिस सामाजिक सघर्ष की झलक साहित्य में यदा-कदा ही मिलती थी उसे उन्होंने लेखन का आदर्श, युग का धर्म बना दिया।

पराधीन भारत और पैंतीस वर्ष बाद आज आजाद देश की परिस्थितियाँ भिन्न हैं और बराबर नयी-नयी पैदा हो रही हैं। जनता में जो आत्मबल, आत्मविश्वास और आत्मगौरव जागृत और परिपुष्ट हुआ है वह गुलाम कालखण्ड में संभव न था। अपने अधिकारों की ऐसी तीव्र और तीक्ष्ण चेतना मनुष्यत्व की प्राणशक्ति और जीवन की इच्छा के रूप में ऐसी उद्दामगति के साथ तब व्यक्त और मुखर न हो पाती थी। इसलिए आज साहित्य की बंधनहीनता की, आज़ाद को आज़ाद समझने को और तदनुरूप परिस्थितियों की सृष्टि करने की अकुलाहट, कलामय शक्ति और नये-नये रचनाशिल्प के साथ अभिव्यक्त होगी ही। यह परम्परा नहीं है—अपनी सदा की जानी, जियी और सुख-दुःख की संगिनी जीवनदात्री परम्परा ही है जो नवसृजन की प्रेरणा और वैसी ही निर्बन्ध शक्ति लेकर सुख-सौन्दर्य और कला को जन्म दे रही है—रम्यता और यथार्थता की नयी दुनियाँ बसा रही है। हमें इसे परम्परा का लोकोन्मुख रूप ही मानकर इस अभिनव जीवन-तरंग को स्वीकार करना है। अपरम्परा तो वहाँ है जहाँ जनोन्मुखता से कटकर नौकरशाही संस्कारों की पूजा पनपती है और स्वाधीन को स्वाधीन समझना अपराध हो जाता है। अपरम्परा कथ्य को—जीवनानुभूति को अधिकाधिक निर्भीक बनाने में नहीं, उसे पूरे-के-पूरे आवेग और आघात के साथ कहने में नहीं, सम्पन्नों और विपन्नों के बीच बँटी हुई धरती और कटे हुए आकाश की हिमायत करने में है—कुछ की सुख-सुविधा के लए स्वाधीनता के पूरे हरे-भरे जंगल को काटने वाले और सत्ता के घने साये के

अँधेरे मे बेचने वालों की ताजीम में है। हमारी परम्परा चरित्र-बल, प्रतिरोध और प्रतिकार की है, स्वीकृति और शिरोधार्यता के रंग-बिरंगे सभा-कक्ष का 'फरनीचर' बन कर जीने की नहीं। साहित्य में उसके पूर्व-स्वीकृत रूप के प्रति, उसके अंतरंग और बहिरंग के प्रति जहाँ भी अस्वीकार और विरोध का स्वर मिले वहाँ हमें बिना किसी मतवाद के घेरे में पड़े उसे परम्परा का नया आयाम ही मानना चाहिए जिसमें वैज्ञानिक जैसी बुद्धि-व्याख्या, दार्शनिक जैसी सुदूर-व्यापिनी अन्तर्दृष्टि और कलाकारोचित तीव्र भावावेग जीवन के मार्मिक और स्थायी स्वरूपों के साथ आता जा रहा है। साहित्य सदैव अपनी अनुभूतियों से लाभ उठाते हुए उनका बौद्धीकरण करता है और अनुभूतियों के इस नित्य नये विवेकीकरण में ही साहित्य की सार्थकता है। यह सार्थकता केवल पुराने की नहीं है---केवल सपनों, रूढ़ विश्वासों, पौराणिक प्रतीतियों और तरल, कोमल, करुण आँसुओं की वर्णच्छटा से मँज-मँज कर भी अपनी चमक कायम न रख पाती भावनाओं की नहीं है। यह सार्थकता उस नये की भी है जो सांस्कृतिक जड़ों के सत्व का---जीवन की ऊर्जा का रस-तत्त्व पाने और अपनी रचना द्वारा---अपनी बदली हुई भाव-प्रवणता द्वारा उसे संप्रेषित करने में भावना और शिल्प की निष्कपटता के साथ सृजनरत है।

व्यवस्था के प्रति एक कठोर आलोचनात्मक दृष्टिकोण किसी भी जागरूक और समय की नाड़ी की गति पहचानने के लिए तत्पर रचनाकार की नियति हुआ करती है। उसके मन का एक स्वप्न होता है---एक आदर्श-चित्र होता है, सम्पूर्ति और सौन्दर्य की समग्रता की एक कल्पना होती है जो ईमान की वेदना में आप-से-आप रच जाती है। अंग्रेज साम्राज्य अपने पीछे परस्पर विरोधी परिस्थितियों के रूप में अनेक औलाद छोड़ गया। जिन्होंने अपने राष्ट्रीय नेताओं की जुझारू प्रतीतियों के कारण राष्ट्रीय पूँजीवाद की प्रभुता और सत्ता के दर्प के भीतर से भी एक नये समाज की रूप-रेखा के उभरने की आशा बाँधी थी वे निराश हो चले। जीवन में सब को समान अवसर और आधार मिलने की बात---सामाजिक न्याय के प्रति आसक्ति और उसके लिये संघर्ष की बात तो नौकरशाही तेवरों में खो ही गयी--चारों ओर विद्रूप, विसंगति, विभेद और चारित्रिक विभीषिकाएँ फूट-फूट कर फैलने लगीं। स्वातंत्र्योत्तर-युग को हम बिना लाग लपेट के भ्रष्टाचार का, जीवन-मूल्यों के बराबर बेईमान होते जाने का ऐसा अधःपतित युग कह सकते हैं जिसकी आशंका बड़े से बड़ा संशयवादी और निराशावादी भी पहले न कर सकता था। साहित्य, राजनीति, व्यापार, कला, धर्म, संस्कृति, सभी में झूठ, फरेब और स्वार्थ-लिप्सा का जहर भर गया। कोई भी महान् जीवन-धर्म और नीति-दर्शन जब व्यापार

बन जाता है तब कितनी विकट मुखौटेबाजी को जन्म देता है इसे हमारे देश में राजनीति की आड़ में चल रहे चारों ओर के तिजारतीपन को देखकर जाना जा सकता है। सुनीति, त्याग, तप, अपरिग्रह के जीवन-मूल्य पूरी सात्विकता और पूजा-भाव के साथ पूँजी में परिणत हो गये। अपने श्रम की सच्चाई के बल पर जीने और पनपने का अरमान रखने वालों का प्रत्येक क्षेत्र मे खात्मा हो गया। मालिक श्रेणी में आ जाने और गिने जाने की लालसा ऐसी प्रचण्ड बलवती हुई कि कला, चरित्र, इन्सानियत, प्रत्येक प्रकार की मानवीय संवेदना का दम घुटने लगा। शिक्षा, धर्म, साहित्य की 'कैरियर-पंथी' दूकाने लग गयीं।

इस सारे मोहभंग या स्वप्नदहन के फलस्वरूप हमारी भाषा के नवलेखन में निहित आन्दोलनकारी संभावनाएँ और नयी आघातकारी शक्तियाँ उभर-उभर कर सामने आयीं। अपने आस-पास केवल सद्‌गुणों और नेकियों की तलाश करने वाले लेखन ने इन्सानी विकृतियों, ढोंगी बड़बोलेपन, वर्गगत दुरभिसंधियों का अभूतपूर्व फैलाव देखा और संस्कारी मूल्यों को भ्रष्टाचारी गिरावट में कीमतों की तरह घटिया होते देखा।

इन सब के प्रति सहज आक्रोश, बेलौस और कठोर व्यंग, पैने विश्लेषण का स्वर आज साहित्य में पूरे वेग से मुखर ही नहीं, बुलन्द भी है। जीवन के जो निश्चयात्मक आधार खो गये हैं उनका अन्वेषण साहित्य में आज की सारी उलझनों, असंगतियों और विशृंखलाओं के बीच किया जाता है। इन बदले हुए कुरूप यथार्थो और सामाजिक परिवेशों को वैसी ही तीव्रता के साथ व्यक्त करने वाली सोद्देश्य रचना-भाषा भी निर्मित हुई है। कभी-कभी कुरुचिमूलक स्वाभाविकता और बोलचाल का 'ज्यों-का-त्यों पन' भले उसमें साहित्यिक सौष्ठव की अवहेलना करता हो पर उसमें जो वास्तविकता--बोध होता है दैनिक कर्मजाल की जो तिक्त प्रतीति होती है, उसकी शक्ति असंदिग्ध है। क्षेत्रीयता और आंचलिकता के जन-प्रयोग जिस बहुतायत से मिलते हैं उससे कभी-कभी यह जरूर लगने लगता है कि चरित्र की मानवीय विशिष्टता का स्थान वातावरण या भूखण्ड की स्थानीय विशेषता ने ले लिया हो और रचना का, उसकी संवेदना का मानवीय रस क्षीण हो चला हो। यह भी एक प्रकार की अतिवादिता है जिससे हमारे कवि-लेखकों को अपने-अपने जनबोध की यथार्थता और तीव्र संचेतना को बरकरार रखते हुए बचना है। इसी प्रकार फूहड़, अश्लील और अशालीन-संबोधनों, गाली-गलौज का प्रयोग किये बिना भी अपने चारों ओर घिरी बुराइयों और उनसे जनमते-पनपते हादसों को—उनकी पूरी-की-पूरी सामाजिक संवेदना और करुणा को उसी शक्ति के साथ चित्रित किया जा सकता है---जन-जन में जगाया जा सकता है। नये-नये वैचारिक संक्रमणों

और अभिव्यक्ति की बेचैनियों, विवशताओं के बीच आकर नयी प्रेरणाओं की चुनौतियों में परम्परा स्वयं नयी भाषा तलाश लेती है।

परम्परा का सही जनबोध युग की सारी क्षत-विक्षत मानसिकता के साथ आज के साहित्य में---रचना-सृजन की पूरी प्रक्रिया में गतिमान् है। जब जहाँ साहित्य की अस्मिता पर, उसके अस्तित्व पर राजनीति प्रहार करती है वहाँ साहित्यकार अपनी शुद्धता या स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करता है और सत्ता के सारे दलगत प्रभाव से मुक्ति पाने में ही अपनी सार्थकता पाता है। सच्ची प्रगतिशीलता, छद्म प्रगतिशीलता, लोकतंत्र, रचना, जनवाद, मौलिक और आयातित आधुनिकता, प्रजातांत्रिक मूल्यों के संरक्षण मे संस्कृति का योग आदि मुद्दे प्रकारान्तर से इसी मानवतावादी परम्परा के आसपास घूम कर उसी के प्रसरणशील गतिधर्मी रूप को उजागर करते हैं। आज के सृजन-व्यापार में---उसमें जब-तब मिलते सारे तनाव, संत्रास, नैराश्य, अन्तःकरण के घने अंधकार और तज्जनित अवसाद के बावजूद अपने जीवित परम्पराबोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा मिलती है, जो शिल्प के सौन्दर्य की बदलती हुई परिभाषा और युगमान लिये है।

परम्परा व्यक्ति की उतनी चिन्ता नहीं करती जितनी तत्त्व की, जो अपने विपुल रूप, में अपनी चरम परिणति को प्राप्त होकर सामाजिकता बन जाता है। जनता को सामाजिक सूत्र में बाँधने के लिए परम्परा से बड़ी अन्य कोई शक्ति नहीं। मात्र पौराणिकता को परम्परा समझ कर उसकी मर्यादा पर कहीं भी प्रश्नचिह्न लगते देख कर जो साहित्य-प्रेमी चिन्तित हो उठते हैं उन्हें यह न भूलना चाहिए कि पौरिाणिकता मात्र दैवी, अलौकिक शक्ति की अनुकृति बनकर रह जाती है---अतीत के प्राज्ज्वल सपनों और प्यारी कल्पनाओं की किसी स्वर्णिम खान से निकली हुई कथाओं की चित्रावली जैसी---जिसमें सौन्दर्य और भव्यता की स्मृति-पूजा ही होती है। उसमें पुरातत्त्व के ध्वंसावशेषों का आकर्षण और विगत-रुचिरता-बोध हो सकता है। पर परम्परा एक ऐतिहासिक चेतना है जो कालानुवर्तन में मिले, घटे और फलीभूत हुए सब-के-सब का सारांश है। वह कोई एककालिक, स्थविरधर्मी प्रक्रिया नहीं है जो अपनी पार्श्वभूमि संस्कृति से आगे बढ़ ही न सके। वह जीवन के बीते हुए विकासक्रम को अपरिमित पर्यवेक्षण से मिलाती हुई वर्तमान और आगत की सारी जटिलताओं और द्वन्दात्मक गतियों से जा मिलती है। यह हमारी जीवनधर्मी और आलोक-प्राण परम्परा का ही बल है जो आज के सारे दिग्भ्रमित करने वाले उलझावों के बीच भी साहित्यकार को विश्वास के वृत्त के भीतर एक आन्तरिक ठहराव दिये हैं। साहित्यकार की जिस

आस्था को लेकर आये दिन अनेक विद्वानों और सुलेखकों के आलेख और प्रवचन हमें पढ़ने को मिलते रहते हैं उसका उत्स इसी कालानुवर्तन की अबाध धारा में, निरन्तर घुल-घुल कर निखरे जीवन और जगत् के सार-खण्ड मे है। परम्परा ही इस लोकवाहिनी की गंगोत्री है।

कोई भी आत्म-निवेदन या साहित्य-कथ्य लघु होकर ही प्रभाव मान् होता है। पर मैं बातूनी आदमी ही नहीं, बातूनी लेखक भी हूँ। छायावादी वाचालता के युग में पलकर मैं उसके आत्म-प्रकटन-संस्कार से मुक्त भी कैसे हो पाता ? परम्परा के युगबोध पर जो मैंने कहा है और आज के लेखन पर जो धारणा व्यक्त की है, वह उन जीवननिष्ठ रचनाकारों की स्फुट या पूर्ण कृतियों को पढ़ने पर ही बनी है जिनकी सृजनधर्मिता में हमारे साहित्य के भविष्य की उज्जवलता निहित है।

कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, ललित निबंध, संस्मरण, यात्रा-विवरण, व्यंग्य-शिल्प, पत्र-लेखन, आलोचना आदि जितनी भी विधाएँ हैं सभी का विस्तार और गुणात्मक समृद्धि हिन्दी साहित्य की संस्कारशील जन-जीवन-परम्परा को आगे बढ़ाने वाली है—रीतिबद्धता के घेरे के बाहर निकाल कर उसे रचना और विवेचना की नयी समाज-प्राण दिशाएँ और नये चेतना-बोध प्रदान करने वाली हैं। मनुष्य की परिस्थितियों का प्रभाव न केवल रचना की उत्पत्ति और रूप पर पड़ता है वरन् उसके मूल्यांकन पर भी पड़ता है। इसलिए आलोचनात्मक प्रतिमान भी पहले जैसे नहीं रह गये हैं। प्रेरणा, प्रतिभा और प्रयोजन का विगत युग से जो अन्तर साहित्य में आज दिखाई पड़ रहा है और बराबर प्रयोग की रचनागत निर्भीकता को लेकर चल रहा है उसका हमें स्वागत करना चाहिए। मैं आज के परिवर्तित जीवन, परिवर्तित देश और परिवर्तित समय के ऐसे सभी वरिष्ठ, समकालीन और परवर्तीकृती साहित्यकारों का प्रणामपूर्वक अभिनंदन करते हुए अपना यह विनीत वक्तव्य समाप्त करता हूँ और आप सबके प्रति हार्दिक आभार निवेदित करता हूँ।

परिशिष्ट

अभिभाषण : १६

श्री यशपाल

⊙ ⊙

(साहित्यकार सम्मेलन, विशेष अधिवेशन, प्रयाग १९७५ ई०)

बन्धुओ,

साहित्यकार गोष्ठियों में कभी-कभी प्रश्न उठ आता है, लेखक क्यों और किसके लिए? साहित्य और लेखक का कोई दायित्व है या नहीं? यदि दायित्व है, तो क्यों और किसके प्रति? कुछ लेखकों का विचार है कि साहित्य का गुण-धर्म रस या रसमय होता है। साहित्य केवल रस अथवा मनोरंजन के सुख-आनन्द को जगाने और अनुभव करने की प्रक्रिया ही है। ऐसे लोग अपने विचार के पक्ष में संस्कृत काव्यशास्त्र की परिभाषा का प्रमाण देते हैं, 'वाक्यम् रसात्मकम्' काव्यम् अर्थात् रसात्मक होना ही काव्य या साहित्य का गुण है। दूसरा दृष्टिकोण है कि साहित्यकार स्वान्तः सुख या अपने संतोष के लिए साहित्य रचता है और उससे समाज को भी मनोरंजन का सुख और कल्याण देता है। साहित्य स्वयं ही अपना प्रयोजन या उद्देश्य है। साहित्य के बारे में क्यों, किसके लिए और दायित्व का प्रश्न नहीं उठना चाहिए।

यह सही है कि साहित्य का गुण और परिभाषा रसमय होता है, परन्तु साहित्य का गुण-धर्म साहित्य शब्द के मूल अर्थ से स्पष्ट है। साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति है सोहित यानी समाज या समूह का हित। इसलिए अच्छे साहित्य से प्राप्त रस में समाज-हित का प्रयोजन होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। स्पष्ट है कि साहित्य या लेखन का प्रयोजन वैयक्तिक आत्मरति और लोगों का मुर्गों-मेढों की लड़ायी या ताशगंजीफा जैसा समाज हित से बेपरवाह थिथला विनोद-मनोरंजन नहीं है। साहित्य समाज का हित है, तो साहित्य और साहित्यकार सामाजिक दायित्व से बरी नहीं हो सकते।

साहित्य का शास्त्रीय या क्लासिकल परिभाषाओं की बहस छोड़ कर हम व्यावहारिक भाषा में संक्षेप में कह सकते हैं कि साहित्य अपने समाज की

जिजीविषा (अर्ज आफ लाइफ) अर्थात् जीवन की रक्षा और विकास की इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं के स्वप्न और उदार होते हैं। साहित्य की यह परिभाषा लेखन क्यों, किसके लिए और साहित्यकार के दायित्व के प्रश्नों का उत्तर दे देती है। व्यवहारिक रूप से सभी समयों, देशों और समाजों के साहित्य की प्रवृत्ति और प्रयोजन इसी परिभाषा के अनुसार होते रहे हैं। सभी देश-काल का साहित्य सामयिक परिस्थितियों और मान्यताओं के अनुरूप होता आया है। सुदूर अतीत के यूनानी, भारतीय और मिस्री साहित्य, अपने समय और समाज का प्रतिनिधित्व और संचालन करने वाले प्रभु वर्गों के जीवन के संतोष, विलास और विकास के संघर्ष के चित्र होते थे। उस साहित्य में उस समय के प्रभु और शासक वर्ग की विजय यात्राएँ, वीर गाथाएँ और प्रेम प्रणय की कथाएँ, प्रभु वर्ग के राजमहलों और दरबारों के वैभव के चित्र, सुन्दर स्त्रियों के लिए युद्धों की कहानियाँ मिलती हैं या आनुषंगिक रूप से उस प्रभु वर्ग को सूझ-बूझ देने और उनके अधिकारों के समर्थन के लिए नैतिकता और न्याय की मान्यताएँ बनाने वाले तत्कालीन दार्शनिकों, विद्वानों और ऋषि-मुनियों के विचार मिलते हैं।

तत्कालीन साहित्यों में सामान्य या साधनहीन वर्गों के लोगों के जीवन की छाया या झलकियाँ नहीं मिलतीं। संस्कृत साहित्य के नियमों और परम्परा, यानी साहित्यदर्पण के अनुसार दीन, साधनहीन वर्ग का जीवन-चित्रण। उदाहरण के लिए हल चलाते किसान, चरखे, चक्की, चूल्हे या उपले पाथती गरीब स्त्रियों के वर्णन साहित्यिक दोष माने जाते थे। यही बात तत्कालीन पश्चिमीय साहित्य में भी थी। वहाँ का साहित्य भी वहाँ के तत्कालीन आभिजात्य प्रभु वर्ग के जीवन का ही दर्पण था। उस समय किसानों और शारीरिक मेहनत करने वाले वर्गों के लिए क्लाउन या क्लाड ही पर जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता था। उस समय के शासक प्रभु वर्गों और सामान्य दलित वर्गों की भाषाएँ भी पृथक् होती थीं। आभिजात्य प्रभु वर्ग की भाषा संस्कृत, यानी परिष्कृत भाषा और सामान्य वर्ग की भाषा प्राकृत अथवा अनगढ़ फूहड़ बोली होती थी। इसका प्रमाण प्रायः सभी संस्कृत नाटक हैं। यूनान और रोम में भी आभिजात्य प्रभु वर्गों की भाषा परिष्कृत होती थी और सामान्य वर्ग की भाषा वर्नाक्यूलर अर्थात् दासों और सेवकों की बोली। ऐसी स्थिति का सीधा कारण था कि उस समय का साहित्यकार अपने आभिजात्य समाज के प्रभु वर्ग की जिजीविषा की अभिव्यक्ति से, उनकी स्थिति और अधिकारों के समर्थन से उनका संतोष, मनोरंजन और प्रोत्साहन करता था। आभिजात्य वर्ग की

मान्यताएँ ही समाज की नैतिकता और न्याय थे। तत्कालीन साहित्य और कला उन्हीं मान्यताओं की अभिव्यक्ति होते थे। परन्तु तब भी समाज में आभिजात्य प्रभु वर्ग के अतिरिक्त दूसरे सामान्य या साधनहीन वर्ग थे। प्रभु वर्ग और उस वर्ग के विचारकों की सामाजिक न्याय की मान्यताओं के अनुसार ही सामान्य और दलित वर्गों के लिए धर्म, नैतिकता और न्याय, प्रभु वर्ग की सेवा संतोष के लिए अपने आपको खपा देना या बलिदान कर देना ही था। उस देश-काल के समाज के प्रवक्ता या साहित्यकार अपने समाज की मान्यताओं के समर्थन और प्रोत्साहन से अपने समाज के मनोरंजन के रूप में सामयिक मान्यताओं, व्यवस्था और महत्वाकांक्षा का समर्थन अपना दायित्व मानते थे।

अपने समाज की मान्यताओं के समर्थन के लिए विचारकों या साहित्यकारों के दायित्व के बारे में जो कुछ कहा गया है, उसके उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। आज संसार के सभी राष्ट्र या व्यक्ति दास-प्रथा को मानवता का असह्य कलंक मानते हैं। हमें यह भी मालूम है कि महर्षि सुक्रात ने सामाजिक दमन से असत्य को मान लेने के बजाय सत्य के लिए जहर का प्याला पीकर अपने प्राण दे दिये थे। परन्तु उसी सुक्रात ने अपने समाज के हित की मान्यताओं के अनुसार समाज में सभ्यता की रक्षा और विकास के लिए दास-प्रथा को न्याय और आवश्यक बताया था। भारत के आदि विधायक मनु ने आत्मवत् सर्व भूतेषु का उपदेश देते हुए भी समाजहित और सामाजिक न्याय की अपनी मान्यता से वर्णाश्रम व्यवस्था का विधान बनाया था, जो दास-प्रथा का अधिक परिष्कृत रूप था, जो आज मानवी दृष्टि से असह्य है। इतना ही नहीं, मनु ने स्त्रियों और शूद्रों अर्थात् साधनहीन वर्ग को पुरुषों और द्विजवर्ग के आधिपत्य में सन्देह का अवसर न आने देने के लिए स्त्रियों और शूद्रों को ज्ञान और साधनों, शिक्षा और सम्पत्ति के अधिकारों और अवसर से ही वंचित कर दिया था। हमें बरसों रामराज का लक्ष्य स्वीकार करने के उपदेश दिये गये हैं। उसी मान्यता के समर्थन के लिए भारत के आदि साहित्यकार बाल्मीकि ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम द्वारा ज्ञान के लिए तप करने वाले शूद्रक का सिर, ब्राह्मणों से होड़ के अपराध में कटवा कर सामयिक मान्यता का समर्थन किया था। उसी सामाजिक न्याय और नैतिकता की पुनः स्थापना के लिए तुलसीदास ने उपदेश दिया—सूद्र गँवार ढोल पसु नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी। इन उदाहरणों का प्रयोजन यह स्पष्ट करना है कि साहित्यकार सदा ही अपने रचना-धर्म से अपने विश्वास

के अनुसार समाज, प्रवक्ता बन कर, उस समाज के प्रति दायित्व निबाहता रहा है।

यह भी सही है कि जैसे अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व अल्प अवसर वर्गों की जिजीविषा ने जैन और बौद्ध दर्शन और विचारधाराओं के रूप में जीवन के अवसर की माँग की थी, उसी प्रकार समय-समय पर सामाजिक न्याय की रूढ़ि के विरोध में बहुजन की जिजीविषा का क्रान्ति-चेता कबीर, दादू, तुकाराम, नानक आदि सन्त साहित्यकारों की वाणियों से प्रकट होती रही।

पश्चिम में औद्योगीकरण या मशीनों के विकास ने समाज के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के तरीके बदल दिये। इसके परिणाम में समाज में भूपति और सामन्तवर्ग की शक्ति घट गयी और नये उद्योगपतियों और व्यावसायिक पूँजीपतियों के वर्ग भी सशक्त बन गये। यह वर्ग स्वयम् को मध्यम वर्ग या मध्यम श्रेणी कहने लगे। ऐसे प्रजातंत्र समाज के विचार और मान्यताएँ मुख्यत: मध्यम श्रेणी के दृष्टिकोण से बनते थे। उस समय का साहित्य इसी मध्यम श्रेणी की समस्याओं और महत्वाकांक्षाओं का साहित्य बना। उस समय का साहित्यकार अपने समाज का प्रवक्ता था और अपना दायित्व अपनी श्रेणी की मान्यताओं के प्रति मानता था। परन्तु उस युग में औद्योगीकरण के कारण साधनहीनों की बढ़ती संख्या और साधनहीन वर्ग में उत्पन्न चेतना के प्रभाव से समाज के बहुजन के हित की अर्थ और शासन-व्यवस्था की पुकारें भी उठने लगी थीं। साहित्यकार उग्र-चेता, भावुक, सूक्ष्म संवेदनशील और क्रान्तदर्शी होता है। समाज में परिवर्तन की आवश्यकता को दूसरों की अपेक्षा जल्दी अनुभव करके, मार्ग-दर्शन कर सकता है। समाज में आये परिवर्तन का प्रभाव अनेक साहित्यकारों पर पड़ा। ऐसे साहित्यकार मानवी भावना से सर्वजन या बहुजन के हित को मान्यता देनेवाले सामाजिक न्याय के समर्थन में आगे बढ़े। साहित्यकारों का यह काम जनगण के बृहत् समाज के प्रति दायित्व की भावना थी।

अन्ततः समाज के बहुजन की चेतना और समाज के बौद्धिक वर्गों की मानवी समता के न्याय की भावना से हम ऐसी जनतंत्र व्यवस्था में पहुँच गये हैं, जब उसूलन सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था निर्माण में भाग लेने का अधिकार सम्पत्ति, वंश, कुल, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय या पुरुष होने की शर्त पर निर्भर नहीं, बल्कि मानवमात्र की समता के सिद्धान्त पर सब बालिग नर-नारियों को है। इस नयी उच्चतम समाज-व्यवस्था में साहित्य रचना जनतंत्र व्यवस्था के सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों और आदर्शों को व्याव-

हारिक रूप दिला सकने के लिए होना चाहिए। इस परिस्थिति में साहित्य-कार का दायित्व जनगण की जिजीविषा की चेतना को वाणी और समर्थन देकर सशक्त बनाना है।

ऊपर हुई चर्चा से स्पष्ट है कि समाज में शासन-व्यवस्था और सामाजिक न्याय, समय और समाज की स्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार, समाज के सब से सशक्त वर्ग द्वारा ही निश्चित किये जाते रहे है। पश्चिम के एक प्रमुख दार्शनिक हेगल का कहना है कि किसी समाज की सभ्यता का इतिहास उसके दर्शन के विकास का इतिहास होता है। कार्ल मार्क्स का कहना है कि समाज की सभ्यता का इतिहास, उस समाज में वर्ग संघर्ष का इतिहास है। मैं कहना चाहूँगा, साहित्य का इतिहास देशकाल के अनुसार सामाजिक न्याय की मान्यताओं के समर्थन और नये समयानुकूल सामाजिक न्याय के विकास के लिए संघर्ष का लेखा है। विकास से अभिप्राय समाज में उत्त-रोत्तर बहुजन के लिए समान अवसरों और अधिकारों की मान्यता और व्यवस्था है।

इसका प्रमाण हमारे वर्तमान का साहित्य है। आज कोई साहित्यकार मनु के वर्ग-व्यवस्था, स्त्री-पुरुष की स्थिति, स्वामिभक्ति आदि के आदर्शों के समर्थन को अपनी कला का भाव नहीं बना रहा।

कुछ लोगों को शिकायत हो सकती है कि साहित्यकार के प्रयोजन और साहित्यकार के दायित्व के बजाय सामाजिक और राजनैतिक कार्य-कर्त्ता के दायित्व की चर्चा कर रहा हूँ। कुछ लोग साहित्यिकों को केवल रस प्रधान मानने के संस्कारों के कारण साहित्य को सामाजिक समस्याओं और राजनीति से अछूता रखना चाहेंगे। वे आपत्ति कर सकते हैं कि साहित्य के दस रसों-श्रृंगार, वीर, करुणा, वात्सल्य, रौद्र, वीभत्स, भयानक, अद्‌भुत और शान्त रसों में राजनीति का नाम नहीं है। परन्तु क्या साहित्य में किसी भी रस की चर्चा सामाजिक व्यवस्था के आधार और यथार्थ के बिना हो सकती है? समाज के लोगों के आपसी सम्बन्ध और प्रबन्ध ही राजनीति या पालिटिक्स है और वह समाज के मनुष्यों के सभी कार्य-कलाप की पृष्ठभूमि होती है। राम के स्वयंवर, वनवास, सीताहरण और सीता के परित्याग में किस प्रसंग को तत्कालीन व्यवस्था या राजनीति से अप्रभावित कहा जायेगा? सम्पूर्ण महाभारत, संस्कृत काव्य, नाटक, होमर, शेक्सपियर, गोटे के साहित्य, पृथ्वीराज रासो—इन सबकी घटनाओं के आधार सामाजिक और राजनैतिक द्वंद्व नहीं तो क्या हैं? लोक साहित्य में जितनी वीर गाथाएँ या प्रणय-विरह

के काव्य हैं, उनकी भूमिका भी राजनैतिक और सामाजिक मान्यताओं के द्वंद्व ही, रहे हैं।

यदि राजतंत्र और सामन्त तंत्र में, जब जनता के लिए उपदेश था—कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरी छाँड़ न होउब रानी, यदि साहित्य सदा राजनीति के आधार पर रहा, तो जनतंत्र में खास कर समाजवादी जनतंत्र में क्या स्थिति होगी? आज के हमारे या किसी भी समाजवादी जनतंत्र में आवश्यक वस्तुओं की पैदावार, उनकी बिक्री-बँटवारे पर अधिकांश में व्यवस्था का ही नियंत्रण होता है। हमारा वर्तमान यथार्थ क्या है? हम भूख के उपाय के लिए पैदावार बढ़ाना शासन की जिम्मेदारी समझते हैं; गेहूँ, चावल, चीनी, मिट्टी के तेल, साधारण कपड़े और राशन के लिए शासन-व्यवस्था पर निर्भर हैं। समाज में शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा, और रोजगार की व्यवस्था के लिए शासन या राजनीति की ओर देखते हैं। और आज की व्यवस्था-नीति का निश्चय करने-वालों की नियुक्ति जनतंत्र के सिद्धान्तों के अनुसार बहुजन का अधिकार है। इसलिए वर्तमान समाज का साहित्यकार वर्तमान की किसी समस्या से निर-पेक्ष नहीं हो सकता। आज के साहित्यकार का दायित्व जनगण को उस यथार्थ और अपने अधिकार और कर्त्तव्य के प्रति सचेत करना है।

साहित्यकार के दायित्व और सामाजिक न्याय की इतनी चर्चा के बाव-जूद लेखक के रचना-धर्म और कर्म की बात अधूरी है। साहित्यकार अपने उद्देश्य और दायित्व को विधायक यानी ला मेकर या राजनेता की तरह उचित-अनुचित के विधि-निषेध के आदेशों द्वारा नहीं निबाह सकता। साहित्य नीति या न्यायशास्त्र नहीं, कला है और लेखक कलाकार। लेखक अपने विचार और सुझाव, जनता की भावना को अछूता छोड़कर आदेशों के रूप में नहीं दे सकता। लेखक को अपनी बात जनता के लिए आकर्षक या मनो-रंजक बना सकना अनिवार्य है। श्रेष्ठ साहित्य की मुख्य कसौटी सदा रस या मनोरंजकता रही है। उचित और हितकर को प्रभावशाली मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत कर सकने की विधि ही साहित्य की कला है। लेखक अपने विचार या कथ्य के लिए पाठक और श्रोता में भावना और रागात्मक संवेदन नहीं जगा सकेगा तो अपने उद्देश्य और दायित्व में कभी सफल नहीं हो सकेगा।

यह बहुत कठिन है कि साहित्यकार अपनी एक रचना या प्रयत्न से पाठकों या श्रोताओं से पुरानी मान्यताओं और संस्कारों को बदल सके। आवश्यक यह है कि साहित्यकार की रचना में पाठक के मन-मस्तिष्क जकड़ सकने का इतना सामर्थ्य हो कि पाठक या श्रोता उससे सहमत न होने पर भी

उनकी रचना बिना पढ़े या बिना सुने न छोड़ सकें। लेखक अपनी विधा या माध्यम की कला को इतना सबल बना सकेगा, तभी सफलता की आशा कर सकेगा।

आज के व्यवसाय प्रधान औद्योगिक युग में साहित्यकार के सम्मुख एक और समस्या है। वैसे ही समस्या जैसी आज अध्यापकों, चिकित्सकों और कलात्मक माध्यमों से जीविकोपार्जन करने वाले लोगों के सामने है। अतीत में ऐसे काम उदात्त प्रेरणा से या सम्मान और ख्याति के सन्तोष के लिए किये जाते थे। विद्यादान, चिकित्सा और कला साहित्य की साधना करने वालों का रक्षण-पोषण प्रभु वर्ग या राजा करते थे। या कवि और कलाकार अपने विवेक की स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अवसर के लिए सांसारिक सुखों की उपेक्षा कर फकीरी सहते थे। परन्तु आज अध्यापक ने चिकित्सा, कलात्मक कार्य और साहित्यसृजन भी अधिकांश में समाज सेवा के लिए व्यवसायों का रूप ले चुके हैं। यों तो सभी व्यवसाय किसी-न-किसी प्रकार समाज सेवा ही हैं। सभी व्यवसायों में व्यवसायी के स्वार्थ और सामाजिक दायित्व में द्वंद्व का अवसर हो सकता है। वैसी स्थिति आज साहित्यिक व्यवसाय में भी आ गयी है। साहित्यकार के सामने प्रश्न है कि वह साहित्यसृजन अधिक-से-अधिक परिश्रम या कमाई के लिए करे या अपने विवेक से उच्च कलात्मक उपलब्धि और सामाजिक दायित्व के लिए ?

साहित्यिक पर अतीत में राजा का अंकुश रहता था और आज ऐसी स्थिति में साहित्यकार की जीविका की दृष्टि से शासक से पहले प्रकाशक का अंकुश रहता है। प्रकाशन के माध्यम के बिना साहित्यकार का श्रम जीविका नहीं दे सकता। जानी मानी स्थिति है कि ९५ प्रतिशत प्रकाशक सीमित खपत हो सकने वाली ऊँचे स्तर की रचनाओं या बहुजन के अन्धविश्वासों को उखाड़ने वाली रचनाएँ प्रकाशित करने में अपनी पूँजी जोखिम में डालने की अपेक्षा सस्ते उच्छृंखल मनोरंजन या परंपरागत रूढ़ियों के प्रोत्साहन से बहुजन को रिझाने वाली रचनाओं को प्रश्रय देते हैं। उन्हें ऊँचे वैचारिक और कलात्मक स्तर के सीमित पाठकों को सन्तुष्ट कर सकने वाली रचनाएँ नहीं, उच्छृंखल किशोर मानसिक स्तर को सेक्स और वायोलेन्स का सन्तोष देकर पाँच-दस लाख प्रति बिक जाने वाली रचनाएँ चाहिए।

ऐसी स्थिति में साहित्यकार क्या करे ? अतीत के सन्त, कवि, साहित्यकारों की तरह एक रोटी एक लँगोटी से जीवन बिता देने को त्याग या सम्पूर्ण समाज की तरह जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति चाहे। कह चुका हूँ, आज साहित्य-

सृजन, अध्यापन, चिकित्सा और औषधि-निर्माण भी व्यवसाय बन चुके हैं। प्रश्न हो सकता है कि चिकित्सक और औषधि-निर्माता समाज के स्वास्थ्य-हित के प्रति विवेक का ध्यान रखें या अधिकतम व्यावसायिक लाभ की सम्भावना के लिए सस्ते दामों कूड़ा-कचरा बेचकर समाज में अधिक रोग और औषधियों की जरूरत बढ़ा कर स्वार्थ सिद्धि करें। समाज के शरीर के स्वास्थ्य की ही तरह समाज के मानसिक, नैतिक स्वास्थ्य का भी महत्त्व है, जिस पर न केवल साहित्यकार के कार्य का गहरा प्रभाव पड़ता है, बल्कि वह साहित्यकार का दायित्व भी है। समाज, चिकित्सा और औषधि उत्पादन व्यवसायों में जीविका और सामाजिक हित के दायित्वों में विवेक से संतुलन की आशा करता है, तो साहित्यकार और प्रकाशक से भी वैसी आशा करेगा।

⊙